भारतीय दर्शन-परम्परा

और

आदिग्रन्थ

डा. हरवंशलाल शर्मा

भारतीय दर्शन-परम्परा और आदिग्रन्थ

ੴ

भारतीय दर्शन-परम्परा

और

आदिग्रन्थ

भारतीय दर्शन-परम्परा के समूचे सन्दर्भ को
सम्मुख रखकर आदिग्रन्थ के दार्शनिक
चिन्तन सम्बन्धी प्रथम मौलिक शोध-कृति

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

डा. हरवंशलाल शर्मा

भारतीय दर्शन-परम्परा और आदिग्रन्थ

मूल्य : सैंतीस रुपए पचास पैसे

प्रथम संस्करण : १९७२

आवरण : गोवर्धन वर्मा

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : रघुनाथ प्रिंटिंग प्रेस,
राजामंडी, आगरा

BHARTIYA DARSHAN PARAMPARA AUR AADIGRANTH
by Dr Harvansh Lal Sharma Rs. 37.50

समर्पण

परम वैष्णवी ममतामयी

स्वर्गीया

माँ

के चरण-कमलों में

श्रद्धावनत भाव से

प्राक्कथन

प्रस्तुत अध्ययन मे भारतीय दर्शन-परम्परा के सदर्भ में आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओ के प्रस्तुतीकरण का प्रयास किया गया है। आदिग्रन्थ की विचारधारा मुख्यतः सिक्ख गुरुओ के भक्ति परक उद्‌गारो मे प्रवाहमान है। इसमे हिन्दू और मुसलमान की साम्प्रदायिक भेद-भावना से ऊपर उठ कर अन्य मतो की रचनाये भी सगृहीत है। परन्तु कलेवर और अन्त प्रवाहित मूल चेतना की दृष्टि से समूचे ग्रन्थ के विचार-सागर को सिक्ख गुरुओ के विश्वासो का प्रतिपादन ही माना जायेगा। जर्मन विद्वान ट्रप महोदय से लेकर आज तक कई विद्वानो ने इस महान रचना का अध्ययन किया है और विभिन्न कोणो से इसे देखा परखा है। लेकिन किसी ने भी इस रचना के दार्शनिक पक्ष को भारतीय दर्शन-परम्परा के प्रसंग मे आलोच्य नही बनाया। अत इस दृष्टि से अब तक आदिग्रन्थ की विचारधारा के प्रस्तुतीकरण का कार्य-क्षेत्र अनवगाहित ही रहा है। यह कार्य कितना परिश्रम-साध्य था, इसका साक्ष्य स्वय यह अध्ययन है। आदिग्रन्थ भक्ति-काव्य है। इसमें सिक्ख गुरुओ के वे सभी भावोद्‌गार है, जिन्हे उन्होने समय-समय पर व्यक्त किया है। 'गुरबानी' भक्त-हृदय की 'बानी' है। परन्तु ऐसे भक्त की 'बानी' नही जो पहले से ही किसी सम्प्रदाय विशेष मे दीक्षित हो और जिसकी बानी के दार्शनिक स्वरूप पर विचार करने के लिए हमारे सम्मुख पूर्व-निर्धारित मानदण्ड पहले से ही मौजूद हो। विस्तार भय से यहाँ पूर्ववर्ती अध्ययनो की चर्चा नही की जा सकती। सुधी पाठक स्वयमेव इस सम्बन्ध मे जान जायेगे कि यह अध्ययन आदिग्रन्थ के दार्शनिक विश्वासो की जानकारी को किस सीमा तक अग्रसर करता है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा निरन्तर दो स्वतन्त्र विचारधाराओ मे प्रवाहमान रही है। एक विचारधारा आदर्शवादी है और दूसरी भौतिकवादी (लोकायतिक) विचारधारा है। इसे भौतिकवादी केवल सीमित अर्थ मे ही कहा जा सकता है क्योकि इसका स्वरूप भौतिकवादी मान्यताओ का प्रारूप है और केवल उसी सीमा तक आदर्शवाद का विरोध करती है, जिसके अन्तर्गत जीव-चैतन्य, जगत-रचना और निर्विशेष एव निरपेक्ष शाश्वत-स्वतन्त्र चेतन शक्ति (ब्रह्म) का प्रश्न है। लेकिन आदर्शवादी दृष्टि के प्रभाव-बाहुल्य के कारण यथार्थवादी या भौतिकवादी विचारधारा कमजोर हो गयी और बाद मे चार्वाक-चिन्तन के नाम से अभिहित कर इसे

ऐहिक सुख-भोग से सम्बद्ध कर हास्यास्पद स्थिति मे ला बिठाया गया। आदर्श-वादी मान्यताओ का निर्माण जिन परिस्थितियो मे हुआ वे अक्षुण्ण बनी रही, अतः लोकायत-विचारधारा को पुन प्रभावशाली बनने का अवसर ही नही मिला। आदर्शवाद का एकाधिपत्य स्थापित हो गया एव मध्ययुग की समूची चिन्तन-धारा का वही प्रेरणा-स्रोत बना रहा। शकराचार्य के अनुयायी माधवाचार्य ने चार्वाको की घोर निन्दा की है तथा उन्हे भोगवादी बतलाया है। कई आचार्यो ने तो चार्वाको को प्रतिवादी का स्थान देने की आवश्यकता ही अनुभव नही की। इससे सिद्ध होता है कि लोकायत विचारधारा की ओर से चिन्तको का ध्यान ही हट गया और समूचा चिन्तन-जगत आदर्शवादी प्रभाव के अन्तर्गत आ गया। बाद मे अत्यन्त गौरव-पूर्ण शब्दो मे यह घोषित किया गया कि भारतीय दर्शन मात्र आत्म-चिन्तन है तथा आत्मा और परमात्मा स्वतन्त्र चेतना सत्ता है।

आधुनिक युग मे भारतीय दर्शन पर विचार करते समय भी तदन्तर्गत भौतिक-वादी मान्यताओ के प्रति उदासीनता ही दिखलायी गयी है। लेकिन प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत आदिग्रन्थ की दार्शनिक विचारधारा के प्रसग मे भारतीय दर्शन-परम्परा का उल्लेख करते हुए इस बात का समुचित ध्यान रक्खा गया है कि भौतिकवादी दृष्टि को भी उचित स्थान दिया जाय। इसमे सन्देह नही कि भारतीय चिन्तन आदर्श प्रधान रहा है, लेकिन इस तथ्य से आँख मूँद लेना कि भारतीय चिन्तन का एक क्षेत्र भौतिकवादी मान्यताओ का भी प्रतिनिधित्व करता है, उचित नही है। जवाहरलाल नेहरु ने 'भारत की खोज' नामक अपनी पुस्तक मे इस ओर स्पष्ट सकेत किया है कि इस देश मे भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रतिनिधि ग्रन्थो की कमी नही थी, लेकिन उन्हे विरोधी विचारको ने या तो नष्ट करवा दिया या वे स्वय ही आदर्शवादी प्रभाव के कारण काल-कवलित हो गये। अब पुन विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है और प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध भौतिकवादी विचारो के सूत्रो को एकत्रित कर लोकायत-विचारधारा के नाम से उसका निर्माण किया जा रहा है। हमारे मत मे भारतीय दर्शन-परम्परा के इस महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण की उपेक्षा न तो उचित ही है और न ही बुद्धिमत्तापूर्ण। आदि-ग्रन्थ शुद्ध आदर्शवादी (परमात्मवादी) रचना है और उसमे आत्म और परमात्म के स्वतन्त्र चेतन अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। आवागमन और कर्म-सिद्धान्त गुरुनानक तथा अन्य सिक्ख गुरुओ की पूर्णतया स्वीकृत मान्यताये है। अत. केवल आदर्शवादी दृष्टि से भी भारतीय दर्शन-परम्परा का उल्लेख किया जा सकता था। परन्तु क्या इस एकागी दृष्टिकोण को अपनाकर हम भारतीयो की चिन्तन-विधि के एक महत्त्वपूर्ण विचार-रत्न की अवहेलना के अपराध के भागीदार नही कह-लायेगे ? सत्य तो यह है कि आदर्शवादी रचनाओ मे वर्णित मान्यताओ के पठन-पाठन मे भौतिकवादी विचारधारा के विश्वासो का उल्लेख वास्तविक स्थिति को पर्याप्त स्पष्टता प्रदान करता है।

आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे अपने मत का प्रतिपादन करते समय किसी भी पूर्वग्रह से काम नही लिया गया। बल्कि बार-बार के अध्ययन से ऐसा लगा कि विद्वान विचारक आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओ को निर्णयात्मक रूप मे प्रस्तुत करते समय इतस्ततः भटकते रहे है। गुरूनानक के पाँचसौवे प्रकाशोत्सव के उपलक्ष्य मे जितनी रचनाये प्रकाश मे आयी है, उनमे भी आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओ के तर्क-सगत अवगाहन का अभाव है और प्राप्त निष्कर्ष विद्वत्ता-पूर्ण अध्ययन के साक्षी नही है। आदिग्रन्थ के विविध पक्षो का अध्ययन करते हुए शोधकर्ता भी उसके दार्शनिक विचारो के प्रस्तुतीकरण मे पर्याप्त सीमा तक असफल रहे है। सरसरी दृष्टि से ही उन्होने परम्परागत मान्यताओ को अपने निष्कर्षो का आधार बना लिया है। आदिग्रन्थ की चिन्तन-धारा की सही पकड के लिए जिस अध्यवसाय की आवश्यकता है, वह भी सुधी आलोचको मे दिखाई नही देता। आदिग्रन्थ को पजाबी भाषा के साहित्य के अन्तर्गत मानकर, उसका अध्ययन करने वाले अनुसन्धानकर्ता भारतीय दर्शन-परम्परा के गहरे अध्ययन की ओर से उदासीन दिखाई देते है। जिन विद्वानो ने हिन्दी साहित्य के इतिहास की ज्ञान मार्गी निर्गुण धारा के अन्तर्गत आदिग्रन्थ के दार्शनिक विश्वासो की चर्चा की है, वे यह भूल गये है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा दूसरे इतिहासकार स्वय 'गुरबानी' का अध्ययन किये बिना ही अपने अभिमतो की चर्चा करते रहे है। आदिग्रन्थ का दार्शनिक पक्ष आशिक रूप मे ही कबीर आदि निर्गुण सन्तो की विचारधारा का अनुसरण है। हिन्दी-साहित्य का जानकार आदिग्रन्थ की भाषा का पडित न होने के कारण प्राय दूसरो के अध्ययन को ही साक्ष्य मान लेता रहा है। वह या तो निर्गुण धारा के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्षो को ही आदिग्रन्थ की विचारधारा पर आरोपित करता रहा है अथवा दूसरो की दृष्टि का मुखापेक्षी रहा है। यहाँ तक कि डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल जैसे सुधी विद्वान भी इस दोष से नही बच पाये। डा० जयराम मिश्र का शोध प्रबन्ध 'आदिग्रन्थ-दर्शन' दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से पर्याप्त हलका है। इसे आधार बनाकर सिक्ख गुरुओ की दार्शनिक मान्यताओ को सही रूप मे नही समझा जा सकता।

यहाँ इस तथ्य की ओर सकेत करना अप्रासगिक नही होगा कि निर्गुण सन्तो द्वारा किये गये ब्रह्म, जीव, जगत् और माया सम्बन्धी उल्लेखो को समूची विचारधारा के परिप्रेक्ष्य मे परीक्षित करने के मार्ग का अवलम्बन न कर सकने के कारण जो निष्कर्ष निकाले गये है उनका भी पुनःपरीक्षण आवश्यक प्रतीत होता है। कबीर के सम्बन्ध मे आज तक पी० एच० डी० और डी० लिट् की उपाधियो के लिये जितना कार्य हुआ है, उसमे इस तथ्य पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है कि वे अमुक-अमुक साधना-पद्धतियो तथा दार्शनिक मान्यताओ से प्रभावित है। अतः निर्गुण आन्दोलन की पृष्ठभूमि एव कबीर के समाज-दर्शन के अध्ययन की उपेक्षा के कारण ही उक्त भ्रान्त धारणाये बना ली गयी है। कबीर का दार्शनिक चिन्तन उनके समाज-

दर्शन पर आधारित है। इसलिये कबीर और कबीर के माध्यम से समूची निर्गुणधारा के सन्तो की दार्शनिक मान्यताओं का पुनःपरीक्षण करने की अब भी आवश्यकता है। गुरुनानक को निर्गुण आन्दोलन की महान विभूति माना जाता है। इस आन्दोलन को प्राणवान बनाने की दृष्टि से कबीर के उपरान्त उनका दूसरा स्थान है। लेकिन गुरुनानक को कबीर का अनुयायी अथवा ज्ञानमार्गी निर्गुण-शाखा की विचारधारा का अक्षरशः अनुवादक नही माना जा सकता। गुरुनानक के परवर्ती सिक्ख गुरु उनसे भिन्न एव स्वतन्त्र विचारधारा के संस्थापक नहीं हैं। बल्कि आदिग्रन्थ मे वर्णित 'बानी' को गुरुनानक की ही बानी माना गया है। सिक्खमत मे प्रचलित मान्यता के अनुसार अन्य गुरु, गुरुनानक की ज्योति के ही भिन्न-भिन्न शरीर है। महला की संख्या को हटा देने पर सम्पूर्ण 'बानी' गुरुनानक की ही 'बानी' बन जाती है।

आदिग्रन्थ मे उल्लिखित वाहगुरु (ब्रह्म), जीव, माया और जगत के स्वरूप के आधार पर ही प्रस्तुत अध्ययन मे उसकी दार्शनिक मान्यताओ का विवेचन किया गया है। आदिग्रन्थ मे वर्णित वाहगुरु-स्वरूप आचार्य शकर के निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप से पर्याप्त भिन्न है। उसका कुदरति-सिद्धान्त भी स्वतन्त्र ढग का है। सिक्ख गुरु जगत को मिथ्या नही बतलाते। तदनुसार 'ब्रह्म की कुदरत' और 'माया' दो भिन्न अवधारणाये है। इसी तरह 'जगत' और 'ससार' की अवधारणाओ मे भी पर्याप्त अन्तर है। जीव के स्वरूप के बारे मे भी आदिग्रन्थ मे स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है। आज तक विद्वानो ने विद्वत्समाज के सम्मुख आदिग्रन्थ के दार्शनिक पक्ष के इस वैशिष्ट्य को प्रस्तुत ही नही किया। इस ओर ध्यान न जाने के कारण ही शोधकर्ताओ ने यह कठिनाई अनुभव की है कि वे आदिग्रन्थ की विचार-धारा के सम्बन्ध मे किस निष्कर्ष का उल्लेख करे। सिक्ख गुरु जगत को 'वाहगुरु' (ब्रह्म) की रचना मानते है, जबकि ससार को उन्होंने 'सुपना' और मिथ्या माना है। माया को उन्होने जीव को भ्रमो मे भटकाने वाली वाहगुरु की रचना बतलाया है। इसके साथ ही जगत को भी 'वाहगुरु की कुदरति' की रचना माना है। यही स्थिति उनकी जीव सम्बन्धी मान्यताओ की भी है। भारतीय दर्शन-परम्परा मे जीव, जगत और प्रकृति के सम्बन्ध मे अलग-अलग दृष्टियो से विचार किया गया है। भारतीय दर्शन-प्रणालियो को आदर्शवादी और भौतिकवादी दर्शन-प्रणालियो के अन्तर्गत विभक्त करना ही उचित है। हमने आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन-प्रणालियो वाला विभाजन इसलिये स्वीकार नही किया, क्योकि जैन एव बौद्ध विचारधारा के अनुसार 'परमात्मा' को तो स्वीकार नही किया गया, लेकिन जन्मान्तरवाद आदि अवधारणाओ के प्रति उनकी आस्था को देखते हुए उन्हे भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली न कहकर आदर्शवादी दर्शन-प्रणाली कहना ही अधिक सगत है। वे आस्तिक दर्शन-प्रणालियाँ भी नही कही जा सकती। इसका कारण यह है कि वे ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही रखती। आदर्शवादी दर्शन-प्रणालियो मे भी पर्याप्त मत-भेद पाया जाता है।

आदिग्रन्थ की विचारधारा आदर्शवादी दर्शन-प्रणाली के अन्तर्गत है, लेकिन उसमें प्रवाहित चिन्तन-धारा का स्वतन्त्र स्वरूप है एव निजी वैशिष्ट्य भी है।

आदिग्रन्थ जैसे विशालकाय ग्रन्थ का बारम्बार अध्ययन करने के उपरान्त ही उसकी चिन्तन पद्धति से भलीभाँति अवगत हुआ जा सकता है। साथ ही उक्त रचना की विचारधारा की सागोपांग जानकारी के हेतु आवश्यक है कि भारतीय दर्शन की समूची परम्परा को सम्मुख रखा जाये। जो विचारक किसी पूर्वग्रह या साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रेरित है, वे ही ऐसा मानते है कि आदिग्रन्थ की विचारधारा भारतीय चिन्तन-परम्परा से बिलकुल भिन्न एवं स्वतन्त्र चिन्तन की उपलब्धि है। लेकिन तनिक ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरुनानक तथा अन्य सिक्ख गुरु जो भी बात कहते है, उसका मूलाधार भारतीय चिन्तन-प्रणालियाँ ही होती है। सिक्खमत के नाम से अलग सम्प्रदाय की कल्पना करने के उपरान्त ही इस प्रकार के दावे किये जाने लगे है कि गुरु-विचारधारा हिन्दू धर्म की विचारधारा के अन्तर्गत नही आती। लेकिन इस प्रकार का पूर्वग्रह भी अब समाप्त हो रहा है और आदिग्रन्थ की विचारधारा के वैशिष्ट्य को भारतीय दर्शन-परम्परा के सदर्भ मे ही परीक्षित करने के यत्न किये जाने लगे है। अन्तर केवल यह है कि अन्य निर्गुण सन्तो की भाँति सिक्ख गुरुओ ने भी हिन्दुओ और मुसलमानो को समान भाव से सम्बोधित किया है और दोनो के मिथ्या धार्मिक विश्वासो एव सामाजिक मान्यताओं को चर्चा का विषय बनाया है। लेकिन यह तथ्य विशेषकर ध्यातव्य है कि इस्लाम को गलत राह की ओर ले जाने वाले मुल्लाओ और काजियो को वास्तविकता से अवगत करबाते हुए एव मुसलमानों को असली मुसलमान की परिभाषा की ओर प्रेरित करते हुए भी सिक्ख गुरुओं की प्रधान दृष्टि उसी धर्म पर रही है, जिसके वे अग थे। अत उनकी विचारधारा की चर्चा करते समय केवल सूफियो की प्रेम-साधना के प्रभाव को ही स्वीकार किया जा सकता है। अन्यथा वे सुधारवादी हिन्दू धार्मिक एवं सामाजिक नेता ही है और उन्होने दार्शनिक चिन्तन के धरातल पर हिन्दू धर्म को ही अपने ढग से पुनराख्यात किया है।

आदिग्रन्थ मे अवतारवादी दृष्टिकोण का विरोध है। अवतारी विभूतियों को उसमे महापुरुषो की कोटि मे रखा गया है। वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी पौराणिक मान्यताओं को भी आदिग्रन्थ में हेय दृष्टि से देखा गया है और जाति-भेद का पूरी तरह खण्डन किया गया है। कर्मकाण्ड के माया-जाल को मिथ्याडम्बर बतला कर गुरु-साधना, नाम-सिमरन और सत्कर्मों पर ही गुरुओ ने अधिक बल दिया है। इस प्रकार की सभी धारणाएँ सिक्ख गुरुओ के समाज-दर्शन से प्रेरित एवं उसी पर आधारित है। प्रस्तुत अध्ययन मे आदिग्रन्थ के समाज-दर्शन के सम्बन्ध मे विचार नही किया गया है। 'भारतीय दर्शन-परम्परा और आदिग्रन्थ' शीर्षक से स्पष्ट है कि यह अध्ययन भारतीय आदर्शवादी दर्शन-प्रणालियों के सन्दर्भ में आदिग्रन्थ की दार्शनिक विचारधारा के प्रस्तुतीकरण का प्रयास है। हम किसी दूसरी रचना मे

आदिग्रन्थ के समाज-दर्शन को आधार बनाकर उसके साधना-पक्ष पर विचार करेंगे। आदिग्रन्थ का अध्ययन लेखक को वर्षों से प्रेरित करता रहा है ताकि हिन्दी साहित्य की निर्गुणधारा के इस महान आकर ग्रन्थ के दार्शनिक पक्ष पर विचार किया जाये। इस क्षेत्र मे प्रवेश करते ही उक्त प्रेरणा को और अधिक बल मिला क्योंकि एक ओर मूल रचना का बारम्बार परायण करने एव साथ ही इस रचना पर लिखे गये ग्रन्थो का अध्ययन करने से ऐसा लगा कि अभी तक विद्वानो के सम्मुख आदिग्रन्थ की दार्शनिक विचारधारा समस्या ही बनी हुई है। वे यह निश्चय ही नही कर सके कि इस रचना के दार्शनिक चिन्तन के सम्बन्ध मे किन्ही अन्तिम निष्कर्षो पर पहुँचा जाये। इसी न्यूनता के एहसास ने लेखक को पीछे की ओर जाने को बाध्य किया। लेखक का यह विश्वास है कि ट्रप महोदय की भांति यह मत प्रस्तुत कर देना कि आदिग्रन्थ मे विचारो की मौलिकता का अभाव है, बिल्कुल असगत है तथा अपने अज्ञान का ही उल्लेख करना है। लेकिन जो लोग आदिग्रन्थ के दार्शनिक चिन्तन को भारतीय चिन्तन-परम्परा से बिल्कुल विलग मानते है, लेखक उसे साम्प्रदायिक पूर्व ग्रह से अधिक मानने को किसी भी स्थिति मे तैयार नही है। दोनो ही स्थितियाँ आदिग्रन्थ के दार्शनिक विश्वासों के अपेक्षित गौरव के मार्ग में बाधा प्रस्तुत करती है। इस दुविधा-ग्रस्त स्थिति से निपटने के लिए ही आदिग्रन्थ का अध्ययन किया गया है और उस में व्यक्त दार्शनिक विश्वासो को भारतीय दर्शन-परम्परा के सन्दर्भ में देखा-परखा गया है। इस प्रयास मे जो सूत्र पकड मे आये उन्ही को मूलाधार बनाकर निष्कर्ष प्राप्त किये गये है। अनुसन्धान मे सफलता की यह पहली शर्त है आरम्भ मे ही हर प्रकार के पूर्वग्रह का परित्याग कर दिया जाये। तदनन्तर तटस्थ दृष्टि बनाकर किसी रचना का अध्ययन किया जाये। अत लेखक का ध्येय आदि-ग्रन्थ की विचारधारा को किसी बने बनाये चौखटे मे सयोजित करना नही रहा। न ही किसी मत-सम्प्रदाय की महत्ता दर्शाने के हेतु यह अध्ययन किया गया है। इसके पीछे कोई विशिष्ट राजनैतिक कारण भी नही है, जिसे प्रेरणाधार बनाकर मैकालिफ महोदय की भाँति रचना-कार्य मे प्रवृत्त हुआ गया हो। लेखक की दृष्टि पूर्णरूपेण अनुसन्धाता की दृष्टि है और तथ्यो एव प्रमाणो के आधार पर ही अपने मन्तव्यो को प्रस्तुत किया गया है। वर्षों से इस कार्य को सुसम्पन्न बनाने की मेरी इच्छा थी। आज यह कार्य पूरा होने जा रहा है। मुझे इस बात का हर्ष है कि मै ने पूरी ईमानदारी के साथ अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। इसके लिए मुझे भारतीय दर्शन-परम्परा के प्राय हर पक्ष को देखना, समझना और परखना पडा है। मै इसे एकांगी अध्ययन नही रहने देना चाहता था। जो कुछ मै कह पाया हूँ वह आप के सम्मुख प्रस्तुत है।

—हरवंशलाल शर्मा

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा मे ब्रह्म

द्वितीय खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा मे जीव

तृतीय खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा में माया

चतुर्थ खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा और जगत

सहायक-ग्रन्थ संकेत-सूची

ऋ० वे०	ऋग्वेद
श्वे० उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
बृ० उप०	बृहदारण्यकोपनिषद्
छा० उप०	छान्दोग्योपनिषद्
ईश० उप०	ईशोपनिषद्
म० या० वि०	महायान विंशतिका
स० द० स०	सर्वदर्शन सग्रह
म० वि० सू० टी०	मध्यान्तविभागसूत्र-टीका
क० उप०	कठोपनिषद्
न्या० सि० मु०	न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली
तैत्ति० उप०	तैत्तिरीयोपनिषद्
केन० उप०	केनोपनिषद्
वे० सू० शां० भा०	वेदान्तसूत्र-शांकर भाष्य
शिवदृष्टि वि०	शिवदृष्टिवृत्ति
श० प० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
ब्र० सू० भा० रा०	रामानुजाचार्य ब्रह्मसूत्र-भाष्य
शु० मा०	शुद्धाद्वैत मार्तण्ड
मध्व, ब्र० सू० भा०	मध्वाचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य
ई० प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ई० प्र० वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
आ० ग्र०	आदिग्रन्थ
त० आ०	तन्त्रालोक

प्रथम खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा में ब्रह्म

१ दर्शन-प्रणालियों का वर्गीकरण और आदिग्रन्थ

भारतीय मनीषियो एव पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय दर्शन को प्रायः 'आत्मा का विज्ञान' कह कर उसे या तो आदर्शवादी दृष्टिकोण के रूप मे प्रस्तुत किया है अथवा उसे पहले से ही आदर्शवाद से समीकृत कर तदनुसार उसकी व्याख्या प्रस्तुत करने की प्रणाली को अपनाया है।[१] लेकिन तनिक गम्भीरता से विचार करें तो उक्त धारणा मे अन्तर्विरोध की सम्भावना दिखाई देने लगती है। यह अन्तर्विरोध तब और अधिक स्पष्ट हो जाता है, जब हम यह देखते हैं कि भारतीय दर्शन-परम्परा मे एक ऐसी दर्शन-प्रणाली भी रही है, जो भौतिकवादी विचारधारा से प्रेरित है और जिसकी व्याख्या हम यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर ही कर सकते है। इसमे कोई सन्देह नही है कि भारतीय दर्शन मे प्राधान्य आदर्शवादी विचारको का ही है, और लोकायत विचारधारा पर्याप्त सघर्ष के बावजूद भी अपने लिए वह स्थान प्राप्त नही कर सकी, जैसा कि उसे मिलना चाहिए था। लेकिन आदर्शवादी स्वर की मात्र प्रधानता के कारण ही यह मान लेना कि भारतीय दर्शन 'आत्मा का विज्ञान' है, उचित एव सगत निष्कर्ष स्वीकार नही किया जा सकता। भारतीय दर्शन को आत्मा का विज्ञान कहते समय यदि यह मान लिया जाये कि आत्म-सिद्धान्त मे वे विचार भी सम्मिलित हैं, जिनके अनुसार आत्मा को शरीर से भिन्न, स्वतन्त्र चेतन सत्ता के रूप मे स्वीकार नही किया जाता, तब भी 'आत्मा के विज्ञान' वाली मान्यता किसी सीमा तक ठीक मानी जा सकती थी, लेकिन यह स्पष्ट है कि भारतीय-दर्शन को आत्मा का विज्ञान मानने वालों का आशय यह कदापि नहीं है।

उपर्युक्त प्रस्तावना बान्धने का आशय केवल इतना ही है कि भारतीय दर्शन-परम्परा मे आरभ से ही आदर्शवाद और भौतिकवाद में निरन्तर सघर्ष होता चला आया है। यह बात दूसरी है कि भौतिकवादी विचारधारा समय-समय पर प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण भारतीय चिन्तन-प्रणाली की प्रधान एवं अभिन्न अंग नही

---

१ नारायणराव: इंट्रोडक्शन टु वेदान्त, डा० राधा कृष्णन: भारतीय दर्शन।

बन सकी है। वस्तुत दर्शन अपने आप मे सम्पूर्ण नही हुआ करता, और न ही कभी ऐसा हो पाना सम्भव ही है। दर्शन का प्रेरक आधार हमेशा युग विशेष का समग्र परिवेश हुआ करता है। जिस युग का सामाजिक ढाँचा जैसा होता है, उसी के अनुरूप परिवर्तनो के प्रतिबिम्बो के आकार मे मानव-मस्तिष्क दार्शनिक अवधारणाओ के निर्माण मे प्रवृत्त होना आरम्भ कर देता है। इस देश मे अनुकूल परिस्थितियों के वातावरण मे, मानव-जीवन को बिना किसी पूर्व-निर्धारित दार्शनिक चिन्तन की प्रणाली के ही, भौतिकतावादी जीवन-पद्धति ने प्रभावित, प्रेरित एव तदनुरूप व्यवहार करते रहने का अवसर भी दिया है। लेकिन परिस्थितियों के बदल जाने के उपरान्त वैचारिक स्तर पर परिवर्तन होना स्वाभाविक है, इसलिए परिस्थितियाँ ही ऐसे रूप मे परिवर्तित हुई है, जिन से आदर्शवादी चिन्तन-प्रणाली के लिए अवकाश निकल आया और बाद मे आवश्यकता के बने रहने पर भी आदर्शवाद के विरोधियों के प्रयत्न सफल नही हो सके है।

दर्शन की चर्चा का प्रधान विषय जगत और उस के साथ हमारे सम्बन्धो की समेकित अवधारणा प्रस्तुत करना होता है। इसलिए उसमे मनुष्य की मूल उत्पत्ति एवं उसे (मनुष्य को) प्रभावित करने वाली परिस्थितियों, तत्त्वों और समस्याओ पर किये जाने वाले चिन्तन को ही उसके प्रधान प्रतिपाद्य के रूप मे स्वीकार किया जाता है। साधारण शब्दों मे इसे इस प्रकार भी कह सकते है कि दर्शन मे मनुष्य और उसको चारो ओर से प्रभावित करने वाले जगत के सम्बन्ध मे ही प्रधान रूप से विचार किया जाता है। लेकिन मानव की मूल उत्पत्ति और जगत के प्रसग मे उसकी समस्याओं आदि पर विचार करते समय प्रकृति (ब्रह्माण्ड) आदि स्वयमेव दार्शनिक विचारणा के विषय बन जाते है। इस तरह ज्ञान, विचार, जीवन, कला और धर्म भी उस के अन्तर्गत मान लेने पडते है। दार्शनिक लोग इस सम्बन्ध मे भी विचार करते है कि ब्रह्माण्ड की रचना ईश्वर (परम चैतन्य सत्ता) करता है अथवा जगत का अस्तित्व अनादि है। पदार्थ और मस्तिष्क (चेतना) के सम्बन्धो के बारे मे विचार करना भी दर्शन का ही विषय माना जाता है। दर्शन मे इस सम्बन्ध मे भी विचार किया जाता है कि क्या पहले अस्तित्व की स्थिति होती है अथवा विचार (Idea) की। इस तरह पदार्थ और आत्मा की प्राथमिकता का प्रश्न भी दर्शन के ही अन्तर्गत है। दर्शन मे इस तथ्य पर भी विचार किया जाता है कि वास्तविक के सज्ञान को प्राप्त कर सकने मे विचार कहाँ तक सक्षम या अक्षम है। जगत के स्वतन्त्र अस्तित्व या मानव-विचारों मे उसकी सत्ता के बारे मे भी दार्शनिक अपनी-अपनी अवधारणाएँ बनाते रहते है। दर्शन की विचार-परिधि यहाँ तक व्यापक है कि वह इस तथ्य का भी पता लगाये कि क्या विचार वस्तुगत यथार्थ को सही-सही प्रतिबिम्बित कर भी सकता है या कि नही।

दार्शनिकों ने उपर्युक्त विषयो को सम्मुख रख कर विचार करते हुए जो-जो निष्कर्ष प्राप्त किये है, उनके कारण ही भिन्न-भिन्न दर्शन-प्रणालियो का निर्माण हुआ

है। अत दर्शन-परम्परा को हम चिन्तन एवं अस्तित्व की जानकारी के प्रयास का इतिहास भी मान सकते है। भारतीय दर्शन-परम्परा के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि ऐतिहासिक काल मे ही अधिकाश चिन्तन-प्रणालियो का निर्माण किया गया है। फिर भी इस तथ्य मे पर्याप्त बल है कि उपलब्ध साहित्य के अनुसार ऋग्वेद मे ही दार्शनिक चिन्तन का सूत्रपात हो गया था। तदनन्तर उपनिषदो के रचना-काल मे दर्शन के क्षेत्र मे अत्यन्त भव्य और तीव्र गति आ गयी थी। इसी बीच वैदिक आर्यों की सामाजिक व्यवस्था मे पर्याप्त परिवर्तन हो गए और पुरोहितो को अपनी शक्ति का प्रसार करने के लिए अनुकूल अवसर मिलने लगा। इसका फल यह हुआ कि पुरोहितो ने वर्ग-हित से प्रेरित होकर याज्ञिक कर्मकाण्ड का इतना अधिक प्रसार कर दिया कि मनु को भी उन्हे देवत्व से विभूषित करना ही पडा। वे इस मान्यता का प्रचार करने के लिए बाधित हो गये कि ब्राह्मणो की शिक्षाओं के सम्मुख नतमस्तक होना प्रत्येक वर्ण का कर्तव्य है।[1]

ब्राह्मणो (पुरोहितो) द्वारा उक्त स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे नये स्वर प्रबल विरोध का रूप धारण करने लगे। इस विरोधी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वेदो की सत्ता को ही अमान्य ठहराने के प्रयत्न किये जाने का आन्दोलन चलाया गया। विरोधी विचारको के पास यही एक सार्थक शस्त्र था, जिसका प्रयोग कर वे ब्राह्मण-शक्ति के मूल आधार को ही डाँवा-डोल बना सकते थे। इसलिए इतिहास की (ईसा पूर्व) सातवी शताब्दी से लेकर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्यवर्ती युगो मे ऐसी कई दार्शनिक प्रणालियाँ प्राप्त होने लगती हैं, जिनमे उपनिषदो मे मान्य ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की वेदान्ती अवधारणाओं का जोरदार शब्दो मे खण्डन किया गया है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो का मत है कि वैदिक विचारधारा के विरोध मे जो नयी दार्शनिक प्रणालियाँ मैदान मे आई, उनमे प्रधान रूप से वेदो का ही विरोध किया गया है। विशेषकर वैदिक विचारधारा के उस पक्ष पर प्रहार किये गये हैं, जिसके अनुसार आत्मा को पदार्थ से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे मान्यता प्रदान की गयी थी। इस प्रकार नयी चिन्तन-प्रणालियो मे वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषदिक वेदान्ती दोनो के चिन्तन का खुल कर विरोध किया गया है। ये प्रणालियाँ मुख्यतः सांख्य, लोकायत, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन और बौद्ध धर्म है। वास्तव मे उपनिषदो को पराविद्या मान कर, उनमे अपराविद्या (वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड) के विरोध की जो बात कही जाती है, वैदिक विचारधारा का विरोधी स्वर वही नही है। क्योकि बादरायण ब्रह्म-विद्या के प्रबल समर्थक होते हुए भी वेद-विरोधी विचारकों

---

[1] उत्तमाङ्गोद् भवाज्येष्ठयाद ब्रह्मश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः। मनु स्मृ० १-९३,
ब्राह्मण: सम्भवेनैव देवानामपि देवतम्।
प्रमाणं चैव लोकेस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम्॥ वही० ११-८४,

की कोटि में नही गिने जाते । इसलिए भारत की मुख्य-मुख्य दार्शनिक प्रणालियों को किसी दूसरे ही ढंग से विभाजित एव वर्गीकृत करने की आवश्यकता है ।

वैदिक कर्मकाण्ड एवं वेदोपनिषद की आदर्शवादी एवं यथार्थवादी विचारधारा बिल्कुल भिन्न हैं । इस दृष्टि से भारत की समूची दार्शनिक परम्परा को सामान्यतः आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन के इन दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है । पतंजलि के अनुसार नास्तिक दर्शन से आशय ऐसी विचारधारा से है, जिसकी दृष्टि मे परलोक की सत्ता को स्वीकारना एव तदनुकूल आचरण करना भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान है । इसके विपरीत आस्तिक दर्शन परलोक के अस्तित्व को स्वीकारते हैं तथा इस लोक मे तदनुरूप आचरण करने मे विश्वास रखते है । लेकिन कालान्तर मे आस्तिक और नास्तिक की परिभाषा मे भी पर्याप्त अन्तर दिखाई देने लगता है । इस नये दृष्टिकोण के अनुसार आस्तिक उसे माना जाने लगा, जिसका वेदों की सत्ता मे पूर्ण विश्वास था । परन्तु जो विचारक वेदों की सत्ता को नकारते थे, उन्हे नास्तिक की सज्ञा दी गयी । जिन्होने इस नये वर्गीकरण को माना है, उनके अनुसार न्याय, साख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा और वैशेषिक की चिन्तन-प्रणालियाँ आस्तिक दर्शनो के अन्तर्गत आती है एव जिनमे वेदो का विरोध किया गया है वे दार्शनिक प्रणालियाँ नास्तिक मान ली गई है । इनमे लोकायत, माध्यामिक सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्ध एव जैन दार्शनिक शामिल है । आरम्भिक न्याय, वैशेषिक और साख्य (अपने आरभिक या मूल रूप मे) ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करते । वे यह भी नही मानते कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का मूल कारण ब्रह्म (परम चेतना) ही है । अत उनका यह स्वर भौतिकवादी स्वर है ।

ईश्वर की सत्ता को न मानने वाले एव ब्रह्माण्ड को ईश्वर की रचना अस्वीकार करने वाले जिन दर्शनो का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके मत मे ब्रह्माण्ड की रचना का मूल कारण परमाणु अथवा प्रकृति (सत्वरजतमोगुणरूपा प्रधान) है । ये दर्शन मूल रूप मे ईश्वर की सत्ता को भी अस्वीकारते है और परमसत्ता (ब्रह्म) को ब्रह्माण्ड का रचयिता भी नही मानते, लेकिन साथ ही वे वेदों का विरोध करने वाले दर्शन भी नही है । इसलिए इन्हे नास्तिक दर्शन न मान कर आस्तिक दर्शनों का दर्जा ही दिया गया है । लोकायत दर्शन न तो वेदों को ही मानता है और न ही ब्रह्माण्ड की रचना का मूल कारण ब्रह्म (परम स्वतन्त्र चैतन्य) को स्वीकार करता है, इसीलिए उसे नास्तिक दर्शन कहना ही ठीक है । अन्यथा वह भी उसी कोटि का भौतिक दर्शन है, जिस कोटि मे साख्य, न्याय और वैशेषिक की गणना की जाती है । न्याय, वैशेषिक और सांख्य में ईश्वर की सत्ता को तो किसी न किसी रूप मे मान लिया गया है, लेकिन वेदों और उपनिषदों की भाँति वे ब्रह्माण्ड का मूल कारण प्रधान को ही स्वीकार करते है—पुरुष या ईश्वर को नहो । इसके साथ ही वे यह दावा भी करते हैं, कि उनकी विचारधारा का मूल स्वर उपनिषदो की तत्सम्बन्धी विचारधारा का विरोधी नही है । जीव का साध्य वे भी शाश्वत आनन्द की प्राप्ति एवं उसकी बन्धन से मुक्ति

ही स्वीकार करते हैं। सम्भवतः इन दर्शनों मे मध्यम मार्ग को इसलिए अपना गया है ताकि वे लोगों की दृष्टि मे समाज विरोधी न माने जाएँ। अन्यथा उनमे वेदो की स्वीकृति मात्र कथन से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

भारतीय दर्शन-परम्परा के कतिपय अधिकारी विद्वानो का यह भी विचार है कि साख्य, वैशेषिक, न्याय, योग, मीमासा और वेदान्त रूढ़िवादी दर्शन-प्रणालियाँ हैं, जबकि वे लोकायत, बौद्ध धर्म और जैन धर्म को विधर्मी दर्शन-प्रणालियो के अन्तर्गत मानते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह ध्यातव्य है कि स्वयं बौद्धों के अनुसार वे (बौद्ध) अपने आपको रूढ़िवादी बतलाते हैं तथा वेदान्त दर्शन की प्रणाली को विधर्मी प्रणाली के अन्तर्गत रखने का सुझाव देते है। यह समस्या विचित्र सी है, जिसने भारतीय दर्शन-परम्परा के वर्गीकरण को दोलायमान स्थिति मे डाल दिया है। इसलिए बेहतर यही है कि भारतीय दर्शन की परम्परा का वर्गीकरण भौतिकवादी और अध्यात्मवादी, इन दो प्रणालियो के रूप मे ही किया जाय। इस प्रकार से किये गये वर्गीकरण मे मात्र इतनी कमी रह जाती है कि कुछ ऐसी दर्शन-प्रणालियाँ तब भी शेष बच जाती है, जिनमें उक्त दोनो प्रणालियो की समान एवं असमान दोनों विशेषताएँ मौजूद हैं। क्योकि कुछ दार्शनिक ऐसे भी है, जो प्राथमिक सत्ता पदार्थ की न मान कर आत्मा की मानते हैं। उनका मत है कि संसार एक है एवं उसकी रचना सृष्टि-कर्ता का कौशल है। ऐसे विचारको को अध्यासवादी दार्शनिको की कोटि मे रखा जा सकता है। दूसरी कोटि के विचारको मे उनकी गणना की जाती है, जो आत्मा की प्राथमिक सत्ता तो नहीं मानते, लेकिन प्रकृति के अनादित्व का दावा अवश्य करते है। ऐसे विचारको को भौतिकवादी विचारक मान लेने मे विशेष कठिनाई का सामना नही करना पड़ता। भारतीय दर्शन की परम्परा का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत रचना मे इसी प्रणाली को आधार बनाया गया है।

सिक्ख गुरुओ का जीवन-काल पन्द्रहवी शताब्दी के अन्तिम दशक से शुरु होता है। तब तक अवतारवादी वैष्णव दर्शनो का निर्माण हो रहा था। 'बौद्ध सहजिया' और 'वैष्णव सहजिया' भी अपने साम्प्रदायिक विश्वासो के प्रचार मे रत थे, लेकिन इन मतो (आम्नायो) के अनुयाइयो मे ऐसी साधनाएँ प्रचलन प्राप्त कर चुकी थी, जिनके कारण सामाजिक अनैतिकता मे अधिक वृद्धि हो रही थी। भागवतपुराण का भी अत्यधिक प्रचार था क्योकि गुरुओ ने अपनी बानी मे रासधारियो (रासलीला रचाने वालो) को सकेतित कर, उनके धार्मिक अन्धविश्वासो का खण्डन किया है। ऐसा लगता है कि मत्स्येन्द्रनाथ की कौल साधना का विरोध कर गोरखनाथ ने, जिस योग-साधना का का प्रचार किया था, वह भी तब तक पतनोन्मुखी हो चुकी थी। गुरुओ ने विभिन्न सम्प्रदायों के योगियो से सत्संग किया होगा और वे उनकी इन कमजोरियो से भी भली-भाँति परिचित रहे होगे। उन्होंने जहाँ पंडित (पाण्डे) के नाम से कर्मकाण्डी पुरोहितो को, उनके मिथ्याडम्बर से परिचित करवाया है; और जहाँ वे मुल्ला और काजी को उनके धार्मिक अन्धविश्वासों का खण्डन कर उपदेश देते हैं, वहीं पर वे औघड़

आदि योगियों को भी वास्तविक योग से परिचित करवाते रहते हैं। गुरुओं के साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि अपने युग के समूचे धार्मिक समाज पर पडी है और उन्होंने उनमे प्रचलित सभी प्रकार के बाह्याडम्बरों की व्यर्थताओ से धर्म के तथाकथित नेताओ को परिचित भी करवाया है।

सिक्ख गुरु निर्गुण भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख प्रचारको मे गिने जाते है, बल्कि कबीर के बाद यदि किसी ने निर्गुण-भक्ति के आन्दोलन को सशक्त आधार दिया है तो वे सिक्ख गुरु ही है। जिस प्रकार लोकायतो द्वारा किसी समय ब्राह्मणवाद का विरोध किया गया था, उसी प्रकार का विरोध अपने-अपने समय मे निर्गुण सन्तों ने किया है। अन्तर केवल इतना है कि लोकायतो (आरभिक) के विरोध का माध्यम उनकी भौतिकवादी विचारधारा थी। आरम्भ मे ही उन्होंने ऐहिक जीवन को ही अपने सामने रखा था, क्योंकि उस समय तक शारीरिक एव बौद्धिक श्रम के अलगाव की स्थिति सामने आने का प्रश्न ही नही था। भौतिकवादी दृष्टि से सामाजिक स्थितियो का अध्ययन करने वालो ने उस समय के भौतिकवाद को इसी कारण आरम्भिक भौतिकवाद की ही संज्ञा दी है। दार्शनिक प्रणाली के रूप मे लोकायत विचारधारा उस युग की उपलब्धि है, जब वैदिक और औपनिषदिक काल मे सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप आदर्शवादी विचारधारा के लिए भूमिका का निर्माण हो गया, और पुरोहित वर्ग, वर्ग-हित की भावना से प्रेरित होकर आत्मा और ब्रह्म की मान्यताओ के प्रचार मे अग्रसर हुआ और अन्त मे उसने आदर्शवादी विचारधारा की स्थापना मे सफलता भी प्राप्त कर ली।

निर्गुण की भक्ति के आन्दोलन-काल की परिस्थितियाँ उक्त परिस्थितियों से बिल्कुल भिन्न थीं। उस युग की सामाजिक व्यवस्था और शासन-सत्ता के सन्दर्भ मे ऐसी विचारधारा को ही जन्म मिल सकता था, जिसमे ईश्वरवाद को ही सहारा बनाया जाता, लेकिन युगव्यापी पाखण्ड एव वर्ण-व्यवस्था की शक्तिशाली प्राचीर का भेदन करना ही एक प्रकार की अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी थी।

गुरुओ के समय, समाज के तौर पर धर्म के दो रूप प्रचलित थे। व्यापक अर्थों मे पहले को हिन्दू धर्म कहा जा सकता है और दूसरे को इस्लाम—जिसे धर्म की तुलना मे 'मजहब' कहना ही अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। लेकिन जहाँ तक सामन्तवादी व्यवस्था का प्रश्न है, हिन्दुओं और मुसलमानो की सामाजिक दृष्टियाँ एक जैसी ही थी। सामन्तवादी युग मे धर्म का जैसा स्वरूप हो सकता है, तनिक अन्तर के साथ दोनो की धार्मिक मान्यताएँ प्राय: एक जैसी ही थी। हिन्दुओ मे यदि अवतारवाद की अवधारणा का प्राबल्य था, तो मुसलमानों मे वही रूप पैगम्बरवाद ने प्राप्त किया हुआ था। दोनो ही परलोक को मानते थे। एक का पुनर्जन्म का सिद्धान्त यद्यपि दूसरे की जन्नत (स्वर्ग) की कल्पना से भिन्न था, फिर भी मुसलमानो मे भी यह विश्वास प्रचलित था, कि प्रलय के बाद सारी रूहें (जीव) अपनी-अपनी कबर से उठ खडी होंगी और पैगम्बर की सिफारिश पर अल्लाह (खुदा) उन्हे स्वर्ग या नरक

में जाने की आज्ञा देगा। अतः कर्म और उसके फल के रूप में स्वर्ग और नरक की प्राप्ति की धारणा दोनों में किसी न किसी रूप में समान दृष्टिकोण से ही सम्बन्धित थी।

सिक्ख गुरु जिस सामाजिक व्यवस्था में स्वयं साँस ले रहे थे, उसी का प्रभाव एवं परिवेश ही उनके जीवन-दर्शन को प्रभावित कर सकता था। इसलिए हम उन से भौतिकवादी विचारधारा का प्रचार करने की आशा कर ही नहीं सकते थे। वे प्रगतिशील विचारक थे और यह चाहते थे कि सामाजिक असमानता का अभिशाप मानव-जीवन से दूर होना चाहिए। वे अपनी इच्छा को तभी क्रियान्वित कर सकते थे, जब वे सामाजिक विषमता को बढ़ावा देने वाली अवतार के सिद्धान्त जैसी मान्यताओं का खण्डन करते। देवतावाद एवं बहुदेववाद का विरोध करते ताकि उसके द्वारा सामाजिक वैषम्य को दूर किया जा सके। हिन्दू धर्म का रूप वर्ण-व्यवस्था की शृंखलाओं की सीमा के भीतर ही अपने आप को अभिव्यक्ति दे सकता था, और मुसलमान भी सामन्तवादी व्यवस्था में उसी ढंग से सोच सकते थे, जैसा कि वे सोच रहे थे। परमसत्ता सम्बन्धी प्रचलित मान्यता को परिवर्तित रूप देकर ही किसी सामाजिक एवं धार्मिक सुधारक द्वारा सुधार की कल्पना की जा सकती थी। गुरुओं ने किया भी यही। उन्होंने अवतार के सिद्धान्त का खण्डन कर परमसत्ता (वाहगुरु) को निराकार, निर्गुण एवं जगत के रूप में सगुण मान लिया। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था से प्रेरित एवं सम्बन्धित सभी मान्यताओं के आगे प्रश्न चिन्ह लगा दिए। वे बार-बार पंडितों (कर्मकाण्डी पुरोहितों) एवं काजी-मुल्लाओं से यथार्थ और सत्य की पहचान का उपदेश देते रहे। वे इस यत्न में संलग्न रहे कि सभी पारम्परिक परन्तु रूढ़ परिभाषाओं को बदल दें।

आदिग्रन्थ में पाँडे को सम्बोधित करते हुए, उसे समझाया गया है कि पण्डित का असली अर्थ क्या है। वास्तविक योगी कौन है। सच्चा अवधूत किसे कहना चाहिए। यज्ञोपवीत क्या है, अर्थात् प्रायः सम्पूर्ण पारम्परिक मान्यताओं को उन्होंने फिर से व्याख्यात किया। उन्होंने काजी और मुल्ला को नमाज और रोजे की नयी व्याख्या दी, पण्डित को एकादशी और तीर्थयात्रा का नया महत्त्व समझाया। भाव यह कि परमतत्त्व (ब्रह्म) को नयी दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत कर गुरुओं ने वर्ग-समाज की अवधारणा पर गहरी चोट की है। वे आजीवन धर्म के ठेकेदारों को धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित करवाते रहे हैं। राम और कृष्ण को भगवान (परमात्मा) मानने का उन्होंने विरोध किया। उन्होंने कहा कि राम यदि परमात्मा होते तो वे सीता की खोज में वन-वन यूँ ही भटकते न रहते। रावण उनकी सीता को चुरा ले गया और वे विलाप करते रहे—झूरते रहे। इसी तरह कृष्ण के अवतारी रूप का भी उन्होंने भिन्न-भिन्न माध्यमों द्वारा खण्डन किया है। सभी को परमात्मा (वाहगुरु) की रचना माना है और इस उपाय के माध्यम से वर्ण-व्यवस्था की उस मान्यता का विरोध

किया है, जिसके अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण वाले, समाज मे विशेषाधिकारों को प्राप्त किये हुये थे।

आदिग्रन्थ मे जगत को मिथ्या मानने की बजाय उसे परमात्मा का शरीर माना गया है। गुरु संसार की ससरणशीलता तो स्वीकार करते है, लेकिन जगत के कण-कण मे ब्रह्म (वाहगुरु) की व्यापकता के कारण उसे सत्यस्वरूप परमसत्ता की सच्ची रचना ही मानते है। इस प्रकार उन्होने किसी पूर्ववर्ती पारम्परिक दार्शनिक प्रणाली को यथातथ्य रूप मे स्वीकार करने के स्थान पर स्वतन्त्र रूप मे ही ब्रह्म के स्वरूप पर विचार किया है। वर्ण-व्यवस्था की मान्यता के विरोध मे उन्होने ब्रह्म (वाहगुरु) द्वारा अवतार धारण करने की वैष्णव परम्परा को अस्वीकार तो कर दिया है, लेकिन परमात्मा की अवधारणा के अध्यात्मवादी दृष्टिकोण को पारम्परिक रूप मे ही माना है। ब्रह्म (वाहगुरु) को वे प्रकाश-विमर्श-परिपूर्ण चैतन्यसत्ता स्वीकार करते है तथा साथ ही उपास्य के रूप मे वैष्णव भक्तो की भाँति उसके सम्पूर्ण गुणैश्वर्य को उसी रूप मे मान भी लेते है। यद्यपि जगत को उन्होने सत्यस्वरूप ब्रह्म (वाहगुरु) की सच्ची सृष्टि माना है, लेकिन ससार की अवधारणा उन्हे यथार्थवादी चिन्तन से दूर ले जाती है। वे पदार्थ की प्राथमिक सत्ता स्वीकार करने के स्थान पर वाहगुरु को अद्वैत परम चैतन्य मान लेते है। कर्म ओर कर्म-फल एवं पुनर्जन्म को भी उन्होने मान लिया है, यद्यपि परलोक के बारे मे उनके विचार पौराणिक परम्परा से बिल्कुल भिन्न है। उनका मुक्ति-सिद्धान्त स्थितप्रज्ञता जैसा भी है और वैष्णव आचार्यो (विशेषकर रामानुज और बल्लभ) के मुक्त जीवो की स्थिति जैसा भी। साराश यह कि वे हर दृष्टि से अध्यात्म-वादी विचारको के वर्गीकरण मे ही रखे जा सकते है। एक विशेष आन्दोलन की परम्परा से सम्बन्धित होने तथा स्वतन्त्र विचारक के नाते उनके दार्शनिक चिन्तन के पारम्परिक एव मौलिक दोनो रूप देखने को मिलते है। इसलिए प्रस्तुत खण्ड मे उनके द्वारा वाहगुरु के स्वीकृत रूप के निरूपण एव उनके एतत्सम्बन्धी स्वतन्त्र दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने से पहले अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली के अन्तर्गत दर्शनो की मान्यताओं की चर्चा की गई है, और उसके बाद उनके वाहगुरु-स्वरूप पर विचार कर उनकी विचारधारा के वैशिष्ट्य से परिचित करवाया गया है।

अध्यात्मवादी परम्परा को काल-क्रम का रूप देकर उसे जिस पद्धति से प्रस्तुत किया गया है, उसकी चर्चा प्राक्कथन मे ही कर दी गयी है। भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली की बात इसलिए करनी पडी है कि ऐसा न करने से भारतीय दर्शन-परम्परा का पूरा प्रसग खण्डित होता था, नही तो आदिग्रन्थ की विचारधारा के सन्दर्भ में उसका कोई सम्बन्ध नही है। केवल वर्ण-व्यवस्था आदि की खण्डन-परम्परा पर ही कुछ प्रकाश प्राप्त होता है।

२ | पूर्ववेदान्तिक चिन्तन-परम्परा और ब्रह्म

भारत की अध्यात्मवादी दार्शनिक चिन्तन-धारा मे ब्रह्म का विशेष महत्त्व रहा है। प्राकृतिक शक्तियो मे देवत्वारोपण एवं उसके उपरान्त देवाधिदेव की अध्यात्मवादी धारणा ही परमसत्ता (ब्रह्म) की ओर प्रथम सकेत है। पहले 'पुरुष सूक्त' मे और उसके बाद 'नासदीय सूक्त' मे वैदिक विचारक देवाधिदेव (हिरण्यगर्भ-ब्रह्म) की मान्यता की ओर सकेत करते दिखाई देते हैं। परन्तु ब्रह्माण्ड के रचियता के रूप मे देवाधिदेव की धारणा वेदो मे स्पष्ट रूप मे प्राप्त नही होती। उपनिषदो मे ही स्वर्ग की कामना से यज्ञ करने मे हट कर जगत के आधार (प्राण-शक्ति) 'ब्रह्म' का विशेष निरूपण हुआ है। इस समय वैदिक कर्मकाण्ड को अपराविद्या मान कर अध्यात्म की ओर अधिक ध्यान देने के प्रयत्न किये गये है एव जीव और जगत के प्रसग मे ब्रह्म के स्वरूप का अधिक स्पष्ट एव विस्तृत विवेचन हुआ है। उपनिषदो मे घूम-फिर कर निश्चित रूप से ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता मान लिया गया है, जो कि वैदिक देवाधिदेव का ही परवर्ती विकास है। उपनिषदो के उपरान्त गीता मे पुरुषोत्तम-सिद्धान्त के रूप मे वैदिक देवाधिदेव एवं उपनिषदो के ब्रह्म के स्वरूप-विकास का और अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट विवेचन प्रात होने लगता है। अन्त मे बादरायण द्वारा 'ब्रह्मसूत्रो' के रूप मे उपनिषदों और गीता के ब्रह्म के स्वरूप को सुसम्बद्ध एव निश्चित रूप प्राप्त हो गया, जिसमे शकराचार्य का विशेष योगदान है। इस प्रकार ई० पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी पर्यन्त की ब्रह्म सम्बन्धी सम्पूर्ण चिन्तन-धारा के मूल-स्रोत किसी न किसी रूप मे उपर्युक्त आधार ही रहे है। इसलिए परवर्ती भारतीय चिन्तन-धारा मे इन्हे (उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र) प्रस्थानत्रयी की संज्ञा दी गई है। ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रस्थानत्रयी की मूल स्थापनाओ का परवर्ती चिन्तको द्वारा युगानुकूल मौलिक विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इन सबके समुचित अध्ययन से ही आदिग्रन्थ की ब्रह्म सम्बन्धी मान्यताओ का सही सधान पाया जा सकता है।

उपर्युक्त तथ्यो को दृष्टि मे रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आदिग्रन्थ की ब्रह्मस्वरूप सम्बन्धी विचारधारा या उसके दार्शनिक सिद्धान्तो का निर्धारण इस कोटि के दर्शनो के सन्दर्भ मे ही किया जाए। इसलिए प्रस्तुत प्रकरण मे आदिग्रन्थ

मे वर्णित परमतत्त्व-सिद्धान्त का निश्चय करने से पहले पूर्ववेदान्तिक विचारधारा की परिसीमा के भीतर पडने वाले विचारो की चर्चा कर ली गई है ।

हम यह भी कह सकते है कि सभी गुरुओ ने भक्ति-भावना के उद्गारो मे ही वाहगुरु के स्वरूप के विभिन्न पक्षो का स्तवन किया है, जो उनके अध्यात्मवादी दृष्टि-कोण का परिचायक है । सभी भारतीय दर्शनो, विशेषकर अद्वैत दर्शनो मे, परमतत्व को अकाल या कालातीत सत्ता स्वीकार किया गया है । तदनुसार वह क्षर और अक्षर, चेतन एवं अचेतन, सभी का अधीश्वर है वही विश्व की रचना करने वाला, उसका पालक एव सहर्ता बतलाया गया है । इस मान्यता मे विश्वास रखने वाले सभी दार्शनिको के अनुसार वह अपरिणामी सत्ता है और ससार की रचना, उसका पालन एव संहार उसकी स्वतन्त्र इच्छा के परिणाम है । ज्ञानमार्गी भक्तो एव भक्त ज्ञानियो ने उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा द्वारा स्वीकार की है ।

परमतत्व के परात्परस्वरूप के सम्बन्ध मे सभी पूर्ववेदान्तिक चिन्तको की धारणाएँ अन्तत एक ही केन्द्र-बिन्दु का स्पर्श करती है । परन्तु जीव और जगत तथा इन दोनो के सन्दर्भ मे परमसत्ता के स्वरूप, शक्तियो एव कार्यो आदि की चर्चा करते समय, उनमे परस्पर पर्याप्त मत-भेद भी पाया जाता है । जीव और जगत के स्वरूप का सैद्धान्तिक विवेचन ऐसे सभी दर्शनो मे अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुसार ही हुआ है । सभी पूर्ववेदान्तिक दर्शनो एव धर्म-मतो के आचार्यो ने परमतत्व को स्वतन्त्र अभिधान ही प्रदान नही किए है, अपितु उसके द्वारा सृष्टि की रचना के सम्बन्ध मे भी स्वतन्त्र चिंतन से काम लिया है । जीव की सृष्टि कैसे और क्यो हुई, जगत की रचना परमात्मा ने कैसे, किस लिए और क्यो की, आदि प्रश्नो को लेकर ही चिन्तको ने अलग-अलग सिद्धान्तो एव मान्यताओं की उपस्थापना की है । यही कारण है कि बाद मे भारतीय चिन्तन-परम्परा अनेकश धाराओ मे विभक्त हो गई है ।

इस अध्याय मे काल-क्रम की उपेक्षा करते हुए, 'वैदिक देवाधिदेव' एवं 'उपनिषदो मे ब्रह्म' की चर्चा के साथ गीता के 'पुरुषोत्तम-सिद्धान्त' का उल्लेख जान-बूझ कर किया जा रहा है । पुस्तक के नामकरण से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन-परम्परा के सन्दर्भ मे 'आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताओ का अध्ययन' ही इसका प्रतिपाद्य है, न कि दर्शन की परम्परा के इतिहास के परिचय का प्रस्तुतीकरण । वेदों से लेकर गीता तक की परमतत्त्व-विचार-परम्परा मे ही हमे वे सूत्र उपलब्ध होते है, जिन की आदिग्रन्थ के ब्रह्म-स्वरूप की अवधारणा से तुलना (समानता-असमानता) की जा सकती है । साथ ही बौद्धो एव जैनों के परमसत्ता-सिद्धान्त का परिचय भी इसी अध्याय मे दे दिया गया है क्योकि इन दोनों दर्शनो की परमतत्त्व सम्बन्धी मान्यताओ मे बहुत ही कम सम्बन्ध होते हुए भी आदर्शवादी (Idealist) विचारो के रूप मे कुछ समानता भी है । ये दर्शन पदार्थ को प्राथमिक तत्त्व मानने वालो की पंक्ति मे नही आते । अत इनका उल्लेख करते हुए ही ब्रह्मसूत्रो और शंकराचार्य की एव वैष्णवाचार्यो के वेदान्त के सन्दर्भ मे आदिग्रन्थ की ब्रह्म विषयक विचारधारा की

समानताओ एव असमानताओ का सधान पाना संगत एव उचित प्रक्रिया है । भारतीय दर्शन की सभी मुख्य-मुख्य दर्शन-प्रणालियों को रूप देने वाले विचार प्राचीन धर्म-रूपों मे ही विद्यमान रहे है ।

● वैदिक देवतावाद और एकाधिदेववाद

ऋग्वेदादि सहिताओ मे ब्रह्म-चिन्तन के पूर्णरूपेण अभाव की धारणा के बारे मे विद्वानो मे पूर्ण सहमति नहीं है । कइयो का मत है कि इन्द्र एवं वरुण आदि देवता प्राकृतिक शक्तियों को दिए गए नाम हैं एव इन्हे विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के अधिष्ठातृ देवता भी स्वीकार किया जा सकता है । वैदिक ऋचाओ द्वारा की गई स्तुतियाँ देवताओं के प्रति निवेदित प्रार्थनाएँ है, जिनमे अपने अभ्युदय के लिए याचनाएँ की गई है । वेदो मे वीरपुरुषों को भी स्तुति का विषय बनाया गया है और उन्हे धीरे-धीरे देवत्व प्रदान करने की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है । जो प्राकृतिक शक्तियाँ अभ्युदय एवं सुख-समृद्धि मे सहायक होती थीं; और जिन से धन और जीवन की हानि होती थी, स्तुतिपरक ऋचाओं मे उन दोनों के प्रति कृतज्ञता-भाव की अभिव्यक्ति हुई है और उन्हे अपने अनुकूल बनाने के लिए उनकी प्रशस्तियाँ एवं याचनाएँ की गई है । सुख की प्राप्ति और दुःख का निवारण मनुष्य की स्वाभाविक माग है; और इसी मे प्रेरित होकर उस युग का समाज देवताओं के प्रति नमित हुआ है ।

वैदिक देवताओ के प्रति निवेदित प्रार्थनाओं से यह भी पता चलता है कि जहाँ-कहीं जिस देवता विशेष की स्तुति की गई है, उसे ही सर्वोपरि देवता भी मान लिया गया है । प्रार्थी का स्वर सदा अपने उपास्य को सर्वोच्च स्थान देने मे ही विशेष मुखर हुआ है । इस प्रकार के देव-परिवार मे कुछ देवता अभ्युदय के देने वाले मान लिए गए है, और कुछ एक देवता ऐसे भी मिलते है, जिनके बारे मे यह विश्वास बन गया था कि उनके प्रकोप से व्यक्ति को कई प्रकार के कष्टो को सहना पड़ता है । ऐसे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही लोग उनकी कृपा-दृष्टि की कामना करते रहते थे । सहिताकालीन धार्मिक समाज के द्वारा स्वीकृत देवतावाद के पीछे मुख्यतः ये दोनो ही मूल कारण माने जा सकते हैं । विभिन्न देवताओं की प्रार्थना सम्बन्धी ऋचाएँ भी इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है ।

वैदिक युग मे किए जाने वाले यज्ञ आदि अनुष्ठानों द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था । एकाधिदेव के सिद्धान्त के लिए यह देवतावाद प्रारम्भिक भूमिका बना है । ऊपर इस तथ्य की ओर सकेत किया जा चुका है कि जो, जिस देवता की स्तुति करता था, उसी को वह सभी देवताओं का अग्रणी भी मान लेता था । इस प्रकार धीरे-धीरे परमदेव की स्वीकृति के लिए मार्ग बनता रहा । विद्वानो का विश्वास है कि 'पुरुष सूक्त' मे ही वर्णित पुरुष मे परमदेव या परमसत्ता-सिद्धान्त के तत्त्वों का अस्तित्व निहित है । इस सूक्त की ऐतिहासिक महत्ता ब्रह्माण्ड के सर्वोपरि एव सर्वशक्तिमान देवाधिदेव के सिद्धान्त की मान्यता के प्रसग मे ही स्वीकार की जा सकती है । इसमे उस युग के दार्शनिक विश्वासो की चर्चा के प्रसग मे इस तथ्य का भी संकेत

मिलता है कि उस समय का धार्मिक व्यक्ति यह विश्वास करता था कि यज्ञ के प्रसार के रूप मे परमसत्ता अपनी असीम शक्तियों एवं अनेक रूपों को अभिव्यक्ति प्रदान करती रहती है। ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त' परमसत्ता या देवाधिदेव की मान्यता की अन्तिम परिणति है।[1] बल्कि यह कहना चाहिए कि इसी सूक्त मे उपनिषदो द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के निर्गुण और निराकार स्वरूप की मान्यता ने अपने लिए आधार भूमि प्राप्त कर ली थी। अभीप्सित की सिद्धि के लिए प्रार्थित देवता को देवाधिदेव मानना, और 'पुरुष सूक्त' तथा 'नासदीय सूक्त' मे वर्णित विश्वास, वैदिक युगीन देवाधिदेव की धारणा के क्रमिक विकास की सूचना देते है।

● **उपनिषदों मे ब्रह्म का स्वरूप**

वैदिक काल के बाद उपनिषत्काल का आरम्भ होता है। यह काल पराविद्या के प्रति अटूट निष्ठा का काल है। इस समय आर्य एवं आर्येतर जातियो मे परस्पर सामाजिक मेल-जोल के कारण तथा मानव-चिन्तन के उत्तरोत्तर विकास के फलस्वरूप धार्मिक विश्वासो एवं आध्यात्मिक चिन्तन मे नये सूत्र जुड़ने लगे थे। यह युग सामाजिक अन्तर्भुक्ति के अत्यन्त अनुकूल था। क्योंकि इस काल मे अथर्ववेद की मान्यताओ के प्रति विश्वासी समाज एव आर्यो के समाज में पाए जाने वाले विरोधी स्वर क्षीण होने आरम्भ हो गए थे। धार्मिक विश्वासो का परस्पर आदान-प्रदान होने लगा था एव नए धार्मिक विश्वास भी उभरने लगे थे। धार्मिक विश्वासों मे परिवर्तन के साथ ही दर्शन के क्षेत्र मे भी नवीन दृष्टिकोण पनपने लगे थे। लेकिन हम इस नए आध्यात्मिक आन्दोलन के आरम्भ के ऐतिहासिक कारणो की ओर न जाकर केवल इतना ही कहेंगे कि अपराविद्या-यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड—की अपेक्षा पराविद्या-अध्यात्म मार्ग—को उत्तम मान लिया गया थाऔर अश्वमेध आदि यज्ञो को आध्यात्मिक अर्थ देकर उन्हे नए सिरे से व्याख्यायित करने के प्रयत्न भी आरम्भ कर दिए गए थे। 'नासदीयसूक्त' मे परमात्मा को निराकार एव अनिर्वचनीय सत्ता के रूप मे पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका था,[2] परन्तु यज्ञ आदि अनुष्ठानो को 'कमजोर नौकाएँ' मान कर ब्रह्म-विद्या के प्रति अत्यधिक झुकाव इसी समय हुआ। 'पुरुष सूक्त' और 'नासदीय सूक्त' मे ही विश्व की सर्जना करने वाली परमसत्ता अर्थात् ब्रह्म नामक शक्ति के बारे मे सोचना आरम्भ हो चुका था। यह विश्वास भी दृढ होने लगा था कि उसके स्वरूप के बारे मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। ब्रह्म का उपनिषदों मे आत्मा के रूप मे भी उल्लेख

---

[1] नासदीय सूक्त, ऋ० वे० १०-११६, वही० पुरुष सूक्त, १०-६०।

[2] नासदीय सूक्त, ऋ० वे० १०—१२६ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। ·· ····योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद।

हुआ है।[1] इस प्रकार उनमे ब्रह्म और आत्मा में पाई जाने वाली एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी हमें मिल जाता है।[2] ईशोपनिषद मे परमसत्ता को सर्वव्यापी और परम-आत्मा दोनों ही बतलाया गया है,[3] जिसका समर्थन हमे छान्दोग्योपनिषद् एव श्वेताश्वर-उपनिषद मे भी प्राप्त होता है।[4]

● गीता का पुरुषोत्तम-सिद्धान्त

उपनिषदों मे 'पुरुषसूक्त' एव 'नासदीयसूक्त' की विचारधारा को ही बार-बार एव किसी न किसी रूप मे दुहराया गया है। गीता की रचना से पहले ज्ञान, कर्म और भक्ति के बारे मे अलग-अलग खेमे बनने लग गये थे। एक ओर तो यज्ञों के रूप मे कर्म-काण्ड का प्राबल्य था और दूसरी ओर उसके विरोध मे विचारक आध्यात्म-विद्या की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित कर रहे थे। साथ ही भक्ति की ओर भी लोगों का झुकाव बढ रहा था। गीता मे तीनों के सन्तुलन पर बल दिया गया है और भक्ति को ज्ञान एवं कर्म के समकक्ष खड़ा किया गया है। महाभारत मे ही ऐतिहासिक कृष्ण के ब्रह्मत्व की ओर सकेत मिलने लगता है तथा उनके वासुदेव रूप की झलक भी महाभारत मे ही मिल जाती है। गीता मे उस समय तक के उपर्युक्त तीनो साधना-मार्गो मे समन्वय प्रस्तुत किया गया है। इसमे प्रतिपादित पुरुषोत्तम-सिद्धान्त उस युग के दार्शनिक चिंतन की महान उपलब्धि है। परवर्ती विचारकों ने उपनिषद्, गीता एव ब्रह्मसूत्रो को प्रमुख आधार के रूप मे स्वीकार कर अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तो की स्थापनाएँ की है। इसलिए सब मे ब्रह्म, जीव, जगत और माया के स्वरूप के विश्लेपण मे भी भिन्न- भिन्न दृष्टिकोण दिखायी देते है।

गीता मे क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम का उल्लेख कर पुरुषोत्तम-सिद्धान्त मे जीव और जगत की अपने ढग से व्याख्या की गयी है। क्षर मे सम्पूर्ण जगत की गणना की गयी है और अक्षर को आत्मा मान कर पुरुषोत्तम को क्षर और अक्षर से अतीत

---

[1] 'श्वे उप० १—२, काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति तिन्त्यम्। सयोग एषा नत्वनात्मभावादात्माऽप्यनीश सुख-दुःख हेतो ॥

पुरुष सूक्त, ऋ० वे० १०—९०, पुरुष एवेदं सर्व यद्भूत यच्च भाव्यम् ·· ··॥ इस सूक्त मे परम की अवधारणा ऐसे पुरुष के रूप मे की गई है, जिसके सहस्र सिर, नेत्र और पैर हैं। ब्रह्माण्ड परमपुरुष का अंग हैं। आकाश मस्तक, सूर्य आँख, पृथ्वी पाँव, पवन श्वास और नक्ष केश-जाल है।

[2] बृ० उप० २—४—१२, वही० ४—५—१४, छा० उप०, उद्दालक एवं श्वेतकेतु सवाद, वही० ३—१४—१, रा० कृष्णन, दि प्रिंसिपल उपनिषद्स, पृष्ठ १६८-६९।

[3] ईशोपनिषद, ५, मुण्डक० उप० २—२—१२।

[4] छां० उप० ८—१२—३, श्वे० उप० ८—१—१०, बृ० उप० २—३—१।

सत्ता स्वीकार किया गया है।[1] तदनुसार पुरुषोत्तम ही परमात्मा है, जो दृश्य एवं अदृश्य सृष्टि का अधिष्ठाता बतलाया एव माना गया है। गीता के अनुसार वह अव्यय ईश्वर है एव सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त परमसत्ता है। साथ ही इस तथ्य की ओर भी स्पष्ट संकेत है कि परमात्मा शरीरी और अशरीरी दोनो है। वही विश्व भी है और विश्व की सचालिका शक्ति भी। परन्तु अपने सत्यस्वरूप या परात्पररूप मे वह निराकार एव निर्गुण ही रहता है। गीता का पुरुषोत्तम-सिद्धान्त ऋग्वेद के पुरुषसूक्त एवं उपनिषदो मे वर्णित ब्रह्मस्वरूप से प्रभावित प्रतीत होता है।[2] ईशोपनिषद् मे परमसत्ता को सर्वव्यापक एव परात्पर दोनो माना गया है।[3] छान्दोग्य, श्वेताश्वतर एवं दूसरे उपनिषदों मे भी इसी मत का समर्थन हुआ है।[4]

● **आरम्भिक जैन विचारधारा . निर्माण-काल**

जैन धर्म को एक विशेष मत का रूप वर्धमान महावीर ने दिया है, जो बुद्ध के समकालीन थे और जिन्होने वैदिक पुरोहितवाद को अस्वीकार कर स्वतन्त्र चिन्तन प्रणाली का प्रचार किया था। बुद्ध की भाँति वे भी ब्राह्मण धर्म के विरोधी विचारकों मे माने जाते है। ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध मे औपनिषदिक आत्मा-सिद्धान्त के स्थान पर उन्होने इस धारणा का प्रचार किया है कि ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हुए भी ब्राह्माण्ड की रहस्यमयता से अवगत हुआ जा सकता है। परम (अध्यात्म) ज्ञान के बारे मे उनका विश्वास था कि प्रत्येक जीव विशेष प्रकार के अनुशासन एव आचरण का पालन कर, दैवीय शक्तियो का अधिकारी बनने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। पुद्गल (जीव) का शरीर के साथ ही नाश नही होता और उसकी परमानन्दस्वरूपता सम्भव है। जैन मतावलम्बियो के अनुसार आदि पुरुष पार्श्वनाथ की मान्यताओ मे विश्वास रखने वाले निग्रन्थो (निगठ) ने ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप एक सम्प्रदाय का निर्माण कर लिया था। अन्त मे जैन विचारधारा (आरम्भिक) ने मत का रूप प्राप्त कर लिया, और महावीर तीर्थंकर के रूप मे पूजे जाने लगे।

वेदोपनिषद की विचारधारा एव ब्राह्मणवादी धर्म के स्वरूप का, बौद्ध एव जैन मतो की अवधारणाओ के सन्दर्भ मे अध्ययन के द्वारा यह पक्ष स्पष्ट हो जाता

---

[1] गीता, अध्याय १५।१८, यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तम । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित. पुरुषोत्तम ॥

[2] वही० अध्याय १५।१६—१९—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरमेव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरमुच्यते ॥१६॥ उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत. । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर. ॥१७॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षराद-पिचोत्तम ॥ अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम. ॥ बृ० उप० २।३।१ ।

[3] ईश० उप० ५ ।

[4] छा० उप० ८।१२।३, श्वे० उप० ८।१।१० ।

है कि उस समय के उपनिषदों के वेदान्तिक आदर्शवाद, कर्मकाण्डात्मक वैदिक धर्म की यज्ञ-अवधारणा और लोकायतो की अनात्मवादी विचारधारा के विरोध मे जैन विचारधारा का आरम्भ हुआ था। तब तक उपनिषदो के विचारक आत्मा को जगत का मूल एव आदिकारण मान चुके थे। जैन सूत्रों की विचारधारा की चर्चा करते हुए जैकोबी ने कहा है कि आरम्भिक जैन विचारधारा को सूत्र-बद्ध करने वालो ने आत्मा के विकास की कोटियाँ स्वीकार करली थी, लेकिन आत्मा का सभी प्राणियों एव मनुष्यो मे एक जैसा विकास स्वीकार नही किया गया था।[१] सूत्रो मे प्राणियो पर दया करने पर बल दिया गया है और वर्ण-व्यवस्था की मान्यता के आधार पर ऊँच-नीच की भावना को अमान्य ठहराया गया है। जैन सूत्रकारों ने जिस रूप मे दर्शन की अवधारणाओ की चर्चा की है, उससे इस तथ्य का सकेत प्राप्त होता है कि इस विचारधारा के निर्माण-काल मे ही इस अवधारणा की पृष्ठभूमि निर्मित हो चुकी थी कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सभाविक है। यही कारण है कि बाद मे पदार्थ के सम्बन्ध मे स्याद्वाद' की एक अवधारणा ही बन गई। तदनुसार किसी भी पदार्थ के 'या यह' 'या वह' दोनों ही पक्ष स्वीकार किए जाते है। यहाँ तक कि अनुमान पर आधारित यह आरम्भिक विचार परवर्ती जैन दर्शन का प्रधान सिद्धान्त ही बन गया है। इस मान्यता के अनुसार जगत की सत्ता अस्ति (है) और नास्ति (नही है) के रूप मे स्वीकार की गई है।

आरम्भिक जैन विचारधारा के अनुसार जगत परिवर्तनशील एवं गतिशील सत्ता है। वह औपनिषदिक धारणाओं के अनुरूप न तो मात्र प्रतीति सत्ता है और न ही उसका पूर्ण यथार्थ अस्तित्त्व ही माना गया है। जैन साहित्य मे ऐसी अनेक कथाएँ एव प्रसग प्राप्त होते है, जिनके द्वारा यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि किसी वस्तु के स्वरूप, गुण एव धर्म आदि की जानकारी अन्य वस्तुओ के सम्पर्क या आधार (माध्यम) पर ही प्राप्त की जा सकती है। जैन दर्शन की 'अस्ति-नास्ति' की अवधारणा का सम्भवत यही आधार है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार हम न तो किसी वस्तु को निरपेक्ष रूप मे प्रस्तुत ही कर सकते है और न ही उसके अस्तित्त्व का पूर्ण निषेध ही।[२] यही कारण है कि जैन धर्म की विभिन्न कथाओ मे यथार्थ के बहुमुखी पक्षो के साथ ही उसकी सापेक्षता पर भी अधिक बल दिया गया है। आत्माओ को अणु की भाँति ही यथार्थ माना गया है। तदनुसार प्रत्येक आत्मा और अणु स्वतन्त्र एवं एक दूसरे से भिन्न होता है। असंख्यधर्मिता का आधार भी इन्ही आरम्भिक विचार-णाओ मे ही दे दिया गया था। यथार्थ के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि वह आरम्भ मे ही संश्लिष्ट, अनेकरूपी एवं परिवर्तनशील अस्तित्त्व है। यही

---

१ जैन सूत्र २६-२७, जैकोबी का अनुवाद।

२ जैनसूत्र, २६-२७।

कारण है कि जैन दार्शनिक यथार्थ के सर्वपक्षीय ज्ञान की स्वीकृति के सम्बन्ध मे अत्यन्त संकोच से काम लेते है। उनकी इस धारणा का आधार सम्भवतः यही है कि वे ज्ञान के द्वारा किए गए मानव-निर्णयो को भी अन्तिम सत्य स्वीकार नही करते। इस सम्बन्ध मे उनके मत के अनुसार मानव-ज्ञान के निर्णय भी सीमित ही माने गए है।

जैन कथा-साहित्य, जिसके द्वारा विचारको ने अपने अभिमतो का स्पष्टीकरण किया है, मे जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन) की श्रेणियो के रूप मे जगत के दो प्रधान भेद स्वीकार कर लिए गए है। तदनुसार चेतन अचेतनमय जगत की रचना किसी (ईश्वर आदि) से नही होती, वह स्वतन्त्र अस्तित्व है और शाश्वत काल से इसी रूप मे चला आ रहा है। चेतन और अचेतन के बीच सापेक्ष सम्बन्ध मानते हुए दूसरे को पहले का साधन और पहले (चेतन) को दूसरे से प्राप्त होने वाले आनन्द का भोक्ता माना गया है। कर्म और चेतना की कमी या अधिकता के आधार पर जीव के कई भेद भी माने गए है। जीव को ईश्वर की रचना न मानकर तत्त्वो—आकाश, काल, धर्म और अधर्म, का मिश्रण स्वीकार किया गया है। प्रकारान्तर से इसे हम परमाणुओं का समवाय भी मान सकते है। आत्मा (जीव-पुद्गल) को, आरम्भिक जैन विचारधारा के अन्तर्गत, उचित आवरण के मार्ग का अनुसरण कर ज्ञान को पूर्ण बना सकने मे सक्षम मान लिया गया था। आत्मा की बद्धता (पुद्गलरूपता) की चर्चा करते हुए इस विश्वास का प्रतिपादन भी किया गया था कि कार्मिक परमाणु और आवेग ही उसे बद्ध बनाते हैं। लेकिन इन बन्धनों से मुक्ति की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह या अनुकम्पा के भाव से स्वीकार करने के स्थान पर स्वयं आत्मा के द्वारा किए गए यत्नो से मानी गई है। आरम्भिक जैन विचारको की इस सम्बन्ध मे यह धारणा रही है कि सम्यक् चरित्र के द्वारा कार्मिक परमाणुओ और आवेगो के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

जैन मत में मोक्ष की अवधारणा आरम्भिक विचारको के द्वारा ही मान ली गयी थी, लेकिन उसकी व्याख्या उन्होंने ईश्वरवादी आदर्शवादियो से भिन्न रूप मे की थी। इस सम्बन्ध मे वे ईश्वर की सत्ता की धारणा का विरोध करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक एव आध्यात्मिक अनुशासन से ही पुदगल (जीव) को मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है। सूत्र-काल मे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र की मान्यताओ का अत्यन्त विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है और आत्मा की अवधारणा को दर्शन की प्रणाली मे प्रस्तुत करने के प्रयत्न हुए है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जैनियों की आत्मा की अवधारणा बौद्धो की आत्म-अवधारणा से पर्याप्त भिन्न है। बौद्ध आत्मा के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जबकि जैनों का आत्मा की अनश्वरता मे पूर्ण विश्वास है। निर्वाण को ये आत्मा का निषेध नहीं मानते, बल्कि उसके द्वारा प्राप्त तीर्थंकर की स्थिति को आरम्भ मे ही स्वीकार कर लेते हैं। ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार न करने के बारे मे बौद्धों एवं जैनों का पूर्ण

मतैक्य है। दोनों कर्म-विधान में प्रगाढ आस्था रखते हैं। दोनों ही आदर्शवादी विचारक है, यद्यपि दोनो का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण पर्याप्त भिन्न है। संक्षेप मे यही आरम्भिक विचार धारा है, जिसका सूत्रपात पार्श्वनाथ के समय हुआ और जिसे वर्धमान महावीर ने गौतम बुद्ध के प्रचार-काल मे ही वेद-विरोधी विचारधारा के रूप मे अपने युग और समाज मे प्रचारित किया। बाद में दार्शनिकों ने इसे सूत्रों मे बांधा। इस समूची विचारधारा के सन्दर्भ मे ही जैन दर्शन के 'परम-आत्म-सिद्धान्त' से अवगत हुआ जा सकता है।

● **जैन दर्शन का परम-आत्म-सिद्धान्त**

आर्यों में वर्ण-व्यवस्था के नियम धीरे-धीरे कठोर होते गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज मे आर्यों के प्रमुख धार्मिक कृत्यों का विरोध होने लगा। तथ्यों की खोज करने पर पता चलता है कि इस विरोध के पीछे जाति-विरोधी भावना ही मुख्य रूप मे कार्य कर रही थी। इस प्रकार की विरोधी प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि दो नये धर्म-मत, नये धार्मिक आन्दोलन के रूप मे हमारे सामने आये। ये धर्म है—जैन और बौद्ध धर्म। इन के प्रवर्तक नेता महावीर और गौतम बुद्ध आर्य जाति मे प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की कठोरता एव यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को मानवीय कल्याण के मार्ग मे बाधक मानते थे। उन युग के समाज मे स्वयं भीतर ही भीतर विद्रोह की भावना सुलग रही थी, जो अन्तत उपर्युक्त दोनों नेताओं के नेतृत्व में साकार हुई। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय के समाज मे लोकायत विचारधारा भी प्रचलित थी। चार्वाक या लोकायत भौतिक जगत के अतिरिक्त किसी 'स्वतन्त्र चेतनसत्ता' मे विश्वास नही रखते थे। उनके मत में पुनर्जन्म की मान्यता भी व्यर्थ का विचार था। चार्वाक इसी कारण ईश्वरवादियो की दृष्टि मे नास्तिक थे। हमारे विचार मे महावीर और गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्मों का अनुगमन करने वालो को नास्तिक कहना गलत है। ऐसा न मानने का प्रधान कारण यह है कि इन दोनो मतों मे आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, जबकि चार्वाकों की प्रधान मान्यता इस विश्वास का विरोध करती है। जैन विचारक तो आरम्भ मे ही 'परम-आत्मा' के सिद्धान्त को स्वीकार करते आये है। उन का यह विचार 'अहं ब्रह्मास्मि' की विचारधारा मे अधिक हटा हुआ नही है। अत· जैन दर्शन मे, प्रकारान्तर से ही सही, 'परम-आत्मा नाम' मे स्वतन्त्र एवं सर्वशक्तिमान चेतन सत्ता के सिद्धान्त को मान लिया गया है। इसी तरह परवर्ती बौद्धो ने भी किसी-न-किसी रूप मे चेतन परमसत्ता को मान्यता दे दी है। अत· इस धर्म के आम्नायों में बाद में भक्ति-साधना के लिए भी पर्याप्त अवकाश निकल आया है।

जैन दर्शन मे 'परम-आत्म-सिद्धान्त' की चर्चा करते हुए डा० उमेश मिश्र ने आत्मा के पृथक् अस्तित्व की स्वीकृति को उसकी एक विशेषता माना है।[1] उक्त

---

[1] भारतीय दर्शन (हिन्दी) पृ० १०८।

दर्शन में जीव की कई कोटियाँ मानी गयी है। अतः अन्तिम अवस्था अर्थात् तीर्थंकर के जीव-स्वरूप तथा उपनिषदों और गीता के आत्म-सिद्धान्त में अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। जैनियों के मतानुसार सिद्धशील जीव का दर्जा वही है, जो गीता और उपनिषदों के अनुसार आत्मनिष्ठ का है। इस धर्म में क्रमशः तीन रत्न माने गये है, जिन्हे जैन आचार्य 'सम्यक् दर्शन', 'सम्यक् ज्ञान' और 'सम्यक् चरित्र' का अभिधान देते हैं। उस मे जीव के तीन मुख्य भेद भी किये गये है। साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि जीव उन्नति (अध्यात्म) के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढता हुआ तीर्थंकर की उपाधि प्राप्त कर लेता है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन के अनुसार ससारी दशा का सिद्धशील या तीर्थंकर ही जीव है जो जीवन मे उत्तरोत्तर ऊपर उठकर तीर्थंकर बन सकता हैं। इस दर्शन मे जीव मे प्राण-सत्ता की स्थिति का भी विश्वास किया जाता है। इस मत की साधनाओं मे शारीरिक, मानसिक एव इन्द्रिय-जन्य विभिन्न शक्तियों की मान्यताओं के सम्बन्ध मे भावात्मक दृष्टिकोण भी प्राप्त होते है। साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि कर्मों के प्रभाव से आत्म (जीव) की शुद्ध स्वरूपता का धीरे-धीरे तिरोभाव होने लगता है। तिरोभाव की ओर उन्मुख वह (शुद्ध जीव) अन्त मे पुद्गल-रूप धारण कर आवागमन मे भटकने लगता है।[1] जैन विचारक आत्मा को अवयवी मानते है। उनके इस विश्वास का कारण यह है कि वे भेद मे अभेद वाले सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। इस साधना मे जीव (पुद्गल) ऊपर बतलाये गये तीनों रत्नों की प्राप्ति के लिए ही यत्नशील हुआ करता है और वह इस यात्रा के अन्तिम छोर पर पहुँचकर जिस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, उसे भारतीय अध्यात्म-दर्शन मे आत्मा का शुद्ध स्वरूप माना गया है। अत. हम कह सकते है कि जैन धर्म का 'परम-आत्म-सिद्धान्त' ही उनका 'परमात्म-सिद्धान्त है। इस सन्दर्भ मे हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि जैनियों का उपर्युक्त 'परम-आत्म-सिद्धान्त' एव ब्राह्मण धर्म का 'परमात्म', 'परब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम-सिद्धान्त,' बिलकुल भिन्न विचार है, क्योकि यह परम-आत्म, ब्रह्माण्ड का कर्ता नही है।

---

[1] उमेशमिश्र, भारतीय दर्शन (हिन्दी) पृ० १०८।

३ | बौद्ध दर्शन में तत्त्व-विचार

● आरम्भिक बौद्ध विचारधारा

बौद्ध धर्म हीनयान के रूप मे पुरोहितवाद के विरुद्ध जन्मा और बाद मे स्वयं महायान के तान्त्रिक रूप को प्राप्त कर समाप्त भी हो गया । आरम्भ मे इसका उदय ऐसी परिस्थितियों मे हुआ था, जिस समय पुरोहित-वर्ग हर दृष्टि से सामाजिक आधिपत्य का आनन्द ले रहा था उस समय समाज मे अर्थ (धन) और बुद्धि (ज्ञान) दोनों, वैदिक समाज के द्वारा ही नियन्त्रित थे । समाज के शक्तिशाली अंग के ऊपर उनका पूर्ण आधिपत्य था । वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के कारण सामाजिक असमानता दिन-प्रतिदिन बढती जा रही थी । युग की आत्मा इस प्रकार के आदेशों के शासन से मुक्ति चाहती थी, जो कालान्तर मे गौतम बुद्ध के माध्यम से बौद्ध विचारधारा के रूप मे अवतरित हुई । जर्मन विद्वान मैक्समूलर के अनुसार पूर्व और दक्षिण मे जब ब्राह्मणवाद के विरुद्ध बौद्ध धर्म अपनी विचारधारा का प्रचार कर रहा था, उस समय ब्राह्मणवाद पश्चिम मे अपने पूरे यौवन पर थिरक रहा था ।[१]

गौतम (बुद्ध) ५६७ ईसा पूर्व नेपाल के सीमान्तवर्ती लुम्बिनी वन मे शुद्धोदन के घर पैदा हुए । सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं के प्राप्त रहते हुए भी उन्हे चारो ओर व्याप्त पीडा ने व्याकुल बना दिया और अन्त मे यह राजकुमार घर-बाहर छोड-कर सत्य की खोज मे निकल पडा । मानव की व्यथाओं के निदान एवं इलाज की खोज मे सात वर्ष इधर-उधर भटकते रहने के उपरान्त भी उसे कोई रास्ता न मिला । अन्त मे गया मे वह बुद्ध (ज्ञानमय) बना और आजीवन (लगभग ईसा पूर्व ४८३ तक) वह अपनी उपलब्धियों को सारे देश मे बाँटता-बिखेरता रहा । उसने लोगों को यह बतलाया कि यथार्थ (जीवित) जगत मे ही दुःख और पीडा से मुक्त हुआ जा सकता है । उस ने जीवन का अर्थ दुःख माना है । दुःखो की असलीयत, उनके कारणों एवं उन से मुक्ति पाने की सम्भावना एवं उनसे पीछा छुडाने का मार्ग इन चार महान

---

१ सिक्स सिस्टम्ज ऑफ फिलॉसफी, पृ० १५ ।

सत्यों को जानना उन्होने जरूरी बतलाया है। 'चार महान सत्य' और 'अष्टधा मार्ग' बुद्ध की विचारधारा के दो प्रधान सूत्र है। बुद्ध का कहना था कि अभिलाषा (तृष्णा) सम्पूर्ण दु.खो का मूलकारण है, अत. कारण को दूर करने का यत्न करना चाहिए। वे यह मानते है कि न तो इन्द्रियासक्तियों मे डूबे रहना ठीक है और न ही कृच्छ्र साधनाओ को अपनाना ही श्रेयस्कर है। उन्होंने मध्यममार्गी बनने का उपदेश दिया है। उनका पहला विचार 'कारण-कार्य-सम्बन्ध' से शुरू होता है। बुद्ध ने यह स्वीकार ही नहीं किया है कि वृक्ष की उत्पत्ति बीज का रूप-परिवर्तन या विकास नहीं। उस समय प्रचलित दार्शनिक विचारो के अनुसार यह माना जाता था कि वृक्ष की उत्पत्ति बीज मे ही निहित 'वृक्ष-आत्मा' की अभिव्यक्ति मात्र है। बुद्ध ने इस मान्यता के विरोध मे यह स्वीकार किया है कि पुरानी वस्तु के विनाश के बाद ही नयी वस्तु का जन्म हो सकता है। उनका यह विचार कालान्तर मे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' या 'आश्रित उद्भव' के नाम से प्रतिपादित किया गया है। इस मान्यता को दर्शन का रूप देकर आरम्भिक (हीनयानी) बौद्ध यह स्वीकार करते है कि कारण के विलुप्त हो जाने पर कार्य भी विलुप्त हो जाता है। वे नये को पुरातन का पुनरावर्तन नही मानते।[१] साराश यह कि बुद्ध के विचार (प्रतीत्यसमुत्पाद) के अनुसार सर्वत्र कारण-कार्य का नियम ही चल रहा है। कारण प्रभाव को जन्म देता है और प्रभाव प्रत्यावर्तित रूप मे कारण मे रूपान्तरित हो जाता है। इस के अनुसार सृष्टि की रचना का यह उत्तर दिया गया है कि जगत की उत्पत्ति (उद्भव) बिना-किसी ज्ञात आरम्भ के है और कारण और प्रभाव का नियम शाश्वत है। बौद्धों के अनुसार समस्त अस्तित्व निरन्तरधारा है, जो तत्त्वों से उत्पन्न होती है। इसलिए वे जगत को क्षणिक एव तात्कालिक स्फुरणो की एक शृंखला मात्र मानते है। बुद्ध से पहले यह माना जाता था कि सभी जागतिक परिवर्तन ऊपरी (आभास) है और प्रत्येक वस्तु मूल रूप मे शाश्वत है। कुछ विचारक यह भी मानते थे कि पदार्थ अनश्वर है और इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदन-अनुभव पदार्थ मे होने वाले परिवर्तनो की अभिव्यक्ति मात्र है। इसके विरोध मे बौद्धो ने यह स्वीकार किया कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण मे बदलती रहती है। अतः दीखने वाली स्थिरता हमारी दृष्टि का भ्रम है। एक दूसरे से अलग कतिपय भौतिक तत्त्वों का ही अस्तित्त्व है, जो अस्थायी एवं निरन्तर बदलता रहता है। उन्होने किसी भी वस्तु को अनश्वर नही माना। और न किसी की शाश्वतता ही स्वीकार की है।

बौद्ध किसी भी पार्थिव अथवा आध्यात्मिक सत्ता को अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत तत्त्व स्वीकार नही करते। उन्होने यहाँ तक मान लिया है कि वस्तु का यथार्थ अस्तित्त्व ही नहीं—है तो मात्र घटनाएँ, जिन्हे वे धर्म की संज्ञा देते है। वे इन्द्रियो द्वारा प्राप्त अनुभव को किसी ठोम या शाश्वत पदार्थ की परिवर्तनशीलता की

[१] राइस डेविड्स, डायालाग्स ऑव दि बुद्धा।

अभिव्यक्ति भी नही मानते थे । उनके अनुसार अस्तित्व का केवल प्रवाह (धारा) है । इसी तर्क के आधार पर उन्होने आत्मा को शाश्वत या अपरिवर्तनशील सत्ता मानने का विरोध किया है, जिस से ऐसा अनुमान होता है कि बौद्ध धर्म के आरम्भिक काल मे आत्मा को शाश्वत सत्ता माना जाता था । बुद्ध ने आत्मा को मात्र कल्पना मानकर उसकी चर्चा ही नही की । बौद्धो ने बाद मे पदार्थ, अनुभूति-समूह, सज्ञा एव आवेग के समुच्चय को 'आत्मा' मानकर 'पचस्कन्ध-सिद्धान्त' की स्थापना की है ।

बुद्ध ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही रखते थे, इसलिए उन्होने किसी के भाग्य की नियन्त्रक अलौकिक शक्ति (ब्रह्म) के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया है ।[१] वे यह कहा करते थे कि ईश्वर मे विश्वास का यह दुष्परिणाम निकलता है कि मनुष्य अपना चारित्रिक विकास न कर, एषणाओं का दास बन जाता है ।

उपर्युक्त अवधारणाओ का प्रणेता होने के बावजूद भी बुद्ध भौतिकवादी विचारक नही है । वे ईश्वर और आत्मा के आदर्शवादी अस्तित्व का निषेध करते हुए भी यह मान लेते है कि वैयक्तिक चेतना मृत्यु (शरीर-नाश) के बाद भी बनी रहती है । मृत्यु का अर्थ उन्होने धर्मों (संयोग) का बिखराव माना है और कहा है कि यह सयोग पुन. बन जाया करता है । इसी लिए बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म को मान लिया गया है । राहुल साकृत्यायन का यह कथन अत्यन्त सटीक लगता है कि बुद्ध ईश्वरवाद और भौतिकवाद मे भी मध्यम मार्गी है ।[२] बौद्धो का निर्वाण का सिद्धान्त भी आदर्शवादात्मक है, क्योकि वे उसे निरन्तर रहस्य-पूर्ण बतलाते हैं । उन्होने मुक्ति (निर्वाण) को मानसिक प्रयत्नों द्वारा प्राप्य स्वीकार किया है । बुद्ध धर्म की इस मान्यता का परवर्ती बौद्धो द्वारा खूब प्रचार किया गया है । 'भलाई से भलाई और बुराई से बुराई' की बात कह कर भी बुद्ध ने ईश्वर की सत्ता को नकारा था । इसी कारण बुद्ध धर्म मे कर्म और उसके फल को विशेष रूप से स्वीकार कर लिया गया है ।

बुद्ध ने वर्णाश्रम की व्यवस्था को दैवीय विधान नही माना । उनकी दृष्टि मे वेदो को पवित्र मानने का कोई महत्त्व नहीं है । ऋग्वेद के 'पुरुष सुक्त' को आधार मान कर ब्राह्मणो और क्षत्रियो ने अपने प्रभुत्व के लिए स्थान बनाया था । ब्राह्मण धर्म मे स्वीकृत इस मान्यता का बौद्धो ने कई बार अत्यन्त उपहासात्मक शैली मे खण्डन किया है और खण्डन की यह परम्परा हमे मध्यकालीन निर्गुण सन्तो तक प्राप्त होती है । कबीर और गुरुनानक ने भी ऐसे विश्वासो का बराबर खण्डन किया है । 'धम्मपद' के अनुसार बुरा वह है जो बुरे कर्म करता है—वर्ण विशेष मे जन्म ले लेने पर ही किसी को बडा (सच्चरित्र) नही माना जा सकता । बुद्ध कहा करते थे कि तर्क और अनुभव के परीक्षण के उपरान्त ही किसी बात को ग्रहण करना चाहिए । वर्ण-

[१] डा० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, खण्ड १, पृ० ३५९ ।

[२] न्यू ज, (१९५६) ।

भेद को उन्होंने अमान्य ठहराया था और इसी आधार पर सभी वर्ण वालों को संघ में दीक्षित होने का अधिकार भी दे दिया था।

उत्थान-पतन—अशोक के राज्य काल में बौद्ध-धर्म के परम्परागत रूप में कई प्रकार के परिवर्तन हो गये थे। उसकी व्यवस्था मठात्मक बन गयी थी, जिससे जीवन की सादगी के आदर्श को पर्याप्त धक्का पहुँचा था। राजाओं ने ब्राह्मणवादी युग में ब्राह्मणों को आश्रय दिया था, वही बौद्ध भिक्षुओं को बौद्ध धर्मानुयायी राजाओं से प्राप्त हुआ। बौद्ध धर्म में स्वीकृत आध्यात्मिक मूल्य उस युग के शासकों एवं सम्भ्रान्त समाज वालों के अनुकूल पड़ते थे। बुद्ध ने समाज की आर्थिक व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जिससे शोषितसमाज की वर्ग-चेतना पूर्ववत् कुण्ठित ही रह गयी थी। बुद्ध के सादा जीवन बिताने के उपदेशों का भी शासक वर्ग एवं धनी-समाज को लाभ ही हुआ। क्योंकि संसार की नश्वरता के प्रचार ने लोगों से अपने अधिकारों के लिए लड़ने की प्रेरणा ही छीन ली। ब्राह्मणवाद को परिस्थितियों ने जन्म दिया था, लेकिन बाद में उनकी विचारधारा ने स्थिर रूप धारण कर समाज के हित का विरोध किया। परवर्ती बौद्ध धर्म के प्रभाव-काल में भी यही हुआ है। केवल दया, नैतिकता और अहिंसा आदि के द्वारा मानवतावाद को कुछ शक्ति मिली लेकिन बाद में तान्त्रिक बौद्धों ने उसे भी विकृत बना डाला।

सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर इसके प्रचार को बहुत अधिक बढ़ाया लेकिन पुष्य मित्र के राज्य-काल में बौद्धों की स्थिति बिगड़ने लगी। इसकी क्षति-पूर्ति पुन कनिष्क के समय में ही हो सकी। राज्याश्रय बौद्ध धर्म को चिर काल तक स्थिर न रख सका, क्योंकि उसमें सैद्धान्तिक स्तर पर विभिन्न प्रकार के परिवर्तन आरम्भ हो गये। बुद्ध वेदों की भाँति किसी ग्रन्थ की रचना को आर्षकृति का रूप नहीं देना चाहते थे, लेकिन इसका परवर्ती बौद्धों ने गलत इस्तेमाल किया और बुद्ध के उपदेशों को स्वतन्त्र ढंग से व्याख्यात करना आरम्भ कर दिया गया। फलस्वरूप बौद्ध समाज कई दलों में विभक्त होकर अपनी-अपनी दर्शन-प्रणाली का अनुयायी बनता गया और अन्त में वर्ग-हितों के प्रवेश ने बुद्ध के उपदेशों को अपने हितों और स्वार्थों के अनुरूप ढाल लिया, जो बाद में शंकराचार्य के एक धक्के से ही समाप्त प्राय हो गया।

● हीनयानी बौद्ध दर्शन का परमसत्ता—सिद्धान्त

बुद्ध, भिक्षुओं को परमात्मा के बारे में अधिक ऊहापोह करने की अपेक्षा जीव के निजी प्रयत्न पर ही अधिक बल दिया करते थे। उन्होंने चार आर्यसत्यों के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर तदनुसार आचारण द्वारा वासनाओं के क्षय को ही निर्वाण माना है। परन्तु बुद्ध के मौन की परवर्ती बौद्धाचार्यों ने कई रूपों में व्याख्याएँ की है। उनकी मुख्य व्याख्या यह है कि बुद्ध ने परमतत्त्व के सम्बन्ध में मौन का सहारा लेकर यह ध्वनित किया है कि परमतत्त्व अनिर्वचनीय सत्ता

है। इसी अनिर्वचनीयता को लेकर इस धर्म के विभिन्न मतो और सम्प्रदायो में परमतत्त्व के स्वरूप की अलग-अलग परिभाषाएँ और व्याख्याएँ की गयी है।

विज्ञानवादी बौद्धो के विचार मे सत्य या अन्तिम सत्ता केवल विज्ञान की है। विज्ञान को वे स्वप्रकाशचैतन्य स्वीकार करते हैं।[१] उसे सतत परिवर्तनशील सत्ता माना गया है प्रथम विज्ञान दूसरे विज्ञान को जन्म देता है और दूसरा विज्ञान प्रथम विज्ञान मे पूर्णतया भिन्न न होकर केवल प्रथम विज्ञान मे कुछ विशिष्टता को सम्मिलित कर देता है। इसे आलातचक्र के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है।[२] विज्ञानो का नैरन्तर्य ही सामूहिक रूप मे 'सवृत्तिसत्य' का अभिधान प्राप्त करता है, परन्तु उसे परमसत्य नही माना जा सकता। इसी आधार पर स्थिर एवं स्वतन्त्र चैतन्य या आत्मा के शाश्वत अस्तित्व का उन्होने खण्डन किया है। यह भी बतलाया गया है कि विषय और विषयी भी केवल विज्ञान ही है, उनका स्वभाव भी क्षणिक है और उनकी प्रतीति या अनुभूति का आधार केवल 'संवृत्ति सत्य है।[३] आलय विज्ञान मे विषय और विषयी की स्थिति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। विज्ञानवादी अस्तित्व की प्रतीति अर्थात् आलयविज्ञान को भी अन्ततोगत्वा क्षणिक ही मानते है.[४] अन्त मे इस सम्बन्ध मे इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि विज्ञान वादियो के अनुसार अनादि वासनाओं का आधार आलयविज्ञान है। इसी वासना के कारण हमे विषय और विषयी के रूप मे अपने मे भिन्न पदार्थो और अपने आप के अस्तित्व का अनुभव होता रहता है। विज्ञान को 'प्रभास्वर' वतलाया गया है एव वह अपने वासनारहित स्वरूप मे विशेषणातीत सत्ता है। वही चित्त समूह का रूप धारण करती है। इसी के कारण जीव या पचभूतात्मक चेतन प्राणी को अपने अस्तित्व का अनुभव होता रहता है।[५]

१ म० या० वि० २०, चित्रमात्रमिद सर्व मायावदवतिष्टते। तत शुभाशुभ कर्म ततो जाति शुभाशुभा ।। स० द० स० प्र०२ पृ० १३; नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयस्ति तस्य नानुभवोऽपर। ग्राह्य ग्राहक वैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ।।

२ भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भाग १, पृ० ६२६।

३ स० द० स० पृ० १३।

४ वही० पृ० १५, तत् स्यात् आलयविज्ञान यद् भवेदहमात्मकम् ····· तथा तत्स्यात् प्रवृत्ति विज्ञान यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ···।।

५ मा० वि० सू० टी० १-२, शून्यताहिविशुद्धलम्बना। सात्र ग्राह्यग्राहक रहितता ।। वही० १-२२; यद्यय न भवेत्क्लेशो मुक्ता स्यु सर्व देहिन। विशुद्धा यदि सा न स्यात् प्रयत्नो निष्फलो भवेत् ।। वही० १-२; अभूतपरिकल्पो हि ग्राह्य ग्राहक रहित. शून्य इति न सर्वथा स्वभावतो नास्ति ········। इयमेव हि शून्यता या ग्राह्यग्राहक रहितता ।।

● **शून्यवादी बौद्ध दर्शन का परमसत्ता-सिद्धान्त**

माध्यमिक योगाचार-सिद्धान्त के मानने वाले है। वे विज्ञान की शाश्वत सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इस सम्प्रदाय के वैभाषिक और सौत्रांतिक मतों मे पहले मत के अनुसार जगत इन्द्रियग्राह्य अर्थात् प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, जबकि सौत्रांतिक उसे अनुमानगम्य ही मानते है। योगाचार दर्शन मे ज्ञाता और ज्ञेय के स्थान पर केवल विज्ञान की सत्ता को स्वीकार किया गया है। परन्तु माध्यमिक विज्ञान को भी शाश्वत तत्त्व नहीं मानते। वे शून्यता को ही परम सत्य बतलाते है।[1] शून्यता को वसुबन्धु ने केवल अभाव नही माना बल्कि उसे विज्ञान के रूप में कल्पित या प्रतीतिरूप प्रकाश स्वीकार किया है। असग और मैत्रेय ने इसे अभूतपरिकल्प का अभिधान दिया है। अभूतपरिकल्प-सिद्धान्त के अनुसार विज्ञान का अस्तित्व किसी इकाई विशेष के रूप मे नहीं है। उसमे ज्ञाता और ज्ञेय की केवल परिकल्पना ही की जाती है। विज्ञान इसी दृष्टि से अभूतपरिकल्प सत्ता है।[2] संक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है कि ज्ञाता और ज्ञेय के अभाव मे विज्ञान 'शून्य' है। इसे योगाचार का ज्ञान, वैभाषिकों और सौत्रांतिको का ज्ञात और हिन्दू दर्शनों का ज्ञाता नही कहा जा सकता। इसी दृष्टि से इसको अनिर्वचनीय कहा गया है।

हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि वैष्णव भक्त और निर्गुणवादी संत अनिवर्चनीय सत्ता का वही स्वरूप नहीं मानते जैसा कि बौद्धो ने स्वीकार किया है। शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों ने ज्ञाता और ज्ञेय को 'शून्य' का धर्म बतलाया है और उनके मेल से जीव-विज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। असल मे विज्ञानो का कोई आधार नही होता। अत इनका धर्म भी कोई नहीं हो सकता। नागार्जुन ने शून्य को परमसत्ता तो माना है परन्तु उसके स्वरूप का उल्लेख नहीं किया है। यही कारण है कि गौडपादाचार्य का 'ब्रह्म' और नागार्जुन का 'शून्य' दो स्वतन्त्र एव अलग-अलग सिद्धान्त बन गये है।[3]

बौद्ध धर्म महायान शाखा से वज्रयान और सहजयान के रूप मे भक्ति प्रधान बन गया। भक्ति-साधना के लिए उपास्य और उपासक की स्वीकृति आवश्यक होने के कारण बोधिसत्त्वों के अवतारी रूप जैसे सिद्धान्त को भी इनमे स्वीकार कर लिया गया है। बौद्ध धर्म द्वारा भक्ति प्रधान रूप धारण करने के ऐतिहासिक कारण थे। महायान मे हर एक स्तर के व्यक्ति को दीक्षित किया जाने लगा था, इस लिए साधना

---

[1] भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भाग १, पृ० ६१६; तंत्रलोक, प्र० ४, भाग १, पृ० ६५;

[2] म० वि० सू०टी० १-२,

[3] माध्य० वि० सू० १-२, वही० टीका १-२, भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०), भाग १, पृ० ६६२, माध्य० विभा० सू० १-२, टीका, भा० दर्शन (डा० रा० कृ०), भा० १, पृ० ५४६, ६६०, वही० पृ० ४६४।

पद्धतियों में सरलीकरण की आवश्यकता महसूस हुई। जिन लोगो ने बौद्ध धर्म के इन नये आम्नायों मे दीक्षा ले ली थी, वे अपने-अपने समाज मे प्रचलित देवी देवताओ के प्रति विश्वास एवं धार्मिक साधनाएँ लेकर आये थे। बौद्धचार्यों ने उनके देव परिवार को भी दीक्षित कर लिया था। इस प्रकार बौद्ध दर्शन की रंगत दे कर उन्हे बौद्ध देव-परिवार मे सम्मिलित कर लिया गया। हिन्दू धर्म के अवतारों की देखा देखी बौद्ध देवताओं मे भी वृद्धि होने लगी। बौद्ध धर्म मे मान्यता प्राप्त देव-परिवार का इतना अधिक विस्तार हुआ कि हिन्दू धर्म के देवी-देवताओ की तुलना मे वह आगे बढ़ गया।

महायानियो ने धीरे-धीरे धारणियो और मन्त्रो वाले साधना-मार्गो को अपना लिया था।[1] शून्य गगन मे 'नैरात्म्यदेवी' के निवास के सिद्धान्त का निर्माण हुआ। इस साधना को महासुख की साधना मान कर आत्मा और परमात्मा के मिलन जैसे सुख अर्थात् अद्वयावस्था की प्राप्ति के प्रयत्न किये जाने लगे। औपनिषदिक संयोग-सुख की भाँति ही प्रस्तुत साधना की सिद्धावस्था मे एकाकार होने के आनन्द पर अधिक बल दिया गया है।[2] सहजयान मे अवधूती, चाण्डाली और डोमी अर्थात् इडा पिंगला और सुषुम्ना की साधना को मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन स्वीकार कर निर्वाण की अभावात्मक स्थिति को भावात्मक स्वरूप मे बदल दिया गया है।[3] युगनद्ध की साधना को प्रेमी-प्रेमिका की आनन्द-केलि मान कर उससे प्राप्त होने वाले आनन्द को सहज प्रेम बतलाया गया है।[4] इस प्रकार सहजयान मे केवल शून्य मे विहार करने के स्थान पर परमतत्त्व एव उसकी शक्ति के मिलन-सुख की उपसना प्रधान हो गयी।[5]

● बौद्ध दर्शन की परमतत्व की सर्वसामान्य अवधारणा

महात्मा बुद्ध ने आत्मा और परमात्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के सम्बन्ध मे मौन से काम लिया है। उन्होने साधक (जीव) के प्रयत्न को ही महत्त्व दिया है। साथ ही चार आर्यसत्यों के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अनुकूल आचरण द्वारा वासनाओं के क्षय की अन्तिम स्थिति को ही निर्वाण (निब्बाण) माना है। महायानी बौद्धाचार्यों ने ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध मे बुद्ध के मौन की व्याख्याएँ इस तरह से की है, जिनके

---

१ आधुनिक बौद्धधर्म, नगेन्द्रनाथ बसु, पृ० ५।

२ वही० पृ० ६-७।

३ वही० पृ० ६; मिलिन्द पणहो; सम्पादक ट्रेकनकर, पृ० ३१५-१६; रहिस डेविड, राडिक्शनरी आफ पाली लंग्वेज—निब्बाण शब्द—धम्मपद, श्लो० २०३-४—निब्बाण परमं सुखम् ·· ·· ॥

४ साधनामाला, भा० २, पृ० ५०५; आब्स्क्योर रिलिजस सेकल्ट्स (दास गुप्ता), पृ० ३६।

५ बागची दोहाकोश, पृ० १२७।

सहारे परवर्ती अनुयाइयो ने स्वतन्त्र, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमन परमतत्व के सिद्धान्त के लिए पर्याप्त अवकाश निकाल लिया है। इस दृष्टि से महायान के रूप मे बौद्ध धर्म को एक नया ही रूप प्राप्त हुआ है। उसमे धीरे-धीरे तान्त्रिक साधनाओं का भी समावेश हो गया। अपने इस नये रूप मे पहुँचते ही बौद्ध धर्म भी भक्ति प्रधान धर्म बन गया। भक्ति प्रधान धर्म की सर्व प्रमुख विशेषता परमात्मा को स्वतन्त्र चैतन्य अर्थात् सर्वज्ञ एव सर्वशक्ति सम्पन्न मानना है। इसके साथ ही उसमे यह भी स्वीकार किया जाता है कि वह लीला के हेतु अथवा भक्तों के कल्याण एवं रक्षा के लिए, अवतार धारण करता है। नगेन्द्रनाथ बसु ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'आधुनिक बौद्ध धर्म' मे लिखा है कि बौद्ध धर्म मे धीरे-धीरे धारणियों और मन्त्रो की साधना का अत्यधिक प्रचार हुआ है।[१] बौद्ध धर्म की इस शाखा के आम्नायों का यह स्वरूप अपने मूल रूप से हटकर वैष्णव धर्म के अधिक निकट आ गया था।

महायान के प्रसिद्ध आम्नायो—वज्रयान और सहजयान—मे उपनिषदों के ब्रह्म-सिद्धान्त की भाँति ही परमसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। उसके भावात्मक अस्तित्व के बारे मे उनकी मान्यताएँ वैसी ही है जैसी कि हिन्दू-धर्म के भक्ति प्रधान सम्प्रदायो की। विज्ञानवादी बौद्धों के मत मे परमात्म-सत्ता के सम्बन्ध मे बहुत ही कम विचार किया गया है। शून्यवादी बौद्धों का भी यही दृष्टिकोण है। तान्त्रिक बौद्धों का 'शून्यता' और करुणा-सिद्धान्त' यद्यपि परवर्ती है, पर वे आत्मा और परमात्मा के अद्वैत-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते है। उनका मुख्य लक्ष्य मानव का हित अथवा उसे निर्वाण प्राप्त कराना है। चेतन प्राणियों के उपरान्त उन्होंने जगत के बारे मे ही अपनी चिन्तन-शक्ति को लगाया है। विज्ञानवादी आलय विज्ञान' के सिद्धान्त के प्रणेता है और उसी (विज्ञान) को वे परम-सत्ता स्वीकार करते हैं। विज्ञान के अतिरिक्त किसी दूसरी स्वतन्त्र चैतन्य शक्ति के अस्तित्व को वे मान्यता नही देते। शून्यवादी बौद्धो ने विज्ञान के स्थान पर 'शून्य' को अन्तिम सत्ता या अवस्था माना है। वे शून्य की विभिन्न व्याख्याएँ करते है। उनका यह भी विश्वास है कि जीव द्वारा अपने अस्तित्व की प्रतीति या अनुभूति भी क्षणिक है। उनकी दृष्टि मे जगत वासना एव सस्कार-प्रवाह से अलग स्वतन्त्र एव अनादि सत्ता नही है। माध्यमिक बौद्धों ने विज्ञान को भी वास्तविक सत्ता मानने मे इन्कार किया है। लेकिन आचार्य वसुबन्धु का विचार उपर्युक्त धारणा के अन्तर्गत नही आता। वे यह मानते है कि विज्ञान द्वारा प्रनीत होने वाले रूपो मे 'शून्य' पूर्णतया भावात्मक सत्ता है। आचार्य नागार्जुन 'शून्य' के स्वरूप के बारे मे 'भाव' और 'अभाव' की चर्चा करके ही चुप हो जाते है। परवती बौद्धाचार्यों ने बुद्ध और बोधिसत्त्वों के स्वरूप की अलग-अलग व्याख्याएँ की है। वज्रयान और सहजयान नामक तान्त्रिक आम्नायो मे इस प्रकार की व्याख्याओ पर अधिक बल दिया गया है।

---

[१] नगेन्द्रनाथ बसु, आधुनिक बौद्धधर्म, पृ० ५-७।

४ | भौतिकवादी दर्शन-परम्परा में परमतत्त्व

● **लोकायत: अर्थ-सीमा**

भौतिकवादी विचारक भारतीय दर्शन-परम्परा मे लोकायत या चार्वाक माने गये है। आदर्शवादियो और इनमे आरम्भ से ही परस्पर सघर्ष चलता रहा है। चित्ताकर्षक एव मनोहारी (चारु) तर्कों और युक्तियो द्वारा लोगो को अपने वाग्जाल मे फँसाने के कारण अध्यात्मवादी विचारको ने इनकी बार-बार भर्त्सना भी की है। इनके विरोध मे उनका यह आक्षेप रहा है कि ये लोगो को विपथ-गामी बनाते है। यही कारण है कि उन्होने (अध्यात्मवादियो) 'चार्वाक' शब्द की व्युत्पत्ति भी 'चारु' और 'वाक्' के मेल से ही मानी है, जब कि चार्वाकों की दर्शन-प्रणाली को देखते हुए उक्त व्युत्पत्त्यर्थ उनके प्रति किया गया मात्र उपहास ही प्रतीत होता है। डा० दास गुप्ता के अनुसार भौतिकवादी विचारको अर्थात् चार्वाको के विचारो को सही सन्दर्भ मे प्रस्तुत करने वाला शब्द 'लोकायत' है। लोकायत से उनका आशय उस मान्यता से है, जो आम लोगो मे उनकी जीवन-पद्धति को सहज रूप मे प्रेरित करती है। यही विचारधारा आगे चल कर एक दर्शन बनी है, जिसके अनुसार इसी लोक (जगत) को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस दर्शन-प्रणाली मे स्वर्ग, नरक और मुक्ति की अवधारणाओं को निरर्थक परिकल्पनाएँ बतला कर यह कहा गया है कि इन अवधारणाओं का मानव के यथार्थ जीवन मे कोई सम्बन्ध नही है।

जैन विचारक हरिभद्र एव उनके शिष्य मणिभद्र ने भी अपनी रचनाओ मे लोकायतो की दर्शन-प्रणाली के सम्बन्ध मे यही सकेतित किया है कि वे केवल लोक (जगत) को ही यथार्थ मानते है। अत: सिद्ध है कि भौतिकवादी विचारकों के लिए 'लोकायत' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता रहा है। डा० राधा कृष्णन का मत है कि 'लोकायत' सस्कृत का शब्द है, जिसका प्रयोग दार्शनिकों द्वारा भारतीय भौतिकवादियो के लिए किया जाता रहा है। वे यह भी स्वीकार करते है कि इस दर्शन-प्रणाली का पहला प्रसिद्ध विचारक वृहस्पति है, जिसकी स्थिति वैदिक काल मे ही स्वीकार कर ली गयी है। पदार्थ को प्राथमिक सत्ता मानने की बात

सम्भवत: सबसे पहले इसी बृहस्पति ने कही थी। इस सम्बन्ध मे यह जान लेना संगत होगा कि आदर्शवादी चिन्तको द्वारा बहुत पहले ही आत्मा की प्राथमिक सत्ता मे विश्वास का प्रचार हो चुका होगा और इसीलिए बृहस्पति को उनकी इस मान्यता का खण्डन करना पडा। यह भी सम्भव है कि प्रारम्भिक भौतिकवादी दृष्टि-कोण अत्यन्त प्राचीन रहा हो, लेकिन आत्मा या चेतना की प्राथमिक सत्ता की स्वीकृति के उपरान्त वह और अधिक सक्रिय बन गयी हो। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने भी अध्येताओं का ध्यान इस तथ्य की ओर खींचा है कि बृहस्पति की विचारधारा को प्रस्तुत करने वाले सूत्र, जो अब उपलब्ध नहीं है, आरम्भिक भौतिकवादी विचार-धारा का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करते हैं। तदनुसार लोकायतिक ही भौतिकवादी विचारक है। लोकायतिको के अनुसार इन्द्रिय-बोध (प्रत्यक्ष) से आगे किसी की भी सत्ता नही है। महाभाष्यकार पतजलि द्वारा लोकायत पर भागुरी की टीका का उल्लेख भी यही संकेत करता है कि यह विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है। इसी तरह कौटिल्य और शान्तिरक्षित के साक्ष्यों से भी लोकायत विचारधारा की प्राचीनता सिद्ध होती है। बहुत बाद के आदर्शवादी विचारक माधवाचार्य द्वारा चार्वाकों (लोकायतो) का जोरदार खण्डन इस तथ्य का साक्षी है कि लोकायतों का दृष्टिकोण उनके समय भी लोगो मे पर्याप्त प्रभाव बनाये हुए था। दूसरी ओर माधवाचार्य का समय आदर्शवादियो के आत्यन्तिक प्रभाव का समय भी है। सम्भवत. माधवाचार्य के जोरदार खण्डन को दृष्टि मे रखते हुए ही मैक्समूलर को यह कहना पडा है कि भारतवर्ष को केवल आदर्शवादी विचारको का देश स्वीकार करना सगत नहीं है।[२]

लोकायतो अथवा चार्वाकों की भौतिकवादी विचारधारा की प्राचीनता का एक और उदाहरण यह है कि प्राचीन जैन एवं बौद्ध साहित्य मे भी उस समय के यथार्थवादी विचारको के उल्लेख हुए है। रामायण और महाभारत में भी इस विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है तथा अपने युग के प्रसिद्ध अध्यात्मवादी विचारक आचार्य शकर ने भी विभिन्न प्रसगो मे इसका उल्लेख किया है। ऐसा अनुमान भी लगाया गया है कि सातवीं और आठवीं शताब्दी ई० पूर्व में ही वैदिक पुरोहितवाद के विरोध मे भौतिकवादी विचारक (लोकायत) विशेष रूप से प्रतिपक्षी आलोचक का स्थान ग्रहण करने लग गये थे। उक्त सभी तथ्यो के साक्ष्य के आधार पर यही स्वीकार करना पडता है कि भारत मे भौतिकवादी अपनी विशिष्ट मान्यताओं के साथ वैदिक काल मे ही, उसकी कर्मकाण्डी दृष्टि का खण्डन करने एवं अपनी धारणाओ का प्रचार करने मे जुट गये थे। यह आरम्भिक विरोध तब तक निश्चित दार्शनिक मान्यताओं की निर्माणावस्था की स्थिति मे ही था। उस समय तक

---

[१] दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ८६।

[२] वही० पृ० ९७।

अन्य आस्तिक दर्शन-प्रणालियाँ भी अभी स्पष्ट नहीं हो पायी थीं।[१] डॉ० भट्टाचार्य के अनुसार बृहस्पति भारतीय भौतिकवाद के प्रथम विचारक है क्योंकि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उन्होंने ही सबसे पहले पदार्थ को परमसत्य मान कर युगीन आदर्शवादी विचारधारा का विरोध किया था। उनका कहना था कि आत्मा को अविनाशी सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ है क्योंकि मृत्यु के बाद जीवन की स्थिति स्वीकार करना भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं है।[२]

● आरम्भिक भौतिकवादी दृष्टिकोण

पौर्वात्य साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर के अनुसार वैदिक कालीन मान्यताओं—याज्ञिक कर्मकाण्ड एवं मन्त्र आदि—के विरोध का आरम्भ स्वय उसी काल मे ही होने लग गया था। इस सम्बन्ध मे विचार करते हुए हरियाना महोदय ने यह अनुमान लगाया है कि ई० पूर्व आठवी शताब्दी के आस-पास पार्श्वनाथ नामक विचारक ने ही वेदो को निरर्थक एवं पारस्परिक विरोधो का भण्डार बतला कर, तदनुसार कर्मकाण्ड मे आस्था रखने वाले लोगो पर, व्यंग्य करना आरम्भ कर दिया था।[3] लोकायत के लेखक के मत मे उपनिषदो मे ही वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध की शुरुआत हो चुकी थी। बौद्ध एव जैन काल मे ऐसे कई विचारको के नाम मिलने लगते है, जिन्होने अध्यात्मवादियो के आत्म-सिद्धान्त का घोर विरोध करते हुए, उनकी कडी आलोचना की है। उस समय की अध्यात्म-विचारधारा के विरोधियो मे 'पुरान कस्सप' और 'मक्खलिगोसाल' आदि छ. प्रमुख विचारको की मान्यताओ के बारे मे भी बौद्ध एव जैन साहित्य मे चर्चा की गयी है। ये विचारक अत्यन्त विश्वास के साथ यह दावा करते हैं कि शरीर से अलग आत्मा (चेतनता) का स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता। उनके अनुसार मानव-शरीर का निर्माण चार तत्त्वों से होता है और इस के नष्ट हो जाने के बाद हर एक तत्त्व पुनः अपने मूल उत्स मे समा जाता है। 'अजीत केशकम्बलिन' की शरीर और आत्मा सम्बन्धी मान्यताओ के सम्बन्ध में जैन सूत्रो मे बतलाया गया है कि वे शरीर और आत्मा को दो एवं भिन्न स्वीकार नहीं करते थे। उनका मत था कि शरीर के नाश के साथ ही आत्मा (चेतना) का भी नाश हो जाता है।[४]

आरम्भिक भौतिकवादी विचारधारा मे धीरे-धीरे मूल तत्त्वो की संख्या में वृद्धि होती रही है। जैन सूत्रों में वर्णित आरम्भिक भौतिकवादियों की मान्यताओ के अनुसार तत्त्वो की संख्या चार से बढ़ कर पाँच हो गयी है। सम्भवतः आत्मा को

---

१ डा० राधाकृष्णन, हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, ख० १, पृ० २७७।

२ वही० हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, खं० १, पृ० १३३।

3 एम० हरियाना, औटलाइन्ज ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ४३-४४।

४ एच० जैकोबी, जैनसूत्राज, इंट्रोडक्शन, पृ० ३४।

पाँचवाँ तत्त्व मानने के हेतु ही ऐसा किया गया है। तब तक यह माना जाने लगा था कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी एव अलग-अलग आत्मा होती है। तदनुसार समस्त ब्रह्माण्ड अर्थात् भौतिक जगत के मूल कारण पाँच तत्त्व ही माने गये है। आत्मा को स्वतन्त्र चैतन्य स्वीकार करने का विरोध करते हुए कहा गया है कि पाँचो के पाँचों तत्त्व जब एक दूसरे के समवाय में न रह कर परस्पर विघटित हो जाते है उस समय आत्मा के अस्तित्व का भी लोप हो जाता है। यही से यह ध्वनि भी निकलती है कि पदार्थ के रूप मे ही सही, लेकिन आत्मा की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जाने लगा था। तत्त्वो की प्रत्यक्ष या परोक्ष सृष्टि की मान्यता का भी इन विचारकों ने खण्डन किया है। वे केवल इतना ही मानते है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि पाँचो ही तत्त्व स्वय अपने आप मे या अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त अनादि सत्ता के न तो परिणाम है, और न ही किसी से इनकी उत्पत्ति ही होती है। यही कारण है कि उन्होने तत्त्वों को आदि और अन्त की सीमाओ से अतीत मान लिया है। उनके अनुसार तत्त्वों की सत्ता शाश्वत है, वे शाश्वत तत्त्व (पदार्थ) का पूर्णनाश स्वीकार नही करते। वे यह भी स्वीकार नही करते कि मूल तत्त्व (पदार्थ) से किसी अन्य तत्त्व का जन्म हो सकता है।[1] कालान्तर मे तत्त्व सात मान लिए गये जिनमे चार तत्त्व पहले के थे और सुख, दुःख एव आत्मा को और जोड दिया गया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भिक भौतिकवाद मे ही शाश्वत पदार्थों की सख्या मे वृद्धि हो गयी थी। तदनुसार आत्मा का अस्तित्व स्वीकार तो कर लिया गया था, लेकिन उसकी अजरामरूपता का विरोध तद्वत् बना रहा था। ये विचारक आत्मा के पुनर्जन्म की मान्यता का भी खण्डन करते थे और इस अवधारणा पर अधिक बल देते थे कि शरीर के नाश के साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। यही पर अध्यात्मवादियों के साथ उनका प्रधान विरोध है। अध्यात्मवादी आत्मा का प्राथमिक अस्तित्व मानते है और साथ ही यह भी स्वीकार करते है कि उसका चैतन्य स्वतन्त्र है। वह अजरामर सत्ता है और शरीर के नाश या त्याग के उपरान्त वह नया जन्म भी ग्रहण कर लेती है। आरम्भिक भौतिकवदियों ने कर्म का स्थान नियति को दिया है। चेतना के सम्बन्ध मे उनकी यह अवधारणा है कि वस्तुओं के सज्ञान से अतिरिक्त उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही होती उनके अनुसार दो अलग-अलग शरीरो मे एक ही चेतनता की स्थिति सम्भव नही है।

भौतिकवादी विचारको और अध्यात्मवादी चिन्तकों मे निरन्तर सघर्ष की स्थिति चिरकाल तक बनी रही। कालान्तर मे सामाजिक व्यवस्था मे हुए परिवर्तनों के कारण अध्यात्मवादियो की साधन-शक्तियो मे वृद्धि हो गयी और भौतिकवादी विचारधारा का प्रभाव कम हो गया। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि इस विचार-धारा ने अपनी मान्यताओं का पूर्ण परित्याग कर आदर्शवादियों से अन्तिम समझौता

---

[1] जैनसूत्राज (जैकोबी) पृ० ३३९-४१, वही० पृ० २३६, ३४२-४३, २३७।

से परिचालित स्वीकार कर यह बतलाया गया है कि हमें परमात्मा या किसी अलौकिक शक्ति एव पदार्थ की नियामक चेतन सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं है। ब्रह्माण्ड भौतिक तत्त्वों का समवाय मात्र है—इससे अधिक वह कुछ भी नहीं। वह स्व-परिचालित रहता है, अतः उसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं नियमन आदि के लिए किसी अतिरिक्त परमचैतन्य के अस्तित्व को स्वीकार करना व्यर्थ की कल्पना है। परलोक की अवधारणा का खण्डन करते हुए ऋषि ने यह भी कहा है कि इस (प्रत्यक्ष) जगत को छोड़कर दूसरा कोई लोक नहीं है। जीव और शरीर को सहजात मान कर वह इस मत का प्रतिपादन करता है कि दोनों की सहजन्मता प्राकृतिक एव स्वभाविक है। दोनों साथ-साथ विकास, ह्रास एव अन्त मे विनाश को प्राप्त होते है। जगत के अस्तित्व की चर्चा मे इस मान्यता का प्रतिपादन भी कर दिया गया है कि सभी जागतिक पदार्थ अपने स्वभाव (प्रकृति) के कारण ही सत्तावान है। उत्पत्ति, नियमन और रक्षा आदि भी प्रकृति (स्वभाव) का ही धर्म है। इसलिए जगत और उसके सभी व्यापारो की खोज प्रकृति से भिन्न किसी दूसरी अलौकिक सत्ता मे करना बिलकुल व्यर्थ का विचार है।[1]

महाभारत मे हमे यदृच्छावाद की चर्चा भी मिलती है, जिसके अनुसार जगत किसी चेतन सत्ता (स्रष्टा) की रचना नही है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म की अवधारणा के खण्डन करने वाले भौतिकवादी विचारको ने अपने विचारो का प्रचार करते रहना बन्द नही किया था। यदृच्छावाद के अनुसार प्राथमिक सत्ता पदार्थ कणो (परमाणओ) की है और वे स्वय ही स्फूर्त होकर मिश्रण की प्रक्रिया के द्वारा जगत का रूप धारण कर लेते है। यदृच्छावाद मे किसी निश्चित कारण की उपस्थिति को भी अस्वीकार किया गया है। तदनुसार प्रत्येक व्यापार आकस्मिक घटना है।[2] महाभारत के शान्तिपर्व मे भौतिकवादी विचारको की मान्यताएँ यद्यपि प्रतिपक्षो के रूप मे ही प्रस्तुत की गयी है, लेकिन इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वैदिक काल से लेकर रामायण और महाभारत के रचना-काल पर्यन्त भौतिकवादी विचारक आत्मवाद के साथ ही अनात्मवाद या प्रकृति-सिद्धान्त की चर्चा भी करते रहे है। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नही है कि उनके इन विचारो को स्वीकार कर, जीवन-यापन करने वाला समाज भी अवश्य रहा होगा।

● लोकायत दर्शन-प्रणाली की परमतत्त्व की अवधारणा

गत पंक्तियो मे भारतीय भौतिकवाद के आरम्भिक रूप का ही उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही यह सकेत भी कर दिया गया है कि कालान्तर मे सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन के कारण आदर्शवादी विचारको का प्रभुत्व बढ गया

---

[1] महाभारत, शान्तिपर्व, १२, २२४, ७-६, २३७, ३-६।

[2] हरियाना, औट लाइन्ज ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ १०३-१०४।

था, और उन्होंने लोकायत विचारधारा को तोड़-मरोड़ कर ऐसे रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया था, जिससे जनता का ध्यान ही इस ओर से हट गया और वह ईश्वरवाद की कायल बनकर भौतिकवादी दृष्टि से दूर हट गई। लोकायत-साहित्य स्वयं धीरे-धीरे अन्धकार के गर्त में विलीन हो गया, इसलिए उसके शीघ्र पुनरुत्थान का अवसर भी हाथ से जाता रहा। आजकल हमें लोकायतों की मूल रचनाओं के माध्यम से उनके विचार किसी निश्चित एवं नियमित शृंखला के रूप में प्राप्त नहीं होते। जो कुछ भी हमें आज प्राप्त है, वह उनके द्वारा नहीं, बल्कि उनके विरोधी अध्यात्मवादियों के ग्रन्थों में ही सुलभ हो सका है। इस सम्बन्ध में पण्डित जवाहर लाल अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में लिखते हैं कि लुप्त एवं नष्ट कर दिये गये ग्रन्थों में वह सम्पूर्ण भौतिकवादी दर्शन भी था, जो प्रधान (आरम्भिक) उपनिषदों के तत्काल बाद रचा गया था। आज हमें उस साहित्य की विचारधारा के उल्लेख उसके खण्डन के रूप में ही प्राप्त होते हैं। यह तथ्य इस सत्य का प्रमाण है कि भारत में किसी समय भौतिकवादी दर्शन का पर्याप्त प्रचलन रहा है। यहाँ तक कि कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली की चर्चा की है, और उसे सम्मानित रूप में ही ग्रहण किया है। यदि यह दर्शन उस समय पर्याप्त प्रिय एवं प्रचारित न होता, तो वे इस की चर्चा की आवश्यकता ही अनुभव न करते। पण्डित जी के अनुसार आजकल इस दर्शन की बातें हमें जिस माध्यम से प्राप्त होती हैं, उसके रचयिता वे लोग हैं, जिन्होंने अपने आदर्शवाद की स्थापना के लिए भौतिकवादियों का घोर विरोध एवं उनकी विचारधारा को गलत ढंग से प्रस्तुत करने का यत्न किया है। वे यह भी मानते हैं कि सम्भवतः रूढ़िवादी धर्म में विश्वास रखने वालों एवं स्वयं पुरोहितों ने ही जान-बूझ कर इस दर्शन के साहित्य को नाश के गर्त में पहुँचा दिया है।[1] माधवाचार्य के अनुसार लोकायत-तत्त्व-विचार संक्षेप में इस प्रकार है

(क) लोकायत चार तत्त्वों की प्राथमिक सत्ता स्वीकार करते हैं। ये तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु।

(ख) वे केवल उसी वस्तु आदि का अस्तित्व मानते हैं, जो इन्द्रिय-ग्राह्य होती है। अप्रत्यक्ष के प्रत्यक्षग के अस्तित्व के सर्वथा अभाव के कारण, वे उसे प्रमाण स्वीकार नहीं करते।

(ग) प्रत्यक्ष के अनस्तित्त्व के सम्बन्ध में वे यह युक्ति एवं तर्क देते हैं कि जिस प्रकार खरगोश के सिर पर सींगों के प्रत्यक्ष अस्तित्त्व के अभाव के कारण, उनकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती, इसी तरह जिसका अस्तित्त्व कभी इन्द्रिय-ग्राह्य हुआ ही नहीं, उसकी सत्ता मानना ही असंगत है।

(घ) हर एक व्यक्ति (प्राणी) यदि सुखी या दुःखी होता है, तो उसका कारण प्रकृति-नियम है। इससे अलग कोई दूसरा कारण स्वीकार करना ठीक नहीं है।

---

[1] भारत की खोज, पृ० ८६।

(ङ) आत्मा की शरीरी स्थिति है, अतः वह शरीर से भिन्न कुछ भी नहीं है। पदार्थ से उत्पन्न जीवियों में चेतना की अभिव्यक्ति तत्त्वों के आपसी मिश्रण एवं समवाय से उत्पन्न होती है। इस संसार के अतिरिक्त दूसरा कोई लोक नहीं है। स्वर्ग और नरक मात्र कल्पना है। लोकों की अवधारणा कोरी कल्पना से अधिक कुछ भी नहीं।

(च) स्वर्ग का केवल इतना ही अर्थ है कि यदि व्यक्ति को सभी प्रकार के सुखों एवं सुविधाओं की प्राप्ति है तो यह मान लिया जाये कि वह स्वर्ग में रह रहा है। इसी तरह सभी प्रकार की असुविधाएँ, दुःख और कष्ट ही नरक है।

(छ) अग्निहोत्र-कर्मकाण्ड, तीनों वेद, त्रिदण्ड और भस्म-लेपन आदि की अवधारणाएँ एवं कल्पनाएँ उन लोगों के मस्तिष्क की उपज है, जो अपनी पेट-पूजा के लिए दिन-रात दूसरों को ठगने की बात सोचते रहते है।

माधवाचार्य की भाँति ही टुची महोदय ने भी चार्वाकों की दर्शन-प्रणाली की मूलभूत मान्यताओं का उल्लेख किया है, जिसका साराश इस प्रकार है :—

(क) चार्वाक, धार्मिक साहित्य को मिथ्या सिद्ध कर उसके प्रति उपेक्षा-भाव का प्रचार करते है। उनके अनुसार देवी-देवता या अलौकिक शक्ति का कहीं-कोई अस्तित्त्व नहीं है।

(ख) वे आत्मा की अमरता का खण्डन करते है और यह मानते है कि शरीर के नाश (मृत्यु) के बाद कुछ शेष नहीं रहता।

(ग) उनके मत में कर्म की धारणा भ्रम है, क्योंकि वह प्रवर्तन-हीन है। भौतिक तत्त्व (महाभूत) ही उनकी दृष्टि में सब की उत्पत्ति के मूल कारण है।

(घ) प्रज्ञा कोई स्वतन्त्र चेतना विशेष नहीं, वह भौतिक तत्त्वों से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान के लिए आप्त वचन एवं आर्ष ग्रन्थों को प्रमाण मानना ठीक नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान ही मात्र सच्चा ज्ञान है। धार्मिक आदेशों एवं पुरोहितों का कहना मानना मूर्खता है और जीवन का परम साध्य अधिक से अधिक आनन्द का लाभ एवं उसका उपभोग करना है। सक्षेप में लोकायत विचारधारा का यही स्वरूप है।

लोकायतों की विचारधारा परवर्ती दार्शनिक युग में भी सक्रिय रही है। पीछे यह बतलाया गया है कि आज हमें लोकायतों के ग्रन्थ, उपलब्ध नहीं है। परन्तु बौद्ध ग्रन्थों, जैन सूत्रों, रामायण, महाभारत एवं माधवाचार्य की रचना 'सर्वदर्शन-सग्रह' के साथ-साथ शंकराचार्य के साक्ष्यों के आधार पर उनके जिस दृष्टिकोण का गत पंक्तियों में प्रतिपादन किया गया है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह माना जा सकता है कि द्वैत दर्शनों में (भागवत दर्शनों को छोड़कर) लोकायतों की यथार्थवादी विचारधारा का ही प्रभाव है। न्याय और वैशेषिक तथा साख्य और योग दर्शन में लोकायतों के दृष्टिकोण को पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ है। इन दर्शनों की विचारधारा अपने मूल रूप में वैसी ही नहीं थी, जैसी आज हमें प्राप्त है। परिवर्तन के उन कारणों का सकेत भी पीछे कर दिया गया है। बात असल में यह है कि आदर्शवादी मान्यताओं का प्रभाव

इतना अधिक बढ़ गया था कि दर्शन का रूप प्राप्त करने तक सांख्य और वैशेषिक की उपस्थापना के रूप को परिवर्तित ढंग में प्रस्तुत करना अनिवार्य हो गया था। इन दर्शनो की अर्वाचीन रचनाओ, भाष्यो एव टीकाओ मे यह रूप-परिवर्तन और अधिक मात्रा मे कर दिया गया है। फिर भी इन दर्शनो के मूलस्वर की ओर सावधानी के साथ ध्यान देने से पता चल जाता है कि तत्त्व-विचार को ही इनमे प्रधान आधार के रूप मे स्वीकार किया गया है और ईश्वरवाद का प्रभाव मात्र सामाजिकों को अपनी ओर आकर्षित किये रहने के लिए ही अपनाया गया है। यही स्थिति प्राय. शैव एवं शाक्त दर्शनो की भी मानी जा सकती है। इनमे सन्देह नही कि शैवों का परमशिव-सिद्धान्त पूर्ण रूप से आदर्शवादी दृष्टिकोण है लेकिन प्रत्यभिज्ञावादियो ने उसे आदर्शवादी दृष्टि से आद्योपान्त परिसिक्त कर दिया है, अन्यथा शक्ति-सिद्धान्त मे हम अब भी प्रकृति-सिद्धान्त की झलक देख सकते है। यही स्थिति शाक्त विचारकों की भी है। यह ईश्वरवादी प्रभाव ही है, जिसके कारण परवर्ती काल मे भौतिकदृष्टि प्रधान विचारधारा मे सर्वत्र ईश्वरवादी रंगत दे दी गई है।

● भौतिकवादी एकत्व-अवधारणा

वैदिक आर्य पर्याप्त समय तक बहुदेववादी आस्था के द्वारा प्राकृतिक शक्तियो मे देवत्वारोपण के माध्यम से अपनी धार्मिक भावनाओं को सन्तुष्ट करते रहे। लेकिन वे इस तथ्य के अपवाद भी नही बने रहे कि मानव-मस्तिष्क उत्तरोत्तर अन्वेषण की जिज्ञासा से प्रेरित होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे नवीन उपलब्धियो की खोज मे क्रियाशील बना रहता है। धीरे-धीरे बहुदेववादी विचार ने एकाधिदेव की ओर उन्मुखता दिखला कर आर्यो की नवीन उपलब्धि का प्रमाण दिया है, जो कालान्तर मे उनकी चिन्तन-परम्परा मे एकत्व की अवधारणा का आधार बनी है। संहिताओं की मान्यताओ के तत्काल बाद ही औपनिषदिक विचारधारा ने जन्म ले लिया था और यह स्वीकार किया जाने लगा था कि आत्मा (ब्रह्म) ही जगत का मूलकारण है। संक्षेप मे आदर्शवादियो की एकत्व की अवधारणा का यही अर्थ या स्वरूप है। इसमे भी कोई सन्देह नही कि एकत्व के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी आदर्शवादी विचारकों मे पर्याप्त मत-भेद रहा है। एकत्व (जगत के मूलभूत आदि कारण) के विषय मे जो विचार ब्रह्मवादियो (उपनिषत्कालीन) के है, वे ही बौद्धों एवं जैनियो के नही है। यहाँ तक कि बौद्ध एव जैन स्वय भी काल-यापन के साथ-साथ विभिन्न सम्प्रदायों के रूप मे एक ही मूल अवधारणा की भिन्न-भिन्न ढंग से व्याख्या करते दिखाई देते है।

भौतिकवादी विचारकों एव आध्यात्मचिन्तकों की एकत्व की अवधारणाएँ स्वतन्त्र मान्यताओ के आधार पर स्थित होने के कारण बिल्कुल भिन्न प्रकार की हैं। 'पुरुष सूक्त' और 'नासदीय सूक्त' के आधार पर यह माना जा सकता है कि संहिताओं के रचयिताओ ने अनेकत्व से एकत्व की ओर ध्यान देना आरम्भ कर

दिया था। यदि ध्यान से देखा जाय तो उससे भी पहले इन्द्र, वरुण और ऋत आदि प्रमुख देवताओं के स्वरूप मे ही एकत्व की अवधारणा ने आरम्भिक रूप प्राप्त करना शुरु कर दिया था। अनेक ऐसी वैदिक ऋचाएँ मिलती हैं, जिनमें एक समय यदि इन्द्र को देवताओं का देवता बतलाया गया है तो दूसरे स्थान पर वरुण को भी देवाधिदेव के रूप में वर्णित किया जाता रहा है। 'ऋत' के वर्णनों मे तो एकत्व का विचार निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप-विचार जैसा प्रतीत होता है। सामाजिक व्यवस्था का भौतिकवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने वालों का मत है कि जिस समय समाज कबीली व्यवस्था से हट कर साम्राज्य या सामन्तवादी व्यवस्था का रूप ग्रहण करने लगता है, तभी से किसी एक (अद्वैत) परम सत्ता (ईश्वर) की अवधारणा अपनी भ्रूण-स्थिति प्राप्त कर लेती है और धीरे-धीरे ऐतिहासिक कारणों के परिवर्तन के फलस्वरूप वह विकास की अन्तिम सीमा तक जा पहुँचती है। उनके अनुसार ये कारण ही बहुदेववाद से एकेश्वर की ओर बढने का प्रेरक तत्व बने है।

एकत्ववाद और एकेश्वरवाद : भिन्न अवधारणाएँ—भौतिकवादी एकत्वाव-धारणा के सम्बन्ध मे विचार करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पहले इस विषय पर विचार कर लिया जाए कि क्या 'एकत्व' और 'एकेश्वर' एक ही अवधारणा के दो भिन्न अभिधान तो नहीं है। हमारे विचार मे एकत्व और एकेश्वर दो भिन्न अवधारणाएँ है। एकेश्वरवाद एक ही देवता मे आस्था अथवा धार्मिक विश्वास है, जबकि एकत्ववाद की अवधारणा मे ईश्वर (परमतत्त्व) की सत्ता को अस्वीकार कर दिया गया है। इस अवधारणा के अनुसार प्रकृति (मूल पदार्थ) ही जगत का आधार है, इसलिए 'एकत्व' मूल कारण प्रकृति की ओर सकेत है। तदनुसार सम्पूर्ण जागतिक घटना-व्यापार एव दृष्ट वैविध्य प्रकृति का विलास है, जो ईश्वर (चैतन्य) की तुलना मे जडतत्त्व या जड है। इस कारण इसे धार्मिक विश्वास न मानकर एक दार्शनिक धारणा (तत्त्व-विचार) के रूप मे ग्रहण किया जाना चाहिए। एकेश्वर की अवधारणा मे उन विचारों का खण्डन है, जिनके कारण एकत्ववाद और एकेश्वरवाद एक न होकर स्वतन्त्र, भिन्न और साथ ही परस्पर विरोधी अवधारणाएँ बन गई है।

भौतिकएकत्व-अवधारणा—भौतिकवादी दर्शन ईश्वर (ब्रह्म) को जगत का मूलकारण (प्राथमिक तत्त्व) स्वीकार नही करते। वे यह भी नहीं मानते कि शरीर से भिन्न आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्त्व होता है। उन्होने प्रकृति को जगत का मूल कारण माना है और सम्पूर्ण घटना-व्यापार एव वैविध्य को प्रकृति के स्वतः परिणमित होते रहने का फल स्वीकार किया है। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु को इसी एक ही मूल पदार्थ (प्रकृति) का विकास भी मान सकते है। जगत के आदि मे केवल मूल प्रकृति का ही अस्तित्त्व माना गया है और जगत के अन्त मे भी। उनके मत मे ईश्वर नामक कोई अलौकिक शक्ति न जगत की रचना करती है और न ही जगत के पालन और सहार के कार्य उसकी इच्छा के अधीन माने जा सकते है। ब्रह्माण्ड को समवाय के रूप मे स्वीकार कर यह बतलाया गया है कि यह समवाय जिस

समय टूटता है, उस समय वह पुन अपने मूल उत्स (मूल पदार्थ प्रकृति) में ही समा जाता है, अतः ब्रह्माण्ड का स्रष्टा ईश्वर नहीं, बल्कि आदिकारण (मूल प्रकृति) का परिणमन ही जगत की रचना है।

वस्तुत जगत की रचना की समस्या ने ही एकेश्वर और भौतिकएकत्व की अवधारणाओं को जन्म दिया है। आदर्शवादियों ने ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति के द्वारा इस समस्या का संधान पाया है और यथार्थ-चिन्तकों ने द्रव्य या पदार्थ (प्रकृति) को मूल कारण मान कर उसी से जगत की रचना की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की है। यह अवधारणाएँ अपने मूल रूप में जगत के अस्तित्व के विचार की उपलब्धिया है। आरम्भ से ही जगत की रचना के विषय मे ऊहापोह चलता रहा होगा और जिस समय जगत की रहस्यमयता का समाधान ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति के माध्यम से प्राप्त कर लिया गया, तब इस मान्यता का विरोधी विचार भी क्रियाशील बन गया होगा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कोई मान्यता अपने आप मे न सम्पूर्ण होती है और न अन्तिम सत्य ही। इसलिए उसके परीक्षण का कार्य अबाध रूप से चलता रहता है। यहाँ तक कि जिस समय एक मान्यता अधिक विश्वस्त रूप प्राप्त कर लेती है, उसी समय उसे परखने वाली आलोचक बुद्धि भी विशेष सक्रिय हो उठती है।

यह सम्भव है कि ईश्वरवाद के विरोध मे भौतिकवादी विचारों का सूत्रपात उपर्युक्त सहज प्रक्रिया की उपलब्धि बन कर हुआ हो। एक ही प्रकार की अवधारणा सभी के लिए समान रूप मे मान्य नही होती। यही कारण है कि एक समय जब कोई विचार या मत अवधारणा बन जाता है, तभी उसके पक्ष या विरोध मे विचारो मे गति आ जाती है। अत भारतीय चिन्तकों के एक सम्प्रदाय ने जिस समय एकेश्वर के रूप मे 'परमसत्ता-सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया, उसी समय उसका विरोध करने वाले विचारक भी सामने आ गए। एकेश्वर या ईश्वर के समकक्ष उन्होंने प्रकृति को जगत का मूलकारण सिद्ध करना आरम्भ कर दिया। जगत की रचना के प्रसग मे जिन्होने 'अनुभवातीत सत्ता' की अवधारणा बनाई, उन्होंने ही इस मत का प्रचार किया कि वही जगत का रचियता, शासक एव नियन्ता शक्ति है।

जगत के मूलतत्त्व की खोज मे सलग्न विरोधी विचारकों ने आदर्शवादियो के द्वारा मान्य वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ईश्वर की अवधारणा मात्र कल्पना है। वास्तविकता यह है कि जगत का निर्माण पदार्थ से होता है और पदार्थ ही जगत का मूलकारण है। जागतिक घटनाओ एवं रूप-वैविध्य के धर्म (गुण) स्वयं पदार्थ में ही निहित रहते है। सांख्यो ने प्रकृति को, नैय्यायिको ने परमाणुओं और वैशेषिको ने पदार्थ को प्राथमिक सत्ता माना और आदर्शवादियो से भिन्न जगत की रचना-प्रक्रिया पर विचार किया। बाद मे सांख्य और न्याय आदि दर्शन तो ईश्वरवाद की ओर झुक गए, लेकिन लोकायत अपनी मान्यताओं

पर दृढ रह कर इसी अवधारणा का प्रचार करते रहे कि जगत की रचना याहच्छिक है और उसका मूलतत्त्व पदार्थ है। सक्षेप मे भौतिकवादी एकत्व की अवधारणा का मूलभूत विचार इस प्रकार है—

(१) चित् और अचित् दो स्वतन्त्र अनादि तत्त्व नही है। जगत का प्राथमिक कारण पदार्थ है और पदार्थक प्रक्रिया या समवाय के कारण आत्मा (चेतना) उद्भूत हो जाती है। इसी आधार पर उन्होने आत्मवादियो के आत्म-सिद्धान्त का खण्डन किया।

(२) प्रमाण केवल प्रत्यक्ष ही स्वीकार किया जा सकता है। अनुमति आशिक सत्य होता है और शब्द (वेद) को प्रमाण मानना मिथ्याडम्बर है।

(३) प्राथमिक तत्त्व (जगत का मूलकारण) मे ही गति, और सम्मिश्रण की क्रियाएँ अन्तर्निहित है और वही परिचालित एव परिवर्तित होकर जगत का रूप धारण करता है।

(४) ईश्वर नामक कोई स्वतन्त्र चैतन्य नही, जिसे जगत का मूलाधार, उस का नियन्ता आदि माना जा सके।

(५) जन्मान्तर और कर्म-फल के अनुसार पूर्वजन्म मे किए गए कर्मो का मानव जीवन पर कोई प्रभाव नही पडता।

(६) प्रकृति यहच्छा या सत्कार्यवाद (कारण-कार्य) के नियम के अनुसार जगत मे स्वत परिणमित होती रहती है।

● सांख्य-योग दर्शन-प्रणाली आरम्भिक मान्यताएँ

साख्य विचारधारा को दार्शनिक प्रणाली मे बान्धने वाले आचार्य कपिल माने जाते है, जिनका जीवन-काल ईसा पूर्व छठी-सातवी शताब्दी माना गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह युग कुल-कबीले वाली सामाजिक व्यवस्था के बीच से राज्य-सस्था के उद्भव एवं स्थापना का युग है। तब तक सक्रान्ति-काल पूरे तौर पर समाप्त नही हुआ था, इसलिए पूर्ववर्ती सामाजिक अवधारणाएँ भी पूर्ववत् अपना स्थान बनाये हुए थी। एक ओर आदर्शवादी विचार-परम्परा उत्तरोत्तर विकसनशील थी तो दूसरी ओर यथार्थवादी (भौतिकवादी स्वर-प्रेरित) दृष्टिकोण भी विचारको को प्रभावित करता रहता था। यहाँ तक कि महाभारत मे भी पदार्थ से ब्रह्माण्ड के उद्भव को स्वीकार करने वाले विचार उपलब्ध हो जाते है। इस रचना के कई उल्लेखो से इस मत की पुष्टि होती है कि उस समय ऐसे विचारक विद्यमान थे, जो प्रकृति को अविनाशी, अनादि और अनन्त सत्ता स्वीकार करते थे तथा ब्रह्माण्ड के स्रष्टा एव नियन्ता के रूप मे ईश्वर की अवधारणा का खण्डन करते थे।

विद्वानो का यह भी मत है पूर्ववर्ती एव परवर्ती साख्य विचारो के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा अनुमित होता है कि यह चिन्तन-परम्परा मूल रूप मे अवैदिक है। इस अनुमान का आधार आदर्शवादी विचारको द्वारा इस प्रणाली की बहुत सी मान्य-

ताओं का स्वीकार कर लिया जाता है। गार्बे के अनुसार मूल सांख्यदर्शन मे ब्रह्माण्ड की स्रष्टा एवं नियन्ता शक्ति, ईश्वर की मान्यता को स्वीकार नही किया गया और वेदी के विधि-निषेध को भी व्यर्थ मानकर त्याग दिया गया है। वे यह भी मानते है कि मूल साख्य विचारधारा मे वैदिक तत्त्व बाद मे जोड दिये गये है और वे इतने आरोपित लगते है कि यदि उन्हे अलग कर दिया जाय, तब भी मूल साख्य विचारधारा के किसी सूत्र को क्षति नही पहुँचती।[1] कुछ इसी तरह के विचार जिम्मर ने भी व्यक्त किये है। तदनुसार साख्य और योग दर्शनो का मूल आदि-कालीन अवैदिक विचार-परम्परा मे खोजा जा सकता है।[2]

साख्य प्रणाली के उक्त मूलभूत विचारो का अस्तित्व सन् ईस्वी के आरम्भ से पुराना है। महाभारत मे प्रह्लाद के द्वारा कहलवाया गया है कि सभी वस्तुएँ प्रकृति से उद्भूत है और जो यह विश्वास बना कर जीवन की यात्रा मे अग्रसर होते है, उन्हे दु ख-पीडाएँ व्यथित नही करती। ठीक इसी आशय का प्रतिपादन साख्य-कारिका मे आरम्भिक उद्देश्यो की चर्चा करते हुए किया गया है। इस उद्देश्य-चर्चा का साराश यह है कि ज्ञान (मानव-जीवन के सर्व प्रधान ध्येय, की प्राप्ति के माध्यम) मे ही दु खो और पीडाओ का निराकरण सम्भव होता है। जीवन मे हम आन्तरिक, (मनस् से उत्पन्न) वाह्य (आधिभौतिक) एव अप्रत्याशित कारणो से ही सुखी या दुःखी होते है। साख्यकारिकाकार का मत है कि दु ख और पीडा से मुक्ति का उपाय वह नही, जिसका वैदिक पुरोहित विधान करते है। मानव यदि इन दु खो और पीडाओ से मुक्ति चाहता है तो उसे इस तथ्य को जानने का यत्न करना चाहिए कि जगत का और मानव का आपस मे क्या सम्बन्ध है।

आरम्भिक साख्य विचारधारा मे पुरुष (जीव) द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के उपायो एवं स्वय ज्ञान के रूप के सम्बन्ध मे जिन मान्यताओ का उल्लेख हुआ है, उनके अनुसार कोई भी वस्तु शून्य से उत्पन्न नही मानी जा सकती। तदनुसार सृष्टि पूर्व-स्थित पदार्थ (प्रकृति) का विकास (अभिव्यक्ति) है। कारण और कार्य मे अविनाभाव-सम्बन्ध है, इसलिए प्रत्येक वर्तमान कार्य (वस्तु) का कोई पूर्व-वर्तमान कारण अवश्य मानना पडता है। इन्द्रियो को प्रत्यक्ष होने वाला नाम-रूप, प्रकृति का कार्य है। इसलिए उसमे जो गुण है, वे गुण उसके मूल कारण मे भी होते है।

मूल रूप मे जिसका सूक्ष्म अस्तित्व ही नही, उसकी सृष्टि कर सकना असम्भव कल्पना है। कारण मे निहित प्रभाव को ही प्रकट किया जा सकता है। प्रकारान्तर मे कारिका की इस मान्यता का उल्लेख 'साख्य प्रवचन सूत्र' मे भी हुआ है। तदनुसार उत्पन्न या उत्पादित की जाने वाली हर वस्तु का मूल कारण पहले ही

[1] एन इट्रोडक्शन टु अनिरुद्धाज कमेटरी आन माधवाचार्याज इण्टरप्रेटेशन ऑव दि साख्य टेनेटस।

[2] फिलासोफी ऑव इण्डिया, पृ० २८।

होता है, अन्यथा वह उत्पादित प्रकट या विकसित नही हो सकती ।[1] यही सांख्यो का 'सत्कार्यवाद' है और इसी पर उनका प्रकृति-सद्धान्त आधारित है । तर्क की इस प्रणाली का अनुसरण करते हुए पहले साख्यो ने केवल प्रकृति (आद्यपदार्थ) को ही मूलकारण माना था । अतः स्पष्ट है कि मूल सांख्य विचारधारा के अनुसार मानव (प्राणिमात्र) के शरीर के अन्तर्गत होने वाली मानसिक क्रियाएँ एव स्वय शरीर मूलकारण (आरम्भिक पदार्थ-प्रकृति) के ही प्रकटीकृत रूप है । सभी जागतिक पदार्थों एव मानवी शरीर के सम्पूर्ण इन्द्रिय सस्थान प्रकृति के ही रूपान्तरण है । इसी कारण साख्यो ने औपनिषदिक आदर्शवादी विचारधारा का प्रबल विरोध किया था । साख्य-कारिकाकार ने प्रत्येक विकसित (मूलकारण-प्रकृति-से उद्भूत) वस्तु को शाश्वत, सर्वव्यापी, चल, बहुरूपी, निर्भर, विलयधर्मी एव साग माना है । प्रकृति (मूलकारण) को वे अविकसित आदिकारण (मूल पदार्थ) स्वीकार करते है ।[2] ये ही साख्यो की आरम्भिक मूल मान्यताएँ है ।

उपर्युक्त साख्य विचारधारा की आरम्भिक मान्यताओ एव उनमे अपनाई गयी आलोचनात्मक शैली को देख कर यह अनुमान लगाना कठिन नही है कि तब तक वेदोपनिषद की आदर्शवादी विचारधारा का पर्याप्त प्रचार हो चुका होगा । उसी का खण्डन करने के लिए ही साख्य विचारको को यह विरोध करना पड़ा । उन्होने सृष्टि को सृष्टिकर्ता की रचना की अवधारणा को मात्र ढकोसला बतलाया है । ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का समाधान सत्कार्य-सिद्धान्त के द्वारा करते हुए वे इस मत की स्थापना करते है कि जगत का प्रकटीकृत रूप मूलकारण (प्रकृति) पर आधारित है । प्रकृति को उन्होने शाश्वत, अकारण और सर्वव्यापक पदार्थ के रूप मे स्वीकार किया है । उनके अनुसार प्रकृति बोध और सवेदना से हीन, अविकसित तथा अरूप, लेकिन आदि पदार्थ है । प्रकृति के विकास का ब्योरा यहाँ देने की आवश्यकता इसलिए नही है कि जगत की रचना के सन्दर्भ मे साख्यो के पच्चीसों तत्त्व प्राय सभी ईश्वरवादी सत-सम्प्रदायो मे भी स्वीकार कर लिए गये है । इस सम्बन्ध मे इस तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि कपिल (साख्यकारिकाकार) मूल पदार्थ (प्रकृति) के लिए किसी बाह्य शक्ति (ईश्वरवादियो के अनुसार ईश्वर) की प्रेरणा की आवश्यकता अनुभव नही करते । इसके बिल्कुल विपरीत वे यह मानते है कि गति और कारणता की प्रक्रिया स्वय प्रकृति मे अन्तर्निहित रहती है । तदनुसार पदार्थ के विकास की प्रक्रिया मे ही चेतन (विचार सस्थान-मास्तिष्क) का भी उद्भव होता है, जिसके द्वारा हम वस्तुगत जगत को जानने और समझने के योग्य बन जाते है । 'साख्य प्रवचन भाष्य' के पहले अध्याय मे बेलाग ढग से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ईश्वर के अस्तित्व

[1] मोनियर विलियम्स, इण्डियन विज़डम, पृ० ८९-९० ।

[2] सांख्यकारिका, सख्या, १०,

को मानने का प्रश्न ही नही उठता।[२] हमे फलो की प्राप्ति अपने कर्मों के द्वारा होती है। इसके लिए ईश्वर की सत्ता को मानना व्यर्थ है।

योग दर्शन—सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो के अध्ययन के उपरान्त पुरातत्त्ववेत्ताओ ने अनुमान लगाया है कि योग की साधना का पूर्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। सहिताओ के तत्काल बाद उपनिषदो मे भी अध्यात्म के ज्ञान के अनुशासन के हेतु शरीर को विशेष मुद्रा मे बनाये रखने के सकेतोल्लेख प्राप्त होते है।[१] इसी तरह जैन एव बौद्ध ग्रन्थो के अध्ययन से भी यही अवगत होता है कि गौतम और वर्धमान दोनो सत्य को प्राप्त करने के लिए उस समय के योगियो के निर्देशन मे योगाभ्यास की साधना करते रहे थे। बाद मे पतजलि ने योग-सम्बन्धी मान्यताओ को एकत्रित कर, उन्हे सूत्रो म बान्ध दिया है। पातजल योग का सीधा सम्बन्ध साख्य से इसलिए जोडा जाता है कि उन्होने तत्त्व-विचार और शरीरानुशासन को परस्पराश्रित माना है। आरम्भ मे योग-साधना शरीर और मन पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक प्रयास या अनुशासन के रूप मे ही स्वीकार की गयी प्रतीत होती है। जैन एव बौद्ध काल मे यदि इसके द्वारा ईश्वर की उपलब्धि की मान्यता प्रचलित होती तो वे इसका अभ्यास करने मे कदापि प्रवृत्त न होते। योग को स्वतन्त्र दर्शन की स्थिति प्रदान करने के बारे मे भी विद्वानो मे पर्याप्त मत-भेद है। वस्तु स्थिति यह है कि योग का सम्बन्ध जितना अधिक अनुशासन की प्रणाली से है, उतना विचारधारा या तार्किक ऊहापोह से नही है। उस समय एक ओर वैशेषिको का परमाणु-सिद्धान्त प्रचलित था और दूसरी ओर साख्य विचारधारा म प्रकृति के साथ-साथ आत्मा (पुरुष) की अवधारणा (चाहे स्वतन्त्र दृष्टिकोण के अनुसार) के निर्माण के प्रयत्न भी किये जा रहे थ। योग इन दोनो की निकटवर्ती अवधारणाओ के मिश्रण के रूप मे अपने लिए पहले ही पृष्ठभूमि का निर्माण कर चुका था और कालान्तर मे दोनो मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित किया गया और योग एक स्वतन्त्र दर्शन-प्रणाली के रूप मे सामने आया।

योग दर्शन मे परमाणविक मान्यताओ को स्वीकार कर साख्यो के पच्चीस तत्त्वो और तीन प्रमाणो—प्रत्यक्ष, अनुमान और साक्ष्य, को स्वीकार कर लिया गया। साख्य से भिन्न स्वतन्त्र दृष्टिकोण का सहारा लेकर योग मे ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता दी गयी है। योग की अष्टाग-साधना मे ईश्वर के ध्यान का विधान स्वीकार कर लिया गया है। इस पर भी कुछ विद्वान पातजल योग के ईश्वर को सृष्टि की रचयिता शक्ति की अवधारणा मानने से इन्कार करते है। लेकिन यह सभी मानते है कि योग दर्शन का स्वर प्रधानत ईश्वरवादी ही है।

---

[१] सांख्यप्रवचनभाष्य, १—९३,९५।

[२] श्वेता० उप० २—८, कठ० उप० २—३—२।

आर० गार्बे का विचार है कि योग-विचारधारा का मूल स्वर ईश्वरवादी नही था। धीरे-धीरे परिवर्तित होकर ही उसे बाद मे यह रूप प्राप्त हुआ है। सम्भवत· यह ईश्वरवादियो के प्रभाव का ही परिणाम है। हम देखते हैं कि सभी वेद एव ईश्वर-विरोधी दर्शन-प्रणालियाँ और विचारधाराएँ आदर्श एव अध्यात्मवाद के प्रभाव के कारण अपनी सगति ईश्वरवाद मे स्थापित करने मे प्रयत्नशील रही है। मध्यकाल मे साम्राज्यवादी एवं सामन्तवादी व्यवस्था के चरण सुदृढ हो जाने पर, यह प्रभाव और अधिक गहरा दिखायी देने लगता है। कही-कही तो मात्र साम्प्रदायिक शब्दावली के आवरण के अतिरिक्त शेप सभी कुछ ईश्वरवाद के गेरुए रग मे रजित है। अत गोर्वे के ये विचार—कि सांख्य के सिद्धान्तो को सुगम बनाने एव आदर्शवादी चिन्तको को सन्तुष्ट करने के कारण योग दर्शन मे ईश्वर का प्रवेश हो गया सटीक एव सगत प्रमाणो पर आधारित प्रतीत होता है।[1]

● सांख्य-योग दर्शन मे ईश्वर-विचार

सांख्य और योग दर्शन का प्रधान सम्बन्ध क्रमश. तत्त्व-विचार एव चित्त की एकाग्रता से सम्बन्ध रखने वाले अनुशासन से है। इस दृष्टि से दोनो का परस्पर अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध भी है और दोनो एक दूसरे के पूरक के रूप में भी कार्य करते है। सांख्यो के अनुसार पुरुप अपने मूल स्वरूप मे शुद्ध एव केवल सत्ता है लेकिन प्रकृति के धर्मो का अपने ऊपर आरोपण कर लेने के कारण वह निजस्वरूपता को भूल जाता है। यही उसकी बद्धता है और इससे मुक्ति प्राप्त कर पुन. निजस्वरूपता मे अवस्थित होने के लिए जहाँ उसे तत्त्व-विचार की आवश्यकता है, वहाँ उस स्थिति की उपलब्धि के लिए इन्द्रियो को सयमित-नियमित करने की भी। योग दर्शन मे योग की साधना पर विशेप बल दिया गया है ताकि प्राणायाम आदि के रूप मे अपनी इन्द्रियो को अनुशासन के भीतर रख कर आत्म-साक्षात्कार किया जा सके अथवा जीव और ईश्वर का मेल करवाया जा सके।

सांख्य और योग की मूल (आरम्भिक) अवधारणाओ की चर्चा के प्रसग मे यह बतला दिया गया है कि आरम्भ मे जीव (चेतना) को पदार्थक सत्ता ही माना जाता था और यह विश्वास किया जाता था कि चेतना (जीव) की स्थिति तभी तक है जब तक तत्त्वो या पदार्थो का समवाय बना रहता है और तत्त्वो के उस मिश्रण मे—जिसके कारण चेतना उद्भूत होती है, बिखराव (अलगाव) आते ही शरीर के नाश के साथ चेतना भी लुप्त हो जाती है। उस समय अन्य सभी तत्त्व अपने-अपने महाभूतो मे जा मिलते है। परन्तु ईश्वरवाद के प्रभाव के कारण जब यह मान लिया गया कि आत्मा (जीव-पुरुप) पदार्थक सत्ता न होकर स्वतन्त्र चैतन्य है, तब उसके दो स्वरूप—शुद्ध और बद्ध, भी मान लिए गये। उसकी बद्धता ही उसकी जगतस्वरूपता

---

[1] एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड ऐथिक्स, भा० १२ पृ० संख्या ८३१।

स्वीकार की गयी और यह मान लिया गया कि जब तक वह पुनः अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त नही कर सकता, वह पुनर्जन्म के चक्कर मे भटकता रहता है। पुनर्जन्म की अवधारणा के साथ ही ईश्वर को नियन्ता एवं जीवो को उनके कर्मों के अनुसार फल देने वाली सत्ता स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार साख्य और योग दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शनो की कोटि के दर्शन स्वीकार किये जाने लगे। योगसूत्रो में ईश्वर के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वह जीव की तुलना मे हर प्रकार की सीमाओं एव जागतिक सुख दुख आदि की अनुभूतियो से अतीत सत्ता है।[1] संक्षेप मे साख्य और योग दर्शन के अनुसार यही ईश्वर का स्वरूप है। ईश्वर को इन दोनो दर्शनो मे मान्यता तो प्राप्त हो गयी लेकिन आदर्श प्रधान ईश्वरवादी (अवतारवादी) दर्शनो मे परमात्मा (ईश्वर) एव जीव और जगत के सम्बन्ध मे जिस रूप मे वर्णन हुआ है, वैसी स्थिति साख्यो के द्वारा ईश्वर को प्राप्त नही हो सकी क्योंकि वह मूल रूप मे ही तत्त्व विचारक दर्शन है।

● न्याय-वैशेषिक दर्शन-प्रणाली : प्रारम्भिक मान्यताएँ

वैशेषिक दर्शन-प्रणाली के अनुसार जगत का मूल कारण परमाणु है। वे अन्तिम सत्ता परमाणुओ को ही मानते है। इस दर्शन-प्रणाली के प्रणेता कणाद का जीवन-काल अनुमानत ईसा पूर्व छठी एव दसवी शताब्दी का मध्यवर्ती काल माना गया है। पदार्थ (परमाणुओ) की सूक्ष्मता की अवधारणा सम्भवत अत्यन्त प्राचीन विचार है, क्योंकि हमे जैन मत मे सूक्ष्म परमाणुओ के मेल से स्कन्धो के निर्माण के उल्लेख प्राप्त होते है। हो सकता है कि उक्त विचार ने ही कालान्तर मे इस चिन्तन-प्रणाली का रूप धारण कर लिया हो, जिसका नाम बाद मे वैशेषिक रखा गया है। वैशेषिक नाम मे ही इस चिन्तन-प्रणाली का सार सूत्र-रूप मे निहित है। कणाद 'धर्म' का नाम तो लेते है लेकिन उसकी (धर्म) परिभाषा वही नही करते जिस प्रकार अध्यात्मवादियो ने की है। वे धर्म की व्याख्या ईश्वर या 'शाश्वत नियति' के रूप मे नही करते। उनके विचार मे धर्म प्रगति और कल्याण का ही दूसरा नाम है।

वैशेषिक साख्यो से भिन्न विवेकपूर्ण अथवा पूर्ण ज्ञान के लिए पच्चीस तत्त्वो के स्थान पर वस्तु जगत को छ पदार्थों—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष और समवाय, के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि पदार्थ अनगित एव विभिन्न वस्तुओ का समवाय है। जिन वस्तुओ से पदार्थ का निर्माण होता है, उसे वे कालिक, अवकाशक, तार्किक एव मानसिक धर्मी मानते है। उनमे पाए जाने वाले गुणो, क्रियाओ एव रूपान्तरणो (Modifications) मे ही उन्होंने पदार्थ का निर्माण माना है।[2]

---

[1] योग सूत्र, १/२४-२५, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषः ईश्वर। स सर्वेषामपि गुरुकालेनानवच्छेदात् ।

[2] कणाद वैशेषिक सूत्र, १—४, धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम् ॥

जिस तरह सांख्यों के अनुसार प्रकृति मूल है, उसी तरह इन्होंने द्रव्य को भी मूल माना है। द्रव्य की परिभाषा में कणाद ने पदार्थ या द्रव्य को प्रभाव का अन्तर्निहित कारण, गुण और क्रियाशील तत्त्व स्वीकार किया है।[1] उनका मत है कि अलग-अलग अंशो (Parts) के मेल से सम्पूर्ण (Whole) का निर्माण होता है, इसलिए उन अंशो को फिर से अलग भी किया जा सकता है। इस दर्शन के अनुसार अन्तिम एवं अतिसूक्ष्म इकाई परमाणु है।

वैशेषिक दर्शन-प्रणाली मे परमाणुओ को शाश्वत एवं अविनश्वर सत्ता स्वीकार किया गया है। उनका विचार है कि विभिन्न परन्तु समान वर्ग एवं गुणो वाले परमाणुओं के मेल मे ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है। तदनुसार परमाणु परिवर्तित एवं परिचालित रहते है, वे मृत, निष्क्रिय एवं स्थैतिक (Static) नही। परमाणुओं की संरचना एवं मिश्रण (समवाय) के लिए वे किसी भिन्न अभिकरण (Agency) की आवश्यकता अनुभव नही करते। वे परमाणुओं को स्वत परिचालित एवं सारी सृष्टि की विधायक शक्ति मानते है। जैनो ने चार तत्त्वो (पृथ्वी जल अग्नि और वायु) के साथ आत्मा को भी पांचवाँ तत्त्व मानकर एक प्रकार से आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार कर लिया था। वैशेषिक इस विचार से अनवगत नही थे। उन्होंने जैनो की उपर्युक्त धारणा के विपरीत परमाणुओं से ही पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की संरचना मानी है। वे परमाणुओं को अनिर्मित एवं शाश्वत मानते है।

कणाद के द्वारा स्वीकृत कर्म की अवधारणा वैदिक चिन्तको एवं अध्यात्म-विचारकों से बिल्कुल भिन्न है। वे कर्म का अर्थ 'करना' करते है, जिसकी व्युत्पत्ति 'कृ धातु' से है। कर्म उनके अनुसार 'हर प्रकार की गति' है। इसलिए कर्म को परिभाषित करते हुए उन्होंने उसे पदार्थ का धर्म या पदार्थ मे अन्तर्निहित उसकी गति माना है। इस पदार्थक गति (कर्म) को वे सयोग और अलगाव (विभाग) का परिणाम मानते है।[2] कणाद ने मन और आत्मा की क्रियाएँ भी अलग-अलग स्वीकार नहीं की, और न ही पदार्थ से स्वतन्त्र चेतना को ही स्वीकार किया है।

न्याय हेतुविद्या है, और उसमे ज्ञानान्वेषण पर अधिक ध्यान दिया गया है। आरम्भ मे वाद-विवादात्मक शैली ही न्याय कहलाती थी। इसी को गौतम ने एक दर्शन-प्रणाली का रूप दिया। न्याय दर्शन मे वैशेषिक की भाँति वास्तविकताओं के वस्तुगत क्रम की मान्यता स्वीकार कर ली गई है। इसीलिए वैशेषिक के साथ इसका निकट-सम्बन्ध मानकर इसे न्याय-वैशेषिक ही कह दिया जाता है। न्याय की आरम्भिक अवधारणाओ के अनुसार ब्रह्माण्ड की रचना के लिए ईश्वर (अलौकिक शक्ति) को स्वीकार करना आवश्यक नही है। उसमे मूलभूत पांच शाश्वत तत्त्व पृथ्वी,

---

[1] वपी० १, १—१५, क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥

[2] सूत्र सं० १७, एकद्रव्यमगुणं सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम् ॥

जल, अग्नि, वायु और आकाश, माने गये है। नि श्रेयस को मनुष्य-जीवन का परम उद्देश्य स्वीकार करते हुए, उसे 'यथार्थ का पूर्णज्ञान' माना गया है। तदनुसार यथार्थ मे चेतन और अचेतन दोनों सम्मिलित है। इन दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व भी माना गया है। दोनो के स्वातन्त्र्य से नैय्यायिको का यह आशय नही है कि वस्तुगत और मानसिक यथार्थ मे किसी प्रकार का सम्बन्ध होता ही नहीं, बल्कि वे इन दोनो मे अभिन्नरूप सम्बन्ध स्वीकार करते है।

न्याय-विचारधारा के अनुसार सृष्टि का गठन परमाणविक तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश) से होता है। इन तत्त्वों को शाश्वत एव यथार्थ मानते हुए यह कहा गया है कि जगत की रचना के हेतु किसी दैवी शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करना उचित नही है। आरम्भिक नैय्यायिक परमाणुओ को ही 'जैव-अजैव-सरचना' का मूलाधार मानते है। अर्थात् उनके अनुसार जिस समय सूक्ष्म अणुओं का मिश्रण होता है, उसके प्रभाव के फलस्वरूप ब्रह्माण्ड का निर्माण स्वत. हो जाता है।[१] इसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते है कि सीधे सम्पर्क के अभाव मे ज्ञाता और ज्ञेय के बीच निहित सत्य को प्राप्त करना सम्भव नही है। प्रत्यक्ष ज्ञान को इस दर्शन मे विशेष महत्त्व दिया गया है। चेतना (मस्तिष्क) मे ही वस्तुगत जगत का अस्तित्व मानने के स्थान पर चेतना से भिन्न वस्तुगत अस्तित्व की अवधारणा न्याय को वैशेषिक से तनिक भिन्न बना देती है। वे इसी भेद के कारण आदर्शवादी विचारकों से भिन्न प्रकार के चिन्तक बन जाते है। पदार्थो के सत्य की जानकारी को ही उन्होंने ज्ञान माना है। इसी आधार पर उन्होंने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा की है[२], और ज्ञान के अन्य अनुमान आदि साधनों की तुलना मे प्रत्यक्ष ज्ञान को अधिक एव विशेष महत्त्व दिया है।

● न्याय-वैशेषिक दर्शन मे ईश्वर-विचार

वैचारिक दृष्टि से न्याय और वैशेषिक दर्शन एक दूसरे के अधिक निकट है। दोनो मे बाद मे ईश्वर का अस्तित्व अनादि मान लिया गया है। इनमे जीव और ईश्वर की सापेक्षता के सन्दर्भ मे ईश्वर को सर्वत्र और सर्वशक्तिमान सत्ता स्वीकार कर लिया गया है। ईश्वरवादी दर्शनो की भाँति इन दर्शनो मे भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता, पालक और सहारक के रूप मे वर्णन करना आरम्भ कर दिया गया था। पदार्थ मे चेतना के आविर्भाव वाली धारणा दब गई थी और जीव की सत्ता भी कुछ-कुछ ईश्वरवादियों की जीव की अवधारणा जैसी ही हो गई थी।[३] आरम्भ मे वैशेषिक

[१] रिचार्ड गार्वे, फिलासफी इन एनशेंट इण्डिया, पृ० ३३।

[२] गौतम, न्यायसूत्र, १. १-४, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्॥

[३] न्या० सि० मु० १—५१, भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भा० १, पृ० ३२०—३३, वही० पृ० ६५—६६।

दर्शन-प्रणाली में जगत के मूलकारण के रूप में पदार्थ की अवधारणा पर विशेष विचार किया गया था, लेकिन ईश्वरवाद की ओर झुकाव के कारण परवर्ती रचनाओं में वह बात उतने सशक्त शब्दों एवं मान्यताओं के साथ उपस्थापित करने की प्रवृत्ति में पर्याप्त ढील दिखलाई देने लगती है। कणाद की धर्म की मूल परिभाषा में भी अन्तर की गुंजायश देख ली गई है। पदार्थों को संख्या में अनगिनत मानना तो चलता रहा परन्तु उन्हीं के समवाय से जीव (चेतना) की उत्पत्ति की अवधारणा पर कम बल दिया जाने लगा—यह ईश्वरवाद का ही प्रभाव था।

इन दोनों दर्शनों का उपान्तरण-सिद्धान्त (Theory of Modification) कालान्तर में पर्याप्त भिन्न हो गया। सांख्यों की प्रकृति की भाँति पदार्थ द्वारा जगत की रचना या स्वयं पदार्थ के रूपान्तरण की मान्यता को इस प्रकार का मोड़ दे दिया गया जिस के साथ ही ईश्वर की सत्ता का आभास भी झलकता दिखाई देता रहे। इन दर्शनों में सम्पूर्ण (whole) की अवधारणा में आगे चलकर पर्याप्त अन्तर आ गया। पहले यह माना जाता था कि अलग-अलग लेकिन समान वर्ग वाले पदार्थ एवं परमाणु ही परस्पर मिलते हैं और इस मेल के फलस्वरूप वे ब्रह्माण्ड का रूप धारण कर लेते हैं, इन्हें किसी अलौकिक चेतन सत्ता को आपस में जोड़-मिलाकर ब्रह्माण्ड की रचना नहीं करनी पड़ती। लेकिन परमाणुओं (पदार्थों) के स्वत परिचालित एवं परिवर्तित होते रहने की अवधारणा बदलकर अन्त में कुछ भिन्न सा रूप प्राप्त कर लेती है, जिससे ऐसा लगने लगता है कि वह पूर्णतया जड, मृत, एवं स्थैतिक (Static) है। भाव यह कि इन्हें एकरूपता देकर ब्रह्माण्ड के रूप में साकार करने के लिए किसी अतिरिक्त अभिकरण (Agency) अर्थात् ईश्वर की सत्ता को मान्यता दे दी गई है।

न्याय और वैशेषिक (विशेष कर न्याय) दर्शन में कर्म की जिस अवधारणा का आरम्भ में प्रतिपादन किया गया था, वह पूर्णरूपेण बदलकर नवीन अवधारणा में परिणत हो गई। अब कर्म का पुराना अर्थ 'क्रिया' या करना न होकर जीव के कर्म मान लिया गया, जिसके कारण जीव के स्वरूप की अवधारणा में भी अन्तर आ गया। मन और आत्मा की भी अलग-अलग क्रियाएँ मान ली गई और ज्ञानान्वेषण का स्थान ईश्वर की इच्छा-शक्ति को सौंप दिया गया। अब मूलभूत शाश्वत तत्त्व पदार्थ—पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश, नहीं रहे, बल्कि ईश्वर को ही मूलकारण स्वीकार किया जाने लगा। एकत्व की अवधारणा द्वैत में बदल गई और पदार्थ एवं ईश्वर दो प्राथमिक कारण मान लिए गए। अन्त में प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करते हुए भी अनुमिति और शब्द (वेद) की भी प्रामाणिकता स्वीकार कर ली गई। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्राय सभी मुख्य-मुख्य भारतीय दर्शन कालान्तर में ईश्वरवाद के व्यापक प्रभाव के अधीन से हो गए, लेकिन उनमें अपनी मूल अवधारणाओं की स्थिति भी किसी न किसी रूप में अवश्य बनी रही है। इसलिए न्याय और वैशेषिक दर्शनों में ईश्वर का अस्तित्व भले ही स्वीकार कर लिया गया हो लेकिन उनमें

पदार्थ और परमाणु के सम्बन्ध मे परम्परागत धारणाएँ पूर्णतया समाप्त दिखाई नही देतीं।

● **भौतिकवादी दर्शन-परम्परा : युगव्यापी अन्तराल**

मानव-जीवन को प्रभावित करने वाली मान्यताओ को आधार बनाकर धार्मिक विश्वासों का ऐतिहासिक सन्दर्भ मे पर्यालोचन करने वालो का मत है कि परमसत्ता, जीव और जगत सम्बन्धी अवधारणाएँ सदा परिवर्तित होती रहती है। इस परिवर्तन का प्रधान कारण वे युग विशेष की परिस्थितियो को स्वीकार करते है। उनका विचार है कि इस जागतिक प्रपंच में कुछ भी शाश्वत एवं परम (सत्य) नही है। जिस समय तक किसी सामाजिक ढाचे मे आगे-पीछे कोई नया परिवर्तन घटित नही होता, उस समय तक पूर्ववर्ती अवधारणाएँ ही समूचे मानव-समाज की प्रेरक शक्तिया बनी रहती है। लेकिन परिवर्तनशीलता जगत का धर्म है और मूलाधारो मे परिवर्तन हो जाने पर सामाजिक व्यवस्था का बदल जाना भी स्वाभाविक हो जाता है। कोई युग विशेष जिस समय नवीन परिस्थितियों मे गुजरता है, उसी समय सामाजिक व्यवस्था एव उससे सम्बन्धित शक्तियाँ भी नवीन परिवेश प्राप्त कर लेती है। जगत मे कुछ भी स्थैतिक (Static) नही, सभी कुछ गतिमय है, जो क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप मे हमारे सम्मुख आता रहता है।

भारतीय भौतिकवाद का प्रथम सोपान—भौतिकवादी दर्शन-परम्परा के उल्लेख के समय इस तथ्य की ओर संकेत कर दिया गया है कि भौतिकवादी विचारधारा के हमे दो सोपान प्राप्त होते है। प्रथम सोपान का सम्बन्ध उस युग से है, जिस समय भारतीय जीवन मे अभी सांस्कृतिक काल ने जन्म नही लिया था। जीव, जगत और ईश्वर की अवधारणाएँ उस समय या तो अपने निर्माण-काल मे थी अथवा उन के विषय मे सोचने-विचारने का समय ही नहीं आया था। इस सम्बन्ध मे भौतिकवादी विचारकों का मत है कि जब तक मानव-समाज मे शरीर और मस्तिष्क के बीच अलगाव की स्थिति उत्पन्न नही होती, तब तक अमूर्त विचारो की ओर अग्रसर होने का अवसर सामने नही आता। उस समय केवल जीने की समस्या ही प्रमुख समस्या होती है, अत अपने चारो ओर के जगत तथा निज के जीवन के सम्बन्धो के विषय मे सोचने की प्रवृत्ति ही साकार नही होती। मानव-जीवन का यह समय एव उस समय की उसकी अचेतन धारणाएँ ही आरम्भिक भौतिकवाद है, जिन्हे किसी दर्शन-प्रणाली का नाम नही दिया जा सकता। भौतिकवाद का यही पहला सोपान या युग है, जिसे भौतिकवादी विचारधारा का पूर्वार्द्ध-काल भी कहा जा सकता है। यह वह युग है, जिस समय उदर-पूर्ति के इलावा मनुष्य को अन्य कोई समस्या प्रभावित नही करती थी। वह अपनी सहज—मानसिक एवं शारीरिक, भूख को शान्त करते रहने मे ही व्यस्त रहता था। इसे उसके यथार्थवादी दृष्टिकोण का नाम भी दिया जा सकता है।

भौतिकवादी विचारधारा का द्वितीय सोपान—अर्थशास्त्रियों के अनुसार जीने और सुख से जीने की प्रवृत्ति प्राणशक्ति का स्वभाव है और इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर तदनुकूल प्रयत्न करते रहना भी उसकी स्वाभाविक क्रिया के अन्तर्गत ही आता है। भारतीय इतिहास मे जब समाज की स्थिति मे ऐसे तत्त्व रूपायित होने आरम्भ हुए, जिनके कारण मानसिक एव शारीरिक परिश्रम को अलगाया जा सकता है, तभी आदर्शवादी प्रवृत्तियों ने जन्म ग्रहण किया है। जब भारतीय जीवन मे इस प्रकार की स्थिति बनी, तभी ब्राह्मण और क्षत्रियों की प्रभाववाली वर्ण व्यवस्था का भी निर्माण हुआ। इस व्यवस्था को जन्म देने वाले कारणों के विषय मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के प्रतिपादन के द्वारा व्याख्यात करने के उपाय एव मार्ग अपनाए गये है। लेकिन यह तो निश्चित ही है कि भौतिक उन्नति के फलस्वरूप पुराने समयों मे साम्राज्यवादी और सामन्तवादी व्यवस्थाओं को जन्म मिला है और इन्हीं व्यवस्थाओं के आरम्भ एवं प्रचार-काल मे ईश्वर की अवधारणा अपने भ्रूण-काल मे उठकर पूर्ण विकास की सीमा तक पहुँची है। इसके साथ ही यह जान लेना भी आवश्यक होगा कि एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के स्थापित हो जाने पर धर्म और दर्शन को जो रूप प्राप्त होता है, उसका विरोध करने वाली शक्तियाँ भी अपना मस्तक उठाने लगती है। समय विशेष की सामाजिक व्यवस्था के टूट जाने पर दूसरी व्यवस्था उसका स्थान ग्रहण तो कर लेती है, लेकिन पूर्ववर्ती व्यवस्था को प्रेरित करने वाले विश्वासों का एकदम अन्त नही होता। ऐसी स्थिति में प्रभावशाली एवं चालू सामाजिक व्यवस्था एव उसके कारण निर्मित होने वाली अवधारणाओं का विरोध भी सक्रिय रूप धारण कर लेता है।

आदर्शवादी विचारधारा के प्रचार से पहले एक प्रकार के जिस भौतिकवाद का उल्लेख किया गया है, वह जब समाप्त हुआ और उसका स्थान संहिता और उपनिषद काल की आदर्शमूलक अवधारणाओं को प्राप्त हो गया, तब की स्थिति मे तत्काल ही उस विचारधारा के विरोधी स्वर भी मुखर हो उठे, जिनके सामने आदर्शवादी व्यवस्था और उसके विचार भी विद्यमान थे और कहीं-कहीं यह व्यवस्था अभी अपने पूर्णरूप मे बनी हुई थी। विरोध मुख्यत उन लोगों के द्वारा हुआ, जिनकी गणना हम भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली के प्रारम्भिक विचारकों मे करते हैं या कर सकते है।

उपनिषदों के आत्म-सिद्धान्त का खण्डन—प्राचीन साहित्य के साहित्य मे पता चलता है कि गौतम बुद्ध और महावीर के समय मे ऐसे विचारक पहले से ही विद्यमान थे, जो वेदोपनिषद के आत्म एवं ब्रह्म-सिद्धान्त के विरोध मे ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने के प्रयत्नों मे अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रचार कर चुके थे। उनका मत था कि ईश्वरवादियों की आदर्शमूलक अवधारणाएँ व्यर्थ के आडम्बर एव मिथ्या ज्ञान पर आधारित है। यज्ञों की अवधारणा मे किसी प्रकार का भी तर्क एव मानव के हित को प्रेरित करने वाला आधार नही है। साथ ही अलौकिक चेतन सत्ता की अवधारणा भी प्रत्यक्ष प्रमाण की कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। वेदों की प्रामाणिकता

का खण्डन करते हुए उन्होने शरीर और आत्मा को अन्योन्याश्रित माना और इस मत का प्रचार किया कि शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नही किया जा सकता। बौद्धजातक कथाओ एवं जैन धर्म के ग्रन्थों मे से इस प्रकार के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते है, जिनके साक्ष्य पर यह सिद्ध हो जाता है कि वेद एवं उपनिषद का विरोध करने वाली शक्तियाँ उस समय व्यापक आलोचना का रूप धारण कर चुकी थी। रामायण और महाभारत मे भी ऐसे प्रसंग विद्यमान है, जिनके आधार पर उक्त मत की पुष्टि होती है।

उपनिषदो, रामायण और महाभारत के समय आदर्शवादी विचारधारा का बहुत अधिक प्रभाव था और भौतिकवादी विचारको द्वारा उसका विरोध भी होता रहता था। लोकायत विचारधारा की चर्चा के प्रसंग मे हमने उसकी मान्यताओं का उल्लेख कर दिया है और इस तथ्य का संकेत भी किया गया है कि धीरे-धीरे ईश्वर-वाद के प्रबल प्रभाव के कारण भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रचारित नही हो सका था। माधवाचार्य के द्वारा चार्वाकों की दर्शन-प्रणाली की मान्यताओ के विरोध का उल्लेख भी किया जा चुका है। शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त की प्रस्थापना के लिए जहाँ प्रतिकूल पडने वाले अन्य मतों का खण्डन किया है, वहाँ चार्वाको से भी उनका प्रधान विरोध रहा है। भाव यह है कि पूर्ण आदर्शवादी विचारधारा के प्रचार-काल मे भौतिकवादियो ने जो विरोधी स्वर मुखर किए थे, वे धीरे-धीरे ईश्वरवाद के घोर घण्टा-नाद मे विलीन हो गए और आधुनिक काल मे पहले उन्हे फिर से अपनी विचारधारा के स्वर को उद्घोषित करने का अवसर ही नही मिल सका। किन-किन शक्तियो ने सम्मिलित रूप से भौतिकवादी विचारधारा का अन्त करने मे योग दिया उनका संक्षेपोल्लेख इस प्रकार है।

साम्राज्यवादी एवं सामन्तवादी शक्तियों का उदय—महात्मा बुद्ध के जन्म से पहले अर्थात् ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे ही ऐसी स्थिति बनने लग गई थी, जिससे बडे-बडे साम्राज्यो को साकारता ग्रहण करने का अवसर मिल सके। पुरोहित वर्ग ने ही यह स्थिति उत्पन्न की थी क्योंकि समाज की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियो पर उनका पूर्ण आधिपत्य दृढतर होता जा रहा था। महात्मा बुद्ध की विचारधारा पुरोहितवाद की विरोधी विचारधाराओं मे से थी। बुद्ध ने उनके यज्ञवाद और कर्मकाण्ड का पर्याप्त विरोध किया था और उनकी वर्णाश्रम-व्यवस्था को मानवीय हितो के मार्ग मे रुकावट माना था। उन्होने वेद को प्रमाण मानने से बिल्कुल इन्कार कर दिया था। बुद्ध की चिन्तन-प्रणाली शुद्ध रूप मे भौतिकवादी नही थी, वह केवल धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओ की दृष्टि से ही भौतिकवादियो की वेद-विरोधी विचार धारा की श्रेणी मे आती है। भारत जैसे विशाल देश मे ब्राह्मणवाद के जमे हुए पाँव उखाडने सम्भव नही थे और ऐसा करना सम्भव हो भी नही सकता था। जिस समय बुद्ध की विचारधारा पूर्व और दक्षिण मे पर्याप्त सफलता प्राप्त कर रही

थी, उसी समय पश्चिम मे ब्राह्मण धर्म की विजय-पताका अपनी पूर्ण सफलता के साथ फहरा रही थी।[1]

बुद्ध के उपदेशों की व्याख्या यदि 'प्रतीत्यसमुत्पाद' की अवधारणा की दृष्टि से की जाए तो कहा जा सकता है कि वे कारण और कार्य के सम्बन्ध को विशेष महत्त्व देते थे।[2] प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनो का जगत कारण और कार्य के नियम से अतीत नहीं हैं। कारण के द्वारा प्रभाव का उत्पन्न होना अनिवार्य है और प्रभाव का पुनः अपने कारण में रूपान्तरण हो जाना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कारण, उसका प्रभाव और प्रभाव का पुनः कारण मे रूपान्तरण, इन तीनों को बुद्ध ने शाश्वत नियम के रूप में स्वीकार किया था। वे ब्रह्माण्ड व्यापी अस्तित्व को निरन्तरधारा के रूप मे स्वीकार करते थे। यही कारण है कि बौद्ध धर्म के सम्प्रदायो मे जगत को क्षणिक एवं केवल धारा-प्रवाह के रूप मे ही अस्तित्वमय स्वीकार किया गया है। तात्कालिक स्फुरणों को एक शृंखला के रूप मे स्वीकार कर इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि स्फुरण, उत्पत्ति और विलय के क्रम के रूप मे जिस अनन्तधारा का निर्माण करते है, उसी का नाम जगत है।

बौद्ध विचारधारा का ब्राह्मणों द्वारा विरोध—बुद्ध की उपर्युक्त अनश्वरता और परिवर्तन की धारणा ने ब्राह्मण धर्म के चिन्तको के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में यह प्रेरणा दी थी कि वे ब्रह्म को निरन्तर सत्तावान (वास्तविक यथार्थ) सिद्ध करने मे अपनी सम्पूर्ण शक्तियो को, निहित उद्देश्य की पूर्ति के हित, नियोजित करदें। उन्होंने ब्रह्म को अनादि, अनन्त (अन्तहीन) एवं अपरिवर्तनशील सिद्ध करने के भरसक यत्न किए। बुद्ध की जगत की क्षणिक सत्ता वाली धारणा का खण्डन करते हुए उन्होंने यह माना कि जिन्हें वह तात्कालिक स्फुरण मान कर जगत को निरन्तर प्रवाह (परन्तु यथार्थ मे अस्तित्त्वहीन) मानते है, उचित एवं तर्क संगत अवधारणा नही है। परिवर्तन को ब्रह्मवादियो (उपनिषत्कारो) ने भी माना है, लेकिन वे उसे भ्रम स्वीकार करते है और ब्रह्म को ही केवल शाश्वत सत्य मानते है। बुद्ध ने बार-बार अपने उपदेशो मे उपनिषत्कारो की उपर्युक्त धारणाओं का, छोटे-छोटे (सर्वसामान्य) लेकिन सशक्त उदाहरणों के द्वारा खण्डन किया है। वे अपने युग के भौतिकवादियो की इस धारणा को भी असत्य सिद्ध करते है कि अनश्वर पदार्थ मे इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला संवेदन का अनुभव पदार्थ में होने वाले परिवर्तनो की अभिव्यक्ति के सिवाय और कुछ नही है। बुद्ध ने इस तथ्य को प्रमाणित करने के प्रयत्न भी किए कि प्रत्येक वस्तु हर क्षण बदलती रहती है और उसकी परिवर्तनशीलता मे स्थिरता का आभास मात्र दृष्टि-भ्रम है।

---

[1] मैक्समूलर, सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासाफी, पृ० १५,

[2] राइस डेविड्स, डायालाग्स ऑव बुद्धा,

बुद्ध और जन्मान्तर की अवधारणा—बुद्ध ने मूल रूप में किसी पदार्थ या वस्तु का यथार्थ अस्तित्व माना ही नहीं। उन्होंने कुछ सर्व पृथक् भौतिक तत्त्वों का ही अस्तित्व माना और उन्हें भी सतत परिवर्तनशील ही स्वीकार किया। आलातचक्र और जल-प्रवाह के उदाहरणों के द्वारा बौद्ध विचारकों ने बुद्ध की उपर्युक्त अवधारणा की व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भिक बौद्ध धर्म पार्थिव अथवा आध्यात्मिक किसी भी ऐसे मूल अपरिवर्तनशील शाश्वत तत्त्व को जगत का मूलकारण स्वीकार नहीं करता। शून्यवादियों ने तो किसी वस्तु के निश्चित अस्तित्व को बिल्कुल माना ही नहीं है। वे जगत में किसी वस्तु एवं पदार्थ की सत्ता ही नहीं मानते और मात्र घटनाओं की सत्ता ही स्वीकार करते है। उपनिषदों के ऋषियों के आत्म-सिद्धान्त का बुद्ध एवं बौद्ध धर्म के आचार्यों ने इसी अवधारणा के आधार पर खण्डन करते हुए कहा है कि आत्मा शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है। उनके अनुसार जगत की संरचना, पदार्थ, अनुभूति, संज्ञा, आवेग और चेतना नामक पाँच स्कन्धों का नाम है। इन पाँचों को भी वे मात्र अवस्थाएँ ही मानते है।

बुद्ध का ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं था। इसलिए वे यह भी नहीं मानते थे कि मानव-जीवन एवं व्यक्ति मानव के भाग्य की स्रष्टा एवं नियन्ता कोई अलौकिक शक्ति हो सकती है। इसी अवधारणा के द्वारा उन्होंने ईश्वर में विश्वास करने का खण्डन किया है।[1] बुद्ध ईश्वरवाद के विरोधी तो थे लेकिन यह स्वीकार नहीं करते थे कि जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया (चेतना) केवल शरीर तक ही सीमित है। वे मृत्यु के उपरान्त भी वैयक्तिक चेतना का अस्तित्व स्वीकार कर, पुनर्जन्म की अवधारणा को मान लेते हैं। आत्मा का शरीरान्तरण तो उन्होंने नहीं माना लेकिन शरीर को धर्मों का निश्चित संयोग मान कर उसे ही जीवन का नाम दिया और उसके निश्चित संयोग (समवाय) में अलगाव को ही मृत्यु मान लिया। अन्त में यह भी स्वीकार कर लिया गया कि पहले संयोग के बिखराव के साथ ही सभी कुछ नष्ट नहीं होता बल्कि पहला संयोग दूसरे नए संयोग को जन्म दे देता है, यही उनका पुनर्जन्म का सिद्धान्त है अतः वे यथार्थवादी या भौतिकवादी न होकर आदर्शवादी ही है। भौतिकवादियों (लोकायतों) और आत्मवादियों (उपनिषदों के विचारकों) की मान्यताओं को नए रूप में प्रस्तुत कर बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया था।

बुद्ध की ब्राह्मण-विरोधी दृष्टि की प्रतिक्रिया—धम्मपद के अनुसार बुद्ध किसी को कुल के कारण ब्राह्मण नहीं मानते थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी धारणा की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि निर्धन लेकिन लिप्साओं से मुक्त व्यक्ति ही उनकी दृष्टि में ब्राह्मण है। वे वेद को प्रमाण मानने के स्थान पर अनुभव को ही साक्ष्य मानते है। लेकिन उन्होंने भी पदार्थ को प्राथमिक सत्ता मानने की बजाय जिस

---

[1] करुस, दि गास्पेल ऑव बुद्धा,

उपर्युक्त विचारधारा का प्रचार किया, वह भी अन्ततः आदर्शवादी दृष्टिकोण ही बन गयी क्योंकि उसका मूलभूत आधार ही उसी प्रकार का था। बल्कि यह कहना चाहिए कि बुद्ध की त्याग की भावना और संसार की दुःखमयता की धारणा ने धनी वर्ग को ही लाभ पहुँचाया निर्धन और असमर्थ का उससे कोई विशेष उपकार न हो सका।

ब्राह्मणवाद भी युग और परिस्थितियों के द्वारा प्रचलित हुआ था और उसने ऐतिहासिक आवश्यकता की अनिवार्यता की भूमिका भी निभायी थी। बौद्ध धर्म केवल मानवतावादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देकर बाद मे स्वयं ऊल-जलूल साधना-प्रणालियों मे उलझकर भटक गया। अशोक की मृत्यु के उपरान्त ब्राह्मणवाद फिर सशक्त हो गया लेकिन पुष्यमित्र के राज्य-काल मे बौद्ध धर्म का और अधिक ह्रास हुआ। तदनन्तर कनिष्क के शासन-काल मे उसे प्रोत्साहन मिला तो सही, परन्तु बुद्ध की शिक्षाओं के पुर्ननिर्माण के प्रयत्नों मे स्वयं बौद्ध धर्म मे ही इतने अधिक मत-भेद उठ खड़े हुए कि अन्त मे वह पूर्ण रूप से वर्ग-हित की शृंखलाओं मे अपने आप बँध गया। जैन वर्ग ने सामाजिक क्षेत्र मे कोई विशेष क्रान्ति नही की अतः उसका मूल्य मात्र इतना ही है कि बौद्धों के वेद-विरोधी विचारों के प्रचार मे उसने भी पर्याप्त योग दिया है। यह स्मरणीय है कि जैन दर्शन मे किसी न किसी रूप मे 'आत्म' और 'परम-आत्म' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है।

उपर्युक्त लम्बी प्रस्तावना का आशय केवल इतना है कि जिस साम्राज्यवादी और सामन्तशाही की व्यवस्था का निर्माण बुद्ध एवं महावीर के जीवन-काल मे ही हो गया था, उसे ये दोनों धर्म एवं इनकी दार्शनिक अवधारणाएँ, परास्त कर किसी नयी राज्य एवं समाज की व्यवस्था को जन्म न दे सकी। उसके बाद अद्वैतवेदान्त और पौराणिक देवतावादी ब्राह्मण धर्म ने ही फिर से साम्राज्यवादी एवं सामन्तवादी अवधारणाओं का पोषण कर भौतिकवादी विचारधारा के प्रचार के अवसरों को समाप्त प्राय बना दिया था। इस समय के ईश्वरवाद के सांख्य-योग और न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों की तत्त्व-विचार की परम्परा को और आगे विकसित होने से रोका ही नही बल्कि स्वयं वह ईश्वरवादी रंग मे रंग गया।

(क) ऊपर जिन आदर्शवादी धर्म-मतों एवं दार्शनिक प्रणालियों की चर्चा की गयी है, उनमे जन्मान्तर (पुनर्जन्म) को स्वीकार किया गया है और कर्म एवं कर्म के फल की अवधारणाओं मे दृढ़ आस्था का परिचय भी दिया गया है। इससे लोगों मे इस विश्वास को भलीभाँति बद्धमूल बनाने मे सहायता मिली है कि उन्हे जो कुछ (सुख-दुःख) प्राप्त होता है, वह उनके अपने कर्मों का फल है। इन मिली-जुली अवधारणाओं ने ब्रह्म, जीव, और जगत के विषय मे दूसरे ढंग से सोचने-विचारने का अवसर ही छीन लिया।

(ख) सांख्य-योग तथा न्याय और वैशेषिक दार्शनिक प्रणालियाँ, जिनका आरम्भ तत्त्व-विचार से प्रेरित एवं अनुप्राणित था, धीरे-धीरे ईश्वरवाद के प्रभाव के अन्तर्गत मान ली गयी। पदार्थ को प्राथमिक सत्ता मानने के बारे मे जो अनुकूल

परिस्थिति किसी समय बनी थी, उसके प्रचार के मार्ग मे ईश्वरवादियों ने सशक्त अवरोध खडे कर दिये और प्रच्छन्न ब्रह्मवादी बनकर इन दर्शनो की मूलभूत अन्तरात्मा की व्याख्या ही ऐसे ढग से की कि ये दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शनों की श्रेणी मे स्वीकार कर लिए गये।

(ग) भारत का समूचा धार्मिक जगत कर्मकाण्डात्मक एवं बहुदेववादी बन गया। पौराणिक काल मे ईश्वर के पूर्ण एव अशावतारो के रूप मे अनेक देवी-देवता पूजा के विषय (उपास्य) मान लिए गये। धार्मिक ग्रन्थों को स्वर्ग और नरक एवं पाप और पुण्य की कहानियो का कोष बना दिया गया, जिसके कारण ऐसे विश्वासों को पोषण प्राप्त हुआ, जिनके रहते भौतिकवादी विचारधारा अपने किसी भी प्रयत्न मे सफलता की कल्पना भी नही कर सकती थी।

(घ) आदशवादी विचारको ने वर्ण-व्यवस्था को और अधिक सकीर्ण रूप दे दिया। प्रत्येक वर्ण जातियो-उपजातियो मे विभक्त हो गया, और सारे समाज को स्मृतिकारो ने इस प्रकार की अनुशासन की शृखलाओ मे बाँध दिया कि अन्धविश्वासो एव तर्क-हीन मान्यताओ का खण्डन करना असम्भव लगने लगा। ऐसे वातावरण मे ईश्वर की सत्ता को नकार कर भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रचार करना कठिन तो क्या बिल्कुल असम्भव असम्भब बना दिया गया।

(ङ) मुसलमानो की विजय और हिन्दू राजाओ की पराजय ने समाज और धर्म की स्थिति और अधिक शोचनीय बना डाली। अपने सामाजिक एव धार्मिक ढाँचे मे सुधार करने के स्थान पर कछुआ धर्म की शरण ली गयी और जीवन का दृष्टिकोण और अधिक सकीर्ण एव आत्म परक बन गया। इस स्थिति का विस्तृत परिचय इस समय के साहित्य से भली भाँति प्राप्त हो जाता है। अत· विचारो की मौलिकता की उस युग मे आशा करना ही व्यर्थ हो गया।

(च) पौराणिक काल के बाद अवतारवादी नव्य वैष्णव आन्दोलन की भक्ति की साधना एव दर्शन मे ईश्वर की इच्छा और उसके स्वातन्त्र्य की अवधारणाओं का इतना अधिक प्रचार हुआ कि व्यक्ति का रहा सहा व्यक्तित्व का स्वातन्त्र्य भी लुप्त हो गया अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम। दास मलूका कह गये सबके दाता राम, जैसे विश्वासो ने भौतिकवादी विचारो के लिए शेष बचे हुए खाली भाग की जगह भी स्वय ले ली और पश्चिम के मशीनीकरण की स्थितियों की प्रतीक्षा मे भौतिकवादी जीवन-दर्शन निर्जीवता की गहरी नीद मे सो गया।

५ | शांकर अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म

● **आरम्भिक वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा का स्वरूप**

औपनिषदिक विचार-परम्परा—दर्शन-प्रणाली का रूप प्राप्त करने से पहले वैदान्तिक विचारधारा एकत्वावधारणा के रूप मे संहिता-काल मे ही अपने लिए स्थान बना चुकी थी। उपनिषदो का (मूल एवं प्रधान उपनिषद) समय आम प्रचलित धारणा से यदि आगे खीचना ही संगत हो, तब भी इतना तो निश्चित ही है कि ईसापूर्व छठी और सातवी शताब्दी के मध्यान्तर-काल मे उपनिषदो मे वर्णित ब्रह्म-स्वरूप सम्बन्धी दृष्टिकोण का निर्माण होने लग गया था। उपनिषदो को इसी कारण 'वेदान्त' कहा गया है कि उनमे वर्णित विचार संहिताओ के तत्काल बाद के विचारकों द्वारा प्रतिपादित होकर उस समय के समाज मे प्रचार प्राप्त करने लगे थे। 'वेदान्त' का अर्थ 'वैदिक विचारधारा की चरम उपलब्धि, किया जा सकता है, लेकिन इसके सम्बन्ध मे सभी विद्वान प्रायः एकमत दिखाई नही देते। कुछ का विचार है कि उपनिषदो की विचारधारा पूर्व-उपनिषदिक युग के कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है, जिसने आगे चलकर एक ओर बौद्ध एव जैन विचारधारा को जन्म दिया है तथा दूसरी ओर लोकायतो को मूलपदार्थ के सम्बन्ध मे भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रचारार्थ प्रेरित किया है। जो विचारक वेदो (संहिताओ) और उपनिषदो को ब्राह्मणवादी परम्परा के दो भिन्न सोपान मानते है, उनके विचार मे परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप यज्ञयागादि के स्थान पर उपनिषदो मे केवल ब्रह्मविद्या (अध्यात्म) का ही निरूपण हुआ है। अतः उनके मत मे उपनिषद इसलिए वेदान्त माने जाते है क्योंकि इस विचार के बिन्दु पर पहुँचकर संहिताओं की विचारधारा ने ही विविध रूपो मे पूर्णता प्राप्त की है।

औपनिषदिक विचारधारा और अध्यात्मवाद—उपर्युक्त विचारो से कोई भी निष्कर्ष क्यो न निकाला जाए, लेकिन प्रस्तुत सन्दर्भ में इतना मान लेना ही पर्याप्त है कि उपनिषदो मे जिस रीति से परमतत्त्व की अवधारणा के विषय मे विचार किया गया है, उसका प्रधान रूप आदर्शमूलक या अध्यात्मपरक ही है। फिर भी कुछ विद्वान

उपनिषदों मे भौतिकवादियो की एकत्वावधारणा की सामग्री के विद्यमान होने की चर्चा भी करते है। लेकिन समूची औपनिषदिक विचारधारा के प्रसग को देखते हुए यह स्वीकार कर लेना असगत नही है कि उपनिषदों का प्रधान स्वर और मुहावरा अध्यात्मवादी ही है। ड्युसन, मेक्समूलर डा० राधाकृष्णन एव दासगुप्ता ने जिस रूप मे औपनिषदिक विचारधारा को प्रस्तुत एव प्रतिपादित किया है, उसमे भी उपर्युक्त धारणा का समर्थन निहित दिखाई देता है। साथ ही बादरायण के ब्रह्मसूत्र भी इसी तथ्य को प्रमाणित करते है कि उपनिषदों की विचारधारा का प्रधान पक्ष अध्यात्म (वेदान्तिक ब्रह्म) के विषय मे विचार करना था। यदि ऐसा न होता और उपनिषदों का मूलस्वर इससे भिन्न या भौतिकवादी ही होता तो बादरायण को उपनिषदों की विचारधारा को ब्रह्मवादी दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे सूत्र-बद्ध करने की प्रेरणा ही प्राप्त न होती और यदि वे ब्रह्म की आदर्शवादी धारणा के प्रचार के लिए ही उत्सुक थे, तो किसी दूसरे मार्ग का अवलम्ब भी ले सकते थे।

बादरायण का अध्यात्म से आशय (ब्रह्म-स्वरूप-विचार)—बादरायण का 'अध्यात्म' से आशय आत्मा (ब्रह्म) को हर वस्तु का मूलकारण सिद्ध करना प्रतीत होता है। वे यह मानते है कि ब्रह्माण्ड का नाम-रूप (प्रत्येक वस्तु जगत) ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है और अन्त मे वह प्रत्यावर्तन के रूप मे उसी मे विलीन हो जाता है। इसमे कोई सन्देह नही कि बादरायण के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप उसी प्रकार का नहीं है, जिस प्रकार बाद मे आचार्य शकर ने ब्रह्म के स्वरूप की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। क्योंकि हम देखते है कि सभी द्वैत एव अद्वैतवादी वैष्णव आचार्यो (ईश्वरवादियों) ने उपनिषदों और गीता के साक्ष्य के साथ बादरायण के ब्रह्मसूत्रों को भी अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की सिद्धि के लिए प्रमाण स्वीकार किया है। इन वैष्णव आचार्यों की ब्रह्म-स्वरूप विषयक अवधारणाएँ पर्याप्त सीमा तक एक दूसरे से भिन्न प्रकार की है अत यह स्पष्ट है कि उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्रों का ब्रह्मवाद (ईश्वरीय अवधारणा) इतना अधिक लचीला एव स्वतन्त्र चिन्तन (पूर्वाग्रह-रहित) से परिपूर्ण है कि उसकी व्याख्या अलग-अलग रीतियो से कर सकना सम्भव हो सका है। बादरायण (सम्भवत वेदव्यास) का जीवन-काल ईसा पूर्व चौथी तथा ईस्वी सन् दूसरी शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है। यह वह समय है, जब बौद्ध एव जैन विचारधारा अपनी आरम्भिक स्थिति मे किसी न किसी रूप मे अवश्य विद्यमान थी। क्योंकि बुद्ध और महावीर उसे किसी निर्धारित एव निश्चित रूप मे ही अपने युग के समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते रहे थे।

हम यह भी देखते है कि बौद्ध एवं जैन मतो के प्रवर्तकों ने वैदिक पुरोहितवाद, याज्ञिक कर्मकाण्ड, वर्णव्यवस्था और वैदिक ईश्वरवाद के विरोध (बहुदेववाद के भी) के साथ ही उपनिषदो के आत्म-विचार का भी खण्डन किया है। अतः इसके सम्बन्ध मे किसी सन्देह के लिए अवकाश नहीं रह जाता कि बादरायण के द्वारा औपनिषदिक विचारधारा (विशेषकर ब्रह्मवादी) को सूत्रो के रूप मे बाँधने मे पर्याप्त समय

का अन्तराल विद्यमान रहा होगा और इस विचारधारा के विचारसूत्र अत्यन्त प्राचीन होगे। बादरायण के द्वारा जिस समय उपनिषदो की विचारधारा (अध्यात्मवादी) को सूत्र-बद्ध किया गया, उससे पहले ही वह आम विचारो की स्थिति मे रही होगी, लेकिन यह तथ्य ध्यातव्य है कि तब भी उसमे आदर्शवादी (विशेषकर ब्रह्मवादी) स्वर ही प्रधान एव मूलसूत्र के रूप मे अवश्य विद्यमान होगा। हम देखते है कि बादरायण ने ब्रह्मसूत्रो के आरम्भ मे ही ब्रह्म (परमतत्त्व) को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (प्रकृति) का आदि-कारण (प्राथमिक सत्ता) मान लिया है। ब्रह्म की परिभाषा के अन्तर्गत वे इस विचार को मुख्य स्थान देते है कि ब्रह्म ही उत्पत्ति (प्रकृति-ब्रह्माण्ड) की मूलकारण सत्ता है। बादरायण की इस अवधारणा का बीज तैत्तिरीय उपनिषद् मे भी प्राप्त होता है। तदनुसार जगत की उत्पत्ति भी ब्रह्म मे या ब्रह्म से मानी गई है, और उसका लय भी ब्रह्म मे ही स्वीकार किया गया है। इसीलिए बादरायण ने ब्रह्म को (जिसे वे पूर्णचैतन्य मानते है) अचेतन तत्त्व (प्रकृति) जिसे लोकायत मूलकारण मानते है, का समकक्षी मानने का विरोध किया है। उनके मत मे इस ढग की द्वैत की अवधारणा उपनिषदों का प्रतिपाद्य स्वीकार करना उचित प्रतीत नही होता। उन्होंने अचेतन तत्त्व अर्थात् प्रधान (प्रकृति) से जगत की उत्पत्ति की मान्यता का खुलकर विरोध किया है। वे परमाणुओं और पदार्थो (वैशेषिको) के द्वारा ब्रह्माण्ड के निर्माण की अवधारणा को भी स्वीकार नही करते। ब्रह्म को वे 'चेतन बुद्धि-तत्त्व' मानते है और उसी को जगत का कारण (निमित्तोपादान) स्वीकार करते है—अचेतन प्रकृति, परमाणुओं या पदार्थ को नही।

बादरायण के ब्रह्म-स्वरूप की विशेषता—साख्यो के अनुसार पुरुष (आत्मा-जीव) निष्क्रिय एव अकर्ता चैतन्य है। इसी अवधारणा के पीछे प्रकृति के आदिमूल-कारण एव पदार्थो के समवाय के द्वारा चेतना की उत्पत्ति की अवधारणा की ध्वनि प्रेरिका शक्ति का रूप धारण करती दिखाई देती है। बादरायण का मत है कि आत्मा पूर्ण सक्रिय सत्ता एव स्वतन्त्र चैतन्य है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म के अर्थ मे आत्मा का बादरायण ने जहाँ भी प्रयोग किया है, वहाँ उनका आशय जीव या जीवात्मा से नही है। जिस समय वे जीवात्मा की अवधारणा की चर्चा करते है, उस समय ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता तथा जीव को अशी मानकर जीव की चर्चा उसके अश के रूप मे करते दिखायी देते है, और उनकी यह अवधारणा शंकराचार्य के ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप एव उनकी जीव की प्रतीति वाली मान्यता से भिन्न रूप मे ही सामने आती है। ब्रह्म को वे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, और आनन्दमय परम चैतन्य स्वीकार करते है। ब्रह्मसूत्रो के अनुसार वह (ब्रह्म) आदि और अन्त की सीमाओ से अतीत सत्ता है—पूर्ण, निर्गुण एव निराकार है। तदनुसार उसे निष्कर्म, निष्कलक, शाश्वत, ज्ञान-परिपूर्ण एव पूर्णस्वतन्त्र परमतत्त्व स्वीकार किया गया है।

सूत्रकार बादरायण ने आत्मा को परमात्मा और ब्रह्म के रूप मे स्वीकार करते हुए उसे (ब्रह्म को) ब्रह्माण्ड का भौतिक एव सक्षम (सृष्टि-रचना करने मे पूर्ण

समर्थ) कारण भी मान लिया है। उनकी इस अवधारणा में ही उनके इस मत के लिए अवकाश निकल आया है कि ब्रह्म ने ही स्वयं ब्रह्माण्ड को अपने भीतर से उत्पन्न किया है। यह उत्पत्ति ऊर्णनाभ के द्वारा अपने भीतर से तन्तु निकालने जैसी ही है। यही कारण है कि वे सृष्टिकर्ता और सृष्टि मे अद्वैत (अभेद) ही स्वीकार करते हैं।

ब्रह्मसूत्रकार की ब्रह्म की इस अवधारणा के अनुसार ब्रह्म और प्रकृति मे द्वैत स्वीकार्य नही है।[1] उनके द्वारा इस अवधारणा की स्थापना से पहले श्वेताश्वतर उपनिषद मे सम्पूर्ण जीवों (प्राणियो) मे ईश्वर (ब्रह्म) के अन्तर्निहित होने की मान्यता स्वीकार की जा चुकी थी। इसके साथ ही इसी उपनिषद मे इस विचार का प्रतिपादन भी हो गया था कि ब्रह्म सर्वव्यापी एव सर्वान्तिर्यामी सत्ता है। वही ब्रह्माण्ड के कण-कण मे परिव्याप्त है और मानव-देह मे भी उसी का निवास है। उसके स्वरूप की चर्चा करते हुए उपनिषदकार ने उसे सर्वद्रष्टा, चेतन, अद्वैत एव निर्गुण बतलाया है।[2] बादरायण ने सम्भवत इस उपनिषद की उपर्युक्त अवधारणा का यह अर्थ निकाल लिया है कि जगत से परे ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई चेतन सत्ता अस्तित्वमय है ही नही। तदनुसार प्रकृति और ब्रह्म एक है—उनमे द्वैत या भेद न होकर अद्वैत एवं अभेद है। इस प्रसंग मे यह भी जान लेना सगत होगा कि बादरायण जगत की सत्ता (यथार्थता) का उस रूप मे निषेध नही करते, जिस रूप मे उनके सूत्रो को आधार बनाकर शकराचार्य ने किया है। अत यह सगत नही कि जगत के पूर्ण निषेध को बादरायण की मूलभूत अवधारणा मान लिया जाए। इससे एक और यह तथ्य भी प्रकाश मे आता है कि बादरायण ने जिन उपनिषदो को अपनी ब्रह्म की अवधारणा का मूलस्रोत माना है, उनमे भी जगत के मिथ्यात्व की चर्चा और शाकर अद्वैतवाद की 'जगन्मिथ्या' की अवधारणा वैसी ही नही है जैसी आचार्य शकर ने मानी है। अपने मत को प्रामाणिक विचार सिद्ध करने के लिए ही सम्भवत उन्होने (शंकराचार्य) उपनिषदो की मूलभावनाओ को यथाप्रयत्न अपने अनुकूल व्याख्यात कर लिया है। शकराचार्य वैचित्र्य से परिपूर्ण इस जगत को माया का इन्द्रजाल मानते है जबकि बादरायण के अनुसार वह उस रूप मे मायाजाल नही जैसा शकर का मत है।

बादरायण ने जिस समय उपनिषदो की विचारधारा को सूत्रबद्ध किया, उस समय तक साख्य और वैशेषिक दर्शनो के मूलभूत विचार पर्याप्त प्रचार पा चुके थे। बुद्ध और महावीर भी अपनी विचारधारा के प्रचार के द्वारा नवीन दर्शन-प्रणालियों की आधार-शिला रख चुके थे। तब लोकायतो की भौतिकवादी विचारधारा भी कम प्रभावशाली नही थी। कम से कम विचारो की दुनियां मे उनकी कई अवधारणाएँ पर्याप्त उत्साह के साथ आदर्शवादी विचारको की मान्यताओ के खण्डन मे कृत-सकल्प थी। प्रकृति को साख्यो ने जगत का मूल (सूक्ष्म) कारण माना था और न्याय-वैशेषिक

[1] ब्रह्मसूत्र, १-४-२३, प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

[2] श्वे० उप० ६-१२।

दर्शन परमाणुओं और पदार्थों के परिणाम एवं रूपान्तरण की धारणा के प्रचार में लगे हुए थे। यह विचार पर्याप्त क्रियाशील था कि प्रकृति का परिणमन ही जगत है और उसकी क्रियाशीलता (Activity) के लिए किसी बाहरी चेतनसत्ता की आवश्यकता नहीं। वैशेषिकों ने पदार्थ की और नैय्यायिकों ने परमाणु की व्याख्याएँ ऐसे ढग से की थीं, जिनके द्वारा समस्त जगत पदार्थों के मिश्रण से निर्मित हुआ माना गया था। उसमे पाया जाने वाला वैविध्य स्वयं परमाणुओं और पदार्थों मे अन्तर्निहित स्वीकार किया गया था।

बादरायण ने उक्त धारणाओ का खण्डन किया है और आत्मा की प्राथमिक सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दी है। उन्होने यह कहा है कि पदार्थ आत्मा से उत्पन्न होते है, अत वे जगत के मूल कारण नही माने जा सकते। उन्होने उन सभी पूर्ववर्ती चिन्तन-प्रणालियो की ऐसी सभी अवधारणाओ का भी खण्डन किया, जिनके अनुसार जगत को विभिन्न पदार्थों (तत्त्वों) का सयोग अथवा प्रकृति (प्रधान) का परिणमन एव रूपान्तरण (Modification) माना जाने लगा था। ज्ञान के सम्बन्ध मे भी बादरायण का मत उपर्युक्त दर्शन-प्रणालियों की तत्त्व-विचार सम्बन्धी मान्यताओ से भिन्न था। वे ब्रह्म को ही परम सत्य और जगत का आधार मानते थे तथा ज्ञान के सम्बन्ध मे यह स्वीकार करते थे कि परमसत्ता (ब्रह्म) का ज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है। जिसे यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है वही मुक्त है। इस प्रकार उनकी मोक्ष की अवधारणा भी भिन्न रूप प्राप्त कर लेती है। तत्त्व-विचारकों का मत था कि मोक्ष का स्वरूप यही है कि हम वास्तविक वस्तुस्थिति से भली-भाँति अवगत हो ले। यही उनका तत्त्व-विचार था, जिसके अन्तर्गत सुख-दु:खो का निराकरण ही सच्ची मुक्ति थी।

ब्रह्म की सत्यता और जगत के मिथ्यात्व के रूप मे शकराचार्य ने 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' को अपने माया-सिद्धान्त का आधारभूत सूत्र ही बना लिया था। लेकिन इन समस्याओ के सम्बन्ध मे बादरायण उनसे पहले ही अपने विचारो का सकेत-परिचय दे चुके थे। शाकर अद्वैतवेदान्त मे जगत को मिथ्या या असत्य सिद्ध करने पर अधिक बल दिया गया है—सम्भवत: बादरायण के जगत के विषय मे वैसे ही विचार नही थे, जैसा कि शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य मे दावा किया है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नही कि लोकायतो, साख्यो और वैशेषिको की दार्शनिक प्रणालियो की मान्यताओ को गलत सिद्ध करने के लिए ही ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या माना गया था। उन्होने उपनिषदों के वे विचार-सूत्र एकत्रित किए, जिनसे सांख्य एव अन्य भौतिकवादी चिन्तन-प्रणालियों का खण्डन किया जा सकता था। औपनिषदिक आदर्शवादी मान्यताओ को क्रम देकर ब्रह्मसूत्रो का निर्माण इस ढग से किया गया है, जिससे वादी और प्रतिवादी के रूप मे अपनी अवधारणाओं का स्पष्टीकरण, उपस्थापना एवं प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाय और विरोधी विचारको के विचारो के खण्डन का रास्ता भी निकल आए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदान्तिक विचारधारा का आरम्भ सर्वप्रथम संहिताओं में ही हो गया था और इसके बाद उपनिषदों में विभिन्न रीतियों एवं शैलियों में उसके उपबृंहण के प्रयत्न किए गए। तदनन्तर बादरायण ने भौतिकवादी दर्शन-प्रणालियों के विरोध में समूची औपनिषदिक (आदर्शवादी) विचारधारा को सूत्रबद्ध कर, वेदान्त सम्बन्धी मान्यताओं की स्थापना करते हुए विरोधी दर्शन-प्रणालियों की अवधारणाओं के आगे कई प्रकार से प्रश्न-चिह्न लगा दिए। यही आरम्भिक वेदान्त का स्वरूप एवं उसमें प्रतिपादित ब्रह्म-स्वरूप सम्बन्धी अवधारणाएँ हैं, जिनकी चर्चा शांकर अद्वैतवेदान्त में पहले, पूर्वपीठिका के रूप में करना संगत ही नहीं अपितु अत्यन्त आवश्यक भी है। अद्वैतवेदान्त या वेदान्त के विचार उपनिषदों में इधर-उधर बिखरे पड़े थे, जिन्हें बादरायण ने भौतिकवादी प्रणालियों के खण्डन के हेतु सूत्रों के माध्यम में प्रस्तुत किया था। परवर्ती सभी ज्ञानवादी और अवतार-वादी दार्शनिकों ने उपनिषद् और गीता के साथ ही ब्रह्मसूत्रों को भी अपने-अपने मतों की स्थापनाओं की पुष्टि के हेतु प्रमाण माना है। अतः यह आवश्यक था कि ब्रह्मसूत्रों की वैदान्तिक अवधारणाओं को समझ लिया जाता।

● शांकर अद्वैतवेदान्त: सामान्य परिचय

परब्रह्म : आदि-कारणत्व एवं निर्विशेषत्व—मध्ययुग सामन्ती अर्थतन्त्र का युग है, जिसमें दार्शनिक चिन्तन विविध धाराओं में फूटकर विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इस काल में आदर्शवादी विचारकों ने परम्परागत वेदान्त एवं उपनिषदों की आरम्भिक विचारधारा को फिर से बिलोया और अपनी अवधारणाओं की स्थापना के हेतु गीता एवं ब्रह्मसूत्रों को दोबारा व्याख्यन किया। यह प्रयत्न ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप परम्परागत आदर्शवादी विचारधारा को परिवर्तित सन्दर्भ में देखने और परखने के उपरान्त उन्हें नए मुहावरों में प्रस्तुत करने के लिए किया गया था। इस युग के विचारकों में शंकराचार्य का नाम सबसे पहले आता है, जिनका जन्म आठवीं शताब्दी के अन्तिम काल में केरल के कालडी गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे उपनिषदों, गीता और ब्रह्मसूत्र के मात्र व्याख्याता ही नहीं माने जाते, बल्कि भारतीय आदर्शवादी दर्शन में नयी अवधारणाओं के सूत्र जोड़ने वाले महान चिन्तक भी स्वीकार किए जाते हैं। उन्होंने अपनी विचारधारा का केन्द्र ज्ञान के एक मात्र स्रोत (उनके अनुसार) वेदों एवं उपनिषदों को बनाया है। अपनी मान्यताओं के विपरीत पड़ने वाली सभी पूर्ववर्ती विचार-सरणियों का खण्डन करने के बाद उन्होंने अपने मत की अत्यन्त समर्थता के साथ प्रतिष्ठा की है।

शंकराचार्य यह स्वीकार नहीं करते कि जगत का उद्‌भव त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणाम है। वे यह भी नहीं मानते कि ब्रह्माण्ड का निर्माण आदिकारण परमाणुओं के स्व-परिचालित मेल से होता है। उन्होंने इस मत का कड़ा विरोध

किया है कि आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व होता ही नही, वे इस विचार से भी सहमत नहीं है कि प्रत्येक जागतिक घटना क्षणभंगुर होती है। अतः उक्त सभी मान्यताओं का खण्डन करते हुए उन्होने साख्यो, नैय्यायिको, लोकायतो और बौद्धों की मूलभूत मान्यताओ की कडी आलोचना की है। इसमे सन्देह नहीं कि शकराचार्य मे पूर्वग्रहो की कमी नही है, क्योंकि कई प्रसगो मे उन्होने उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्रो की व्याख्या करते समय उन्हे अपने विचारो के अनुरूप साचे मे ढालने की खीच-तान भी की हैं, फिर भी वे अपने युग के महान विचारक है और उस युग के आदर्शवादियो मे उनका स्थान अग्रणी है।

शकराचार्य व्यक्तिगत आत्मा (जीवात्मा) और सर्वव्यापी आत्मा (ब्रह्म) एवं आत्मा और पदार्थ मे भेद की किसी धारणा को स्वीकार नही करते। उन्होने अपनी इस अवधारणा पर विशेष बल दिया है कि जीवात्मा और जगत का ब्रह्म से भिन्न एव अलग अस्तित्व नही है। वे सत्य सत्ता केवल ब्रह्म की ही स्वीकार करते है। प्रत्यक्ष जगत के विषय मे उनका विचार है कि जीव-आत्मा और अनात्म (कर्ता-कर्म) का धोखा ही जगत की प्रतीति का कारण है। वे वस्तुओ को कार्य-कारण सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मानते है—समरूपता नही। आदर्शवादी बौद्धो के शून्यवाद के विरोध मे उन्होने ब्रह्म (शुद्ध चेतना) को ही यथार्थ स्वीकार किया है, क्योंकि चेतना के अतिरिक्त वे किसी की भी यथार्थ सत्ता मानने के लिए तैयार ही नही है। जगत के बारे मे उन्होने यह माना है कि जिस तरह पानी की लहरें या बुलबुले पानी से भिन्न न होते हुए एक भी नही होते, इसी तरह जगत ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होते हुए भी, यथार्थ मे, उससे अभिन्न है।

जीव और जगत—शकराचार्य जीव को भी मात्र आभास ही मानते है, यथार्थ नही। उनका मत है कि ब्रह्म ही जीव और जगत के रूप मे दिखाई देता है। इस मान्यता के द्वारा उन्होने एक ओर ब्रह्म और जीवात्मा (वैयक्तिक चैतन्य) को एक मान लिया है, और दूसरी ओर जीवात्मा और जगत की प्रतीति को भ्रम एव माया भी सिद्ध कर दिया गया है। उनके अनुसार माया (अविद्या) आत्माओ एव नामरूपात्मक जगत की आभास सत्ता को बराबर (यथार्थ के रूप मे) प्रकट करती है इसलिए जब तक अविद्या (ज्ञान का अभाव) बनी रहती है, इस आभास का अन्त नही होता। माया को ब्रह्म की शक्ति मान कर भी शकराचार्य ने उसे सत्‌सत्ता स्वीकार करने से बिल्कुल इन्कार किया है। वे केवल ब्रह्म की ही सत्‌सत्ता (परम अस्तित्व) मानते है। जगत के अस्तित्व का आभास करवाने वाली शक्ति (माया) को वे पूरे तौर पर असत् कह नही सकते थे, इसलिए उन्होने साथ मे यह भी जोड दिया कि माया असत् भी नही है।

माया (अविद्या) के कारण जगत की प्रतीति एव उसकी व्यावहारिक सत्ता की मान्यता के उत्तर मे आचार्य शंकर ने यह माना है कि स्वप्न के उपरान्त भी यदि घटनाओ का ज्ञान बना रह सकता है और विषैले सर्प के द्वारा न काटने पर भी मात्र

सन्देह से ही यदि मृत्यु हो सकती है तो मिथ्या होने पर भी जगत का व्यावहारिक अस्तित्व या उसकी यथार्थ प्रतीति सम्भव है। जगत की वास्तविकता का खण्डन करते हुए वे कहते है कि रस्सी मे सर्प का मिथ्याज्ञान वास्तविक नही, और साथ ही उसकी व्यावहारिक वास्तविकता के पक्ष मे यह युक्ति देते है कि आखिर रस्सी मे सर्प का भ्रम किसी वास्तविक आधार पर ही हुआ करता है। इसी के द्वारा उन्होंने जगत की ब्रह्म पर निर्भरता या आश्रितता सिद्ध करने का मार्ग भी निकाल लिया है। जगत को वे ब्रह्म के अस्तित्व पर पूर्ण निर्भर स्वीकार करते है। उनके अनुसार ब्रह्म स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वामिनी या स्वतन्त्र अस्तित्वमयी शक्ति है, अत: उसकी सिद्धि के लिए वे जगत मे उसके व्यावहारिक अस्तित्त्व की अवधारणा का भी विरोध नही करते। माया उनके अनुसार ब्रह्म का अभिन्न अग तो है लेकिन उसे प्रभावित करने वाली शक्ति नही है। वे माया का अस्तित्व केवल सासारिक जीवों के लिए ही मानते है। इस स्थिति मे माया को उन्होंने इसलिए अविद्या के अर्थ मे ग्रहण किया है कि ससारी जीव ही माया या अविद्या के प्रभाव के अन्तर्गत आते है।

अविद्या का प्रभाव—जीवात्मा की सीमाओ को शंकराचार्य ने उपाधियां (जीव की ब्रह्म की नहीं) और परिस्थितियो का परिणाम माना है। उनका मत है कि जीव विद्या से अपनी अविद्या को दूर कर स्वस्वरूपता प्राप्त कर सकता है। उनके अनुसार जगत (ब्रह्माण्ड का वैविध्य) अवास्तविक और भ्रम है। जगत को पहले वे भ्रम तो मान लेते है लेकिन उसी समय उसकी पूर्ण अयथार्थता को भी नकार देते है। क्योंकि शाकर मायावाद के अनुसार ब्रह्म ही मात्र पारमार्थिक सत्ता है। माया को उन्होंने पारमार्थिक अर्थात ब्रह्म के अस्तित्त्व के सन्दर्भ मे किसी प्रकार का महत्त्व ही नही दिया। लेकिन जिस समय वे तर्क के विज्ञान के स्तर पर माया की चर्चा करने बैठते है, उस समय उसे अनिर्वचनीय बतलाते है और जब सामान्य अनुभव अर्थात् सामान्य ज्ञान का प्रसग चलाते है, तब उसे वास्तविक (यथार्थ) भी स्वीकार कर लेते हैं। सक्षेप में यही शाकर अद्वैतवेदान्त का सामान्य परिचय है।

● शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप

अद्वैतवेदान्त की विचारधारा को दृढ़ सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का श्रेय आचार्य शकर को दिया जाता है। उन्होंने माध्यमिकों के शून्यवाद का खण्डन करने और उपनिषदों की विचारधारा के अनुरूप हिन्दू दर्शन की विजय का उद्घोष करने के लिए जिस अध्यात्मानुभव एव शास्त्रीय ज्ञान और तर्कबुद्धि से अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की है, उसे विश्व के गणमान्य चिन्तकों ने भी सराहा है। उपनिषदों को उन्होंने एक साथ दो अर्थों मे 'वेदान्त' स्वीकार किया है। वे वेदो के अन्तिम भाग तो है ही, परन्तु मुख्य रूपेण उन्हे वेदो के ग्रह्यार्थ निरूपक के रूप मे ही स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य के मत मे उपनिषदें पराविद्या हैं, जिनमें वेदो का रहस्यार्थ निहित है। उपनिषदो का प्रधान विषय ब्रह्मज्ञान बतलाया जाता है। बाद में ब्रह्म

सूत्रो के रूप मे उनकी विचारधारा को सूत्रबद्ध किया गया और गीता के साथ अन्य धार्मिक ग्रन्थो को प्रमाण मान कर शंकराचार्य एवं दूसरे आचार्यों ने अपने-अपने मतों की स्थापना की है। उपनिषदों मे सर्वोपरि सत्ता को ब्रह्म का अभिधान दिया गया है। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि आत्मा और ब्रह्म से उपनिषत्कारों का एक ही आशय है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि वे अन्तिम सत्ता केवल ब्रह्म की ही स्वीकार करते है।

निर्विशेष सत्ता—शंकराचार्य का मत है कि उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं गीता मे ब्रह्म के स्वरूप के जैसे उल्लेख हुए है, उनके आधार पर ब्रह्म को ज्ञाता-ज्ञेय या विषयी और विषय के रूप मे प्रस्तुत करना इन रचनाओ का ध्येय नही है। क्योंकि उपनिषदो मे स्पष्ट रूप से ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वीकार किया गया है।[1] उनमे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जो यह कहता है कि उसने ब्रह्म को जान लिया है, वास्तव मे वही ब्रह्म को अभी तक नहीं पहचान सका है।[2] इस कथन से भी यही ध्वनित होता है कि ब्रह्म विशेष अथवा सापेक्ष सत्ता नही है। शकराचार्य ने इसी साक्ष्य के आधार पर ब्रह्म को निरपेक्ष, निरवयव और निर्विशेष सत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शंकराचार्य द्वारा अद्वैत नामकरण भी साभिप्राय प्रतीत होता है। सम्भवत. यह नेति-नेति का अनुसरण है। वे भेद मे अभेद के सिद्धान्त को इसी कारण स्वीकार नही करते। अपनी इस मान्यता के आधार पर उन्होने चिदचिद्विशिष्ट और भेदाभेद-सिद्धान्त का खण्डन किया है।

अपने सिद्धान्त की स्थापना से पहले पूर्ववर्ती विरोधी विचारों का उल्लेख करते हुए तथा उनकी अशक्तता का दिग्दर्शन कराते हुए शंकराचार्य ने निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म के स्वरूप का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते है, "ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है। वह कूटस्थ नित्य और आकाश के समान सर्वव्यापक है। यह हर एक प्रकार के विकार से रहित, नित्य तृप्त और निरवयव है। वह स्वप्रकाश-स्वरूप, गुण-दोष-विनिर्मुक्त, त्रिकालातीत अशरीरी तथा शुद्ध संवित् चैतन्य है।[3] वे उसे उस रूप मे ब्रह्मकाण्ड मे अभिव्यक्त (Manifested) स्वीकार नही करते जैसा कि वैष्णवाचार्यों, काश्मीरी शैव दार्शनिकों एवं सिक्ख गुरुओं ने माना है। यद्यपि उपर्युक्त सभी आचार्य और धर्म-मत कई बातो मे एक दूसरे से स्वतन्त्र एव विरोधी विचार भी रखते है। परन्तु वे, जो जगत को मिथ्या नही मानते, किसी न किसी रूप मे

---

[1] तैत्ति० उप०, २।१।१; "सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म।"

[2] केन० उप० २।३; यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः॥ देखिए एस० डब्ल्यू० भाग ४, पृ० ५५।

[3] एस० डब्ल्यू० भा० १, पृ० २०;—"इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापी, सर्वक्रिया-रहित, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वज्योतिस्वभावं, यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयंच नोपवर्तेते तदएतत् अशरीरत्वमाख्यम्॥"

विश्व को परमात्मा द्वारा धारण किया हुआ रूप ही मानते है, और इसी कारण जगत को मिथ्या मानने से इन्कार भी करते है। शंकराचार्य के विचार मे जगत माया के कारण केवल प्रतीति या आभासित सत्ता है, परन्तु बाद मे उन्होंने इसे व्यावहारिक सत्य के रूप मे स्वीकार भी कर लिया है। फिर भी यह ब्रह्म को एक रस ही बतलाते हैं और ज्ञान द्वारा इसे जानने का उपदेश देते हैं।[१]

शंकराचार्य के विचार मे ब्रह्म शून्यवादी बौद्धो के विश्वासानुसार अभाव रूप सत्ता नही है।[२] शकराचार्य का विश्वास है कि यह प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान के कारण होती है। उन्होंने 'नेतिनेति' द्वारा प्रतिपादित परम तत्त्व के स्वरूप की व्याख्या भी एक विशेष दृष्टिकोण से की है। यही कारण है कि वे माध्यमिक बौद्धो के शून्यवाद को पूरी तरह अस्वीकार कर देते है। शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध मानने का यही कारण प्रतीत होता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म अकर्ता है। ब्रह्म की शक्ति को उसका सक्रिय पक्ष स्वीकार न करने के कारण उन्हे जगत को मिथ्या मानना पडा है। इसी कारण उनका माया-सिद्धान्त तर्क की दृष्टि से कमजोर पड गया है। शकराचार्य द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की जानकारी के बाद सगुण ब्रह्म के स्वरूप पर उनके विचार जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

सगुण ब्रह्म—आचार्यशकर ने ज्ञाता और ज्ञेय की चर्चा को बुद्धि-कल्पित भेद स्वीकार किया है। परमसत्य के रूप मे वह निर्गुण ब्रह्म को निर्विकार ही मानते है। उन्हे 'सविशेष ब्रह्म-सिद्धान्त' स्वीकार नही है। आचार्य रामानुज की भाँति उन्होने ब्रह्म मे स्वगत या आन्तरिक भेद (Internal difference) को भी अस्वीकार किया है। उनके विचार मे कूटस्थ ब्रह्म नित्य सत्ता है अत उसे परिणमी नही माना जा सकता। परानुभूति मे केवल शुद्ध-चैतन्य का ही प्रकाश रहता है। यहाँ तक कि चैतन्य का ज्ञान भी बुद्धि-स्तर की ही बात है। इसे द्रव्य-सयोग-चैतन्य ज्ञान भी कहा गया है। सगुण ब्रह्म की धारणा उसी समय बनती है, जब द्रव्य (मैटर) को समूचे तौर पर लेकर देखने का यत्न किया जाता है। इसी प्रकार द्रव्य के किसी खण्ड मे चैतन्य-सम्बन्ध की कल्पना द्वारा जीव की धारणा साकार होती है। यही कारण है कि शकराचार्य ने सगुण ब्रह्म और जीव मे परस्पर उपाधि भेद ही स्वीकार किया है।[3] सगुण ब्रह्म का

---

१ वे० सू० शा० भा० १/३१,–नकार्यप्रपचविशिष्टो विचित्रआत्माविज्ञेयः, किंतर्हि? अविद्याकृत कार्य प्रपच विद्यया प्रविलापयन्तः तमेवैकं आयतनभूत जानथ 'एक रस' इति······ ॥

२ एस० डब्ल्यू० भा० ३, पृ० ५६८,—वाङ्-मनसातीत अपि ब्रह्मणो न अभावाभिप्रायेणअभिधीयते। छान्दो० उप०,—दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थं सद अद्वय ब्रह्म मन्दबुद्धीना असद इव प्रतिभाति।

३ एस० डब्ल्यू० भाग १६, पृ० ४६, विचार चूडा मणि, पृ० २४५, तयोर्विरोधोऽय उपाधिकल्पितोन वास्तव काश्चदुपाधिरेय ॥ वही० पृ० २४८,—एताव उपाधि परजीवयोस्तयो सम्यग्निरासे न परो न जीव ॥

महत्त्व उन्होने केवल उपासना के लिए स्वीकार किया है। उपनिषदों मे भी परम सत्य के साक्षात्कार के लिए कई प्रकार की प्रतीक साधनाओं का उल्लेख हुआ है। 'ओम्' के प्रतीक द्वारा ब्रह्म की उपासना की व्यवस्था उपनिषदों मे मिलती है। छान्दोग्योपनिषद के शाण्डिल्यविद्या-प्रकरण मे बतलाया गया है कि सब कुछ ब्रह्म है क्योंकि प्रत्येक का जन्म, उसकी स्थिति और लय भी ब्रह्म मे ही होता है।[1] गीता मे भी वासुदेव को 'सर्वम्' बतलाकर मानो उसे सम्पूर्ण सृष्टि बतलाया गया है।[2] प्रतीकोपासना चित्त को संकल्प-विकल्प से हटाकर किसी एक ही मूर्त रूप मे स्थिर करने का कार्य करती है। इस दृष्टि से सगुणोपासना अन्ततोगत्वा भेद से अभेद की ओर अग्रसर होने मे साधक की सहायक सिद्ध होती है। सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा जीव अपने ज्ञान की सीमाओं से ऊपर उठता है। सगुणोपासना द्वारा प्रेम की सीमा का विस्तार भी होता है। अत. शंकराचार्य ने अध्यात्म की यात्रा मे सगुण ब्रह्म की उपासना के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। किन्तु उनके अद्वैतवाद मे ब्रह्म को मूलत· निर्गुण और निर्विशेष ही माना गया है।

माया के कारण ईश्वर के रूप मे ब्रह्म की प्रतीति शंकराचार्य के सगुण ब्रह्म की मान्यता का आधार है। ईश्वर सारी सृष्टि का इसी अर्थ मे रचयिता है क्योंकि वह सारी सृष्टि का चैतन्य माना गया है। इस तरह उपासना के क्षेत्र मे शंकराचार्य ने सगुणब्रह्म की अनुकम्पा (Grace) के सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया है। वह सत्य को स्वत समर्थ मानते है, अत. उनके विचार मे सत्यतत्त्व को अपने आप को रूपायित करने की कोई आवश्यकता नही है।[3]

गीता मे भगवान कृष्ण ने भक्तों को आश्वासन देते हुए कहा है कि जो प्रेम पूर्वक निरन्तर उनकी भक्ति मे लीन रहता है उसे वे सहज ही मे प्राप्त हो जाते है।[4] यहाँ यह भी स्पष्ट सकेतित हुआ है कि भगवान की प्राप्ति के लिए उनकी अनुकम्पा और अनुग्रह आवश्यक है। शंकराचार्य के अनुसार सगुणब्रह्म या ईश्वर जगत का निमित्तोपादानकारण है। वे नैयायिकों की भाँति उपादान की अलग और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही करते। जगत के द्रव्यो को ईश्वर से अलग और स्वतन्त्र मान लेने पर उसकी इच्छा के पूर्णस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का महत्त्व कम हो जाता

---

१ छान्दो० उप०, सर्व खल्विद ब्रह्म तज्जालान् इति शात उपासीत।

२ गीता अध्या० ७, श्लो० १९।

३ एम० डब्ल्यू० भा० १२, पृ० ४३४-३५, अविद्याध्यारोपित निराकरण मात्र ब्रह्मणि कर्तव्यं न तु ब्रह्म विज्ञाने यत्न· अत्यन्त प्रसिद्धत्वात्॥ वही० भाग १५, पृ० ५७; अविच्छिन्नविज्ञानात् तन्नाशे सति केवल· स्वयं प्रकाश ते ह्यात्मा॥

४ गीता, अध्या० १०, श्लो० १०-११, तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धि योग तं येन मामुपयान्ति ते॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तम नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

है।[१] वे ईश्वर को सृष्टि में व्याप्त और सृष्टि से अतीत सत्ता मानते हैं। अगर ऐसा वे न माने तो उनके आत्मसाक्षात्कार-सिद्धान्त की सिद्धि ही नही हो पाती। वे स्वयं इस दोष के प्रति सजग भी हैं।[२] इस विश्वास का समर्थन हमे गीता मे भी मिलता है। वहाँ पर भगवान को सर्वव्यापक और विश्वातीत दोनो रूपो मे वर्णित किया गया है।[३]

वैष्णवाचार्यो से अन्तर—अद्वैतवेदान्त मे ईश्वर को चित्, अचित् तथा आनन्द तीन विभिन्न अशो का मिला हुआ स्वरूप नही माना गया है। यह विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है। यदि अद्वैतवेदान्ती भी ऐसा मान लें तो उन्हें यह भी स्वीकार करना पडेगा कि जिस प्रकार अशों के मेल से अंशी का निर्माण होता है, उसी प्रकार अशो को अपने अशो से अलग-अलग भी किया जा सकता है। अत. उनके विनाश की सम्भावना भी हो सकती है। इसके लिए अद्वैतवेदान्तियो ने अविद्या के कारण ईश्वर मे जीव की प्रतीति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि शकराचार्य के अनुसार अविभाज्य और अशातीत परमतत्त्व (ब्रह्म) अंशाशि-भाव का वास्तविक नहीं है, ऐसा केवल प्रतीत होता है और इस प्रतीति का कारण उन्होने माया और अविद्या को माना है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप के इस सिद्धान्त को शंकराचार्य ने केवल उपासना के लिए ही स्वीकार किया है, नही तो उनका सिद्धान्त निर्गुण ब्रह्म अर्थात् अद्वैत सिद्धान्त ही है। वे प्रत्येक स्थिति मे निर्गुण ब्रह्म को ही परमसत्य के रूप मे स्वीकार करते है।[४]

---

[१] ब्र० सू० शा० भा० २।२।३७-४१।

[२] एस० डब्ल्यू० भा० २, पृ० ३३३, ततश्च एकदेशपरिणामासम्भवतात् कृत्स्न परिणामप्रसक्तौ सत्या मूलोच्छेदनः प्रसज्येत दृष्टव्यतोपदेशानर्थक च आपद्यते ॥

[३] गीता, अध्या० १३, श्लो० १४-१६; सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। आसक्तमर्वभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च ॥ बहिरन्तश्चभूतानामचरचरमेवच। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत् ॥ अविभक्तच भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेय ग्रसिष्णु प्रभविष्णुच ॥

[४] एस० डब्ल्यू० भाग २, पृ० ३३६, अविद्या कल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यताभ्या अनिर्वचनीयेन ब्रह्मपरिणामादि सर्वव्यवहारास्पदत्व प्रतिपद्यते; पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतं अपरिणत अवतिष्ठते ॥

४ | शैव एवं शाक्त दर्शनों में परम सत्ता का स्वरूप

● **आरम्भिक शैव-शाक्त विचारधारा**

विचारों और विश्वासों का उतार-चढ़ाव—विश्व भर के देशों की विभिन्न दर्शन-प्रणालियों को एतिहासिक घटनाओं के सन्दर्भ मे देखने- विचारने से पता चलता है कि सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ चिन्तन की धारा मे भी परिवर्तन होता रहता है। पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था जिस समय उत्तरोत्तर विकास की मात्रा की ओर उन्मुख होने लगती है, उसी समय किसी नयी व्यवस्था का बीजारोपण भी हो जाया करता है। कुछ देर संक्रांतिकालीन स्थिति रहती है और उसके बाद तत्काल किसी एक ही झटके से नये सामाजिक दृष्टिकोण पहले की सामाजिक व्यवस्था को पीछे धकेल कर सामने आ जाते है और आधिपत्य का सिंहासन ग्रहण कर लेते है। एक समय के विचार आगामी युगों मे पूर्ण रूप से समाप्त नही हो जाया करते। बहुधा ऐसा भी सम्भव हुआ है कि एक विचार को परास्त कर दूसरे विचार ने अपने लिए जगह बना तो ली, लेकिन उसके बाद परिस्थितियाँ इस रूप मे बदलीं कि पुन पूर्ववर्ती विचारधारा को पनपने और उभरने का समय मिल गया एवं प्रत्यावर्तित रूप मे उस का प्रभाव भी चारों ओर व्याप्त हो गया।

उदाहरण के लिए लोकायत विचारधारा की मान्यताएँ आदर्शवाद के प्रभावकाल मे पूर्ण रूप से उपेक्षित कर दी गयीं। ऐसा लगता था कि भारत मे भौतिक विचारधारा कभी अपना सिर उठा नही सकेगी। इसी कारण ही तो भारतीय दर्शन को 'आत्मा का विज्ञान' मान कर लोकायतों की विचार-परम्परा को बहिष्कृत (डिलीट) की कर दिया गया था, लेकिन आधुनिक युग मे विचारों के स्तर पर पुनः वही भौतिकवादी विचारधारा अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित किए हुए है और उत्तरोत्तर उसका भविष्य उज्ज्वलतर होता जा रहा है। इसमे कोई सन्देह नही कि मूलदृष्टि मे पर्याप्त समानता रहते हुए भी किसी विचारधारा के विविध सोपानों के आकार-प्रकार मे बहुत अधिक अन्तर भी आ जाता है। जगत मे भी आन्तरिक परिवर्तन होते रहते है और उसे सोचने-समझने वाले मानव-समाज की परिस्थितियाँ भी तदनुरूप परिवर्तित होती रहती है।

प्रस्तुत प्रसंग से हमारा आशय यह है कि आरम्भिक भौतिकवादी विचार-धारा और साख्य-योग, न्याय एव वैशेषिक के समय की तत्त्व, पदार्थ एव परमाणु सम्बन्धी मान्यताएँ आज के वैज्ञानिक साधनों की प्रचुर सामग्री की उपलब्धि के युग मे बिल्कुल भिन्न हो गई है। लेकिन भौतिकवादियों की मूलदृष्टि वही है, जो बौद्ध-कालीन पुरानकस्सप, मखलिगोसाल, अजीत केशकम्बलिन, कच्चायन, निगंठनतपुत्त और संजयवेलथिपुत्त आदि भौतिकवादी विचारकों की थी। पदार्थ को प्राथमिक तत्त्व मानना उसी प्रकार स्वीकार किया जा रहा है, जिस प्रकार सांख्यों नैय्यायिकों, और वैशेषिक दर्शन के आचार्यो ने माना था। अन्तर केवल इतना हुआ है कि उस समय का तत्त्व-विचार मात्र बौद्धिक था। उसका प्रमाणाधार अनुमान, तर्क, अनुभव (प्रत्यक्ष जगत का) तथा दैनदिन का मानव-जीवन था। आज कल के प्रतिपादित तथ्यों एवं मान्यताओ को हस्तामलक की भाँति प्रत्यक्ष करके दिखलाया जा सकता है—एक्सपेरिमेंट्स उसे सिद्ध करके प्रस्तुत कर देते है। नवीन उपलब्धियों के कारण पदार्थों और तत्त्वों की सख्या मे भी वृद्धि आदि कई परिवर्तन (नवीन तथ्य) सामने आये है, जो बहुत पहले बनाई गयी थी---केवल विकास ही हुआ है।

आरम्भिक शैव-शाक्त-विचारधारा के प्रसग मे भौतिकवादी दर्शन-प्रणालियो की चर्चा उदाहरण के रूप मे इसलिए की गई है क्योकि इसमे हमारी प्रस्तुत विचारणा को समझ सकने का सशक्त आधार निहित है। आरम्भिक शैव-शाक्त-विचारधारा के सम्बन्ध मे यहाँ यह दिखलाना अभीष्ट है कि शिव और शक्ति की पूजा अत्यन्त प्राचीन है जिसके प्रमाण हमे सिन्धुघाटी की सभ्यता के अवशेषो एव आदिवासी जातियो मे प्रचलित मान्यताओं मे अब भी मिलते है।

विद्वानो का मत है कि यद्यपि शैव-शाक्त विचारधारा को दर्शन का रूप बहुत बाद मे प्राप्त हुआ है तथापि धार्मिक विश्वास एव उसे किसी न किसी ढंग से परमसत्ता के रूप मे स्वीकार करने की धारणाएँ और मान्यताएँ बहुत पहले से ही प्रचलित रही है। हडप्पा और मोहेंजोदडो के प्राप्त अवशेषो मे ऐसी सामग्री-प्राप्त हुई है, जिसकी व्याख्या करते हुए मार्शल आदि पुरातत्त्ववेत्ताओ ने लिंग और योनि की पूजा के रूप मे और मन की एकाग्रता के द्वारा शिव नामक शक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के अनुमान के द्वारा अपने निष्कर्षो का प्रतिपादन किया है। भारतीय दर्शन के इतिहास मे शक्ति की परमसत्ता के रूप मे मान्यता और उसकी पूजा का समय तान्त्रिक काल माना जाता है, जिसे शक्ति के सन्दर्भ मे शाक्त साधना-काल भी कह सकते है। लेकिन शक्ति या देवी की पूजा सृजनात्मक अलौकिक सत्ता के रूप मे भी अपने आरम्भिक आकार मे उस समय मे भी विद्यमान थी, जिस समय मानव-समाज कबीलाई जीवन व्यतीत कर रहा था। जीविका के उपार्जन का प्रधान कार्य स्त्री जाति के पास था और देवियों की पूजा खेती की अधिक उपज देने वाली शक्तियो के रूप मे की जाती थी।

आरम्भिक वेदान्त मे ही परमसत्ता की शक्ति के संकेत किये जाने लगे थे। उधर आर्यों के पुरुष देवताओं के साथ उनकी पत्नियों के रूप मे देवी की पूजा के लिए स्थान बनता रहा, जिसने अन्त में शक्ति के रूप मे परमसत्ता का स्थान ग्रहण कर लिया। सामान्य रूप मे परमसत्ता की अवधारणा को स्त्री के रूप में प्रकट किया गया और उसकी शक्तियों के विभिन्न रूपों एवं पक्षों को ध्यान मे रखते हुए शक्ति-परिवार की कल्पना भी कर ली गई। आरम्भिक देवी-पूजा के प्रचार के समय की जितनी भी मुख्य-मुख्य प्रादेशिक देवियाँ थीं, उन सभी को परमशक्ति रूप महामाया या देवियों की अधीश्वरी की विभिन्न शक्तियो के रूप माना गया। शाक्त-परम्परा के अन्तर्गत मत-सम्प्रदायो मे देवियो की उपासना एवं स्तुति के लिए रचे गये स्तोत्रो से इस मत की पुष्टि होती है कि परब्रह्म के अवतारी रूपो और उनके परिवार की भाँति ही महामाया पराशक्ति के अवतारो को भी स्वीकार किया गया है और यदि परब्रह्म के रूप मे परमसत्ता के पुरुषावतारो मे स्वतन्त्र शक्ति के अवतारों को ही ध्यान मे रखा जाए तो हिन्दू धर्म की सभी मान्यताएँ उसी मे समाहित देखी जा सकती हे। महामाया शक्ति ही अपने विभिन्न रूपो के द्वारा जगत की रचना, उसका पालन एव सहार करती दिखाई गई है। जिस प्रकार नारायण धरती का भार उतारने के लिए, पीडितों की प्रार्थना मे द्रवीभूत होकर मानव-देह के रूप मे अवतार धारण करते है, उसी प्रकार देवी (महामाया शक्ति रूपा परब्रह्म) भी राक्षसो और दुष्टो के विनाश एव अपने भक्तो के कल्याण के लिए अवतारी रूप मे अवतरित होती मानी गई है।

मार्शल आदि पुरातत्ववेत्ताओं और दुर्खेम एव फ्रेजर आदि समाज शास्त्रियों की उपस्थापनाओं के आधार पर यह माना जाने लगा है कि अनार्य (आर्येतर) जनसमुदाय के राष्ट्रीय देवी-देवताओं मे गाँवो की देवी माताएँ, प्रादेशिक भेद के कारण विभिन्न नामो के द्वारा राष्ट्रीय देवी-देवताओं मे अपने लिए प्रमुख स्थान बनाए रही है। आदिम कबीलो मे आज भी ब्राह्मणेत्तर देवी-पूजको का ही बाहुल्य है, जिनके सम्बन्ध मे यह विश्वास प्रचलित है कि ये पुरोहित-पुजारी प्राचीन कबीलो के मुखियों की सन्तान है एवं उन्ही मे देवी माता को सन्तुष्ट करने की योग्यता एवं क्षमता विद्यमान है।[1]

भारतीय ग्राम-समाज मे अब भी भूतो प्रेतो की मान्यता के कारण एव जादू-टोनो के द्वारा प्रविष्ट प्रेतात्माओं के निराकरण तथा विभिन्न रोगो को दूर करने की सामर्थ्य मे विश्वास रखने के हेतु सामान्य स्थिति के देवी-देवताओ की पूजा पूर्ववत् प्रचलित देखी जा सकती है। इसके सम्बन्ध मे फ्रेजर महोदय लिखते है कि भारतीय आदिम निवासियो के प्रायः सभी धार्मिक कृत्य उनके समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त ओझाओं के द्वारा सम्पन्न होते है। हिन्दू धर्म के प्रभाव के कारण प्रादेशिक

---

[1] मार्शल : मोहेजोदडो एण्ड इडस सिविलिजेशन (पृ० ५१, सस्क० 1९३१)

छोटे-मोटे गुग्गा आदि देवताओ, जिन्हे प्रायः वीर व्यक्ति होने के कारण देवत्व प्राप्त हो गया है विष्णु और शिव आदि के सेवकों का रूप दे दिया गया है।[२] सम्भवत: यह परवर्ती पौराणिक विश्वास है, जिसके अनुसार आदिवासियों के उक्त प्रादेशिक देवता भी आर्य धर्म के प्रसिद्ध देवताओ (शिव और विष्णु आदि) के परिवार के अन्य सदस्यो की भाँति देवत्व-स्थिति को प्राप्त कर सके है।

उपर्युक्त सामग्री के पर्यालोचन के उपरान्त इस तथ्य को भी स्वीकार कर लेना असंगत धारणा नही होगी कि आज के हिन्दू धर्म का रूप वैदिक धर्म का शुद्ध रूप नही है। विद्वानो ने आर्य एव आर्येतर समाज मे परस्पर अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करते हुए इस तथ्य की ओर ध्यान खीचने के प्रयत्न किये है कि शिव के साथ शिवानी की पूजा का प्रचलन मुख्यत इसी अन्तर्भुक्ति का परिणाम है। मध्य काल तक आर्य एव आर्येतर समाज की पृथकता की भावना प्रायः समाप्त हो चुकी थी और दोनों की अलग-अलग ढंग की मान्यताएँ समझौते के रूप मे पर्याप्त एकाकारिता ग्रहण कर चुकी थी। इसलिए यह तथ्य पर्याप्त आधार-पूर्ण है कि देवताओं की पूजा के प्रचार-काल मे देवियो की पूजा का प्रचलन भी हो गया था और शक्ति के रूप मे परमतत्त्व की अवधारणा प्रर्याप्त प्रचार प्राप्त कर चुकी थी।

दक्षिण के शैव मतो और काश्मीर प्रत्यभिज्ञावादियों की शिव के स्वरूप आदि की मान्यताओ के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि तांत्रिक विचार--धारा का प्रचार अधिकाश मात्रा में पश्चिमोत्तर एव पूर्वोत्तर-प्रदेशों मे ही हुआ है। लेकिन यह तथ्य विशेष कर ध्यातव्य है कि शक्ति और शैवों मे इस प्रकार का कोई विरोध दिखलाई नही देता, जैसा कि शैवो और वैष्णवों के सम्बन्ध मे हमे विभिन्न प्रकार के साक्ष्य प्राप्त होते है। शिव को शक्ति का परम रूप माना गया है और शक्ति उसकी ऊर्जा या विमर्श का रूप स्वीकार की गई है। सोमानन्द आदि काश्मीर प्रत्यभिज्ञावादियो का कहना है कि शाक्तो और शैवो मे मूलत किसी प्रकार का भेद नही है। जिसे शक्ति की अवधारणा के अनुरूप परमतत्त्व का रूप अच्छा लगता है वे शाक्त है और जिन्होने उस परमसत्ता को शिव के रूप मे स्वीकार कर लिया है, वे शैव है। शक्ति के बिना शिव शव है और शिव के बिना शक्ति का अस्तित्त्व ही नहीं है। अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि आरम्भिक शैव एव शाक्त विचारधारा क्या थी और किस प्रकार से ये अवैदिक विश्वास कालान्तर मे हिन्दू धर्म के अभिन्न अग बन गए थे।

● **शैव मत : नव्य उत्थान**

जैन-बौद्ध मत के प्रभाव का अन्त—जैनो एव बौद्धो के आन्दोलनो की मूलभूत प्रेरणा के सम्बन्ध मे यह माना गया है कि ब्राह्मणवाद के विरोध मे उन्होने कर्मकाण्ड

---

२ 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स' (खंड सं० २) मे दिए गए फ्रेजर के विचारो का रूपान्तरण।

के स्थान पर नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा का अनुभव करते हुए, अपने आन्दोलन आरम्भ किये थे। सर्वप्रथम भारत के पूर्वी भाग के पूर्वोत्तरी क्षेत्र से ये आन्दोलन उठे और इन्होंने जल्दी ही दक्षिण मे भी अपने पाँव जमा लिए। उत्तर-पश्चिम की अपेक्षा वे दक्षिण में सम्भवत इसलिए अधिक सफल हो सके थे कि वहाँ की सामाजिक स्थिति उनकी विचारधारा के अधिक अनुकूल थी।

समाजशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर ये अनुमान भी लगाये गये है कि दक्षिण मे कबीली जीवन तब तक विद्यमान था और वहां पर आर्येतर समाज वैदिक आर्यों की तुलना मे अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली था। तब तक वहाँ के प्राचीन निवासियों में ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था की जडें गहरी नही हो पायी थीं। दक्षिण भारत के प्राचीन निवासियो के जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली, ईसवी सन् प्रथम शताब्दी के आस-पास की तमिल भाषा की कतिपय रचनाओ मे अभिव्यक्त सामाजिक दृष्टिकोणों के अनुसार उनमे आर्येतिर भावनाओ का ही आधिक्य पाया जाता है तथा संस्कृत के उस युग के साहित्य के प्रभाव से वे पर्याप्त मुक्त एवं स्वतन्त्र प्रकार की रचनाएँ है। इन का प्रधान विषय अधिकाश मे राजाओ और सामन्तों की प्रशंसाओं एवं प्रेममूलक भाव-गीतों से सम्बन्ध रखता है। इससे उस समय के दक्षिण भारत की सभ्यता की सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो एव जनता के रहन-सहन और आचार-विचार का पता भी चल जाता है। इन रचनाओ मे हमे ब्राह्मण धर्म की भाँति आत्मा या कर्मकाण्ड के उल्लेख नही मिलते। इसके कुछ काल बाद की तिरुक्कुरल और नालटियार की कृतियो मे तो अन्य लौकिक विषयो के वर्णन के साथ बौद्ध एवं जैन धर्म के नैतिक तथा दार्शनिक विश्वासो के उल्लेख भी उपलब्ध होने लगने है, जिनमे सदाचार-पूर्ण जीवन को लेकर बहुत कुछ कहा गया है। तब तक सामाजिक परिस्थितियो मे परिवर्तन के चिह्न तो दिखायी देने लगे थे, लेकिन उनके फलस्वरूप चातुर्वण्य वाली स्थिति अभी प्रभावशाली रूप धारण नही कर सकी थी। फिर भी पेशेवर वर्गो मे भेद के स्पष्ट सकेत अवश्य प्राप्त होने लग गये थे।

आर्य-आर्येतर मेल-जोल—ऊपर जिस युग एव स्थिति का उल्लेख किया गया है, तब तक आर्य एव आर्येतर सस्कृतियाँ परस्पर पर्याप्त घुल-मिल की अवस्था मे पहुँच चुकी थी और दोनो ने एक दूसरे को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित करना भी आरम्भ कर दिया था। ईसवी सन् के आरम्भ मे ये प्रभाव और सम्बन्ध घनिष्ठ रूप धारण करने लगे थे, जिसके कारण जैन एव बौद्ध धर्मो को अपने प्रभाव की स्थापना का अनुकूल अवसर मिल गया। कुछ शताब्दियों तक तो जैन एव बौद्ध धर्म का दक्षिण मे पर्याप्त प्रभाव बना रहा और उसे राज्याश्रय तक भी मिला गया, लेकिन पाँचवी और नौवीं शताब्दी के अन्तराल मे सामन्तशाही के उदय, प्रभाव और विकास के कारण बुद्ध एवं जैन विचारधारा के पाँव बुरी तरह उखड़ने आरम्भ हो गये एवं शैव तथा वैष्णव रूप मे हिन्दू धर्म के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो गया। यह परिवर्तित परिस्थियों का ही प्रभाव था कि दक्षिण भारत से जैन और बौद्ध दोनों ही

धर्म जल्दी ही निर्वासित कर दिये गये। इसी समय शैव और वैष्णव सन्त तमिल में भक्ति-गीतों की रचना कर रहे थे। अन्तत: हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्मों का संघर्ष प्रायः समाप्त हो गया। जनता ने इन सन्तो के भक्ति-गीतो को अपनी भावनाओ के अनुकूल पाया और वे इनमे दिलचस्पी लेने लगे, जिसके कारण अन्त मे पूरे तौर पर वे शैव तथा वैष्णव धर्म के अनुयायी बन गये।

शैव मत का नव्य उत्थान : कारण—शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायो के उद्भव-काल एव उसके कारणो के बारे मे विद्वानो मे पर्याप्त मत-भेद पाया जाता है। कहा जाता है कि वैदिक धर्म का अन्त मे पर्याप्त ह्रास हो गया, जिस (ह्रास या क्षय) का कारण ब्राह्मणो और क्षत्रियों मे उत्पन्न अपने वर्ग के प्रभुत्व की प्रतिस्पर्धा का सघर्ष था। यह मत भी प्रकट किया गया है कि विष्णु अन्तत ब्राह्मणो के देवता मान लिए गये थे और शिव क्षत्रियो के।[१] इस तथ्य मे पर्याप्त सत्य की मात्रा निहित है, क्योकि कुशान राजाओ द्वारा स्वीकृत शिव-भक्ति के साक्ष्य इस की पुष्टि करते है। लेकिन ब्राह्मणो और क्षत्रियो का यह सघर्ष चिरकाल व्यापी सघर्ष बना न रह सका और ईसवी सन् तीसरी और चौथी शताब्दी मे ब्राह्मणवाद के नये रूप के उदय के साथ ही वैष्णव धर्म का महत्त्व बढ गया। गुप्त शासक इसे स्वीकार करने की ओर केवल झुके ही नही थे बल्कि वे अपने आप को वैष्णव मानकर गौरव का अनुभव करते दिखायी देते है।

शैव सम्प्रदाय की उत्पत्ति एवं प्रचार-प्रसार के क्षेत्र के सम्बन्ध मे भी विद्वान् एकमत नही है। इसका आरम्भ अत्यन्त प्राचीन मानकर उसे आर्यपूर्व-समाज मे प्रचलित लिग-पूजा से जोडते हुए, हडप्पा और मोहेंजोदडो की सभ्यता तक खीचकर ले जाने के यत्न किए गए है। यह भी ठीक है कि शिव की पूजा आर्यो की विजय के बाद निरन्तर चलते रहने की बात भी असगत नही है। लेकिन विशेषकर ध्यातव्य बात यह है कि मूल-स्रोत की बात यदि बीच मे ही छोड दी जाए तो यह निश्चित हो जाता है कि दक्षिण के शैव और वैष्णव सम्प्रदायो का रूप उस युग के उत्तरी भारत के धर्म-सम्प्रदायो मे बिल्कुल भिन्न रहा होगा। दक्षिण भारत मे शैव सम्प्रदाय का उत्थान सबसे पहले जैन एव बौद्ध धर्मो के विरोध मे हुआ था। आरम्भिक शैवों (नायनार) का समय छठी शताब्दी से नौवी शताब्दी के बीच का है। ये सत शिव को, ब्रह्मा और विष्णु का समीकृत रूप स्वीकार करते है।[२] इनके गीतो मे शिव अन्तिम सत्य माने गए है, जो व्यक्तिगत ईश्वर के रूप मे इन्हे दर्शन भी देते है। इन सतो ने भक्ति-गीत गा-गाकर लोगो के हृदयों मे जैन एव बौद्ध धर्म के प्रति उदासीनता का भाव बनाया था, और उस समय की परिस्थितियो एव प्रवृत्तियों ने भी शिव की भक्ति की ओर समाज को आकर्षित कर दिया था। बौद्ध और जैन

[१] टी० पी० एम० महादेवन, दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ४५७,

[२] नीलकण्ठ शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ सौथ इण्डिया, पृ० ४१४।

धर्म के धार्मिक स्थानों की जगह शिव के बड़े-बड़े मन्दिरों ने ले ली एवं उसके अनुयाइयों को राजाओं का आश्रय भी प्राप्त हो गया।

शैव विचारधारा की सामान्य दार्शनिक विशेषताएँ—शैव विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है, लेकिन इसे दर्शन-प्रणाली के रूप में बहुत बाद में प्रतिपादित किया गया है। शैव दर्शन की विभिन्न शाखाओं की कुछ सामान्य दार्शनिक विशेषताएँ इस प्रकार है।

(क) **शैवदर्शन में स्वीकृत मूल तत्त्व**—शैव सिद्धान्त में तीन मूल यथार्थ स्वीकार किए गए। ये है—जीवात्मा (पशु) बन्धन (पाश) और ईश्वर (पति)। पशु अर्थात् जीवात्मा को पाश अपने बन्धन में पकड़े रहते है। वह उनसे तभी मुक्त होता है, जब वह पति (ईश्वर) का साक्षात्कार कर लेता है। शिव को पति या परमेश्वर कहा गया है और केवल उसी की सर्वोच्च यथार्थ सत्ता स्वीकार की गई है। वह आत्म-अस्तित्व, अन्त प्रज्ञा, अनन्त ज्ञान और प्रेम-युक्त सर्वशक्तिमान, अनन्त आनन्दस्वरूप परात्पर सत्ता है। संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार उसी का कार्य है और वही आत्माओं का तिरोधान एवं उनके ऊपर अनुग्रह का कार्य करता है।

आत्मा की स्वरूप-चर्चा करते हुए शैव (आरम्भिक) उसे अरूप, सर्वव्यापी और पदार्थ से भिन्न सत्ता मानते है। वह इस अर्थ में व्यापक है कि जिसमें उसका निवास होता है, कुछ समय के लिए वह स्वयं उसी में तदाकार हो जाती है। वह मूलरूप में शाश्वत चैतन्य एवं त्रिकालाबाधित प्रतिभा है और शक्ति का अगाध सागर भी। लेकिन आणव मलों अर्थात् पाशों के कारण उसकी इस स्वरूपता का निरन्तर तिरोभाव हो जाता है, इसलिए वह पति से पशु की स्थिति में आ जाता है।

(ख) **जीव सम्बन्धी अवधारणा**—जीवों के वास्तविक स्वरूप में ही मद, मोह एवं ताप और शोक को उत्पन्न करने वाले आणव मलों की स्थिति स्वीकार की गई है। असंख्य जीवों में आणव मल परिव्याप्त रहता है, जिसके कारण वे ज्ञान और क्रिया से बँध जाते है। आणव मल को शैव विचारक, जीवों के अज्ञान का स्रोत और उनके द्वारा शरीर के स्वातन्त्र्य की अनुभूति का कारण मानते है।[1]

(ग) **मलों की स्वीकृति**—शैव दर्शन की मूलभूत आरम्भिक अवधारणाओं में आणव मल के साथ ही 'माया मल' को भी स्वीकार किया गया है। तदनुसार आणव और माया-मल में यह अन्तर है कि 'मायामल' आत्माओं से अलग रहता है, आणव मल जीवों के वास्तविक स्वरूप में ही विद्यमान एवं व्याप्त है। माया-मल का कार्य आत्माओं में इच्छा, क्रिया और ज्ञान को प्रेरित करते रहना माना गया है। इसके विपरीत आणव मल, जीवों का बन्धन है। वह उनमें समाविष्ट रहकर उन्हें उनकी प्राकृतिक शक्तियों से विमुख बना देता है। आत्माएँ 'आणवमल' के प्रभाव की अवस्था

---

[1] के० एम० बाल सुब्रमण्यम, स्पेशल लेक्चर्स आन शैव-सिद्धान्त, पृ० १२१ (१९५९)।

में इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप (अपनी) प्राकृतिक शक्तियों का सही सन्धान नहीं कर पाती। वे आणव-पाशों से बन्धी हुई सांसारिक पीडाओ के दु:ख सहती रहती है। अपने शुद्ध स्वरूप मे जीवात्मा शरीर और इन्द्रियो से स्वतत्र है, वह मूलतः शाश्वत और सर्वव्यापी चैतन्य है। ये पाशों का ही प्रभाव है कि उसके कारण वह स्वय को परिमित मान लेती है तथा यह स्वीकार कर लेती है कि वह विचारों और क्रियाओं में सीमित सत्ता है।

(घ) **पाशों का स्वरूप**—शैवो द्वारा पाशो का उल्लेख ऐसे ढग से किया गया है, जिससे उनमे अविद्या, कर्म और माया की सम्मिलित स्थिति सिद्ध होती है। वास्तव मे ये ही आत्मा की बन्धक शृ खलाएँ है। ऊपर जीवो के सम्बन्ध मे उनके ज्ञान और उनकी शक्ति की सीमितता की जो बात कही गई है, उसका मूल कारण अविद्या है। अविद्या वास्तव मे जीव की बनाई हुई अपनी धारणा भी मानी जा सकती है। इस धारणा के वश मे घिर कर ही जीव अपने आप को परिमित एव शरीरस्थ सत्ता मानने लगता है। आत्मा की क्रिया को शैव मतो मे 'कर्म' का अभिधान दिया गया है, जो उसे अचेतन से बान्धने का कार्य करता है।

(ङ) **माया और अविद्या**—माया और अविद्या शैवों के अनुसार भिन्न अवधारणाएँ है। अविद्या जीव का अज्ञान या उसमे अज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति है। माया को वे जगत का कारण (भौतिक) मानते है। पशु के पाशों के निराकरण को अपने पति के साथ उसकी एकाकारिता स्वीकार किया गया है। आत्मा की मुक्ति से शैवो का आशय उसकी उस अवस्था की प्राप्ति से है, जिसमे सासारिक दोषों एव अपूर्णताओ का सर्वथा अभाव है। अत आत्मा (जीव) के मोक्ष के लिए उसका पाशो से मुक्त होना अनिवार्य माना गया है। लेकिन आत्मा की यह मुक्तावस्था उसका ईश्वर हो जाना स्वीकार नही किया गया। शैवो (वीर) की यह अवधारणा शकराचार्य की 'जीव ही ब्रह्म है, से बिलकुल भिन्न है। यही कारण है कि प्रत्याभिज्ञावादी शैवो ने न केवल शकराचार्य के अद्वैतवेदान्त को अस्वीकार किया है, वल्कि वे उसका जम कर विरोध और खण्डन भी करते है। जीव की मुक्ति उनके अनुसार ईश्वररूपता नहीं, वे आत्मा और ईश्वर को भिन्न मानते है। इसी कारण आरम्भ मे ही उन्होंने पशु, पाश और पति, तीन यथार्थ मान लिए है। वे शंकराचार्य की 'जीव ही ईश्वर है' की धारणा का खण्डन करते हुए आग और आग से किये गये गर्म पानी का उदाहरण देकर यह सिद्ध करते है कि पानी अग्नि के सयोग या सम्पर्क से केवल गर्म ही होता है, उसमे जलने की क्षमता (धर्म) नही आ जाती। इसी तरह ईश्वर के अनुग्रह-पात से आत्मा (जीव) को पूर्णत्व ही प्राप्त होता है, वह ईश्वर नही बन जाता अथवा उसे ईश्वरत्व लाभ नही होता।

(च) **सारभाव**—उपर्युक्त शैव-सिद्धान्त (विशेषकर दाक्षिणात्य) के अनुसार पति या शिव (ईश्वर) अनादि यथार्थ तत्त्व है और दूसरे दो यथार्थों (पशु और पाश) की तुलना मे उसे सर्वोच्च यथार्थ स्वीकार किया गया है। उसमे आठ गुण-आत्म-

अस्तित्व, पवित्रता, अन्तःप्रज्ञान, अपरिमेय ज्ञान, बन्धनातीतता, आनन्द भरिता सर्वशक्ति मत्ता, प्रेमागाधता—माने गये हैं। वही संसार की रचना करता है और उसकी स्थिति एवं पालन भी उसी का कार्य है। सहार का कार्य भी उसी का है तथा आत्माओं का तिरोधान एव उनका स्वरूप-ज्ञान भी उसके अधीन है। शिव की पाँच क्रियाएँ मानी गई है, जिन्हे सृष्टि, स्थिति, सहार तिरोधान और अनुग्रह का अभिधान दिया गया है। तदनुसार शिव और पशु भिन्न है, एक ही नहीं। शिव उस अग्नि के समान बतलाया गया है, जो पानी को गर्म भी कर देती है और स्वय जलती भी है, जबकि पशु शिव के गुण को तो प्राप्त कर सकता है, परन्तु उसके धर्म वही नही बन जाते जो शिव के है। जैसे पानी आग के धर्म अर्थात् गर्मी को तो अपने भीतर समेट लेती है, लेकिन स्वय आग की तरह जल नही सकता।

(छ) **प्रत्यभिज्ञावादी शैव दर्शन का स्वतन्त्र चिन्तन**—ऊपर जिस तेरहवी शताब्दी के दाक्षिणात्य शैव-सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है, उससे पहले कश्मीर मे प्रत्यभिज्ञा-वादी शव दर्शन का प्रचार हो चुका था। विद्वान प्रत्यभिज्ञावादी शैव दर्शन के निर्माण का समय आठवीं और नौवी शताब्दी स्वीकार करते है। अभिनवगुप्त के समय यह विचारधारा अत्यन्त सशक्त दर्शन-प्रणाली का रूप प्राप्त कर चुकी थी। प्रत्यभिज्ञावादियो के अनुसार शिव (परमशिव या अनुत्तर) ही परम यथार्थ है। उसे वे अद्वितीय प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न सत्ता मानते है। परमशिव की अद्वितीयता उपनिषदो मे वर्णित परमतत्त्व जैसी ही है। जगत को वे मिथ्या नही मानते। उनके विचार मे वह शिव की शक्ति का रूप या विलास है। इसे इस प्रकार भी प्रतिपादित किया जा सकता है कि शिव स्वय को ही ब्रह्माण्ड के रूप मे प्रकट करते है। शिव मे अपने भीतर ही वह अलौकिक शक्ति निहित है, जिसके माध्यम से वह ब्रह्माण्डमयता प्राप्त कर लेता है।

(ज) **काश्मीर शैवों की शक्ति**—शिव या परमशिव को 'अनुत्तर' का अभिधान देकर प्रत्यभिज्ञावादी शैवो ने उसकी अन्तर्निहित शक्ति के चित् आनन्द इच्छा, ज्ञान, क्रिया एव माया—अनेक गुण स्वीकार किये है। काश्मीर शैवो के मत मे शक्ति प्रकृति जैसी सत्ता अर्थात् ब्रह्माण्ड का भौतिक कारण नही है। वह न भ्रम है और न ही वैष्णवो की माया की तरह पुरुषतत्त्व की पूरक ही स्वीकार की जा सकती है। तदनुसार शक्ति, शिव का विमर्श-स्वरूप है। वस्तुत परमशिव प्रकाश और विमर्श का संयुक्त रूप माना गया है, जिन्हे शिव और शक्ति के नाम दिये गये है। परमशिव शक्ति के (विमर्श के) पक्ष के द्वारा अपने आप को ब्रह्माण्ड के रूप मे व्यक्त करते हैं। इसे शिव की भेदाभेद की अवस्था भी कहा गया है। इस अवस्था मे शिव मानो ऐसा प्रकट करते है कि जगत उनसे भिन्न है, लेकिन वास्तव मे शिव और जगत दो भिन्न सत्ताएँ नही है। पशु जब तक इस अभेद का साक्षात्कार नही कर लेता, तब तक उसकी मुक्ति नही होती।

(ख) दाक्षिणात्य शैवों से भेद—दक्षिणात्य शैवो की भाँति काश्मीर शैव जीव (पशु) को शिव से भिन्न नही मानते। उनके अनुसार शिव और पशु मे अभेद है। पशु इसलिए शिव न होकर पशु कहलाता है, क्योकि वह पाशो मे सीमित है। उसमे दोष (आणव मल) है, जिन्होने उसे सीमाओ से बाँधा हुआ है। मल (दोष) ही उसे ईश्वर (शिव) से भिन्न प्रतीत करवाते है या उनके कारण वह शिवस्वरूपता मे पहले शिव नही होता। आध्यात्मिक अनुशासन पर आरूढ होकर परमसत्य (शिवस्वरूपता) का साक्षात्कार कर लेने पर ही पशु उसका पशुत्व-भाव मिटता है।

● **वीरशैव दर्शन में परमतत्त्व का स्वरूप**

दक्षिण का लिंगायत सम्प्रदाय भी शैव है, जिसके अनुयायी वीरशैव कहलाते है। इस सम्प्रदाय का प्रसार-क्षेत्र कर्नाटक, महाराष्ट्र और आन्ध्र के कुछ भागो तक माना जाता है। बसव इस सम्प्रदाय की विचारधारा के प्रथम प्रवर्तक है, जिन्होने वेदो की प्रमाणिकता एव पुरोहितो (ब्राह्मवादी) के कर्मकाण्ड एव विधि-निषेध को न मान कर जगम सम्प्रदाय की स्थापना की थी। कुमारस्वामी के अनुसार यह शैव सम्प्रदाय ११६० मे बना था। इन्ही के शब्दो मे शैव विचारक बसव यह मानता है कि पुरोहित वर्ग के धर्म मे स्वीकृत विधि-निषेधो को अस्वीकार करने पर ही धर्म के पतित रूप मे सुधार किया जा सकता है। वीरशैव दर्शन के प्रवर्तक बसव का विचार था कि ऐतिहासिक आवश्यकता इस बात की है कि ब्राह्मणवादी दृष्टि का परित्याग कर युग की माग के अनुरूप नया दृष्टिकोण अपनाया जाए। स्त्री जाति को समानता का अधिकार मिलना चाहिए तथा जात-पात का भेद-भाव समाप्त किया जाना चाहिए। जीवन को सादा, लेकिन उद्देश्यपरता मे बिताकर ही मानव समाज का हित हो सकता है।

वीरशैव जगत को वास्तविक सत्ता मानते है और उसे शक्ति के रूप मे ईश्वर की लीला-भूमि स्वीकार करते है। उन्होने शिव को जगत का प्रथम कारण, शक्ति को उपकरण या उपादानकारण एव माया को, भौतिक कारण माना है। अन्य दाक्षिणात्य शैव धर्मों की भाँति वे भी शक्ति को ईश्वर (शिव) का अन्तर्निहित गुण बतलाते है तथा किसी-न-किसी रूप मे शक्ति के बिना शिव को शव स्वीकार कर लेते है।

● **काश्मीर शैव दर्शन में परम शिव का स्वरूप**

काश्मीर शैव प्रत्यभिज्ञावादी विचारक है। उनके अनुसार परमसत्ता अनिर्वचनीय है, अत उसे कोई भी अभिधान देना सम्भव नही। इसी कारण अभिनव गुप्त ने उसे अनुत्तर या परमशिव कहा है। ये दोनो ही अभिधान परमतत्त्व की अनुत्तरता एव अनिर्वचनीयता के ही प्रतीक है। अनुत्तर कोई अभिधान विशेष न होकर परमसत्ता के स्वरूप की ओर केवल संकेत मात्र है। तदनुसार वह पूर्ण अतीत है और उसके आगे किसी भी अन्य तत्त्व का अस्तित्व नही है। परमशिव या अनुत्तर के स्वरूप की चर्चा करते हुए अभिनवगुप्त आदि काश्मीर शैवो ने उसे प्रकाश-विमर्श

सवित्सागर कहा है। प्रकाश उसका शिव रूप है और विमर्श शक्ति रूप। शक्ति परमसत्ता की विभिन्न शक्तियो का अभिधान है। शिव भी शक्ति से भिन्न सत्ता न होकर शक्तिमय है।[१] शिव, शक्ति का सारत्त्व (Substance) माना गया है और शक्ति को उसका विशेषण।[२] सोमानन्द के अनुसार प्रत्यभिज्ञावादियो की दृष्टि मे शिव और शक्ति मे कोई भेद नही है।[3] परन्तु शक्ति शिव का विशेषण या परमशिव का विमर्श पक्ष होने के कारण अपने अस्तित्व को शिव के बिना अनुभव नही कर सकती। परमशिव का प्रकाश स्वरूप अपनी ही सत्ता से प्रकाशित है। उसकी यह सत्ता उसकी शक्ति है, जो परमशिव का विमर्श रूप है। इस दर्शन के आचार्यों का मत है कि परमसत्ता का स्वभाव है कि उसमे उन्मीलन और निमीलन की सतत क्रिया होती रहती है। इसी को उन्होंने जगत की रचना और उसका विलय माना है। रचना और विलय की बीच की स्थिति को वे अन्तराल की स्थिति के रूप मे स्वीकार करते है। काश्मीर शैवो ने परमसत्ता और उसकी प्रकाश एव विमर्श स्वरूपता (शिव और शक्ति) का जिस ढग मे विवेचन किया है, उसमे उनका परमशिव-सिद्धान्त अद्वैतवेदान्तियो के परब्रह्म एव वैष्णव आचार्यों के परमसत्ता-सिद्धान्तो मे पूर्ण भिन्न हो जाता है।

प्रत्याभिज्ञावदी आचार्यों के अनुसार परमसत्ता को सृष्टि की रचना के लिए उपादान सामग्री के रूप मे किसी बाहरी द्रव्य अर्थात् परमाणुओ आदि की आवश्यकता नही है। परमशिव की इच्छा मे उसमे अभेदाभेद एव उसके उपरान्त पूर्ण भेद हो जाता है। शिव, शक्ति, और जगत (जीव और जड) सभी परमशिव का विलास एव उसी का रूप है। उसकी यह निरन्तर प्रवहमान लीला है कि वह पूर्णाभेद से उत्तोत्तर पूर्ण भेद को, और पूर्ण भेद से पुन भेद की ओर उन्मीलित एव निमीलित होता रहता है। इसी मान्यता के आधार पर यह स्वीकार किया गया है कि पशु शिव का ही धारण किया हुआ अपना रूप है। अत जगत मिथ्या न होकर इसलिए सत्य है कि वह शिव की शक्ति का विकास है जो अन्ततोगत्वा शिव का ही रूप है। परमशिव के स्वातन्त्र्य पर काश्मीर शैव अधिक बल देते है। उन्होंने अपनी मान्यताओ की स्थापना एवं सिद्धि के लिए तर्क को अपनाया है और साथ ही परमसत्ता के पूर्ण इच्छा-स्वातन्त्र्य की धारणा के द्वारा भी सिद्ध करने का यत्न किया है कि यह इच्छा हो परमसत्ता का स्वभाव है और ब्रह्माण्ड की रचना, उसकी स्थिति और सहार इस स्वभाव के ही विभिन्न पक्ष या स्थितियां है। द्वैतवाद की भाँति वे जीवो को अनादि एव सख्या मे अनन्त नही मानते। उनके अनुसार परमशिव विशिष्टद्वैतवादियों के परमब्रह्म की भाँति चित् एव अचित् से विशिष्ट सत्ता भी नही है। जीव और जगत

---

१ शिव दृष्टि वि० २-१,

२ शिव दृष्टि, ७-१४ से १६,

३ शिव दृष्टि, ३-३ ३-७, ३-२,

शिव स्वरूपता भी प्राप्त कर लेता है। उसकी शक्ति या उसका शक्ति रूप ब्रह्माण्ड के रूप मे पूर्ण उन्मीलन की स्थिति प्राप्त करते हुए पुन: सम्पूर्ण नाम-रूप को अपने भीतर समाविष्ट कर पूर्णरूपता मे आ जाता है।

के० दामोदरन के शब्दो मे काश्मीर शैव दर्शन मे स्वीकृत परमशिव के स्वरूप को संक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है—काश्मीरी शैव मत के अनुसार शिव अर्थात् अपरिमित चेतना ही एक मात्र यथार्थ है, वह 'अद्वितीय,—जैसा कि उपनिषदों मे कहा गया है—है। शिव अपने अन्दर निहित अद्भुत शक्ति के माध्यम से ब्रह्माण्ड के रूप मे स्वयं को प्रकट करते है। शक्ति मे अनेक गुण हैं, जैसे आनन्द, चित्, इच्छा, ज्ञान, क्रिया और माया। काश्मीरी शैवो के अनुसार शक्ति न तो भ्रम है, और न इस ब्रह्माण्ड का भौतिक कारण है। वह तो शक्ति का वह पक्ष है, जिसके द्वारा शिव अपने को ब्रह्माण्ड के रूप मे अभिव्यक्त करते है। शिव ऐसा प्रकट करते हैं मानो यह जगत उनसे भिन्न है, किन्तु वास्तव मे यह शिव से भिन्न नही।[1]

● **शक्ति-पूजा (देवी) का आरम्भ**

भारतीय दार्शनिको ने शक्ति को प्राय: सृजनात्मक तत्त्व के रूप मे ही स्वीकार किया है। तदनुसार शक्ति शिव का ही अन्तर्निहित गुण है एवं नारी तत्त्व के रूप मे उसे नारायण की लक्ष्मी, शिव की शिवानी और कृष्ण की राधा एवं राम की सीता स्वीकार कर उपासना का विषय या उपास्या का स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध मे पुरातत्त्ववेत्ता मार्शल और समाजशास्त्र के विद्वान फ्रेजर की कुछ पंक्तियो का सार उद्धृत करना सगत प्रतीत होता है। मार्शल लिखते है कि अनार्य जन-समुदाय के राष्ट्रीय देवी देवताओ मे गाँव की देवी माताएँ, प्रादेशिक भेद के कारण विभिन्न नामों के द्वारा, राष्ट्रीय देवी देवताओ मे अपना प्रमुख स्थान बनाए रही है। इस तथ्य की पुष्टि आदिम कबीलो मे आज भी प्रचलित उनकी पूजा आदि की विधियों से होती है। यह देखा गया है कि आदिम कबीलों मे ब्राह्मणो की जगह निम्न जाति के लोगो को पुरोहितो का स्थान प्राप्त है। इन कबीलो की धार्मिक प्रार्थनाओ में लोगो का ध्यान देवी माता (उपास्या) की ओर ही अधिक खीचा जाता है। आदिम कबीलो के पुरोहित प्राय. प्राचीन कबीलो के सदस्य स्वीकार किए गए है। उनके सम्बन्ध मे यह धारणा प्रचलित है कि उनमे देवी माता को सन्तुष्ट करने की योग्यता एव क्षमता पारम्परिक रूप मे विद्यमान चली आ रही है। देवी की पूजा का प्रचलन

---

[1] भारतीय चिन्तन-धारा, (हिन्दी अनुवाद) पृ० २८६

विशेष अध्ययन के लिए देखिए—शिव दृष्टि (सोमानन्द), शिव दृष्टि वृत्ति (उत्पल देव), ईश्वर प्रत्यभिज्ञा वृत्ति (उत्पल देव) ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, (अभिनव गुप्त), ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, (अभिनवगुप्त), ईश्वर सिद्धि (उत्पल देव), तन्त्रालोक (अभिनव गुप्त), मालिनीविजयवार्तिकम् (अभिनव गुप्त), स्पन्दकारिका (भट्ट कल्लट),स्पन्द निर्णय(सोमराज, आदि।)

उन कबीलों मे विशेष कर अधिक पाया जाता है, जो हिन्दू धर्म से बहुत कम प्रभावित हैं।[1]

फ्रेजर महोदय का विचार है कि भारत के अधिकाश गांवो मे ऐसे स्थानीय मन्दिर प्राप्त हो जाते हैं, जिनमे भूतो-प्रेतो तथा अपशकुन करने वाली आत्माओं को मानव या मानव के प्रतीक किसी पशु विशेष के रक्त की बलि देकर, जादू-टोनो के माध्यम से शान्त करने के उपाय अपनाए जाते हैं। इस प्रकार के मन्दिरों (गुग्गा आदि) मे उन वीर पुरुषो की पूजा भी की जाती है, जिन्हे उनके साहसिक कार्यों के कारण देवत्व से विभूषित कर दिया गया है। आदिम निवासियो के धार्मिक कृत्य प्राय: ओझाओ एव पुजारियो द्वारा ही सम्पन्न होते है। जिस समय ये मन्दिर अधिक प्रसिद्ध हो जाते है और उनमें पर्याप्त सम्पत्ति एकत्रित हो जाती है, तब उनका महत्त्व और अधिक बढ जाता है। इसके फलस्वरूप उन मन्दिरों को सम्भ्रान्त समाज या वर्ग का सरक्षण भी प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि इन स्थानीय देवी-देवताओ को शिव और विष्णु (हिन्दू धर्म के उच्च देवताओ) का सेवक या उनकी विभिन्न शक्तियाँ तक स्वीकार कर लिया गया है। पाँचवीं शताब्दी के आस-पास स्वयं हिन्दू धर्म मे ही वीर एव महान पुरुषो को देवत्व प्रदान किया जाने लगा था और वे धीरे-धीरे पौराणिक कथाओं के पात्र भी बना लिए गए थे। न जाने कितने ही प्राचीन देवता (वैदिक कालीन भी) हिन्दू धर्म के देव-परिवार मे सम्मिलित होते रहे है और कालान्तर मे वे भुला भी दिए गए हैं।[2]

उपर्युक्त दोनो उद्धरण पर्याप्त मात्रा मे इस तथ्य को अपने भीतर समेटे हुए हैं कि आज का हिन्दू धर्म शुद्ध वैदिक (आर्य) धर्म नहीं है, उसमे पर्याप्त सीमा तक आर्यपूर्व तत्त्व घुल-मिलकर तदाकार हो गए है। आर्य-पूर्व सभ्यता को प्रधानत. मातृ-सत्तात्मक माना जाता है। एक युग ऐसा आया जब आर्य एवं आर्येतर (आर्य-पूर्व) धार्मिक और सामाजिक मान्यताएँ अन्तर्मुक्ति की प्रक्रिया के द्वारा हिन्दू धर्म के (सम्मिलित) रूप मे तदाकार हो गई। इसके फलस्वरूप मध्य युग मे पुरुष देवताओ के साथ-साथ देवी की पूजा का प्रचलन भी हो गया। शिव की पत्नी के रूप मे शक्ति (देवी) की पूजा का प्रचलन उपर्युक्त ऐतिहासिक घटना का ही परिणाम माना जा सकता है। धर्म के स्वरूप की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार करने वालों (समाजशास्त्रियो) ने इस सम्बन्ध मे विशेष रुचि लेकर हमें पर्याप्त तथ्यों से अवगत करवाया है। उनका मत है कि सामान्य देवियाँ शिव और विष्णु से सम्बन्धित मान लेने के उपरान्त और अधिक सम्मान का स्थान प्राप्त कर सकी हैं।

कहा जाता है कि प्राचीन काल मे, जिस समय मानव-जीवन पूर्ण रूप से खेती पर निर्भर था, देवी उर्वरता की प्रतीक मानी जाती थी। मध्य काल (सामन्ती

---

[1] मोहेंजोदडो एण्ड इंडस सिविलिजेशन, पृ० ५१, १६३१।

[2] एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, का रूपान्तरण, खण्ड सं० २।

व्यवस्था का युग) मे उसे धीरे-धीरे जगत-माता (ब्रह्माण्ड की जनयित्री) तक का पद प्राप्त हो गया था। ब्रह्म और शक्ति का भेद मिट गया था और दोनो ब्रह्माण्ड की चेतना या ब्रह्माण्ड के रचयिता के रूप मे दर्शन की विचारणा के विषय बन गए थे। यही कारण है कि शाक्तों ने शक्ति की स्वरूप-चर्चा उसी प्रकार की है, जिस प्रकार ब्रह्मवादियो ने ब्रह्म की।

● शाक्त परमसत्ता-सिद्धान्त

तान्त्रिकों ने मुख्यत शाक्तो का ही बोध होता है, यद्यपि शैव और शाक्त दोनों ही व्यापक अर्थों मे तान्त्रिक कह दिये जाते है। शाक्तो और शैवों का परस्पर विशेष एव घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योकि जिस तरह शक्ति के बिना शिव 'शव' मान लिए गए है, उसी तरह शक्तिमान के बिना शक्ति का अस्तित्व ही असम्भव बतलाया जाता है। शक्ति की उपासना अत्यन्त प्राचीन है, और उसके सकेत हमे सिन्धु-घाटी की सभ्यता से ही मिलने लगते है।[1] सिन्धु-सभ्यता वालों को जिस समय, वैदिक आर्यों ने परास्त किया, उस समय के बाद इस देश की धार्मिक मान्यताओं मे पर्याप्त अन्तर आ गया। वैदिक आर्यो का समाज मूलत: पितृसत्तात्मक था, अत उसमे स्त्री देवताओ को पर्याप्त सम्मान का स्थान नही मिल सका था, जितना पुरुष देवताओ को। पुरुष देवताओं की प्रधानता के कारण देवी-पूजा का महत्त्व धीरे-धीरे गौण होता चला गया। अन्तत वैदिक आर्यों के समाज मे देवी की स्वतन्त्र पूजा की ओर विशेष ध्यान देकर, उन्हे केवल देव-पत्नियों के रूप मे ही पूजा का स्थान दिया गया है। उसके बाद मध्य-युग मे कुछ विशेष सामाजिक परिवर्तनो के कारण देवी-पूजा को पुन प्रश्रय प्राप्त हुआ और उसके अनन्तर देवी को पूजा हिन्दू धर्म का एक अभिन्न अग बन गई। इसी काल मे शक्ति को शिव की पत्नी का स्थान देकर विशेष रूप से गौरवान्वित किया गया है।

मध्यकाल मे तान्त्रिकों के विशेष प्रभाव के कारण समस्त भारत मे हम देवी-पूजा का विशेष प्रचलन देखते है। वस्तुत: प्रजनन की आदिशक्ति के रूप मे देवी की उपासना अत्यन्त प्राचीन है। प्रकारान्तर से यह ईश्वर की शक्ति की पूजा ही है, जिसे तान्त्रिको ने एक विशेष रूप दिया है। शक्ति की पूजा का लक्ष्य भी ब्रह्म से साक्षात्कार ही है।[2] शाक्तोपासक शिव की अपेक्षा शक्ति को अधिक महत्त्व देते है। इस सम्बन्ध मे यह भी कहा जा सकता है कि उन्हे परमात्मा का शक्ति रूप ही अधिक प्रिय एव ग्राह्य है। इसलिए तान्त्रिकों के परसत्ता-सिद्धान्त और प्रत्यभिज्ञा-वादियो के परमशिव-सिद्धान्त की प्रेरक मान्यताएँ अधिक भिन्न नही है। जिस समाज मे पहले देवी की पूजा का प्राधान्य था, उसने शक्ति के रूप मे उपास्य की आराधना

---

[1] मार्शल, मोहेंजोदडो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, (लन्दन) १९३१, पृ० ५१,

[2] चिताहरण चक्रवर्ती, दि कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया ख० ४, पृ० ४०८—९,

का मार्ग अपनाया है और समाज के जिस अंग मे पितृसत्तात्मक विचारधारा की प्रबलता थी उसने शक्ति के स्थान पर शक्तिमान (शिव) की आराधना मे अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की है। अन्तर केवल यह है कि शाक्तो ने जहाँ शक्ति को परमसत्ता माना है, वहाँ शैवों ने शिव को। लेकिन तनिक और अधिक गहराई में जाकर ध्यानपूर्वक देखा जाए तो जिस प्रकार शक्ति के बिना शक्तिमान का कोई अर्थ नहीं, उसी प्रकार शक्तिमान के बिना शक्ति का भी। अत. शक्त तांत्रिकों एवं काश्मीर शैवो के परमसत्ता के स्वरूप मे विशेष अन्तर नही है।

७ अवतारवादी वैष्णव दर्शनों में ब्रह्म

● **नव्य वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन**

वैष्णव भक्ति के स्वरूप में परिवर्तन—नव्य वैष्णव-भक्ति के आन्दोलन का बीजारोपण उस समय हुआ, जिस समय एक ओर बौद्ध धर्म और दूसरी ओर जैन मत अपने प्रचार के लिए बहुत अधिक क्रियाशील बने हुए थे। हिन्दू धर्म भी अपनी पूरी शक्ति लगा रहा था। दोनों ने मानों एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रतिस्पर्धा की होड़ लगा रखी थी। आदर्शवादियों और यथार्थवादियों मे चल रहा सघर्ष भी अभी शान्त नही हुआ था, लेकिन ऐसा अनुमान अवश्य होने लग गया था कि सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शनो की विचारधारा आदर्शवादी विचारधारा की तुलना मे प्रचार की दृष्टि से कमजोर पडती जा रही है। संस्कृत भाषा धीरे-धीरे बोलचाल की भाषा का स्थान ले रही थी और शास्त्रीय अवधारणाओ से केवल सम्भ्रान्त एवं पठित वर्ग ही लाभ उठा सकता है, और वह उठा भी रहा था। आम लोगो का धर्म की बौद्धिक अवधारणाओ से सम्बन्ध टूट चुका था। वे केवल आदेशो का पालन करने के लिए शेष रह गये थे, शास्त्रीय चर्चाओ से उनका दूर का सम्बन्ध भी नही था। इन परिस्थितियो मे ही शैव और वैष्णव सन्तो ने जन-भाषा (तमिल) मे भक्ति-गीतो की रचना की। उसका तत्काल प्रभाव हुआ और सामान्य जनता उनके गीतो मे अपने मन की सन्तुष्टि का अनुभव कर इन दोनों सम्प्रदायो मे दीक्षित होने के लिए तत्पर दिखाई देने लगी।

दक्षिण के नये शैव सम्प्रदायों की भाँति नए वैष्णव सम्प्रदायों के उदय के सम्बन्ध में भी विद्वानो ने अलग-अलग कारण माने हैं। वैष्णव एवं शैव विचारधारा का उदय ब्राह्मण विरोधी परिस्थितियो के कारण हुआ था क्योंकि उपनिषदों के रचना-काल मे ही ब्राह्मणों और क्षत्रियो के बीच अधिकार की लिप्सा ने प्रतिस्पर्धा की भावना जागृत कर दी थी। पुरोहितवाद की शक्ति बढ़ती जा रही थी और क्षत्रियो का समाज इसे सहन नहीं कर पा रहे थे। इसके लिए अपने-अपने देवता स्वीकार कर लिए गये और शिव (आर्येतर देवता) क्षत्रियों का देवता बन गया। ब्राह्मणो ने विष्णु को अपना

देवता मान लिया।[1] गुप्त काल मे यह भेद कुछ मिट गया और गुप्त शासको ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। लेकिन दक्षिण भारत मे जिस नव्य वैष्णव धर्म का उदय हुआ। उसका स्वरूप गुप्त कालीन वैष्णव धर्म से पर्याप्त भिन्न था। इसी कारण भारतीय सस्कृति के इतिहास मे इसे नव्य वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन के नाम से स्वीकार किया गया है।

आलवार संत और नव्य वैष्णव भक्ति—नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ बारह प्रसिद्ध वैष्णव (आलवार) सतो का जीवन-काल माना जाता है। ये संत विष्णु को परमसत्य मानते है और उसी को सर्वोपरि शक्ति स्वीकार करते है। आलवार (वैष्णव) संतो ने स्थान-स्थान पर इस विचार का प्रचार किया था कि जीव, विष्णु की भक्ति के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। धर्म के कर्मकाण्ड और यज्ञ प्रधान रूप की ओर से उन्होने लोगो को उदासीन बनाया और साथ ही इस भावना का प्रचार किया कि भक्ति की तुलना में कर्मकाण्ड गौण है। इन संतो के गीतों का स्वर आत्यन्तिक एव एकान्तिक भक्ति से भरा हुआ है। उनका अगाध विश्वास था कि जीव का कल्याण विष्णु की अनन्य शरण के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इसलिए उन्होने भाव-परिपूर्ण गीतो मे इस आशय का प्रतिपादन किया है कि भक्ति इसलिए नही करनी चाहिए कि उसमे हमे मुक्ति एवं भुक्ति की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार गीता मे निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया गया था, उसी प्रकार आलवार सतो ने निहेतुक भक्ति का उपदेश अपने गीतो मे दिया है।

आलवार सतो के गीतो के अनुसार ईश्वर (विष्णु) सर्वगम्य भगवान है। उनका यह विचार ब्राह्मणवादी परम्परा की उस अवधारणा का विरोध है, जिसमे निम्न वर्ण के समाज को ईश्वर की भक्ति करने का अधिकार भी प्राप्त नही था। उन्होने भक्ति के क्षेत्र मे ऊँच-नीच के भेद-भाव और जात-पाँत के विचार को अस्वीकार करते हुए इस विचार का प्रचार किया है कि भक्त के लिए जात-पाँत का कही-कोई प्रश्न ही नही है। इन संतो को रहस्यवादी भगवानोपासक भी कह सकते है, क्योकि इन्होने भक्ति के स्वरूप को नया मोड दे दिया है। वे अपने गीतो मे ईश्वर को प्रेमी और भक्त को आत्मा को प्रेमिका के रूप मे वर्णित करते है। उनके गीतो का भाव अधिकांशत. यह है कि आत्मा (प्रेमिका) को परमात्मा (विष्णु) रूपी पति को मिलने के लिए उत्सुक, विह्वल एवं व्याकुल रहना चाहिए। इनके भक्ति-गीत गलदश्रुभावुकता से परिपूर्ण है—उनमे अनवरत प्रार्थना की एक निरन्तर गतिमान धारा प्रवाहित है। वे इस विश्वास को बार-बार दुहराते हैं कि भक्त अनवरत प्रार्थना और भक्ति की भावमयी साधना के द्वारा अपने आपको ऐसी अवस्था मे ले जा सकता है, जिससे भगवान भक्त के शरीर मे अवतरित हो जाते है। अत· आलवार संतों के गीतों की बहुमुखी विवेचना के प्रसंग मे विद्वानों ने उनकी इस

---

[1] टी० पी० एम० महादेवन, दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ४५७।

भावना का विशेष कर उल्लेख किया है। तदनुसार वे भक्त के शरीर मे ईश्वर के प्रवेश की धारणा मे पूर्ण विश्वास रखते है। उनका यह भी विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति केवल इन्द्रियो के सयम (योग) और बौद्धिक चिन्तन-मनन (आत्म-विचार) से नही होती, उसे तो ध्यान के निरन्तर केन्द्रीकरण एव प्रेम के भाव को निरन्तर एकमेक करने से ही पाया जा सकता है।

नव्य वैष्णव भक्ति का प्रभाव-प्रसार—दक्षिण मे आलवार वैष्णव भक्तो का प्रभाव इतना अधिक बढ गया कि उनके गीतो मे स्तूयमान ईश्वर (विष्णु) सभी के प्रिय भगवान बन गये। विष्णु की मूर्तियो की स्थापना के हेतु बडे-बडे एवं भव्य मन्दिर बनवाये जाने लगे। बौद्धो एवं जैनो के मठो की भाँति बडी-बडी ऐसी पाठशालाएँ स्थापित की गयी, जिनमे वैष्णव धर्म के विश्वासो एव मान्यताओ के अध्ययन-अध्यापन का कार्य आरम्भ किया गया। बौद्ध एव जैन विचारधारा एव साधना-पद्धतियाँ ऐसी थी कि वे गृहस्थ को अपनी ओर आकर्षित करने मे समर्थ नही हो पा रही थी। आलवारो के द्वारा प्रचारित भक्ति के रूप मे नव्य वैष्णव धर्म उन्हे अपने सहज जीवन की अभिव्यक्ति अनुभव हुआ। इन परिस्थितियों मे वैष्णव सम्प्रदाय का धीरे-धीरे सगठन किया गया और परिस्थितियो की अनुकूलता के कारण इस भक्ति-आन्दोलन को बहुत जल्दी ही व्यापक धर्म का रूप प्राप्त हो गया। वैष्णव धर्म के इस नये (शक्तिशाली) आन्दोलन का प्रभाव इतना अधिक बढ गया कि जैन और बौद्ध धर्म की नीव ही डगमगाने लगी। कुछ जैन एव बौद्ध तो वैष्णव मतानुयायी बन गये और कुछ बाधित होकर उस प्रदेश को छोडकर कही अन्यत्र चले गये।[१] यह स्थिति इस नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के युग के पूर्वार्द्ध के समय की है दूसरा युग उस समय आरम्भ होता है, जिस समय ऐतिहासिक कृष्ण को ब्रह्म मान लिया गया और उसके साथ ही उनके साथ राधा का सयोग उन्ही की अभिन्न शक्ति के रूप मे कर दिया गया। राधा और कृष्ण मे अद्वैत भी इसी समय स्वीकार कर लिया गया है। उस समय विष्णु के दो रूप (नारायण और वासुदेव) स्वीकार कर लिए गये थे। बाद मे रामानुजाचार्य ने नारायण की भक्ति का प्रचार किया और मध्व एव वल्लभ आदि ने वासुदेव (कृष्ण) की भक्ति का।

नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के साथ ही नव्य शैव धर्म का प्रचार भी हुआ। आरम्भ मे ये दोनों आन्दोलन जैनो एव बौद्धो की विरोधी शक्तियो के रूप मे सामने आये। दोनो का स्वरूप अत्यन्त सहज और सरल था एव दोनो मे भक्ति को प्रमुख स्थान दिया गया था। दोनो ही मानव की कोमल वृत्तियो का सस्पर्श कर भक्ति को तदनुकूलता प्रदान करने मे संलग्न थे। दोनो की सम्मिलित शक्ति ने दक्षिण मे जैन और बौद्ध धर्म को निर्मूल भी बना दिया। उक्त दोनो धर्मों के अनुयायी या तो वैष्णव एव शैव बन गये अथवा वहाँ से भाग कर देश के किन्ही दूसरे भागो एव सीमान्तवर्ती

[१] आयगर शेषगिरि राव, स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, पृ० ६८।

प्रदेशो मे चले गये। अपने विश्वासो के प्रचार के लिए जब मार्ग की सम्पूर्ण बाधाएँ समाप्त हो गयीं, तब स्वय इन दोनो सम्प्रदायो मे ही आपसी कलह और प्रतिस्पर्धा की होड आरम्भ हो गयी। शैव अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने लगे और वैष्णवो ने भी अपने मत को उत्तम सिद्ध करने का अभियान आरम्भ कर दिया।

आचार्यत्व की ओर—उपर्युक्त परिस्थितियो के जन्म ग्रहण करते ही दोनो सम्प्रदायो के रूपो मे पर्याप्त अन्तर आना आरम्भ हो गया। तब अपने पूर्वजों (सन्तों) के भक्ति-गीतो की भावनाओ से प्रेरणा ग्रहण करने के स्थान पर शास्त्रीय विवेचन की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। वैष्णव धर्म ने वैष्णव पुराणो की शरण लेकर तात्त्विक चिन्तन एवं शास्त्रीय चर्चाओ के द्वारा अपने मत का प्रचार करना आरम्भ किया। आचार्यत्व की शरण ली गयी ताकि शैवों की मान्यताओ का विरोध किया जा सके और अपने लिए शास्त्रीय पद्धति का निर्माण किया जाय। गीतो की सरलता, भाव प्रवणता और गलदश्रुभावुकता के साथ-साथ भावों के सौन्दर्य के पक्ष को भी विस्मृत कर दिया गया। अन्त मे इस धर्म का प्रधान आधार ही शास्त्रीय एव तत्त्व-विचार प्रधान बन गया और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो और सिद्धान्तो के निर्माण के युग का आरम्भ हो गया। इसी समय एक ओर शाकर अद्वैतवेदान्त की विचारधारा ने जन्म लिया है और दूसरी ओर वैष्णव सम्प्रदायो के आचार्यो ने शकराचार्य की अद्वैतवेदान्ती विचारधारा को खण्डन करना आरम्भ कर दिया है। वैष्णव आचार्यों मे रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य प्रमुख आचार्य माने गये है। इन्होंने शांकर मायावाद एवं उनके निर्विशेष ब्रह्म-सिद्धान्त का विरोध कर अपने-अपने दार्शनिक मतों की स्थापनाएँ की है।

आचार्य शकर के मायावाद मे भक्ति को उचित स्थान न मिलने के कारण गृहस्थों का झुकाव वैष्णव भक्ति की ओर हुआ और दक्षिण से महाराष्ट्र और महाराष्ट्र से सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे वैष्णव भक्ति की लहर सर्वव्यापक रूप प्राप्त करने मे सफल हो गयी। नारायण, विष्णु और वासुदेव को परब्रह्म स्वीकार कर वैष्णव भक्ति ने व्यापक अर्थो मे एक ही आन्दोलन का रूप धारण किया था, लेकिन बाद मे साम्प्रदायिक भेदों के कारण दार्शनिक विचारो मे पहले जैसी एकरूपता स्थिर न रह सकी। इसके फलस्वरूप कई स्वतन्त्र दार्शनिक प्रणालियों का निर्माण किया गया और विभिन्न मत-वाद स्थापित हुए। मत-सम्प्रदायो एवं दार्शनिक प्रणालियो की भिन्नता मे भी कई तत्त्व तब भी पहले जैसे ही बने रहे। इन्ही आधारभूत मान्यताओ के समीकृत रूप के कारण इन सभी दर्शनो को हमने अवतारी वैष्णव दर्शन नाम देना ही उचित समझा है। इन सभी दार्शनिक प्रणालियों मे स्वीकृत धारणाओ की सामान्य विशेषताओ का आगे उल्लेख किया जा रहा है।

● **नव्य वैष्णव भक्ति-दर्शनों की सामान्य विशेषताएँ**

आलवार सन्तो ने दक्षिण मे कृष्ण-भक्ति के जिस रूप का प्रचार किया था, उसका स्वरूप गीता की भक्ति से पर्याप्त भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के

बाल रूप की उपासना और गोपी-वल्लभ के रूप मे उसके साथ कान्ताभाव की भक्ति के सम्बन्धों की अवधारणा के सूत्र परवर्ती काल मे जोड लिए गये हैं। डाक्टर भण्डारकर ने अपनी पुस्तक 'शैविज्म एण्ड वैष्णविज्म' मे विस्तृत चर्चा करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैष्णव धर्म मे बाल गोपाल के रूप मे कृष्ण की भक्ति का रूप वैष्णव धर्म की अर्वाचीन घटना है, जिसका सम्बन्ध उन्होंने अहीरो के किसी प्राचीन बाल देवता के साथ स्थापित किया है। कुछ भी हो, नारायण और वासुदेव की भक्ति का प्रचार दक्षिण में हुआ है और इसे शास्त्रीय आधार भी वहीं के वैष्णव आचार्यों द्वारा दिया गया है।

मुख्य-मुख्य वैष्णव आचार्यो की दार्शनिक मान्यताओ का विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ पर केवल इस सम्बन्ध मे विचार किया जा रहा है कि नव्य वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के आचार्यों द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के स्वरूप मे वे कौन से सामान्य तत्त्व या विशेषताएँ है, जिन्हे इन आचार्यो की दार्शनिक विचारधारा का मूलाधार माना जा सकता है। जिस भक्ति-साधना को स्वीकार का परवर्ती युगो मे उसके स्वरूपों का जो इतना अधिक विस्तार हुआ है उसका मूल रूप क्या था एव वे कौन सी सर्व-सामान्य विशेषताएँ थी, जिन्हें आचार्यो ने अपने ढग मे विभिन्न रूपों मे प्रस्तुत करने के प्रयत्न किये है। हमारे विचार मे वे मान्यताएँ आलवार सन्तो के भक्ति-गीतो से ही एकत्रित की जा सकती है। अत नीचे की पंक्तियो मे उन्ही का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है

(क) विष्णु परमसत्य एव सर्वोपरि सर्वशक्तिमान सत्ता है।

(ख) विष्णु (ईश्वर) सर्वगम्य भगवान है, जो भक्त के शरीर मे प्रवेश कर जाते है।

(ग) ईश्वर को प्रेमी मान कर प्रियतमा के रूप मे भी (ही) उसकी भक्ति की जा सकती है।

(घ) कर्मकाण्ड और यज्ञयागादि के उपाय भक्ति की साधना की तुलना मे गौण है।

(ङ) भक्त (जीव) का कल्याण विष्णु की अनन्य शरण ग्रहण करने मे है।

(च) भक्ति निर्हेतुक साधना है, अत भक्त के हृदय मे फलेच्छा के पूर्ण-परित्याग की भावना बनी रहनी चाहिए।

(छ) भक्ति का अधिकार किसी भी वर्ण के व्यक्ति को प्राप्त है।

(ज) लौकिक प्रेमिका की आत्मा की भाँति भक्त-जीव को पति परमेश्वर के मिलन के लिए सदा विह्वल एव व्याकुल बने रहना चाहिए।

(झ) गलदश्रुभावुकता के रूप मे की गयी भक्ति से ईश्वर (विष्णु) तत्काल द्रवित हो जाते है।

(ञ) इन्द्रियो के नियमन (योग) तथा बौद्धिक व्यायाम (आत्म-विचार) से ही ईश्वर की प्राप्ति नही होती, उसे पाने के लिए उसकी भक्ति रूपी अनन्य शरण ही एकमात्र सीधा, सरल एवं सर्वोत्तम उपाय है।

● शंकर मायावाद का विरोध एवं वैष्णव आचार्य

प्रसिद्ध विचारक भास्कराचार्य ने वैष्णव आचार्यों से पहले दसवी शताब्दी मे ही जगत को यथार्थ सत्ता स्वीकार कर, शंकराचार्य के जगतमिथ्या सिद्धान्त के विरोध का सकेत कर दिया था। शांकर मायावाद के विरोध में उनकी अपनी यह स्थापना थी कि जगत मायिक सत्ता नही है, वह ब्रह्म का ही अभिव्यक्त रूप (रूपान्तरण विशेष) है। वे जीव और जगत का एकमात्र भौतिक कारण ब्रह्म को स्वीकार करते है। उनकी शाकरमायावाद विरोधी विचारधारा को नाथ मुनि और यामुनाचार्य ने अग्रसर करते हुए मायावाद का विरोध किया और उसके स्थान पर अपनी मान्यताओं की स्थापना की। यह विरोध धीरे-धीरे प्रबल रूप धारण करता चला गया और अन्त मे विभिन्न अवतारवादी दर्शनो के रूप मे समूचे देश को वर्षों तक प्रभावित बनाए रखने मे सफल हुआ। वैष्णव आचार्यों के विचारों के प्रचार ने शाकरमायावाद के मूलाधार को ही दोलायमान बना डाला।

आचार्य रामानुज और उनके दार्शनिक विचार—आचार्य रामानुज ने ग्यारहवी शताब्दी के मध्यवर्ती वर्षो मे प्रस्थानत्रयी एवं वैष्णव मत से सम्बन्धित अन्य धार्मिक रचनाओ के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जगत मिथ्या या भ्रम नहीं है, और न ही शाकरमायावाद की मायावधारणा का स्वरूप ही स्वीकार्य माना जा सकता है। उन्होने प्रथानत्रयी (उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र) को पुन: व्याख्यात एवं परिभाषित किया और विशिष्टाद्वैत के नाम से शाकर अद्वैतवेदान्त के विरोध मे स्वतन्त्र दार्शनिक अभिमत की स्थापना की।

रामानुज ने शकराचार्य की भाँति ब्रह्म को शाश्वत, आनन्दमय और सर्वश्रेष्ठ सत्य स्वीकार तो कर लिया है, लेकिन ब्रह्म की अपनी मौलिक अवधारणा के सन्दर्भ मे जगत को भ्रम या अयथार्थ अस्तित्व मान लेने का सशक्त विरोध एवं खण्डन किया है। माया की अवधारणा की भी उन्होने स्वतन्त्र विचार के अधीन ही व्याख्या की है। उसे परमसत्ता को संवलित करने वाली शक्ति स्वीकार करने के स्थान पर वे उसे ब्रह्म की जगत की कारयित्री शक्ति मानते है। इसलिए रामानुजाचार्य की ब्रह्म, जीव, जगत और माया विषयक अवधारणाएँ शांकर अद्वैतवेदान्ती धारणाओ से पर्याप्त भिन्न एव स्वतन्त्र हो गई है। उनके मत के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत तीनो यथार्थ एव एक दूसरे से भिन्न सत्ताएँ हैं। वे ब्रह्म को जीव और जगत की आत्मा मानते हैं। उन्होंने चित् और अचित् (जीव-जगत) को ब्रह्म के अधीन एव ब्रह्म के प्रसग में उनकी अधीनस्थ सत्ताएँ माना है।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत दोनो का स्रष्टा (अंशी के रूप मे) अन्तर्यामी, नियन्ता एवं पालक-पोषक है। वे ब्रह्म को चिदचिद्विशिष्ट सत्ता मानते हैं और जीव और जगत को अंश के रूप मे उसी का सजातीय भेद स्वीकार करते है। इससे स्पष्ट है कि उनकी ब्रह्म और जीव की एकात्मा की अवधारणा शंकराचार्य

की ब्रह्म और जीव की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न एवं स्वतन्त्र प्रकार की है। रामानुज का मत है कि जीव परमात्मा के अंश है और उनका अंशी स्वयं ब्रह्म (नारायण) ही है। जीवों को उन्होंने ब्रह्म की तुलना में अणु माना है और उनके अस्तित्व को ब्रह्म पर निर्भर स्वीकार किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अंशांशि-भाव की अवधारणा के अन्तर्गत रामानुज ब्रह्म और जीव में एक प्रकार (अधाराधेय-सम्बन्ध के रूप में) की द्वैत की स्थिति को भी स्वीकार कर लेते है।

रामानुज ने शंकराचार्य की ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्विशेषत्व और निर्गुणत्व की अवधारणा को ब्रह्म के सविशेषत्व एवं सगुणत्व में बदल दिया है। तदनुसार जीव के रूप में ईश्वर की प्रतीति नही होती और न ही वे जगत के आभास का कारण अविद्या को ही मानते है। जगत की रचना के सम्बन्ध में आचार्य रामानुज का मत बिल्कुल स्पष्ट है कि ब्रह्म ही अपने भीतर से ब्रह्माण्ड की रचना करता है। हमारे मत में रामानुज की यह अवधारणा ब्रह्मसूत्रों की विचारधारा के अधिक अनुकूल एवं निकटवर्ती विचार है, क्योंकि ब्रह्मसूत्रों में कई बार ऊर्णनाभ की भाँति ब्रह्म को जगत का निमित्तोपादान कारण बतलाया गया है। बादरायण के अनुसार ब्रह्म अपने भीतर से ही जगत की रचना उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार ऊर्णनाभ अपने भीतर से तन्तु की। तदनुसार वही जीव का स्रष्टा भी है। वे आत्मा को सूक्ष्मा-तिसूक्ष्म चित्तत्त्व मानते है और चिदचित् दोनों में ब्रह्म के प्रवेश की अवधारणा को अपने ढग से स्वीकार कर लेते है। उनका विचार है कि शुद्ध स्वरूप में आत्मा चेतन एवं शाश्वत सत्ता तो है लेकिन शरीर धर्मी बन जाने के उपरान्त उसमें सुख और दुःख की अनुभूति का धर्म प्रवेश पा जाता है। उसी को उसकी सीमा माना गया है। विशिष्टाद्वैत में कर्म को सुख-दुःख का मूलकारण माना गया है और आत्मा को शरीर की प्राप्ति उसके कर्मो एवं पात्रता के अनुसार मानी गई है। सारांश यह है कि रामानुज के मत में आत्मा ही जीव है, जो कर्मों के कारण शरीर के धर्मो (सम्बन्धों) में बन्ध (सीमित बन) जाता है।

ब्रह्म और जगत के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए विशिष्टाद्वैत में यह स्वीकार किया गया है कि जगत ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित है। ब्रह्म की सत्ता व्यापक है और वह चिदचिद्विशिष्ट होकर भी अद्वैत ही है। ब्रह्म ही जीव और जगत का मूलकरण (मूल-तत्त्व) है तथा जीव और जगत उसी के विशेष रूपान्तरण (Modifications) से निर्मित कुण्डल आदि आभूषणों की तरह ब्रह्म के रूपान्तरण है। रामानुज सम्पूर्ण भौतिक प्राणी-जगत को ईश्वर-निर्भर मानते है। इस निर्भरता से उनका आशय इस अवधारणा से है कि इन दोनों (जीव जगत) का अस्तित्व ब्रह्म के अस्तित्व के आधार पर है। उनकी यह अवधारणा शंकराचार्य के जीव और जगत के साथ ब्रह्म के सम्बन्धो की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न प्रकार की है। रामानुज चेतना और भौतिक (पदार्थ जगत) पदार्थ दोनों की यथार्थता ब्रह्म के कारण मानते हैं। इसी मान्यता के कारण वे आदर्शवादी तत्त्व विचारकों, जगत को मिथ्या मानने वाले ब्रह्मवादियों,

प्रकृति-परिमाण मे विश्वास रखने वाले साख्यो एव नैय्यायिकों और वैशेषिको से भी भिन्न कोटि के विचारक बन गए है।

शंकराचार्य ने जगत की विविधरूपता को मिथ्या ज्ञान, आभास, प्रतीति एव अविद्या के रूप मे प्रतिपादित कर उसकी यथार्थता का विरोध किया है, लेकिन इससे बिल्कुल विपरीत रामानुज ने जगत को उसकी सम्पूर्ण विविधरूपता के सहित यथार्थ स्वीकार कर लिया है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म, पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है और जीव और जगत तदाश्रित लेकिन यथार्थ सत्ताएँ है।

ज्ञान के सम्बन्ध मे भी रामानुज की धारणा शकराचार्य की मान्यता से पर्याप्त भिन्न है। शकर के मायावाद का खण्डन करते हुए उन्होने हर प्रकार के ज्ञान को वास्तविक ज्ञान ही स्वीकार किया है। वे वास्तविकता को शकर की भाँति मन का भ्रम नही मानते। उनके मत मे जगत का ब्रह्माधारित सत्ता है, अत उसकी यथार्थता भी स्वत सिद्ध है। ब्रह्म को उन्होंने समस्त जगत का नियन्ता और जीव तथा जागतिक पदार्थों को उससे नियन्त्रित माना है। उनके अनुसार अचेतन एव चेतन दोनो ही किसी न किसी रूप मे परिवर्तन शील सत्ताएँ है, जबकि ब्रह्म को त्रिकालातीत, अपरिवर्तनीय, शाश्वत और सच्चिदानन्द परमसत्ता एव ब्रह्माण्ड का महान आधार है। ब्रह्म, जीव, जगत और इनके आपसी सम्बन्धो के विषय मे यही विशिष्टाद्वैत की सामान्य मान्यताएँ तथा विशेषताएँ है।

● वैष्णव आचार्यों के परमसत्ता-स्वरूप का धार्मिक आधार

प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय का दर्शन उन रचनाओ को प्रमाण मानता है, जिन्हे अनुयायी समाज मे सम्प्रदाय विशेष के आर्ष ग्रन्थ (Scriptures) होने का सम्मान प्राप्त है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि वैष्णव आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता के लिए वैष्णव-सहिताओ, विभिन्न उपनिषदो, आगमग्रन्थो, सम्प्रदाय के पुराणो और प्रबन्धम् (आलवार सन्तो की रचनाओ) आदि को प्रमाण-साक्ष्य स्वीकार किया है। आचार्य रामानुज के सिद्धान्त मे चित्-अचित्-परम तत्त्व वासुदेव विष्णु या नारायण ही परब्रह्म स्वीकार किये गये है।[1] तदनुसार ब्रह्म विशिष्टताओं से परिपूर्ण सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान सत्ता है, जिसमे ब्रह्माण्ड सूक्ष्म रूप मे अशांशिभाव मे स्थित रहता है। इस प्रकार चित् और अचित् उसके अविभाज्य अग माने गये है उसे चित् और अचित् की आत्मा

[1] यतीन्द्रदीपिका—सम्मुनस्तु वेदान्तानां चिदचिद्विशिष्टाद्वैत एकमेव ब्रह्म इति तात्पर्यम्। अत एव चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म एकमेवेति मत्वा भगवान् बादरायण 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इति उपक्रम्य तदेव सप्रकार निरूपितवान्। अतः चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म शब्द वाच्य विष्णवाख्यः परवासुदेवो नारायण एवैकमिति विशिष्टाद्वैतवादिना दर्शन इतिप्रसिद्धम् ···।।

भी इसी कारण बतलाया जाता है। आचार्य रामानुज ने 'ब्रह्मन्' का अर्थ महान् किया है।[१]

रामानुज परब्रह्म या वासुदेव की मूलप्रकृति को ही उसकी शक्ति मानते है। इस सम्बन्ध मे अपने विचारो का प्रतिपादन करते हुए उन्होने कहा है कि परमात्मा जिस समय अपनी मूल प्रकृति को साकार रूप प्रदान करने की इच्छा करता है, उसी समय सृष्टि के निर्मायक तत्त्व साकार रूप धारण करने लग जाते हैं। उनके मत मे यह परमतत्त्व की शरीरी अवस्था है। क्योकि इस अवस्था मे वह स्वय ही नाम और रूप के आकार मे अवस्थित होता है।[२] उनके अनुसार परिवर्तन सृष्टि का स्वभाव है, लेकिन अन्तर्यामी एव नियन्ता (वासुदेव) मे कोई भी परिवर्तन या परिणाम सम्भव नही हो सकता।[३] जहाँ तक परमात्मा और जीव के सम्बन्धो का प्रश्न है, आचार्य रामानुज दोनो मे विशेष्य-विशेषण, अशी-अश, आधार-आधेय, नियन्ता-नियम्य और रक्षक-रक्षित भाव-सम्बन्ध स्वीकार करते है।

द्वैतवादी विचारक आचार्य मध्व दो प्रकार के प्रमेय मानते है। उनकी दृष्टि मे दो ही प्रमेय है स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र।[४] इसी प्रमेय द्वय के आधार पर ही उन्होने शकराचार्य के माया-सिद्धान्त का खण्डन किया है। वे ब्रह्म को केवलाद्वैत सत्ता स्वीकार नहीं करते। साक्षि-अनुभव के प्रमाण के आधार पर ही उन्होंने ब्रह्माण्ड मे पाये जाने वाले वैविध्य एव वैचित्र्य को स्वीकार किया है और उसकी अनेकरूपता के सिद्धान्त को माना है। वह जगत की अलग सत्ता के सिद्धान्त मानते तो अवश्य है परन्तु उसे स्वतन्त्र न मानकर परमात्मा के अधीन ही स्वीकार करते है। उनके सिद्धान्तानुसार पूर्ण स्वातन्त्र्य केवल विष्णु का ही माना गया है।[५]

मध्याचार्य के विचार मे अनादि तत्त्व अद्वैत नही है। उन्होने परमतत्त्व के अतिरिक्त भी अनादि तत्त्वो की सत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अतिरिक्त

---

१ श्री भाष्य, १।१।१।

२ श्रीभाष्य, १।४।२७।

३ वही० १।४।२७।

४ मध्व, तत्त्वविवेक—"स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं प्रमेय द्विविध मतम्।"

५ Madhva's Teachings in his own words; By N. K. Sharma, Bhartiya Bhawn (1961) p 25. Thus it is on the evidence of 'SAKSI Pratyaksa' which is essentially an eternal experience of judgement and values that the reality of world experience, in the broadest sense of the term, is upheld by Madhva Once the epistemological necessity to recognize the principle of 'SAKSI' is conceded and once the unerring nature of it .. "
तथा मध्व स्तोत्र ४/३.—बह चित्र जगद्बहुधा कारणात् परम शक्तिरनन्त गुणः परम ।। महाभारत भीष्म पर्व बहूनां यथैका योनिरुच्यते तथात पुरुषं विश्व-माख्यास्यामि ……।।

अनादि तत्त्वो एवं ब्रह्म में उन्होने केवल अस्वतन्त्र और परतन्त्र का भेद ही माना है। उनके विचार में केवल ब्रह्म ही पूर्णस्वतन्त्र सत्ता है और दूसरे तत्त्व उसके अधीन या नियम्य है। शाश्वत हो या अशाश्वत सभी को वह ब्रह्म के अधीन मानते है।[१] माध्याचार्य ने स्वतन्त्र (ब्रह्म) और परतन्त्र (जीव-जगत) दोनो को सत्य सत्ताएँ माना है[२] और इसी सिद्धान्त द्वारा शकराचार्य के जगत को मिथ्या मानने की धारणा का खण्डन किया है। वे शकराचार्य की भाँति ईश्वर की जीव के रूप मे प्रतीति के सिद्धान्त को भी स्वीकार नही करते। मध्वाचार्य के द्वैत सिद्धान्त के व्याख्याता जयतीर्थ के अनुसार, ब्रह्म असीम विशेषणो का भण्डार-आधार है। वह हर प्रकार की अपूर्णताओं से अतीत सत्ता है। उसे सर्वज्ञ, भगवान, अन्तर्यामी सौन्दर्य तथा शिव माना गया है। वह मनस् और वाणी से अगोचर सर्वशक्तिमान चैतन्य सत्ता है। वह एक है। वही आत्मा और विश्व का चैतन्य और उसकी क्रिया आदि भी है।[३]

ऊपर केवल रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य के सिद्धान्तो का उल्लेख वैष्णवाचार्यो के धार्मिक विश्वासो के आधारो के रूप मे इसलिए किया गया है कि इनका सिद्धान्त आदिग्रन्थ की विचारधारा से कई दृष्टियो मे भिन्न है। आगे हम इसका विशेष उल्लेख करेगे।

● विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म का स्वरूप

आचार्य रामानुज के उपास्य विष्णु वैकुण्ठ नामक परमधाम मे शेषनाग की शय्यार पर आसीन रहते है। उनकी शक्ति लक्ष्मी सदैव उनके पास रहती है और उनकी सेवा करना उसका काम है। वैष्ण ग्रन्थो मे इसे ब्रह्माण्ड भी माता बतलाया गया है। पौराणिक कथाओ के संकेतों से ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरीय न्याय मे करुणाभाव का सचार कर सासारिक प्राणियो की सहायता करना लक्ष्मी का स्वभाव मान लिया गया है। यदि विष्णु और शक्ति (लक्ष्मी) को अलग न माना जाए तो उसे परमसत्ता का अनुकम्पा-भरित न्याय का प्रतीक भी कह सकते है। वास्तव मे विष्णु की शक्ति ही उसका गुणैश्वर्य है। सम्भवत. इसी सिद्धान्त की मान्यता के कारण भगवान विष्णु को ब्रह्माण्ड का निमित्तोत्पादनकारण भी मान लिया गया है।[४] भगवान विष्णु का करुणा-भाव वैष्णव सम्प्रदाय मे व्यूह-सिद्धान्त की स्वीकृति का आधार बन गया प्रतीत होता है। गीता पर लिखे गये अपने भाष्य मे आचार्य रामानुज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि असीम करुणा से द्रवित होकर भगवान अवतार धारण करते है। परन्तु

---

१ अनुव्याख्यान, २/२, पृ० १९,—सत्ता प्रधान पुरुष शक्तीना च प्रतीत प्रवृत्तयश्च ता. सर्वा नित्यात्मना यत। यथा नित्यानित्यशक्तया स्वस्वयमेश्वर. ·····॥

२ मध्व, ब्र० सू० भा० १।३।१६, ४३।

३ न्यायसुधा, पृ० १२४, (बम्बई संस्करण)।

४ विष्णुपुराण, ६।५।७६।

भगवान का पूर्ण स्वातन्त्र्य इस मे है कि अवतारी शरीर धारण कर लेने के बाद भी उनके शुद्ध स्वरूप मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता। उनके अवतारी रूप को परिणाम भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। अपनी असीम अनुकम्पा के कारण ही भगवान विष्णु अपने भक्तो के हित के लिए उनके बीच रहकर उनकी हर इच्छा को पूर्ण करते है। इसके अतिरिक्त आचार्य रामानुज ने अवतारो की भी कोटियाँ स्वीकार की है। कुछ अवतार केवल अशावतार ही माने गये है। वैष्णव भक्तो का यह भी विश्वास है कि विधिपूर्वक स्थापित प्रतिमाओं या देव-विग्रहो मे भी विष्णु अवतरित होकर भक्तो की मनोकामनाएं पूरी करते है। अन्तर्यामी सत्ता के रूप मे भगवान का सभी जीवों मे निवास है। इस रूप मे परात्परसत्ता ही नीलवर्ण मेघ रूपी मानव शरीर मे विद्युत् रूप होकर निवास करती है।[1]

परमतत्त्व के साथ जीव और जगत के सम्बन्धों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। क्योंकि प्रायः सभी परवर्ती दार्शनिको ने भी इस प्रकार के सम्बन्धो की चर्चा अपने मतो के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन मे की है। अन्त मे हम यह स्पष्ट करने का यत्न करेंगे कि कई प्रकार की समानताओ के बावजूद भी विशिष्टाद्वैत और अन्य वैष्णव दर्शनो की विचारधारा मे किसी प्रकार का आत्यन्तिक भेद नही है।

(४) **विशेष्य-विशेषण भाव**—सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपने कारण का ही परिवर्तित रूप माना जाता है। इस सिद्धान्त का सहारा लेकर आचार्य रामानुज ने सारी सृष्टि को परमात्मा (प्रकारी) का प्रकार स्वीकार किया है।[2] गीता मे भगवान अर्जुन को बतलाते है कि सूत्र मे मणियो की भाँति कारण एव कार्य दोनो ही अवस्थाओ मे सम्पूर्ण सृष्टि सूत्री मे पिरोयी रहती है।[3] गीता की यह धारणा ही रामानुज के इस सिद्धान्त का आधार बनी है कि परमात्मा शरीरी है और ब्रह्माण्ड उसका शरीर है। भेदाभेदवादियो का खण्डन भी उन्होने इसी मत के आधार पर किया है। वह ब्रह्म के स्वरूप को समझाने के लिए तीन रगो वाले किसी एक कपडे से उसकी उपमा देते है। एक ही कपडा तीन रगो वाले धागो के रूप मे तीन रगों वाला या रगत्रय-विशिष्ट माना जा सकता है। यही परमतत्त्व का अद्वैतरूप है और यही उसके चिदचिद्विशिष्ट होने का प्रमाण या आधार है। परन्तु कपडे मे धागो की तरह परमतत्त्व मे चित् और अचित को अलग नही किया जा सकता। इसी सिद्धान्त

[1] वेदार्थ सग्रह—नीलतोयद मध्यस्थाविद्युल्लेखेव भास्वरा···· ॥
पचरात्र रहस्य—पूर्व पूर्वोदितो यास्ति विशेष क्षीण कल्मष. ।
उत्तरोत्तर मूर्तिना उपास्यत्यधिकृतो भवेत् ॥

[2] श्रीभाष्य, २।१।१५,

[3] गीता अध्या० ७, श्लो० ७, बृहद० उप० ३।७।३,
यस्य पृथिवीशरीरम् ॥ शत० ब्रा० १४।५।६।५;
य स्वात्माशरीम् ॥ देखिए श्रीभाष्य, १।१।१,

पर प्रकृति को परिणामधर्मी भी सिद्ध किया गया है। परमात्मा मे परिणाम की किसी भी रूप मे सम्भावना का रामानुजाचार्य ने खण्डन किया है।[१] अपने सिद्धान्त के स्रोत-ग्रन्थो मे परमात्मा के स्वरूप का उल्लेख करते हुए रामानुज ने उसे असीम, स्वप्रकाश, स्वयंसद्ध, सकल ऐश्वर्य-निधान एव त्रिगुणातीत परमसत्ता बतलाया है। उनके विचार मे सृष्टि का रचनहार, उसका पालक और सहारक वही है। उसी से सृष्टि साकार होती है। विभिन्न रूपो मे वही स्वय सारी सृष्टि मे व्याप्त है।

शेष-शेषी-भाव सम्बन्ध—जगत और जीव के सन्दर्भ मे रामानुज परमात्मा को शेषी और जीव एव जगत को शेष स्वीकार करते है। जीव स्वतन्त्र चैतन्य न होकर ईश्वरीय विधान के अधीन रहने वाली सत्ता है। यही जीव का कैंकर्य-भाव है। ईशावास्योपनिषद् मे भी, 'ईशावास्यमिद सर्व' कहकर इसी मत को प्रतिपादन हुआ प्रतीत होता है। अन्दाल अपने भक्ति-गीतो मे अपने आप को बार-बार प्रभु की सेविका बतलाती है। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि रामानुज के अनुसार ब्रह्म मे किसी प्रकार का विभाजन सभव नही है। उन्होने स्पष्ट कहा भी है कि जीव परमात्मा का अश है परन्तु उसका 'खण्ड' नही। उसके आधार पर उन्हो सांख्यो और भेदवादियो के सिद्धात का खण्डन भी किया है।[२]

आधाराधेय-सम्बन्ध—कठोपनिषद् मे इस प्रकार का सकेत मिलता है, जिसे परमात्मा और ब्रह्माण्ड के आधाराधेय-सम्बन्ध के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।[३] महानारायणोपनिषद् एव गीता मे भी इस मत का प्रतिपादन हुआ।[४] भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपने स्वरूप और ब्रह्माण्ड की रचना के बारे मे समझाते हुए अष्टधा प्रकृति को अपनी अपराप्रकृति बतलाया है। इसी सन्दर्भ मे पराप्रकृति को जीवरूपा बतलाकर उसे सम्पूर्ण विश्व की धारयित्री शक्ति कहा है। वही पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सत्यसकल्प भगवान की प्रकृति ही भगवान से प्रेरणा प्राप्त कर जीवो को कर्मो के अनुरूप चराचर जगत की रचना करती है। यह विश्वास श्वेताश्वतर उपनिषद् की विचारधारा के अनुकूल प्रतीत होता है। प्रस्तुत उपनिषद् मे बतलाया गया है कि प्रकृति मायापति महेश्वर की माया है।[५] इससे इस सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है कि परमात्मा अपनी प्रकृति द्वारा जीवो के कर्मो के अनुसार जागतिक प्रसार करता है। भगवद्गीता मे परमात्मा की प्रकृति को महद्-ब्रह्म' कहा गया है। परमात्मा महद्ब्रह्म मे प्रवेश कर पच-महाभूतो को साकार रूप

---

१ श्रीभास्य, १।१।१।

२ ब्र० सू० रा० भा० २।३।४२,—"अशो नाना व्यपदेशात् ॥" गीता, १५-७।

३ कठ० उप० २।५।१५।

४ महानारायणोपनिषद्, १।६; गीता, ७।४, ५; ९।५।

५ श्वे० उप० ४।९—१०।

प्रदान करता है।[१] इन्ही प्रमाणो के आधार पर रामानुज ने परमात्मा और चित् एवं अचित् के बीच आधाराधेय के सम्बन्ध के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका यह सिद्धान्त उनके ब्रह्म सूत्र के भाष्य द्वारा भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है।[२]

नियन्ता-नियम्य-भाव—गीता की वह धारणा, जिसमे भगवान् ने अपने आप को सम्पूर्ण भूतो का परिचालक बतलाया है, रामानुजाचार्य के 'नियन्ता-नियम्यभाव-सिद्धान्त' का आधार है। परमात्मा जीव और जगत दोनो की नियामक शक्ति है और उसकी तुलना मे इन दोनो को नियम्य माना गया है। रामानुज के कथनानुसार यद्यपि सम्पूर्ण जागतिक व्यापार प्रकृति द्वारा सम्पन्न होता है, परन्तु प्रेरणा, निरीक्षण एव परीक्षण आदि कार्य नियन्ता द्वारा ही होते है। इसके साथ ही सम्पूर्ण सृष्टि भगवान के स्वभाव अर्थात् प्रकृति से होती है। इसी दृष्टि से समूचे ब्रह्माण्ड को ब्रह्म मे स्थित बतलाया गया है। भगवान अन्तर्यामी भाव से सारी सृष्टि मे परिव्याप्त है। यही भाव वृहदारण्यकोपनिषद मे भी प्रकट हुआ है। इसके अनुसार सारे ब्रह्माण्ड मे परब्रह्म परिव्याप्त है, परन्तु प्रकृति को इसका परिज्ञान नहीं रहता। विश्व-शरीर का नियन्ता परमतत्त्व स्वय अमर, अजर, अपरिवर्तनशील एव अविनाशी तत्त्व है। वही सचराचर सृष्टि की नियामक शक्ति है।[३]

रक्षक-रक्षित भाव-सम्बन्ध—रामानुजाचार्य अवतार-सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रक्षा एवं भक्तो का हित-सपादन अपने अवतारी शरीर द्वारा ही करता है। प्रपत्ति-सिद्धान्त का यही आधार है। वैष्णव आचार्यों का यह विश्वास है कि जीवो के प्रति अनुकम्पा एव अनुग्रह के भाव से प्रेरित होकर परमात्मा विश्व की रचना करता है। रचना करने वाला रचित वस्तु की रक्षा का ध्यान अवश्य रखता है, यह कर्ता की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। लीला-भाव से ही सही भगवान भी इसीलिए अपनी रचना ब्रह्माण्ड के रक्षक माने गए है। अवतार-सिद्धान्त की मान्यता के उपरान्त गोप्तृभाव के लिए और अधिक गुजाइश है क्योकि अवतार धारण करते समय भगवान की प्रतिज्ञा ही यही है कि वह धरती के अत्याचारियों से सत्पुरुषो के गोप्तृत्व-भार को स्वय वहन करेगे। भगवान कृष्ण ने गीता मे इसी गोप्तृ-भाव की प्रतिज्ञा की है।[४] परमात्मा अ-काम है, जो स्वयं पूर्ण इच्छाओं वाला एवं सर्वशक्तिमान हो उसे किसी से क्या चाहना, परन्तु उसका अनुकम्पा या अनुग्रह-

---

१ गीता, अध्या० १४, श्लो० ३;

२ ब्र० सू० रा० भा० १।१।१;

३ बृह० उप० ३।७, तैत्तिरोयोपनिषद, ३।२४;

४ गीता, ९।२९-४०,—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्तया मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शाश्वच्छांति निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

भाव उसे भक्तों के हित के लिए प्रेरित करता है। सर्वज्ञ एव नियन्ता की कृपा के कारण जीव विद्या के प्रकाश से अपने लिए सन्मार्ग की खोज करने में प्रवृत्त होता है।[१]

रामानुज के विचार मे परमात्मा का अनुग्रह निरासक्त एवं भक्ति से परिपूर्ण हृदय वाले को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। उन्होने परमात्मा के अनुग्रह को सौलम्य और सौशिल्य भाव के रूप मे वर्णित कर इसी विचार की पुष्टि की है। सम्पूर्ण पुराण साहित्य भगवान के इस अनुकम्पा-भाव से भरा पड़ा है। रामानुज के मतानुसार गुरु की प्राप्ति परमात्मा के अनुग्रह का फल है और उसकी अनुकम्पा जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है।[२] रामानुजाचार्य के सिद्धान्त और साधना पक्ष की जानकारी अन्य वैष्णव दर्शनो की विचारधारा एवं साधना-मार्ग के अध्ययन के लिए आवश्यक है। साथ ही दोनो की समानताओं और असमानताओ के विवेचन से इस सम्बन्ध मे किसी प्रकार की भ्रांति के लिए अवकाश की सम्भावना भी कम है। अत यहाँ सक्षेप मे उस पर विचार कर लेना प्रासंगिक था।

● **द्वैताद्वैत में ब्रह्म का स्वरूप**

निम्बार्क उत्तरवेदान्ती विचारको की पक्ति मे आते है जिन्होंने ब्रह्म, चित् और अचित् की द्वैताद्वैतवादी व्याख्या की है और अपनी मान्यताओ को ब्रह्मसूत्रों मे ही खोजने की प्रचलित प्रणाली को अपनाया है। उनका सिद्धान्त द्वैताद्वैत इसलिए कहलाता है कि उन्होंने द्वैतवादी दर्शन (सांख्य) के इस विचार को मान लिया है कि जगत की उत्पत्ति प्रकृति-परिणमन के रूप मे होती है। फिर भी उनका सिद्धान्त सांख्यो के प्रकृति-परिणाम का अक्षरशः अनुसरण नही है। वे यह तो स्वीकार कर लेते है कि जगत की उत्पत्ति प्रधान के तीनो गुणों के फलस्वरूप हुई है, लेकिन प्रकृति की प्रसवधर्मिता के सम्बन्ध मे उनकी धारणा अन्य वैष्णव आचार्यों के प्रकृति-सिद्धान्त जैसी ही है। गीता मे जिस प्रकार प्रकृति को पुरुषोत्तम की महद्‌योनि स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार ये भी प्रकृति को जगत की रचना करने में स्वतन्त्र (गौ के स्तनों से स्वतः प्रवाहित दूध की तरह) स्वीकार करने के स्थान पर उसे ईश्वर पर निर्भर स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इच्छा का स्वातंत्र्य ईश्वर का धर्म है, वह प्रकृति की इच्छा या चैतन्य नहीं है।

निम्बार्क के द्वैताद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार मानव की आत्मा (जीवात्मा) का सारतत्व चित् अर्थात् चेतना है, जिसे उन्होंने पदार्थ से स्वतंत्र एव भिन्न माना है।

---

[१] गीता, १०।१०-११;—तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

[२] रामानुज, श्री भाष्य, ६-२, ७-१८ ।

भौतिकवादियो के विरोध मे सभी ईश्वरवादियो की भाँति वे भी आत्मा को अ-भौतिक मानते है। भौतिकवादियों की भाँति आत्मा को शारीरिक चैतन्य मानने का उन्होने विरोध किया है। उनके विचार मे आत्मा चित्तत्त्व है, जो इन्द्रियो के यन्त्र से क्रियाशील बनकर आनन्द की प्राप्ति करती है। जीवात्माओ के सम्बन्ध मे उनकी अवधारणा शाकर अद्वैतवेदान्त की अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है। वे असख्य जीवात्माओ का आरम्भिक अस्तित्व मानते है और साथ ही उन्हे शाश्वत सत्ताएँ भी स्वीकार कर लेते है। निम्बार्क के अनुसार जीव के रूप मे ईश्वर की और ईश्वर के रूप मे ब्रह्म की प्रतीति नही होती। उनकी यह अवधारणा शकराचार्य की ईश्वरवादी विचार धारा के विपरीत पडती है। शकराचार्य की प्रतीति सत्ता की अवधारणा से ईश्वर की आराधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की मान्यता ही खण्डित हो जाती है।

ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा करते हुए निम्बार्क ने यह स्वीकार किया है कि वह सर्वोच्च यथार्थ सत्ता है। सगुणस्वरूपता के आधार पर उसे आनन्द-परिपूर्ण, सौन्दर्य और दया का आगार एव अलौकिक गुणैश्वर्य से सर्वथा विभूषित बतलाया गया है। द्वैताद्वैत नामकरण का आधार ही ब्रह्म, जीव और जगत मे भेद और अभेद की स्वीकृति है। निम्बार्क ने भेदाभेद की भी कई प्रकार से व्याख्या की है। वे कहते है कि जीव, जगत और ईश्वर तीनो की अलग-अलग सत्ता है। जीव आनन्द का लाभ करने वाला है और जगत उसके आनन्द का उपादान है। इस अवधारणा के द्वारा आत्मा और प्रकृति (अचित्) वस्तुगत यथार्थ तो सिद्ध होते है, लेकिन साख्यो ने जहाँ पर उन्हे ईश्वर पर निर्भर न मानकर दूसरे ही ढग से व्याख्यात किया है, वहाँ निम्बार्क इन सभी की ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता को स्वीकार करते है।

द्वैताद्वैतवाद मे एकमात्र ईश्वर का ही स्वातत्र्य स्वीकार किया गया है। इसमे ईश्वर और ब्रह्माण्ड के परस्पर तादात्म्य-सम्बन्ध की अवधारणा का खण्डन हो जाता है। निम्बार्क बार-बार इस तथ्य बल देते है कि ईश्वर की जीव और जगत मे भिन्न एव स्वतत्र सत्ता है। द्वैत की इस अवधारणा के कारण अद्वैत (जीव जगत और ईश्वर का सम्बन्ध) के खण्डन का अनुभव कर, वे इस तथ्य को को पुन इस प्रकार समुपस्थित करने लगते है कि जीव और जगत का पूर्ण रूप से स्वतत्र अस्तित्व नही है। वे ईश्वर पर निर्भर है और उनकी इस स्थिति के कारण ही भेद और अभेद (द्वैताद्वैत) की मान्यता का एक साथ उल्लेख करना पडता है।

द्वैताद्वैत और शकराचार्य के अद्वैतवेदान्त की भेद और अभेद की अवधारणा के अन्तर को जान लेना भी आवश्यक है। यह तथ्य सर्व-विदित है कि शकराचार्य जीव और जगत की वास्तविक सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार केवल ब्रह्म ही पूर्ण अद्वैत सत्ता है। लेकिन जिस समय जीव और जगत के साक्षात् अस्तित्व के कारण वे उलझन मे पडे जाते है, तब उनकी सत्ता व्यावहारिक मान लेते हैं। उनकी अद्वैत की अवधारणा मे अद्वैत और द्वैत की स्थिति का निरूपण होने लगता है। शकराचार्य को भेदाभेद की अवधारणा अत्यन्त अस्पष्ट है। लेकिन निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की जो व्याख्या

निम्बार्क ने की है, वह अधिक तर्क-संगत एव बुद्धि-ग्राह्य है। वे अभेद और भेद मे से पहले को यथार्थ (पारमार्थिक) और दूसरे को व्यावहारिक नहीं मानते। भेद और अभेद दोनों ही उनकी दृष्टि मे यथार्थ हैं। उनके अनुसार जीव और जगत के लिए परमार्थ और यथार्थ की अवधारणा व्यर्थ है। इसी कारण वे जीव का अस्तित्व यथार्थ मानते हैं। उन्होने जीव को ईश्वर पर निर्भर माना है। ईश्वर पर जीव की यह निर्भरता उस प्रकार की है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों की सूर्य पर। निम्बार्क के अनुसार जगत ईश्वर से भिन्न है तो सही परन्तु ईश्वर के रूपान्तरण (Modification) के रूप मे ही। अतः जगत अपने सारतत्त्व मे ब्रह्म ही है। ईश्वर का ईश्वरत्व इसी में है कि जगत मे रूपान्तरण के उपरान्त भी उसे अपनी सच्चिदानन्दस्वरूपता की अनुभूति पूर्ववत् बनी रहती है। यही कारण है कि पदार्थ (जगत) और ब्रह्म को मूल रूप मे अभिन्न होने पर भी एक दूसरे से भिन्न भी मान लिया गया है।

प्राय सभी वैष्णव आचार्य जगत की रचना को परमात्मा की लीला ही स्वीकार करते है। यह लीला और कुछ नही, जीव और जगत के रूप मे ईश्वर का रूपान्तरण ही है। निम्बार्क ने इस अवधारणा को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया है। उनके अनुसार जिस समय भक्त लीला के इस भाव को हृदय-गत बना कर भक्ति के उपाय की शरण लेता है, तब उसे मोक्ष एवं शाश्वत आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। निम्बार्क ने भक्ति की साधना के सम्बन्ध मे भी स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया है। वे ईश्वर के ध्यान और मनन को ही भक्ति की संज्ञा नही देते। उसके लिए जीवन को पवित्रता को भी वाँछनीय बतलाते है। निस्वार्थ प्रेम की भावना की गलदश्रुभावुकता को निम्बार्क की भक्ति-साधना मे अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है।

● **द्वैत वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप**

पूर्ववेदान्त और उत्तरवेदान्त के भेदों के अनुसार मध्वाचार्य तीसरे प्रसिद्ध उत्तरवेदान्ती है। उनका जन्म कर्नाटक क्षेत्र के उदिवि इलाके के पास वाले एक छोटे से गाँव मे तेरहवी शताब्दी मे हुआ था। कहा जाता है कि आरम्भ मे वे भी शांकर अद्वैतवेदान्ती ही थे ओर इनकी आरम्भिक-शिक्षा ऐसी पाठशाला मे हुई थी, जहाँ शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त का अध्यापन करवाया जाता था। मध्व की स्वतन्त्र विचारक बुद्धि शाकर विचारधारा से सन्तुष्ट न हो सकी और वे स्वतन्त्र हो गये। उन्होने जिस दर्शन-प्रणाली का निर्माण किया, वह द्वैतवेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी दार्शनिक मान्यताओ की स्थापना के लिए उन्होने ब्रह्मसूत्रो और भगवद्गीता पर भाष्य लिखे तथा 'अनुव्याख्यान' नामक स्वतन्त्र पुस्तक की रचना भी की।

द्वैत वेदान्त की सामान्य विशेषताएँ—द्वैतवेदान्त को मौलिक अवधारणा के अनुसार जगत यथार्थ है एव परमात्मा और जीवात्मा में भी भेद है। यही कारण है कि मध्वाचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित दर्शन-प्रणाली शंकराचार्य के ब्रह्मवाद और रामानुजाचार्य के चिदचिद्विशिष्ट की अवधारणाओ से पर्याप्त भिन्न है। वे जीवात्मा

और परमात्मा के बीच भेद के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए ही शकराचार्य की 'ब्रह्म व जीवो नापर:,—जीव ब्रह्म से भिन्न नही है, की अवधारणा का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि जीव और ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है तो आत्म-साक्षात्कार की मान्यता का कोई महत्त्व ही नही रह जाता। तदनुसार ब्रह्म और जीव मे भेद की स्थिति स्वीकार करने पर ही जीव के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की बात उठाई जा सकती है। ज्ञान को शकराचार्य ने बहुत अधिक महत्त्व दिया था परन्तु उनके ज्ञान की अवधारणा को ही मध्वाचार्य ने अमान्य ठहरा दिया है। उनके अनुसार ज्ञाता ओर ज्ञेय की वास्तविक सत्ता के अभाव मे ज्ञान की स्थिति सम्भव नही है। इसी प्रसंग में उन्होने जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप की चर्चा भी की है। वे जीवात्मा की सत्ता को परिसीमित मानते है। तदनुसार वह अपूर्ण एवं अज्ञानमय है। परमात्मा को अपरिमेय, पूर्ण, 'सर्व' एव 'एक' बतलाया गया है। मध्व के अनुसार जीव और ईश्वर दोनो का ऐक्य इसलिए नही माना जा सकता क्योकि जीव के स्वरूप एव परमात्मा के स्वरूप मे आकाश-पाताल का अन्तर है। परमात्मा और जीव मे अभेद मानने की स्थिति मे परमात्मा को भी अज्ञान की सीमा के अन्तर्गत मानना पडता है। मध्व का शकराचार्य की ब्रह्म की अवधारणा के विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि वह मानव की पावन एवं धार्मिक भावनाओ को जगाने मे समर्थ नही है। वह इतना अधिक 'निर्विशेष' और और 'परम' बन गया है कि उसकी भक्ति की ही नही जा सकती। मध्व ने ज्ञान और भक्ति की अवधारणाओ मे विश्वास रखते हुए ब्रह्म, चेतन और अचेतन, तीनो की यथार्थता स्वीकार कर ली है। वे जगत को भ्रम नही मानते और काल एव अवकाश में उसकी सत्ता को पूर्णरूप मे स्वीकार कर लेते है।

प्रमाणो की चर्चा करते हुए उन्होने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को ही ज्ञान के स्रोत स्वीकार किया है। उन्होने चेतन (जीव) से भिन्न मनुष्य के मस्तिष्क की स्थिति भी काल और अवकाश के अन्तर्गत ही मानी है। वे जड जगत की भी सत्ता मानते है और केवल विचार (Idea) मे जगत के अस्तित्व की मान्यता का विरोध करते है। सत्य-ज्ञान के लिए उन्होने वस्तुओ, इन्द्रियों (प्रत्यक्ष साधन) और शक्ति (मस्तिष्क) की दोष-हीनता की स्थिति की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। उन्होंने शकराचार्य के माया-सिद्धान्त का खण्डन युक्तियो एव प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के प्रमाणो के द्वारा ही किया है। वे चेतना (मस्तिष्क) या आइडिया से भिन्न जगत के आदि अस्तित्व को स्वीकार करते है।[1] उन्होंने जगत की रचना मे प्रकृति-विकास के सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य शंकर, साख्य-विचारधारा के जितने अधिक विरोधी है, वहाँ पर मध्वाचार्य ने प्रकृति के गुणों और गुणो के उत्तरोत्तर परिणमन की धारणा को स्वीकार कर लिया है। अन्तर केवल यह है कि उनके अनुसार प्रकृति स्वतन्त्र जड

[1] आर० एन० शर्मा, मध्वाज टीचिग्ज इन हिज ऑन वर्ड्‌स, पृ० ५७।

सत्ता न होकर ब्रह्म के संकेत-निर्देश का अनुगमन करती है। भौतिक जगत और जीवात्माओं को द्वैतवेदान्त मे विष्णु के अधीन माना गया है। तदनुसार एक ओर विष्णु सभी प्रकार के दोषो (Shortcomings) से अतीत है और दूसरी ओर उन्हें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और नियन्ता एवं अन्तर्यामी मान कर सम्पूर्ण गुणैश्वर्य का अधिपति भी मान लिया गया है। अतः मध्वाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र को व्यापक रूप दिया है और निम्न वर्ण के लिए भक्ति के द्वार खोल दिये है।

● ब्रह्म का स्वरूप

प्रस्तुत सन्दर्भ मे हमे मध्वाचार्य के परमतत्त्व के सिद्धान्त और उनके भक्ति-मार्ग पर ही संक्षेप मे विचार करना अभीष्ट है। परब्रह्म रमापति के स्वरूप-लक्षण से परिचित करवाते हुए आचार्य मध्व लिखते हैं कि "ब्रह्म सम्पन्न एवं अपरिमेय शक्तियो का आधिपति, स्वतंत्र सत्ता है। इसी दृष्टि से वह चित् और अचित् की नियामक शक्ति है। चित् और अचित् उसके स्वभाव से भिन्न स्वरूप और भिन्न स्वभाव वाले हैं।"[1] मध्वाचार्य के द्वारा प्रस्तुत मत के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शंकराचार्य के माया-सिद्धान्त को बिल्कुल स्वीकार नहीं करते और आचार्य रामानुज की भाँति परमतत्त्व को चिदचिद्विशिष्ट सत्ता भी नही मानते। उनके विचार मे जीव और जगत की शक्तियाँ परमतत्त्व की अपेक्षा सीमित है। इसके साथ ही उनका स्वभाव और स्वरूप भी एकदूसरे से भिन्न है। वे भगवान को पूर्ण स्वतंत्र एवं संपूर्ण गुणों से सम्पन्न सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी यह भी धारणा है कि पूर्ण सत्ता किसी भी हालत मे अपने आप को ससीम बनाना नही चाहती।[2]

मध्वाचार्य ने परमात्मा के स्वरूप-लक्षण की सिद्धि के लिए केवल तर्क के प्रमाण को असमर्थ माना है।[3] तर्क ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सहायता

---

[1] मध्व, तत्त्वद्योत, पृ० ६६—
सर्वत्राखिल सच्छक्ति स्वतन्त्रोऽशेषदर्शनः।
नित्यातादृश चिच्चेत्यन्ता इष्टो नो रमापतिः॥

[2] न्याय विवरण, पृ० ४—
"स्वातन्त्र्यस्य पूर्ण गुणत्व नियमात्।"
वही० "न हि स्वतंत्रोऽपूर्णतां कामयीत।"

[3] अनुव्याख्यान, पृ० ५—
तर्को ज्ञापयितुं शक्तो नेशितारं कथंचन।
किंचिज्ज्ञत्वं हि पुंस्त्वेन शक्य साधयितुं सुखम्॥
वृक्षकृत्राखिल वृक्ष वेत्ति पुस्त्वाद्धि चैत्रवत्।
इत्वाद्यनुमया स्पर्धिनानुमान परेशितुः॥
शक्त ज्ञापने चाति प्रसंगोऽनुमये द्दशा॥

तो कर सकता है, परन्तु उसमें वह शक्ति नही कि ईश्वर के स्वरूप का परिचय या साक्षात्कार करवा सके। यही कारण है कि परमतत्त्व के स्वरूप के परिज्ञान के लिए उन्होंने श्रुतियों एव पुराणों को प्रमाण माना है।[१] मध्व के विचार मे परमात्मा को स्रष्टा मान लेने पर उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं पूर्ण स्वातन्त्र्य का अधिपति मनना स्वाभाविक हो जाता है।

परमतत्त्व की अनिर्विशेषता—प्रतिपाद्य विषय का पूर्ण एव अवितथ ज्ञान होना ही मध्वाचार्य ने दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य स्वीकार किया है। उनके अनुसार उपलब्ध तथ्य ही प्रतिपाद्य विषय के गुण है और इन गुणों को अलग करने पर ही उसका परीक्षण सम्भव हो सकता है। मध्व अपनी इस स्थापना पर अधिक बल देते हुए प्रतीत होते है।[२] इसलिए उन्होंने उपनिषद के 'नेति नेति' वाले तर्क को भी असमर्थ माना है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि परमतत्त्व को निर्विशेष कहने के जितने अधिक प्रयत्न किए जाएँगे, उसका सविशेष रूप उतना ही प्रत्यक्ष और प्रबल होता जाएगा। मध्व के विचारानुसार कोई भी वस्तु नकारात्मक स्वभाव वाली हो ही नहीं सकती। उनका मत है कि श्रुतियाँ-स्मृतियाँ भी परमसत्ता को सविशेष बतलाती है।[3] सविशेष मानने का अर्थ उसके गुणों के द्वारा उसके स्वरूप का परिचय प्राप्त करना है। इसलिए सकारात्मक एव नकारात्मक दोनो पद्धतियों के द्वारा ब्रह्म के सविशेष स्वरूप की ही सिद्धि होती है। श्रुतियों मे परब्रह्म को 'सत्यकाम' और 'अपहृत पाप' कहा गया है। इससे भी उसका सविशेषत्व प्रमाणित होता है। मध्व का कथन है कि श्रुतियों के प्रमाण पर परमात्मा मे कर्तृत्व स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार के अन्य प्रमाणो एव युक्तियों के आधार पर मध्व ने परमसत्ता के निर्विशेष स्वरूप वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।[४]

---

१ गीता, १८-५५; वही० ७-१।

२ अनुव्याख्यान, पृ० ३२—
इदमित्यमिति ज्ञानं जिज्ञासाया प्रयोजनम्।
इत्थ भावोहि धर्मोऽस्य न चेन्न प्रतियोगिता॥

३ वही० पृ० ३३—
इत्थ भावात्मकान् धर्मानाहुश्च श्रुतयोऽखिला।
अदृश्यत्वादयोऽप्यस्य गुणा हि प्रभुणोदिता।
यदि स्युस्तादृशा धर्मा सर्वज्ञत्वादयो न किम्॥

४ अनुव्याख्यान, पृ० ३३—
अन्यापेक्षा यदि स्युस्ते सत्तैव देशकालगा।
देशकालानपेक्षा हि न सत्ता क्वापि दृश्यते॥
धर्मारोपो हि सामान्य धर्मादीना हि दर्शने।
इदं तदादि धमत्वे धर्मोऽन्य. कल्प्यतेऽत्र हि॥
सर्वधर्म विहीनस्य धर्मारोपो क्व दृश्यते ?

मध्वाचार्य ने सगुण को एक विशेष अर्थ मे ही स्वीकार किया है। वे परमतत्त्व को सगुण कहने का आशय उसे सर्वज्ञ, सकल ब्रह्माण्ड का सृजनहार, सत्यकाम और अन्तर्यामी मानते है। इस प्रकार ब्रह्म को निर्गुण और अधर्मा मान लेने के कारण आरोप के सिद्धान्त का स्वयमेव खण्डन हो जाता है। क्योंकि शुक्ति मे रजत की प्रतीति के लिए सत्य का आधार अनिवार्य है। ऐसा न मानने पर अनवस्था दोष की सम्भावना बनी रहती है।[1] अद्वैतवेदान्तियो के इस विश्वास को भी उन्होने अस्वीकार कर दिया है कि पूर्णब्रह्म (Supreme Brahman) माया द्वारा सीमित (Limited) हो जाता है।[2] इसी कारण उन्होंने शुद्धब्रह्म और माया-शवलित ब्रह्म की चर्चा को ही व्यर्थ बतलाया है। वे ब्रह्म को पूर्ण और माया का अधिपति स्वीकार करते है तथा उसे सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व एवं अबाध इच्छा का स्वामी मानते है।

सगुण-निर्गुण-विचार—माध्वाचार्य श्रुतियो के प्रामाण्य पर सगुण और निर्गुण की समस्या पर विचार करते हुए बतलाते है कि परमतत्त्व असीम, ज्ञानस्वरूप, आन्द सवित्, परिपूर्ण इच्छा-स्वतंत्र्य का आधिपति, चेतन एव अचेतन प्रकृति से अतीतसत्ता, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पिता, उसका रक्षक और पालक है।[1] वह केवल धार्मिक (साम्प्रदायिक) ग्रन्थो के आधार पर ही परमतत्त्व के सगुण स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करते। श्रुतियो को साक्ष्य पर ही उन्होने परमतत्त्व के सगुण स्वरूप की पुष्टि की है। उनके विचार मे ब्रह्माण्ड की रचनहार सत्ता सर्वज्ञ एवं सर्व शक्ति-मान है। सम्भवत· इन्ही अर्थो मे आचार्य मध्व ने परमतत्त्व को सगुण माना है। वह यह भी स्वीकार करते है कि परमात्मा का अद्वैत अरूप, सर्वव्यापक, नियामक, जीवो के कर्मों का साक्षी एवं अशरीरी आदि होना उसे सगुण स्वीकार करने के सिद्धान्त के मार्ग मे बाधक नही है। परमात्मा मे भौतिक गुणों का अभाव मानने के अर्थ मे ही उसका उपर्युक्त रीति से वर्णन किया गया है।[3]

---

[1] वही० पृ० ३२—
तदर्थं यदि धर्माणामारोपः स्यादनवस्था स्थितिः।

[2] वही० पृ० ५—
"कथ मायाद्यवच्छिन्न पूर्णो मुख्यतया भवेत्।"

[3] कर्मनिर्णय·—अर्थैक आहुरगुणं ब्रह्मेति। न तत् युक्तम्। श्रुति युक्ति विरोधात्। तथाहि श्रुतिः—'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' विज्ञानमानन्दं ब्रह्म यः सर्वज्ञ· सर्ववित् यस्य ज्ञानमय तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नंच जायते। एतावनस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पुरुषः। दिव्योह्यमूर्तः पुरुषो स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः। यो न पिता जनिता यो विधाता। पूर्णमदः पूर्णमिदं। सर्व कर्मा सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः। विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्। परोमात्रया तन्वा वृधान् × × × न ते विष्णो जायमानो न जातो देवमहिम्नः परमन्तमाप, इत्यादिका।

मध्व का यह भी विश्वास है कि कोई भी वस्तु पूर्ण रूपेण निर्विशेष नही हुआ करती। इसलिए ब्रह्म को निर्विशेष सत्ता स्वीकार करना भी उचित नहीं है। विशेष को परमात्मा से स्वतन्त्र मानना भी मध्वाचार्य की दृष्टि मे युक्ति-सगत नहीं। अभिन्नत्व और अभेद मे भेद की प्रतीति मात्र कथन मे ही है—वास्तविक नही। इसी प्रकार विशेष अपने विशेष से अलग वस्तु नहीं होती। इस अन्तर को वे केवल प्रतीति ही मानते है।[१]

जहाँ तक परमतत्त्व के निराकर एवं निर्गुण स्वरूप का सम्बन्ध है, मध्व प्रकृति आदि से अतीत तत्त्व होने के कारण उसे नियन्ता मानकर निराकार एवं निर्गुण भी बतलाते है।[२] उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि सभी दृश्य (नाम-रूप) भौतिक हैं। इस प्रकार की दृश्यसत्ता न होने के कारण ही ब्रह्म को निराकार स्वीकार किया गया है। परमतत्त्व प्रकृति की सीमाओ से अतीत सत्ता है।[४] ब्रह्म को उपनिषदो मे आनन्द और आनन्दी दोनो ही बतलाया गया है, परन्तु ब्रह्म को आनन्द और आनन्दी बतलाना वैसा ही है जैसे एक ही अर्थ मे 'कुण्डल' और 'कुण्डली' दो भिन्न शब्दो का प्रयोग करना। यदि गहराई मे जाकर विचार किया जाए तो दोनो मे किसी भी दृष्टि से तात्त्विक अन्तर प्रतीत नही होता। ब्रह्म का आनन्दस्वरूप होना लौकिक आनन्द

---

१ कर्मनिर्णय, पृ० १०—युक्तितश्च बुद्धि पूर्व मर्वकर्तृत्वात् सर्वज्ञत्वात् सर्वज्ञत्वादयोगुणायुक्त ॥ वही० पृ० १०—'नच एकोदेव. सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षीचेत: केवलो निर्गुणश्च ॥' इत्यादि विरोध सत्त्वादि गुणाभावोक्तेस्तत्र। "अन्यथा एको देव सर्वभूतेषु गूढ" इत्यादीनामपि गुणत्वात् स्वोक्ति विरोध।

२ वही० पृ० १०—नच निर्विशेष नाम किंचिदस्ति। वही० 'निर्विशेषत्वोक्तेरेव व्याहतत्वात् ॥ वही० निर्विशेपत्वेन विशिष्ट न वेत्युक्ते, यद्यवशिष्टं, तर्हि न विशेष निराकरणम्। विशेपत्वमेव भवति। यदि नेन विशिष्ट, स एव विशेप इति व्याहृति. ॥ विष्णुतत्त्वनिर्णय, पृ० ३१—"गुणक्रियादयो विष्णोः स्वरूपं नान्यदिष्यते। अतो मिथोऽपि भेदो न तेषां कश्चित्कदाचन। स्वरूपेऽपि विशेषोऽस्ति। भेदाभावोऽपि तेनैव व्यवहारश्च सर्वत ॥ वही० पृ० ३१—अभिन्नत्वमभेदश्च भेदविवर्जितम्। व्यवहार्य च पृथक् च स्यादेव सर्वे गुणा हरे : अभेदाभिन्नयोर्भेदो यदि वा भेद भिन्नयोः। अनवस्थितिरेव स्यान्न विशेपणतामति.।··· तस्मादस्माक मनन्तधा। व्यवहार्य विशेषेण····। विशेषोऽपि स्वरूप स्वनिर्वाहकताऽस्य च।"

४ ब्र० सू० मध्व, भा० ३।२/१४,—प्रकृत्यादि प्रवर्तकत्वेन तदुत्तमत्वात्, नैवरूपवत् ब्रह्म ॥

४ वही० ३/२/१५—'पश्यने रुक्मवर्ण,' 'सुवर्णज्योतिः', इत्यादि श्रुतीना च वैयर्थ्यम्। विलक्षण रूपात्वात्। यथा चक्षुरादि प्रकाशे विद्यमानेऽपि वैलक्षण्याद् प्रकाशादि व्यवहार:।"

का परिचायक नहीं है।[1] ब्रह्म का ज्ञान और आनन्द अलौकिक है। परन्तु अमूर्त की अभिव्यक्ति मे भाषा की मजबूरी के कारण इस प्रतीयमान अन्तर को केवल वाणी का व्यवहार ही माना जा सकता है।

ब्रह्माण्ड का आधार—मध्व रामानुजाचार्य और शंकराचार्य, दोनो के सिद्धान्तों से स्वतन्त्र रूप मे ब्रह्म को ब्रह्माण्ड का आधार सिद्ध करते है। उनका विश्वास है कि ब्रह्म विश्व की सर्वोपरि एव अद्वितीय शक्ति है। अन्य सभी तत्त्व उसी की शक्ति से प्राणवान है। प्रकृति और पुरुष को इसी सिद्धान्त की दृष्टि से ब्रह्म के अधीन माना गया है। ब्रह्माण्ड की शाश्वत एवं अशाश्वत शक्तियाँ और तत्त्व अनादिकाल से ईश्वरीय शक्ति की प्रेरणा की अपेक्षा रखते आये है। इस विश्वास की पूर्वपीठिका ऋग्वेद से ही उपलब्ध होने लगती है।[2] ब्रह्माण्ड का आधार परमात्मा की शक्ति या इच्छा मानना उसके पूर्ण स्वातन्त्र्य को प्रमाणित करता है। प्रकृति और पुरुष परमात्मा के अधीन है। परमात्मा स्वयं प्रकृति में प्रवेश कर उसे परिणामी बनाता है। परिणामो के नियमन की शक्ति भी परमात्मा की ही शक्ति है। ब्रह्माण्ड के नियमन के लिए भगवान अनेक रूप धारण करता है। भूतियो (मैटर) के परिणाम का वही कारण है। वह सारी सृष्टि मे सक्रिय भाव से परिव्याप्त है।[3] यही भाव उपनिषदो मे भी व्यक्त हुआ है और ब्रह्मसूत्रो मे भी इसी मत का प्रतिपादन हुआ है।[4]

मध्वाचार्य ने परमात्मा की महानता, सर्वशक्तिमता और सर्वज्ञता को स्वीकार किया है।[5] वे ब्रह्म-परिणाम-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते क्योंकि तदनुसार परमात्मा को जगंत का उपादानकारण मानना पडता है। वे परमात्मा को द्रव्य की कोटि मे खीच लाने के पक्ष का भी विरोध करते हुए कहते है कि यदि परमात्मा मे परिणाम स्वीकार कर लिया जाय तो वह शुद्ध चैतन्य तथा आनन्द स्वरूप नही माना जा सकता। उन्होने 'सर्व ब्रह्म' की व्याख्या एक विशेष दृष्टिकोण से की है। अद्वैत

---

१ वही० ३/२/३२,—नच आनन्दादित्वात् लोकानन्दित्वात्। ('यतोवाचो निवर्तन्ते' इति) उन्मानत्वम्॥

२ ऋ० वे० १०।११२।६।

३ अनुव्याख्यान, पृ० १३—अन्यत्र क्वापि शक्तिर्न ··· तत् पतंजलि विन्ध्यादि मत न पुरुषार्थदम्॥ ब्र० सू० मध्व १।४।२७, प्रकृतिमनुप्रविश्य, तां परिणम्य, तत्परिगाम नियामकत्वेन यत्र स्थित्वा, आत्मनो बहुधाकरणात् ··· ॥ तैत्ति० उप० वल्ली २, ब्र० सू० म० भा० २।३।११—तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्ति प्रबोधक:। एक एव महाशक्ति कुरुते सर्वमजसा ···॥

४ ब्र० सू० म० भा० २।३।६—"पुरुष: प्रकृति कालो महानित्यादिषु क्रमात्। विकार एव जननं, पुरुषे तद्विशेषणम् "परतन्त्र विशेषोहि विकार: इति कीर्तित:॥"

५ अनुव्याख्यान, पृ० ३६—"नयुक्तमीशितु: किंचिदीशत्वस्य विरोधि यत्। यदीशत्व-विरोधी स्यात्, तदेवायुक्तम्। ईशत्वस्याविरोधेन भोजयित्वाखिला: प्रमा:॥"

वेदान्ती ब्रह्म मे चैतन्य के साथ ही 'सत्तत्त्व' की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार परिणाम ब्रह्म के सत्तत्त्व का होता है स्वय ब्रह्म का नही। परन्तु मध्व का विचार है कि चित्, आनन्द और सत् को एक दूसरे से पूर्णरूपेण भिन्न नही मानना चाहिए। उन्होंने विवर्तवादियो की इस धारणा का भी खण्डन किया है कि अविकारी ब्रह्म, माया के कारण जगत के रूप मे भासित होता है। क्योकि उनके अनुसार ऐसा मान लेने पर ब्रह्म की सर्वज्ञता का अपहरण होने लगता है। जीव और जगत को यदि ब्रह्म की मिथ्या प्रतीति मान लिया जाय तो मध्व के विचार मे जीव और ब्रह्म मे भेद मानना होगा जो अद्वैतवेदान्तियो को किसी भी दृष्टि से अभीष्ट नही है।[1] मध्व इसी कारण 'ब्रह्म-परिणामवाद' और विवर्तवाद की धारणाओ को संगत स्वीकार नही करते। ब्रह्म-परिणामवाद के अनुसार स्वयं ब्रह्म ही जगत के रूप मे परिणत होता है और विवर्तवाद की दृष्टि मे ब्रह्म के विवर्त को मिथ्या माना गया है। परन्तु इस से ब्रह्म की सर्वज्ञता का खण्डन होने का भय है। मध्व के विचार मे ब्रह्म किसी भी स्थिति मे परिवर्तन आदि सीमाओं मे आबद्ध होने वाली सत्ता नही है।

● शुद्धाद्वैत में ब्रह्म का स्वरूप

शांकर अद्वैतवाद का खण्डन करने वाले वैष्णव आचार्यो मे महाप्रभु वल्लभाचार्य का स्थान विशेष महत्त्व का है। इनका शुद्धाद्वैत, अविकृतपरिणामवाद एव ब्रह्मवाद कहलाता है। तदनुसार परब्रह्म उस रूप मे निर्विशेष सत्ता नही है, जिस रूप मे शकराचार्य ने उसे स्वीकार किया है। क्योकि वल्लभाचार्य जगत को ब्रह्म का सदृश मानते है—मिथ्या या आभास सत्ता नहीं। वे परमसत्ता को चित् और अचित् से विशिष्ट एव जगत और जीव को उसका मात्र सजातीय भेद भी स्वीकार नही करते। इसीलिए उन्होंने अद्वैत से पूर्व 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग किया है। इसके द्वारा उन्होंने विशिष्टाद्वैत से अपने सिद्धान्त की भिन्नता सकेतित की है। उनके अनुसार ब्रह्म माया मे सचालित नही है। [उसे पूर्ण शुद्ध सत्ता बतलाकर इस तथ्य का सकेत भी कर दिया गया है कि ब्रह्म स्वय ही कार्य एवं कारण रूप है—वह मायिक नही, बल्कि पूर्ण शुद्ध स्वरूप है।[2] आचार्य वल्लभ ब्रह्म की शक्ति (योगमाया) के विद्यामाया

---

[1] अनुव्याख्यान पृ० १३—भिन्नानां समुदायस्य नाम ब्रह्मेति चेद भवेत्। ब्रह्मोपदानता न स्यात्तदा विश्वस्य हि क्वचित् ॥ वही० पृ० १३—यच्चाविकृतमेवैकं ब्रह्म विश्वात्मना मृषा। दृश्यते मन्ददृष्टयैव स सर्ग इति गीयते। सा मन्द दृष्टिस्तस्यैव ब्रह्मण: किं ततोऽन्यगा ? ब्रह्मणश्चेत्क्व सर्वज्ञमन्यगा चेत्स्वतोऽन्यता ? नादेहयोगिनो दृष्टिरिति तत्कारणं स्वत। देहिन. कारण युक्ता देहाश्चद यदि न भ्रमात्। किं भ्रांति कल्पितं तत्र भेदोऽपि भ्रमजो यदि। भ्रान्तेरज्ञानमूलत्वादन्योन्याश्रयता यत: ॥"

[2] शु० मा० श्लो० २८—
माया-सम्बन्ध-रहित शुद्धमित्युच्यते बुधै: ।
कार्य-कारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ॥

और अविद्यामाया—दो भेद स्वीकार करते हैं और तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म की शक्ति के रूप मे माया के उल्लेख को अपनी इस मान्यता का आधार बतलाते है। शुद्धाद्वैत मे इस मान्यता के द्वारा जीव और जगत सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नो का समाधान किया गया है। तदनुसार जीव ब्रह्म का अपना रूप है, जिसमे वह अपनी इच्छा से अपने आनदाश का तिरोभाव कर लेता है। जगत शक्ति (योगमाया) की रचना है, जो स्वय ब्रह्म की अपनी ही अभिन्न शक्ति है। उन्होंने ससार और जगत को भिन्न स्वीकार करते हुए मात्र ससार को नाशवान एवं असत्य बतलाया है और जगत को सत्य बतलाया गया है। जगत ब्रह्म का सदश होने के कारण यथार्थ एव सत्य है ससार जीव के अज्ञान से उत्पन्न होता है, जो अविद्यामाया का प्रभाव है। भक्ति और ज्ञान से जीव अपने ससार का नाश कर सकता है। जगत का नाश नही होता क्योकि उसका ब्रह्म से आविर्भाव होता है—उत्पत्ति नही। अन्त मे जगत पुन: अपने मूल उत्स (सत्स्वरूप ब्रह्म) मे समा जाता है, जिसे शुद्धाद्वैतवादी तिरोभाव का अभिधान देते है। अत वल्लभ के अनुसार जीव, जगत और ब्रह्म मे भेद की प्रतीति का कारण बुद्धि का विकल्प अथवा अविद्यामाया की व्यामोहिका शक्ति है।[२]

शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म निर्गुण, सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप सत्ता है। जगत के रूप मे वही अपना आविर्भाव करती है। जगत के रूप मे स्वयं को आविर्भूत कर लेने के उपरान्त भी ब्रह्म के स्वरूप एव गुणो आदि मे कोई अन्तर नहीं आता। जगत की रचना करते समय उसे कहीं बाहर से उपादान-सामग्री लेने की आवश्यकता नही है, क्योकि वह स्वय ही निमित्तोपादान कारण है। इसी कारण शुद्धाद्वैत को अविकृतपरिणामवाद कहा जाता है। ब्रह्मवाद या अविकृतपरिणामवाद का अर्थ यह है कि मूलकारण (परमतत्त्व) जीव और जगत के रूप मे कारण से कार्यरूप प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि परमसत्ता जीव और जगत के आकार मे कार्यरूप होकर भी अपरिणामी ही बनी रहती है। इसे अगर परिणमन भी कहा जाए तो यह दूध से दही जैसा परिणमन नही है और न यह विवर्त ही है।

शुद्धाद्वैत में ब्रह्म-स्वरूप का वैशिष्ट्य—ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप-सिद्धान्त की स्थापना के उपरान्त आचार्य शकर उसका सगुणत्व भी मानते है, लेकिन वे ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की अपेक्षा उसके सगुण रूप को गौण स्वीकार करते हैं। उन्होंने

---

[१] शु० मा० ५-६—

सर्वब्रह्मात्मक विश्वमिदमाबोधयेत्पुर: ।
सर्व शब्देन यावत् हि दृष्टि श्रुतमतो जगत् ।।
बोध्यते तेन सर्व हि ब्रह्मरूप सनातनम् ।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात्तु कारणम् ।।

[२] तत्त्वदीप निर्णय, ६१—

ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपत: ।

सगुण ब्रह्म को केवल उपासना के हेतु ही मान्यता दी है। शुद्धाद्वैत मे इस प्रकार का भेद मान्य नहीं है। वल्लभ के अनुसार जागतिक गुणों से अतीत सत्ता होने के कारण ही ब्रह्म निर्गुण है अन्यथा वह सगुण है, क्योंकि वह आनन्दस्वरूप एवं दिव्य गुणों का स्वामी है। उन्होंने इस धारणा के आधार पर ही ब्रह्म को साकार, निराकार एवं आनन्दस्वरूप माना है। शुद्धाद्वैत के ब्रह्म-सिद्धान्त की मूल विशेषता यह है कि वह 'सर्वधर्ममय' है। नियतधर्ममय तत्त्व मे इयत्ता बनी रहती है। शुद्धाद्वैत के अनुसार ज्ञान का विषय होने के कारण ब्रह्म सगुण ही हो सकता है। ब्रह्म को स्वरूप ज्ञान की सीमा से अतीत सत्ता मानने पर जीव के लिए परम पुरुषार्थ का अवकाश ही नहीं रह जाता। वल्भाचार्य की इस मान्यता का आधार 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' सूत्र प्रतीत होता है। 'सर्वोपेताच दर्शनात्' सूत्र मे भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है।

वल्लभाचार्य ब्रह्म को निर्गुण भी मानते है; लेकिन साथ ही उसे ज्ञेय सत्ता भी स्वीकार कर लेते हैं।[1] शाकर मत का खण्डन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि माया-शवलित वाला ब्रह्म-सिद्धान्त गीता, उपनिषद एव ब्रह्मसूत्रों का प्रतिपाद्य ही नही है। उनके अनुसार प्रस्थानत्रयी मे ब्रह्म को कर्ता, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बतलाया गया है, जिससे उसका माया-सवलित होना सिद्ध नही होता। वल्लभ ब्रह्म को व्यापक सत्ता मानते है। अत उसमे देश, काल, वस्तु और स्वरूप आदि के-कारण परिच्छिनता का सर्वथा अभाव है। यही पर शुद्धाद्वैत और विशिष्टाद्वैत मे भिन्नता आ जाती है। आगे चलकर वल्लभाचार्य ने सजातीय या विजातीय भेदों वाली रामानुज की मान्यता का खण्डन भी किया है।[2]

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म मायाधीश है—माया द्वारा संचलित नहीं। वह सगुण तो है, लेकिन उसका सगुण स्वरूप विलक्षण है, क्योंकि वह लौकिक आकृति से अतीत है। वे ब्रह्म और आत्मा मे आत्मा एव देह के भेद जैसा भेद भी स्वीकार नही करते। ब्रह्म उनके अनुसार परिपूर्ण चैतन्य एवं सर्वांग आनन्दमय सत्ता है।[3] इसी प्रकार के विचारों के द्वारा उन्होंने ब्रह्म की 'सहज सर्वधर्ममत्ता' सिद्ध की है। जगत और जीव को ब्रह्मरूपी कारण के कार्य तो वे मानते है, लेकिन साथ ही प्रापंचिक पदार्थों से विलक्षण सत्ता भी स्वीकार कर लेते है। उन्होंने भागवतपुराण के साक्ष्य के

---

[1] तत्त्वदीप निर्णय, सा० पृ० ६५—सच्चिदानन्दरूपंतु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्। सर्व-शक्तिस्वतंत्रं च सर्व प्रगुण-वर्जितम्॥

[2] वही० पृ० ६६—सजातीय विजातीय स्वगत द्वैत-विवर्जितम्। सत्यादिगुणसाहस्रै-र्युक्तमौत्पत्तिकै सदा॥ वही० पराऽस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रियाच॥

[3] तत्त्वदीप निर्णय, ४४—निर्दोष पूर्णगण-विग्रह आत्मतंत्रो निश्चतनात्मक शरीर गुणैश्च हीनः। आनन्दमात्र करपात्र मुखोदरादि. सर्वत्र च त्रिविध भेद-विवर्जितात्मा॥

आधार पर यह कहा है कि जहाँ कहीं, जिस कारण से, जिस किसी के लिए जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह सभी कुछ पुरुषोत्तम की ही लीला है।[४]

ब्रह्म का विरुद्ध धर्माश्रयत्व—आचार्य वल्लभ ने मात्र भक्त की भाँति ब्रह्म को निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सविशेष-निर्विशेष और सधर्मक-अधर्मक कहकर, उसकी स्तुति ही नहीं की है, बल्कि इसे दर्शन के स्तर पर भी सिद्ध किया है। वे ब्रह्म को उक्त विशेषणों की भाँति अणु से भी अणु और महान से भी महान के रूप में वर्णित करते हैं। उसे उन्होंने कूटस्थ और चलसत्ता के रूप में भी स्वीकार किया है। वे उसे अकर्ता एवं ब्रह्माण्ड का कर्ता दोनों ही मानते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म विभक्त एवं अविभक्त दोनों है। लेकिन इस प्रकार से ब्रह्म की उदात्तता का ही प्रतिपादन किया गया है—यह विरोध न होकर मात्र विरोधाभास है।

ब्रह्म का सर्वकर्तृत्व—शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म का इसी मे सर्वकर्तृत्व निहित है कि वह पूर्ण अविकारी या अपरिणामी सत्ता होते हुए भी ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादन कारण भी है। ऊर्णनाभ की भाँति जगत की रचना करने के लिए उसे किसी अतिरिक्त सत्ता एवं उपादान सामग्री की सहायता की आवश्यकता नहीं है। आचार्य वल्लभ ने 'जन्माद्यस्य यतः' और शास्त्रयोनित्वात्' नामक ब्रह्मसूत्रो की व्याख्या करते हुए इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ब्रह्माण्ड का सर्वकर्तृत्व ब्रह्म का है। सर्जना करना उसका सहज स्वभाव है तथा उसके निर्गुण एवं अद्वैत स्वरूप की सिद्धि भी उसकी शक्ति के सहज स्वभाव के द्वारा ही होती है। यहीं पर 'एकोऽहबहुस्याम्' की शंकराचार्य की व्याख्या से उनके द्वारा की गयी व्याख्या मे अन्तर आ गया है। ब्रह्म के द्वारा जगत का रूप धारण करना या उसका जगत और जीव के रूप मे आविर्भूत होना शुद्धाद्वैत के अनुसार ब्रह्म का सहज स्वभाव है। इस प्रकार वल्लभ ने ब्रह्म को निर्गुण और निराकार भी माना है तथा उसके सर्वकर्तृत्व को भी स्वीकार कर लिया है।

वल्लभाचार्य का लीला-सिद्धान्त उनके धार्मिक विश्वासो का प्रधान अंग है। उन्होने 'ब्रह्म द्वारा एक से अनेक होने की इच्छा' के प्रसंग की बार-बार चर्चा की है। अतः यह स्पष्ट है कि वे ब्रह्म की शुद्ध स्वरूपता की मान्यता के साथ यह भी स्वीकार कर लेते है कि लीला के हेतु परब्रह्म ही जीव-जगतमय बनता है और जीवो के प्रति अनुग्रह के हेतु अवतार भी वही धारण करता है। इसलिए उनका पुष्टि-मार्ग लीला-मार्ग कहलाता है। 'एकोऽहबहुस्याम्' मे ब्रह्म के अद्वैत को भी स्वीकार किया गया है और जगत तथा जीव के रूप मे उसके आविर्भाव को भी। यहीं से इस सिद्धान्त की पुष्टि भी होती है कि वल्लभ के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप अविकारी निर्गुण एवं

४ तत्त्वदीप निर्णय, श्लोक ७४—यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद् यथा यदा। स्यादिदं भगवान्साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः॥

सच्चिदानन्दस्वरूप है। जगत न तो मिथ्या है और न ही ईश्वर की जीव के रूप मे प्रतीति वाली अवधारणा ही संगत विचार है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्म की लीला है। अन्त में आचार्य वल्लभ परमतत्त्व के तीन स्वरूप भी स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन अपने मूल सिद्धान्त (सर्व ब्रह्मवाद) को भी तद्वत् बनाये रखते है। उन्होंने ब्रह्म के जो तीन स्वरूप माने है, वे इस प्रकार है

(क) परब्रह्म—आधिदैविक स्वरूप

(ख) अक्षरब्रह्म—आध्यात्मिक स्वरूप

(ग) जगत—आधिभौतिक स्वरूप।

८ आदिग्रन्थ में स्वीकृत ब्रह्म (वाहगुरु) का स्वरूप

● **ब्रह्म (अकाल पुरुष) और काल की अवधारणा**

गुरुनानक ने 'मूल मन्त्र' मे वाहगुरु को 'अकाल मूर्ति' कहा है। अत. आदिग्रन्थ मे प्रतिपादित अकाल-स्वरूप (वाहगुरु-स्वरूप) के सम्बन्ध मे चर्चा करने से पहले 'काल' के बारे में विचार कर लेना संगत प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे हम पहले से ही स्पष्ट कर देना चाहते है कि गुरुनानक द्वारा वाहगुरु को 'अकाल मूर्ति' बतलाना यह सूचित करता है कि वे परमतत्व की तुलना मे 'काल' को अनादि और शाश्वत सत्ता स्वीकार नही करते।

शंकराचार्य ने तत्व का अर्थ ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप किया है।[१] किन्तु विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद की मान्यताओ के अनुसार जीव और जड़ प्रकृति भी तत्त्व मान लिए गये है।[२] वैष्णव मताब्जभास्कर के अनुसार प्रकृति, जीव और नारायण (राम) तीनों ही अद्वैत तत्व (परब्रह्म) के भेद हैं।[३] लेकिन यह भेद द्वैतवाद के भेद से भिन्न है। उक्त दोनों ही मत पुरुष की निष्क्रियता और प्रकृति के परवर्ती परिणामो या विकृतियो के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते हैं। ब्रह्म को अद्वैत तत्व या अनादि सत्ता मानने वाले दर्शनो के अनुसार 'काल' जीव के शुद्ध एव शाश्वत स्वरूप को परिसीमित बनाने वाली एक शक्ति विशेष है। तदनुसार 'काल तत्व' के प्रभाव के कारण ही जीव अपनी जीवरूपता का अनुभव करता है तथा अतीत, वर्तमान और भविष्य के रूप मे काल के विषय मे खण्ड धारणाएँ बनाने लगता है।

नैयायिक काल को भी शाश्वत तत्व मानते है।[४] परन्तु इसके विपरीत काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार काल स्वतन्त्र तत्व न होकर शिव की इच्छा के

---

१ गीता, शा० भ० अध्या० २-१६,

२ तत्त्वत्रय, पृ० ३, तत्त्वत्रय चिदचिदीश्वरश्च ।

३ वैं० भा० ६-६।

४ न्याय सिद्धान्त-मुक्तावली : १-८४, नित्य द्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि....।

विभिन्न रूपों मे एक रूप विशेष है ।[1] जीव काल-शक्ति के आवरण के कारण अपने आपको खण्डानुभवों का भोक्ता एवं कर्ता मानने लगता है । 'अपने आपको तथा अपने इर्द गिर्द के समूचे नामरूपात्मक जगत के पदार्थों को एक दूसरे से अलग-अलग समझना' जीव का जीवत्व माना जाता है ।वह पदार्थों के बारे में स्वयं को ज्ञाता और अपने से अतिरिक्त उन्हे ज्ञेय के रूप मे स्वीकार करता है । माया या अविद्या के प्रभाव के वशीभूत हो जाने के उपरान्त उसका यह सम्बोध (प्रत्यय) ही उसे काल निरपेक्षता की पदवी से च्युत भी कर देता है । जीव के सम्पूर्ण सम्बोधो मे अन्य तत्वो की भाँति काल-तत्व का भी पर्याप्त हाथ है । यही कारण है कि उसे अनादि, शाश्वत एवं स्वतन्त्र सत्ता नही माना गया है । वह तो केवल एक क्रम सत्ता है, जिसे प्रकृति की विकृति बतला कर जीव को परिसीमित बनाने वाली शक्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है ।[2]

जीव की कालगत परवशता—जगत के सम्पूर्ण पदार्थ एवं कार्य-व्यापार परस्पर सापेक्ष हैं । जो विचारक यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर ही जीव का रूप धारणा करता है, वे यह भी मानते है कि जीव को परिसीमित चैतन्य होने के कारण समय का ज्ञान खण्ड-रूपों मे ही होता है । यहीं पर जीव की परवशता पायी जाती है । जागृत दशा का एक पल या एक घडी का समय हमे स्वप्नावस्था के कई वर्षों के बराबर प्रतीत होता है । जीव के इस प्रत्यय का कारण यह है कि जागृत अवस्था की अपेक्षा स्वप्नावस्था मे मन की गति अपेक्षाकृत अत्यधिक तीव्र हो जाती है । आचार्य अभिनवगुप्त मन के किसी एक भाव या विचार के स्थैर्य-काल को 'क्षण' मानते है ।[3] उनका विचार है कि स्वप्न की हालत मे मन की अत्यधिक क्षिप्रगति के कारण वर्तमान विचार-शृखला पूर्ववर्ती विचार-संघात को बहुत अधिक पीछे छोड जाती है । उनके अनुसार जागृत अवस्था के एक क्षण के ज्ञान का स्वप्न में बहुत अधिक लम्बा हो जाने का यही कारण है । देवताओ की काल-धारणा और

---

[1] ई० प्र०, २-१-३, काल मूर्यादिमवारस्ननत्तुण्यादि जन्म वा । शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्य क्रम एत्र स तत्त्वत. ।

[2] ई० प्र० वि० (ईश्वर प्रत्याभिज्ञा विमर्शिनी), २-१-३; य इयत्तया परिनिष्ठिता आभासा. सिद्धा. तद्यथा चन्द्र-सूर्यादीना सहकार मल्लिका कुटजादीनां, शीतोष्णादे: परभृत मदविलासादे, त एव काल. । यतोऽपरिनिष्ठित गमन पठनादि तैरियत्तया परिनिष्ठीयते, परिवर्तकैरिव कनकम् । स एव च सूर्यादीनां स्वभावविशेषस्तत्त्वत· परमार्थत क्रमोनान्य. कश्चित् क्रमो नाम । क्रम एत्र च कालो नान्योऽसौ कश्चित् ।

[3] त० आ० (तन्त्रालोक), ७-२५,२६, कालस्तु भेदकस्तस्य स च सूक्ष्म. क्षणो मत: । सौक्ष्मस्य चावधिर्ज्ञानं यावत् तिष्ठति स क्षण· ।''''''अन्यथा न स निर्वक्तुं निपुणैरपि पार्यते '''।।

संसारी जीवों की काल-गणना के भेद की चर्चा भी इसी के आधार पर की जाती है। इसी मान्यता के आधार पर देव एवं सिद्ध स्वप्न-लोक के जीव स्वीकार किये गये हैं।

ऊपर स्वप्न लोक के जिन जीवों अर्थात् देवताओं और सिद्ध पुरुषों का उल्लेख हुआ है, उनकी काल-धारणा सुषुप्ति-दशा के जीवों की काल-धारणा से भिन्न मानी गई है। अध्यात्मवेत्ताओं ने अपने अनुभवों के साक्ष्याधार पर यह बतलाया है कि ज्ञान की आनन्दमयी अवस्था मे काल-गति पूर्णरूपेण रुक जाती है जो स्थित प्रज्ञता एव तुरीयावस्था है। उनका कहना है कि इस अवस्था की अनुभूति साधक को विद्या की दशा की अवस्था मे ही हुआ करती है। उन्ही अनुभवो एवं आप्त वचनो के आधार पर यह भी मान लिया गया है कि काल-सीमा का हेतु माया-शक्ति है। इसलिए काल को स्वय माया शक्ति के अधीन माना गया है। माया के प्रभावो से ऊपर उठकर विद्या-दशा का साक्षात्कार करते ही जीव काल-गति के प्रभाव से तत्काल मुक्ति प्राप्त कर लेता है। तुरीयावस्था से भी आगे तुरीयतीतावस्था को भी अध्यात्म-दर्शनो मे स्वीकार कर लिया गया है। यद्यपि सभी दर्शनों की शब्दावली एक दूसरे से भिन्न है, परन्तु अन्तत. सभी अनुभूति के सागर मे एकमेक होने की स्थिति को स्वीकार करते है। पौराणिक साहित्य का अध्येता इस रहस्य से भली भाँति परिचित है कि उसमे मनुष्यो, पितरो, देवताओ, ब्रह्मा आदि की काल सम्बन्धी अधारणाएँ पूर्णतया भिन्न मानी गयी हैं।

काश्मीर शैवो के सिद्धान्त के अनुसार कालतत्व ही जीव के बाह्य व्यक्तित्व को सीमित करता है। कला एवं अशुद्ध विद्या दोनो अपने-अपने ढंग से जीव की क्रिया एव ज्ञान की शक्तियो को सीमित बनाती हैं। तदनुसार 'नियति' जीव की छठी परिसीमा है। यही सीमा जीव के राग-तत्व को सीमित स्वरूप प्रदान करती है। इस प्रकार 'नियति शक्ति' द्वारा जीव के रागात्मक तत्त्व के परिसीमित हो जाने पर ही वह किसी व्यक्ति, वस्तु या व्यापार विशेष के प्रति अभिरुचि या वितृष्णा का भाव प्रदर्शित करने लगता है।[१] आधुनिक शब्दावली मे उसे प्रकृति का नियम या 'प्रकृति-विधान' कह सकते है। क्योंकि प्रत्येक प्राणी कठपुतली की भाँति प्रकृति-विधान की सीमा के चारो ओर अस्वतन्त्र एवं असहाय बनकर चक्कर काट रहा है। उपर्युक्त विचारणा के प्रसंग मे यह भी कहा जा सकता है कि जीव की परिसीमाओं की भाँति ही पाँचों कंचुक माया के ही विभिन्न रूप हैं। जीव के सन्दर्भ मे काल के स्वरूप का विवेचन एवं काल के प्रसंग मे जीव के जीवत्व की चर्चा आदिग्रन्थ मे वर्णित वाहगुरु के अकाल मूर्तित्व को सही ढंग से समझने मे हमारी सहायता करती है।

---

१ ई० प्र० वि०, ३-१-९, तथाहि कालः क्रममासूत्रयन् प्रमातृ विजृम्भामाग-स्तनुसारेण प्रमेयेऽपि प्रसरति ॥ तथा अत्रैव कस्मादभिष्वंग इत्यपरामर्शो नियत्या नियम्यत इति ॥

वाहगुरु का अकाल मूर्तित्व—आदिग्रन्थ में वाहगुरु को 'अकाल मूर्ति' अर्थात् त्रिकालातीत सत्ता कहा गया है।[1] इससे स्पष्ट है कि गुरुओं के विचार में ब्रह्म प्रकाश-विमर्श-युक्त सत्ता है, क्योंकि काल की शक्तियाँ उसको परिसीमित नहीं कर सकती हैं। वह घट-घट व्यापी अन्तर्यामी चैतन्य है। उसने अपनी इच्छा से ब्रह्माण्ड का रूप धारणा किया है, जबकि उसका वास्तविक स्वरूप 'अकाल' है। काल, जीव को ही सीमित प्रत्ययों एवं सम्बोधो मे आबद्ध कर सकता है परन्तु परमेश्वर को नहीं। ब्रह्म के समक्ष वह स्वयं अन्यान्य तत्वो मे से एक तत्व है। इसलिए वह अपरिवर्तनशील अनादि, अखण्ड एव शाश्वत सत्ता नही हो सकता। गुरु गोविन्द सिंह ने भी वाहगुरु को 'सति श्री अकाल' ही कहा है। 'सति' से उनका आशय शाश्वत सत्य तत्व ही हो सकता है। 'श्री' शब्द अकाल पुरुष के गणैश्वर्य की ओर संकेत है। आदिग्रन्थ के अनुसार परमात्मा त्रिगुणातीत सत्ता होने के साथ ही गुणैश्वर्य का भण्डार भी माना गया है। उनके गुण सांख्य दर्शन के तत्वो मे गिनी जाने वाली प्रकृति के निर्मायक तत्व—सत्व, रजस् और तमस् नही है। वाहगुरु के गुणो से गुरुओ का आशय उसकी विभिन्न शक्तियो से है।

पुरुष-सिद्धान्त—पुर-पुर अथवा प्रत्येक शरीर मे अन्तर्यामी भाव से परिव्याप्त प्रकाश एव विमर्श-सम्पन्न चैतन्य सत्ता ही 'गुरबानी' के अनुसार 'पुरुष' या 'पुरखु' है। गुरुनानक ने मूलमन्त्र मे 'पुरखु' का प्रयोग वाहगुरु के लिए ही किया है। तदनुसार जड़ एवं चेतन सृष्टि मे सर्वव्यापक भाव से समाया हुआ 'चैतन्य तत्व' ही 'पुरखु' है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त को विद्वानो ने परमात्मा का स्वरूप वर्णन माना है। तदनुसार मुण्डकोपनिषद् (१-३-२) मे भी 'पुरुष' शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ मे ही हुआ है। सांख्य दर्शन मे पुरुष जीव वाची शब्द के रूप मे प्रयुक्त हुआ है लेकिन सेश्वर साख्य मे इसका अर्थ ईश्वर स्वीकार कर लिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि साख्य मत वाले 'पुरुष' को चेतन मानते है परन्तु उसमे कर्तृत्व की शक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते और न ही प्रकृति को पुरुष का शक्ति पक्ष ही मानते है।

प्रायः सभी भारतीय दर्शनो मे 'पुरुष' शब्द का प्रयोग जीव एवं ईश्वर—दोनों ही अर्थों मे हुआ है। आदिग्रन्थ मे भी 'पुरख' या (पुरुष) शब्द का प्रयोग जीव एवं सर्वव्यापक परमेश्वर सभी के लिए हुआ है। जैसे—

---

[1] आ० ग्र०, पृ० ६०६, सोरठि म० ५, सफल दरसनु अकाल मूरति प्रभु है भी होवन हार ...॥ मूलमन्त्र, १ ओ सति नामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकालमूरति अजूनी सैभं गुरपरसादि ॥

पुरखां बिरखां तीरथां ·· ॥ (मनुष्य के रूप में) आ० ग्रं० वार आसा म० १-८—वही० सिरीराग, म० १—बिनु पिर पुरख न जाणई ·· । वही० सोरठा, म० ४—सति गुरु पुरखु मिलिआ प्रभु प्रगटिआ ·· ॥ (अध्यात्मवेत्ता के रूप में) वही० म० ४—पुरखै पुरखु मिलिआ गुरु पाइआ ···· ॥ (जीव के रूप में) बिचित्तर नाटक, गुरुगोबिन्द सिंह—मैं हो परम पुरख के दाता ···॥ (परमात्मा के रूप में) सौरठ, गुरुगोबिन्द सिंह—परम पुरख परमेसुर सुआमी ।[1]

भगवद्गीता मे 'उत्तम पुरुषस्त्वन्य' के रूप मे उत्तमपुरुष-विचार को प्राधान्य प्राप्त है। व्युत्पत्ति द्वारा प्राप्त अर्थ की अपेक्षा प्रसग प्राप्त एव समूची मान्यता को दृष्टि मे रखकर किया गया अर्थ ही हमे अभीष्ट की ओर ले जाने मे सहायता कर सकता है। गुरुनानक ने 'पुरखु' के रूप मे परमात्मा का उल्लेख करते हुए विशेष सावधानी बरती है। सम्भवत उन्हे इस तथ्य का पूर्वाभास था कि उनके इस शब्द का अर्थ परमात्मा के उस स्वरूप की ओर भी पाठको का ध्यान खीच सकता है, जिससे अवतारवाद अथवा इस्लामी एकेश्वरवाद जैसे सिद्धान्त की धारणा बनायी जा सकती है। इसीलिए उन्होने 'पुरखु' के पहले 'करता' शब्द का प्रयोग किया है। 'करता' से गुरुनानक का आशय ब्रह्माण्ड के निमित्तोपादान कारण वाहगुरु से है। न तो वह नैय्यायिको के ईश्वर-सिद्धान्त को स्वीकार करते है और न ही प्रकृति के स्वतन्त्र कर्तृत्व को ही मानते है।

आदिग्रन्थ मे ब्रह्म के लिए पुरुषोत्तम, नारायण तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक पौराणिक अभिधानो का प्रयोग तो पर्याप्त हुआ है परन्तु उनका अर्थ अवतारवादियो से भिन्न है। हमारा अनुमान तो यह है कि एक बार परत्मामा के स्वरूप को निर्गुण मानकर, एव अवतारवाद का खण्डन कर निर्गुण सन्त नाम के झगडे मे पड़े ही नही है। केवल सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से ही इन शब्द-प्रयोगो का कोई महत्त्व निर्धारित किया जा सकता है। ये शब्द भक्त-समाज मे पहले से प्रचलित रहे है। अत निर्गुण सन्तो ने उन्ही को अपने सिद्धान्त और अर्थ के अनुकूल स्वीकार कर लिया है। फिर भी प्रत्येक निर्गुण सन्त को परमात्मवाची एकाध शब्द अधिक प्रिय रहा है। गुरुनानक ने कई स्थानो कर 'माधव' 'गोबिदु' 'नाराइनु' के अभिधानो के द्वारा वाहगुरु की ओर ही सकेत किया है। परन्तु साथ ही अन्यत्र कई दूसरे प्रसंगो मे उन्होने राम, कृष्ण, शिव और नारायण आदि को परमात्मा (वाहगुरु) मानने का विरोध भी किया है। प्रस्तुत प्रसग मे इस विषय को उठाने का कारण यह है कि

[1] आ० ग्र० मारू म० १, सोहले, सख्या १८—तूं अकाल पुरख नाही सिरि काला—वही० राम कली, म० १—आदि पुरखु अपरंपरु सो प्रभु · ॥ वही० सवैये, म० ५—आदि पुरख करतार करण कारण वही० माझ, म० ४—आदि पुरखु अपरपरु आपे····

आदिग्रन्थ मे प्रयुक्त 'पुरखु' शब्द से गुरुओ का आशय सारे ब्रह्माण्ड के कण-कण मे व्याप्त पुर-पुर मे निवास कर रहे सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा से है, वैकुण्ठ आदि लोकों मे निवास करने वाले नारायण और वासुदेव से कदापि नहीं।

आदिग्रन्थ का अध्येता इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है परमात्मावची 'पुरुष' शब्द का प्रयोग कृष्ण और राम आदि ऐतिहासिक महापुरुषो के लिए नहीं हुआ है। उनकी भक्ति-साधना का विषय अवतारी भगवान राम या कृष्ण कदापि नहीं है। वे इस्लामी विचारधारा मे स्वीकृत 'खुदा' के स्वरूप से भी सहमत नही है। लेखक के विचार मे आदिग्रन्थ का 'अकाल पुरख' वाहगुरु है, जो काल का भी काल है। आदिग्रन्थ के अनुसार अकालपुरुष (वाहगुरु) की यही गुरु-सम्मत व्याख्या है। इसमे जिस रीति मे परमतत्व का बार-बार नामसिमरन अथवा गुण-गान किया गया है, उसे सम्मुख रखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है कि सभी गुरु परत्मामा को काल की शक्ति से अतीत ही नही बल्कि उसका स्वामी भी मानते हैं। इसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि राम एव कृष्ण आदि अवतारी पुरुष काल की दृष्टि से स्वतन्त्र नही है, क्योकि उनका जन्म भी हुआ है और वे अन्त मे काल-कवलित भी हुए है। इसलिए त्रिकालातीत एवं काल की स्वामिनी सत्ता केवल परमात्मा ही है, जिसे उन्होने वाहगुरु के नाम से सम्बोधत किया है।

१ ओं—हमारे विचार मे यदि किसी को आदिग्रन्थ के दर्शन का नामकरण करना अभीष्ट ही हो तो वह उसे पराद्वैत दर्शन का नाम दे सकता है। आदिग्रन्थ मे मूल मन्त्र के आरम्भ मे जो '१ ओ' लिखा गया है, वह उपर्युक्त स्थापना के लिए पर्याप्त आधार है। '१ ओं' मे ओकार से पहले एक १ का प्रयोग साभिप्राय है। ओकार से पूर्व की अवस्था का यह उल्लेख मूल स्थिति की ओर एक-स्पष्ट संकेत है। बार-बार नानात्व मे एकत्व या 'एक' आदि अभिधान देकर गुरुओ ने इस ओर सकेत किया है कि 'ओंकार' अवस्था पूर्णाद्वैत सत्ता की इच्छा शक्ति का विलास है, लेकिन इसकी अद्वैतता मे किसी प्रकार का अन्तर नही पडता

> **साहिबु मेरा एको है भाई वही० राम कली म० १, इस एके का**
> **जाणै भाउ ""॥ एको है** (आ० ग्रं० आसा १, घरु २)।

परमात्मा के एकत्व (अद्वैत) को सिद्ध करने के उपरान्त उसे अमर एव अयोनि बतलाकर जाति आदि प्रपंचो से अतीत भी सिद्ध कर दिया गया है। उसे विश्व के कण-कण मे व्याप्त बतलाते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी हुआ है कि वह दिव्य शरीरी के रूप मे किसी परमधाम विशेष मे निवास करने वाली सत्ता नहीं है। आदिग्रन्थ के सिद्धगोष्ठी (सिधगोसट) प्रकरण मे नानक ने स्पष्ट कहा है कि परमात्मा अद्वैत है। वे बहुदेववाद या द्वैत का स्पष्ट खण्डन करते हुए अद्वैत सत्ता की भक्ति मे अपनी आस्था व्यक्त करते है। जैसे :

> **आ० ग्रं० पृ० ५६७, सो ब्रहमु अजोनी है भी ''घट-घट भीतरि**
> **मुरारि जीउ ''। वही० पृ० ५८०, जिनि आपीनै आपु साजिआ।**

सचड़ा अलख अपारो''''।। वही० पृ० १०२० । आपे मछली आपे जाला । आपे गउ आपे रखवाला ।। १५ आ० ग्रं० पृ० ६५२, निरंकारि जो रहै समाइ । काहे भिखिआ मंगणि जाइ'''''''' ।। वही० पृ० ५०३५ । ''ब्रहमा बिसनु महेसु न कोई'''।। वही० ६६०, सरबं साचा एकु है दूजा नाही कोइ'''।।

उन्होंने अन्य देवी देवताओं की उपासना एवं पूजा का विरोध करते हुए 'ओंकार' के रूप मे ही परमात्मा की उपासना को स्वीकार किया है—

हरि आपे कान्हु उपाइदा मेरे गोबिदा । आ० ग्रं० पृ० १७४ । वही० पृ० ३६५ । तू आपे करता तेरा कीआ सभु होइ । तुधु बिनु दूजा अवरु न कोइ ।। वही० पृ० ७३५ । ब्रहमा बिसुन महादेउ त्रैगुण रोगी विचि हउमै कार कमाई'''।। वही० पृ० ६६५ । संकरि ब्रहमै देवी जपिओ मुखि हरिनामु''' ।।

राम और गोबिंद आदि अभिधानो के द्वारा अद्वैत परमतत्त्व का स्मरण तो उन्होने भी किया है, लेकिन उसे बार-बार अजन्मा कहकर दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण मानने से इन्कार कर दिया है।[1] आदिग्रन्थ के अनुसार 'ओंकार' (शब्दब्रह्म) परमतत्व का वह स्वरूप है, जिससे इस सारी जड-चेतन सृष्टि का विधान चल रहा है। ओंकार रूप मे 'एक (अद्वैत) ही अपने आपको नानात्व मे अभिव्यक्त करता रहता है। शैवागमो मे परमशिव को शिव और शक्ति की अभेदावस्था कहा गया है। तदनुसार परमशिव का स्पद ही भेदाभेदावस्था का रूप धारण करता रहता है। '१ ओं' परमतत्व के पूर्ण अभेद के बाद की भेदाभेदावस्था है। गुरुगोबिंदसिंह ने 'विचित्तर नाटक' मे, 'प्रिथिम काल जब कीआ पसारा। ओंकार ते स्रिसटि उपारा' के रूप मे और कबीर ने बावन अखरी (आ० ग्र०) मे इसी मान्यता को व्यक्त किया है। वह लिखते है ·

ओअंकारि आदि में जाना । लिख अरु मेटै ताहि न माना ।।
ओअकारि लखे जो कोई । सोइ लखि मेटणा न होई ।।

सभी गुरुओं के दार्शनिक विचारों के व्याख्याता भाई गुरदास ने भी गुरुनानक के ओंकार-सिद्धान्त की इसी प्रकार व्याख्या की है। तदनुसार परमात्मा समरसावस्था से इच्छा की अवस्था मे अपने को ओकार के रूप मे साकार बनाता है। वह इसी रूप मे सारी सृष्टि मे प्रकाकित हो रहा है। अत. आदिग्रन्थ के अनुसार परमात्मा

[1] आ० ग्र० पृ० १३१६, हरि अगमु धिआइआ गुरमती तिसु रूपु नहीं प्रभ रेखिआ ''।। वही० पृ० २५४, धोखे सासत्र वेद आन न '' ' आदि जुगादि हुणि होवत नानक एकै साइ''''।। वही० पृ० १४१२, रामु झुरै दल मेलवै '' मन महि झूरै रमचन्दु सीता लछमन जोगु ''।। वही० पृ० १२४१ पुंछा देवां माणसा जोध करहि अवतार'''।।

का शुद्ध स्वरूप अद्वैत (नानात्व मे एकत्व) है। वह '१ ओं' है। परमसत्ता को गुरबानी मे वाहगुरु कहा गया है। '१ ओं' मे 'एक' द्वारा पहले परमसत्ता के पूर्णाद्वैत की ओर संकेत है और पुन. ओंकार द्वारा उसकी अपनी इच्छा या स्पंद से उसी की भेदाभेदावस्था की स्थिति का प्रतिपादन हुआ है। अभिनवगुप्ताचार्य ने परमसत्ता को अनुत्तर कहा है क्योकि उनके विचार मे उसे किसी भी सीमा मे बाध पाना सम्भव नहीं है। आदिग्रन्थ मे इसी अनुत्तर के भाव का अनुसरण है, जिसके लिए ओंकार से पहले एक (१) प्रतीक का प्रयोग हुआ है। आदिग्रन्थ मे जगत को वाहगुरु की इच्छा, लीला या स्पद का साकार रूप मानकर परमसत्ता द्वारा ओंकार के रूप मे अपना विस्तार करने के बार-बार उल्लेख हुए है।[1] इस प्रकार हम देखते है कि गुरुओं के अनुसार परमात्मा का अन्तिम स्वरूप वैष्णवाचार्यो, आचार्य शकर एव इस्लाम द्वारा स्वीकृत एकेश्वर के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। आगे हमे कई प्रसगो मे इसकी चर्चा का अवसर मिलेगा, जिससे इसका स्पष्टीकरण स्वयमेव हो जायगा।

'सति' अर्थात् सत्यस्वरूप—आदिग्रन्थ की विचारधारा के अनुसार परमसत्ता अनिवर्चनीय चैतन्य है। उसे अनुत्तर मानते हुए केवल सुविधा के लिए ही 'एक' का अभिधान दिया गया है। प्रकाश-विमर्श से परिपूर्ण वाहगुरु (अनिर्वचनीय चैतन्य) की इच्छा ही उसकी शक्ति है। निमीलन एव उन्मीलन उसका स्वभाव है। ब्रह्माण्ड के रूप मे साकार होने की अवस्था के स्वरूप का परिचय देने के लिए ही गुरुनानक उसे ओंकार कहते है। ओंकार रूप मे भी वह 'एक' ही रहता है, इसीलिए उसे 'सति' कहा गया है। 'सति' परमतत्व के त्रिकालातीत स्वरूप की ओर सकेत के अतिरिक्त इस विचार का स्पष्टीकरण भी है कि वाहगुरु सदा स्थिर सत्ता है।[1] 'सति' के साथ ही 'नामु' को भी मिला लेने पर दोनों का सम्मिलित अर्थ होगा कि 'परमात्मा जिस प्रकार सत्य तत्व है उसी प्रकार उसका नाम भी सत्य स्वरूप है।[2] अतः 'सतिनामु' प्रयोग साभिप्राय है।

सचे सभि ताणि सचे सभि जोरि आ० ग्रं० वार आसा, म० १ ॥

वही० म० ५, सुखमनी, रूपु सति जा का सति असथानु ।पुरखु सति

---

[1] १ ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभ गुरपरसादि (मूलमंत्र जपुजी)।

[2] आ० ग्रं० जपुजी म० १,—है भी सचु होसी भी सचु·····॥ वही० साचा साहिबु साचा नाई···॥ वही० प० ३४७, सोई-सोई सदा सचु साहिबु ॥ वही० पृ० ६१७, ~सरब निवासी सदा अलेपा ॥ वही० पृ० ६१७, अबिनासी जीअन को दाता···वही० पृ० ४५३, आदि मधि अति प्रभु सोई ॥ वही० पृ० ७४४ गुन गावत अचुत अविनासी ॥ वही० पृ० ३०२,। हरि सति अमरु निरजनु है निरभउ निरवैरु निरकारु·· ॥ वही० पृ० ८३४। सति पुरखईआ· ॥ वही० पृ० १५। साचे ते पवना भइआ·· ॥ वही० पृ० १४५। जा तूं साचा ता सभु साचा·····॥

केवल परधानु ॥ वही० आसा कबीर, म० १, साचा साहिबु एक तूं जिनि सचो सचु वरताइआ""॥

इसी मान्यता के आधार पर उन्होने अपने 'नाम-सिमरन' के सिद्धान्त की स्थापना की है। नाम-सिमरन का मनोवैज्ञानिक एव दार्शनिक विवेचन उपासना प्रधान साधनाओ की प्रमुख विशेषता माना जाता है। नामसिमरन के सम्बन्ध मे हमने अन्यत्र विस्तारपूर्वक चर्चा की है जो उनकी मन्त्र-साधना का आधार है।

वाहगुरु के स्वरूप का दार्शनिक आधार—आदिग्रन्थ के मूलमंत्र मे नाम और उसकी सत्यता पर अधिक बल दिया गया है।[1] कुण्डलिनी योग मे भी मत्र की शक्ति स्वीकार्य है। कुण्डलिनी-साधना के बारे मे गुरुओ की विचारधारा का उल्लेख अलग प्रकरण मे किया जाएगा। प्रस्तुत प्रसंग मे केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि गुरुओ ने 'नामसिमरन-योग' को कुण्डलिनी योग की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। 'सति' का उल्लेख सत्कार्यवाद की स्वीकृति भी नही माना जा सकता। इस बारे मे यह स्मरण रखना जरूरी है कि आदिग्रंथ मे मूलमत्र के द्वारा परमात्मा के स्वरूप-लक्षण का ही उल्लेख किया गया है। नासदीयसूक्त (ऋग्वेद) के सूक्तकार को भी परमतत्त्व के स्वरूप-लक्षण के बारे मे उसे अनिवर्चनीय ही कहना पडा था। इससे यह सिद्ध होता है कि परमतत्त्व को सत् एव असत् आदि परस्पर सापेक्ष लक्षणो या सीमाओ मे बाँधना सम्भव नहीं है। 'सति' सत्यस्वरूप चेतन हस्ती का प्रतीक है। अशुमाली जिस प्रकार धूप और छाया की द्वन्द्व-स्थितियो से अतीत एव परिपूर्ण प्रकाश सत्ता है, उसी प्रकार नानक के द्वारा वर्णित 'अकाल पुरुष' भी प्रकाश-विमर्शमय चैतन्य हस्ती है।[2] जिसमे द्वन्द्व-स्थितियो का अभाव है।

आदिग्रन्थ मे प्राय. सभी गुरुओ ने जगत को सत्य (सचु) ही माना है। उनके विचारानुसार परमात्मा ही जगत की सत्यता का आधार है, क्योकि केवल वही सत्य तत्त्व है। नामरूपात्मक जगत के न रहने पर भी वाहगुरु का अविनाशी अस्तित्व बना ही रहता है। गुरुओ ने वाहगुरु के स्वरूप की चर्चा करते हुए उसे सत्-चित्-आनन्द स्वरूप बतलाया है।[3]

आदिग्रन्थ मे वर्णित 'मूल मन्त्र' के 'नामु' शब्द के बारे मे भी विचार कर लेना चाहिए। शब्द-शास्त्र के अनुसार नाम के भी दो रूप या पक्ष है—एक कृत्रिम

---

[1] मूलमंत्र, १ ओंकार सतिनामु ' आ० ग्र० पृ० १ ॥

[2] आ० ग्रं० आसा, म० १, सचे सभि ताणि सचे सभि जोरि ' ॥

[3] आ० ग्रं० पृ० ८१५, परम जोति पूरन पुरख सभ जीअ तुम्हारे ""॥ वही० पृ० ७८०, करण कारण गोपाला ॥ वही० पृ० २१८, सचे सेती रतिआ ' ॥ वही० पृ० ६७, खण्ड ब्रहमड का एको ठाणा वही० पृ० २१०, ईहा ऊहा सरब सुखदाता ' ॥ वही० पृ० ३७४, मूलु समालहु अचेत गवारा ''॥

और दूसरा अकृत्रिम । परन्तु आदिग्रन्थ में नाम को, उसके अकृत्रिम रूप (परमात्मा वाची शब्द के रूप) मे प्रयुक्त किया गया है। जैसे—

किरत नाम कथे तेरे जिहबा । सति नामु तेरा परा पूरबला ॥ आ० ग्रं० मारू सोहले म० ५,—वही० जपुजी,-आदि सचु जुगादि सचु । है भी सचु नानक होसी भी सचु ॥ वही सुखमनी, १७-२,- सति सरूप रिदै जिनि मानिआ । करन करावन तिनि मूलु पछा- निआ ·······॥ वही०, नाम सति-सति धिआवनहार ·······॥ वही० वार आसा, म० १,- नानक सचु धिआइनि सचु · । वही जपुजी, है भी होसी जाइ न जासी रचना जिनि रचाई ······॥

ससार मे किसी वस्तु के निर्माण के लिए अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त उपादान की आवश्यकता हुआ करती है। परन्तु आदिग्रंथ मे परमात्मा को ही सारे ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादनकारण बतलाया गया है। अत. स्पष्ट है कि सिक्ख गुरु सांख्य दर्शन के अनुरूप 'प्रधान' को स्वतन्त्र तत्त्व मानकर उसके प्रकृति-विकृति-परिणाम वाली मान्यता को नहीं स्वीकार करते। न्याय और वैशेषिक दर्शनो की भाँति परमाणुओ की सहायता से ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना करने का सिद्धान्त भी उन्हे मान्य नहीं है। वे परमाणुओ की अनादि एवं स्वतन्त्र सत्ता मे भी विश्वास नही करते। इसी तरह आदिग्रन्थ मे अद्वैतवेदान्तियो के अध्यास की मान्यता को भी अस्वीकार किया गया है। वाहगुरु का कर्तृत्व ऊर्णनाभ की भाँति उसकी इच्छा या स्वभाव ही है। वह इसी स्वभाव के अन्तर्गत सतत भाव से सृष्टि के रूप मे अभिव्यक्त होता रहता है और सहार के रूप मे बार-बार अपने स्वरूप को ऊर्णनाभ की भाँति ही निमीलित भी कर लेता है।

'नामु' का दार्शनिक विवेचन—'नाम' शब्द म्ना अथवा नम् धातु से बना है। म्ना का अर्थ 'याद रखना' या 'याद करना' है एव नम् का अर्थ 'झुकना' या 'सम्बोधित करना' है। नामन् के विभिन्न प्राकृत रूपों की भांति ही आदिग्रन्थ मे भी नाम के लिए 'नाव' 'नाइ' आदि शब्दो का बहुश प्रयोग किया गया है। जैसे—

नाउ तेरा निरंकार है····॥ आ० ग्र० वार आसा, म० १,- वही० सिरी राग म० १,- साचा साहिबु साचा नाइ · ॥ वही० जपुजी, नावै अंदरि हउ वसा· · ·॥ वही० सिध गोसट, म० १,-नाम ततु सब ही सिरि जापै······॥

गुरुओ ने नाम को सत्य एवं अविनाशी बतला कर जीव को उसके सतत स्मरण का उपदेश दिया है।[1] गुरुनानक के अनुसार वाहगुरु के नाम का 'सिमरन'

---

[1] आ० ग्र० गउडी, म० १, छत,- तेरा नाम सचा जीउ सबदु सचा बीचारो·· ॥ वही० वार आसा, म० १,- निरभउ निरंकारु सचु नामु ·········॥ वही० वडहग, म० ३,- भ्रम माइआ बिचहु कटीऐ सचड़े नामि समाए······॥ वही०

ही जीव की मुक्ति का मुख्य साधन है। वे लिखते हैं कि वाहगुरु नाम मे निवास करता है। उनके विचार मे जीव के मलावरणों को दूर कर उसे अपने सत्य-स्रोत मे एकाकार करने वाला साधन (नाम) कभी भी परिणामी नही हो सकता। गुरुओ ने नाम और निरंकार (वाहगुरु) मे कोई अन्तर नही माना है।

नाम और नामी में अभेद—आदिग्रन्थ मे वाहगुरु और उसके नाम के उल्लेख जिस ढंग से हुए है, उनसे यही प्रमाणित होता है कि दोनो में कोई भेद नही है। वाहगुरु को अगम, अगोचर, निरंजन, सर्वव्यापक और घट-घट-वासी बतलाया गया है। नाम वाहगुरु की कला है, और कला भी परमात्मा की भाँति अलख तथा मायातीत मानी गई है। वाहगुरु के नाम का सिमरन जीव को उससे एकमेक होने की योग्यता एव अनुग्रह प्रदान करता है। गुरुनानक केवल सज्ञा के रूप मे नाम का प्रयोग करने के साथ ही उसे स्वतन्त्र रूप से 'जप' एव 'सिमरन' का भी विषय मानते हैं। यह वह 'लिव' है, जिससे जीव उसी मे समा कर तद्रूप हो जाता है। नाम आत्म-विद्या है, जिससे भक्त ब्रह्मैक्यावस्था का अधिकार प्राप्त करता है। प्रभु का गुणगान, उसके प्रति विनय एव कृतज्ञता का भाव नामसिमरन के सहायक अंग बतलाए गये है। नाम को सप्राण प्रेम भी कहा गया है, क्योंकि नाम-साधना के द्वारा ही जीव संसार की ओर से विमुख होकर, वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाम-साधना प्रेम एवं प्रेमोपलब्धि का सर्वोत्तम साधन है। गुरु-परम्परा मे भक्ति का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे जीव का साध्य स्वीकार कर लिया गया है। तदनुसार नाम और भक्ति दोनो परस्पर मिलकर ही नाम-सिमरन या नाम-भक्ति कहलाते है। इसलिए गुरुओं (सिक्ख) की साधना 'नाम-भक्ति-साधना' के अन्तर्गत आती है। जैसे—

> **नामु निरंजनु अंतरि वसै मुरारे ··· ।। आ० ग्रं० माझ म० ३, असटपदी,- वही० सिरी रागु, म० १, असटपदी,- नावै अंदर हउ वसा नाउ वसै मनि आई ···।। वही० सुखमनी, म० ५,- हरि सिमरन महि आपि निरंकारा······।। वही० वडहंस, म० छंत,- नाम निरंजनु अगमु अगोचरु सतिगुरि दीआ बुझाए·······।। वही० सारंग वार, म० ४,- नामु निरजनु अलखु है किउ लखिआ जाई ।। नामु निरंजनु नालि है किउ पाइअै भाई ।। नामु निरंजनु वरतदा रहिआ सभ ठांई ।। वही० माझ, म० ३ असट इकु काइआ अंदरि बहुतु पसारा । नामु निरंजन अति अगम अपारा ···।। वही० सुखमनी, म० ५,- नाम के धारे सगले जंत······ ।।**

मारू वार, म० ५,- निहचलु सचु खुदाइ एकु खुदाइ सदा अविनाशी थिरु पार-ब्रहमु परमेसरो सेवकु थिरु होसी······।।

वाहगुरु का कर्तृत्व : निमित्तोपादान कारण—संस्कृत भाषा का कर्तृ अर्थात् कर्ता पद ही शब्द-विकास की यात्रा मे 'करता' बन गया है। आदिग्रंथ मे कर्ता के लिए करता 'रचनहार' 'करतार' एवं 'करनहार' आदि शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए है।[1] हमारा जागतिक अनुभव यही है कि प्राय हर एक वस्तु के निर्माण के लिए निर्माण-कर्ता को अपने से अतिरिक्त किसी दूसरी उपादान सामग्री की आवश्यकता हुआ करती है। न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर केवल 'निमित्त-कारण सत्ता' है। इसलिए न्याय दर्शनकार उपादान सामग्री के रूप मे अनादि तत्त्वों के अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी रूपी उपादान सामग्री के अभाव मे घडे का निर्माण नही कर सकता, उसी प्रकार ईश्वर को भी सृष्टि की रचना के लिए परमाणुओ आदि उपादान सामग्री की आवश्यकता मानी गई है। प्राय सभी द्वैतवादी दर्शन इसी सिद्धान्त का समर्थन करते है। लेकिन उपनिषदो के अनुसार ईश्वर के रूप मे ब्रह्म ऊणनाभ की भाँति सृष्टि की सर्जना करने वाला बतलाया गया है। वाहगुरु के कर्तृत्व की चर्चा करते हुए 'जपुजी' के भाष्य मे भाई वीरसिंह यह कहते है कि गुरुओ को नैय्यायिकों का कर्तृत्व-सिद्धान्त स्वीकार नहीं है। इसके साथ ही उन्होंने उपनिषदो के ऊणनाभ सिद्धान्त को भी आदिग्रन्थ की विचारधारा मे अस्वीकार्य स्वीकार किया है। वे लिखते है कि ऊर्णनाभ की भाँति अकाल पुरुष (ब्रह्म) शरीर के भीतर से पदार्थों का निर्माण नही करता। वह अपनी शक्ति या मात्र आज्ञा से ही सृष्टि की रचना करने मे समर्थ है। जैसे—

> **सभु किछु तिस का ओहु करने जोगु ···।।आ० ग्र० पृ० २८२। वही पृ० ४६६। खिनि महि थापि उथापन हारा ··· ।। वही० पृ० १०६। अपने कीते नो आपि प्रतिपाले ।। वही पृ० ७४८। जीअ जत सम तेरे कीते ··· ।। वही० पृ० ७६० तू करता तू करणहारु तू है एकु अनेक जीउ ।। वही० पृ० १२६। तूं आपे साचा सिरजण हारा ···· ।। वही० पृ० ६०६। आप सृसटि उपाइदा ·· ।। वही० पृ० ८३५। अडज जेरज ··।। वही० पृ० १११५। तू जग जीवनु जगदीसु सभ करता · ।। वही० पृ० ४१२। जिनि धरि साजि गगनु अकासु ·· ।।**

अपनी मान्यता के पक्ष मे उन्होंने 'कीता पसाउ एको कवाउ' (जपुज) और 'हुकुमी होवनि आकार' (जपुजी) इत्यादि आदिग्रन्थ मे उद्धरण भी दिए है। परन्तु

---

[1] आ० ग्र० आसा, म० १, जा तू करनहारु ···।। वही० राम कली, म० १, करते की मिति करता जाणै ।। वही० गउडी, म० ५, वही० माझवार, म० १-१६, करता आपु अमुलु है · ।। वही० आसा, म० १-१६, करता तू सभना का सोई ···।।

उनकी यह व्याख्या और निष्कर्ष युक्ति संगत एवं आदिग्रन्थ की विचारधारा के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। भाई वीरसिंह की उपर्युक्त मान्यता मे दार्शनिक पद्धति का भी उल्लघन प्रात होता है। कुरान की भाँति यह मान लेना कि खुदा ने 'कुन' कहा और सारी कायनात नाम और रूप के आकार मे सामने आ गई 'तर्क' संगत दार्शनिक उपस्थापना नही कही जा सकती। जो बात प्रमाण-सिद्ध नही है, उसे दार्शनिक निष्कर्ष के रूप मे स्वीकार कर लेना सम्भव नही।

निरभउ. वाहगुरु की निर्भयता—'निरभउ' शब्द सस्कृत 'निर्भय' का ही तद्भव रूप है। आदिग्रन्थ मे भय के लिए 'भउ' 'भै' आदि शब्दो का ही प्रयोग हुआ है।[1] जैसे—

> **निरभउ निरंकार नहीं चोनिआ जिउ हसती नवाए ॥ आ० ग्रं० पृ० २१२। मूलमन्त्र। 'भउ' आसावार। 'निरभउ' वही० 'निरभै' म० १, राग गउडी।**

ससार को अपनी इच्छा के अनुरूप चलाने के कारण अकाल पुरुष को नियामक शक्ति बतलाया गया है। इसी दृष्टि से वह निर्भय सत्ता है। गुरु अर्जुन देव ने माया के कारण जीव की दयनीय अवस्था का वर्णन करते हुए, उसे मनमुख माना है। उनके विचार मे मनमुख जीव परमात्मा की भक्ति और स्तुति की ओर उन्मुख नहीं होता है। मनमुख जीव को उपदेश देते हुए वह लिखते है कि सारे ब्रह्माण्ड की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले, निर्भय निरंकार वाहगुरु की ओर अपनी इन्द्रियो को उन्मुख करना चाहिए।[2]

गुरुनानक नामसिमरन के अभाव को ही वास्तविक छूत (सूतक) मानते है। उनका विश्वास है कि जीव बुद्धि के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित करने अथवा असत्कर्मो के आचरण के कारण अपना भविष्य बिगाड रहा है। वह यह भूल बैठा है कि निर्भय परमात्मा ज्योति-स्वरूप सत्ता है और उस वाहगुरु की ज्योति ही उसे (जीव को) भी प्राणवान बनाए हुए है। गुरुओं के अनुसार जीव का आवागमन का चक्कर तब तक समाप्त नही होता, जब तक वह भक्ति की शरण प्राप्त नही कर

---

[1] 'भै'—भै बिनु घाडत कचु निकच ······ ॥ वार आसा म० १-४, नानक निरभउ निरकार होरि केते राम रवाल······ ॥ आसावार, म० १-४। नानक निरभउ निरकार सचु एकु ·· ॥ वही० सगलिआ भउ लिखिआ सिरि लेखु ······ ॥ रामकली म० १, ओअंकार ब्रहमा उतपति ··॥ बिलावलु, म० १-३। एकै कउ नाही भउ कोइ। करता करे करावै सोइ · · ॥

[2] आ० ग्र० रामकली म० ५ पृ० ८९२। माइआ कारणि सद ही झरै। मनिमुखि कबहि न उसतुति करै। निरभउ निरकार दातारु। तिसु सिउ प्रीति न करै गवारु ···· ॥

लेता।[1] लेकिन भक्ति की प्राप्ति भी परमात्मा की कृपा-दृष्टि होने पर ही हो सकती है। वाहगुरु के सम्बन्ध मे गुरु एव सत पुरुषो से जानकारी प्राप्त करने के अनन्तर सतत स्मरण के द्वारा ही उसे अपने हृदय में बसाया जा सकता है। वाहगुरु निराकार, निर्वैर एवं निर्भय सत्ता है। उसी की ज्योति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है।[2] आदिग्रन्थ मे बार-बार परमसत्ता को निर्भय के रूप मे वर्णित किया गया है। निर्गुण सन्तों की भाँति ही सिक्ख गुरुओ का भी अवतारवाद मे विश्वास नही है। रामलीला की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एक प्रसंग मे गुरुनानक ने उन्ही जीवो के मस्तक मे भक्ति की भाग्य-रेखा का उल्लेख किया है, जिन्हे सदैव वाहगुरु की कृपा दृष्टि प्राप्त रहती है। राम के अवतार का खण्डन करते हुए एक प्रसग मे वाहगुरु को ही जगत का रचयिता, निर्भय, निरकार एव 'सचुनामु' कहा गया है।

निरभउ निरंकारु सचु नामु। जा का कीआ सगल जहानु।
सेवक सेवहि करमि चड़ाउ। भिनी रैणि जिन्हा मनि चाउ॥
आ० ग्रं० पृ० ४६५।

वाहगुरु निर्भय कैसे—अकालपुरुष निर्भय है। वह शक्तिमान सत्ता है। इस ब्रह्माण्ड मे जो कुछ हो रहा है, उसका संचालक और नियामक वही है। सारी सृष्टि उसी की आरती उतार रही है—

गगन में थालु रवि चंदु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती।
धूप मलआनलो पवणु चवरो करे सगल बनराइ फूलत जोति॥ १॥
कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती। अनहता सबद वाजंत भेरी॥ १॥ रहाउ॥ आ० ग्र० पृ० ६६३। ओअंकारि ब्रहमा उतपति ·· ॥ आसा म० ४, दुधु जेवडु अवरु न को कोई···॥ बिला० म० ३, तिस ते ऊपरि नाही कोई · ॥ बिलावल म० १ एकौ कउ नाही भउ कोइ · ॥ आ० ग्रं० रामकली, म० १।

प्रस्तुत सन्दर्भ मे आरती से आशय परमात्मा की आज्ञा के अनुसार कार्य करते रहने मे है। परमात्मा ने जिसे, जिस कार्य के लिए नियोजित कर दिया है, वह एक क्षण के लिए भी अपनी इच्छा से उसकी आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता। वाहगुरु का भय सर्वोपरि शक्ति है। अकाल पुरुष की सत्ता ही मात्र अकेली स्वाधीन सत्ता है। शेष सारी की सारी सृष्टि उसके आधीन होने के कारण परवश है। उसे

[1] आ० ग्रं० राग आसा, म० १, असटपदीआ ४, निरभउ आपि निरतर जोति। बिनु नावै सूतक जगि छोति। दूरमति बिनसे किआ कहि रोति। जनमि मूए बिनु भगति सरोति॥

[2] वही० पृ० ५९६। नदरि करे ता अखि वेखा कहणा कथनु न जाई। कंनी सुणि सबदि सालाही अमृतु रिदै बसाई। निरभउ निरंकारु पूरन जोति समाई। नानक गुण विणु भरमु न भागै सचि नामि वडिआई॥४॥३॥

अकाल पुरुष के सकेतों की उपेक्षा किये बिना दिनरात अपने कार्य मे निरत रहना पडता है। भय उसी के लिए है, जिसे दूसरे की आज्ञा का उल्लंघन करने पर दण्डित किया जा सके। परमात्मा को निर्भय मानने का प्रधान कारण यह है कि वही एक मात्र दण्ड-विधायक शक्ति है। वाहगुरु के निर्भय स्वरूप को समझने के लिए इस्लाम के भय-सिद्धान्त पर विचार कर लेना भी उपयोगी होगा।

इस्लाम में स्वीकृत भय-सिद्धान्त और आदिग्रन्थ—गुरुनानक ने कई बार ब्रह्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व का खण्डन किया है। उनके विचार मे सम्पूर्ण देवता परमात्मा की इच्छा के अधीन हैं। इसीलिए 'अकाल मूरति' वाहगुरु के सिवा सभी देवी-देवता भय के अधीन एवं परवश है। मात्र वाहगुरु ही अद्वितीय शक्ति है क्योकि वह अद्वैत चैतन्य होने के कारण प्रकाश और विमर्प का अथाह भण्डार है। गुरुओं के विचार मे नाम-सिमरन की साधना के द्वारा उपासक उपास्य के साथ तदाकार हो जाते हैं। जीव की निर्भयता परमात्मा का ही अनुग्रह है। जिसमे किसी प्रकार की कमी हो वह अपने आपको कभी निर्भय नही मान सकता। निर्भय पद का अधिकारी वही हो सकता है, जो सर्वशक्तिमान हो। जो व्यक्ति सांसारिक दुर्बलताओ पर काबू पा लेता है, वह भी निर्भय पद का अधिकारी बन जाता है। गुरुओ के अनुसार जीव की निर्भयता 'निरभै' वाहगुरु की अनुकम्पा पर ही आधारित है। इस्लाम मे स्वीकृत खुदा के भय-सिद्धान्त से गुरुओ का भय-सिद्धान्त पूर्णतया भिन्न है। कुरान मे परमात्मा के शक्तिशाली एव भय से कँपा देने वाले रूप को ही अधिक महत्त्व प्राप्त है। परन्तु गुरु-परम्परा मे परमात्मा की दयालुता, अनुकम्पा और कोमलता पर बार-बार बल दिया गया है। अन्तर्यामी एव शक्तिशाली सत्ता सर्वोपरि होने के कारण ही निर्भय है। वही उपासक को निर्भय पद प्राप्त करने की प्रेरणा भी देती है। गुरुओ के विचार मे जो व्यक्ति निर्भय परमात्मा का सच्चे भाव से भजन करता है, वह स्वयं भी निर्भय हो जाता है—[1]

> **निरमुल भउ पाइआ हरि गुण गाइआ हरि वेखै राम हदूरे·······॥**
> **आ० ग्र० राग सूही म० ४, छंत। गउड़ी सुखमनी, भै ते निरभउ**
> **होइ समाना ॥ सलोक म० ६, भै काहू कउ देत नहि, नहि भै**
> **मानत आनि। कहु नानक सुनि रे मना गिआनी ताहि बखानि ॥**
> **गउड़ी सुखमनी, निरभउ जपै सगल भउ मिटै··· ॥**

---

[1] आ० ग्र० आसा, म० ४, जिनि निरभउ हरि निरभउ पाइआ जी तिना का भउ सभु गवासी····· ॥ वार माझ, म०, नानक भै विणु जो मरै मुहि कालै उठि जाइ·······॥ वही० ३-२५, भै विणु जीवै बहुतु-बहुतु खुसीआ खुसी कमाइ। नानक भै विणु जो मरै मुहि काले उठि जाइ······· ॥ वही० ३-२५, भै विच जंमै भै मरै भउ मन महि होइ। नानक भै विचि जे मरै····· ॥ गउड़ी म० १-७, भै रचि रहै सु निरभउ होइ····· ॥

आदिग्रन्थ मे परमात्मा को निर्भय बतलाकर जीव को बार-बार उसके भय मे रहने का उपदेश दिया गया है। भय के भाव को हृदयस्थ कर लेने पर ही जीव असत्कर्मों से निवृत्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आदिग्रन्थ का भय-सिद्धान्त कुरान की भय-की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न है।

वाहगुरु का भय किसलिए—परमात्मा के भय से रहित व्यक्ति को अनैतिक एव अन्यायपूर्ण आचरण करने मे कोई सकोच नही हो सकता। राज्य का भय केवल शरीर को ही अपने अनुशासन मे रख सकता है, अन्तःकरण को नही। अन्तःकरण की शुद्धता ही वास्तविक चारित्रिक शुद्धता है। अन्तर्यामी और घट-घट मे परिव्याप्त होने के कारण परमात्मा, जीव के प्रत्येक आचरण और व्यवहार पर न्याय-दृष्टि रखे हुए है। इस कारण परमात्मा के सर्वान्तर्यामी भाव के प्रति आस्थावान व्यक्ति उसके भय के कारण अशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त नही होता। परमात्मा को सर्व-व्यापक सत्ता मानने वाले जीव मे भय की स्थिति स्वाभाविक है। जिसका अन्त करण शुद्ध है, जिसने मन, वचन और कर्म से किसी का अनिष्ट नही किया है, वह किसी से नही डरता। वस्तुत यह भी निर्भयता की ही स्थिति है। आदिग्रन्थ मे परमात्मा को निर्भय मानकर जीव को अपने निर्भय स्वरूप को पहचानने का उपदेश दिया गया है। परमात्मा का भय मन के वशीकरण मे अत्यन्त सहायक है। परमात्मा का भय मानते रहने वाले जीव का 'हउमै भाव', गुरु के उपदेश से जलकर राख हो जाता है।[१] गुरुनानक ने स्पष्ट कहा है कि—

नानक जिन मनि भउ तिन्हा मान भाउ—(वा० आसा, म० १-५) अत निरभउ स्वरूप-सिद्धान्त आदिग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित नैतिक एव सामाजिक दोनो ही दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

निरवैरु वाहगुरु की निर्वैर स्वरूपता—ससार के सभी देशो के सांस्कृतिक इतिहासो मे एक बात समान रूप से पायी जाती है कि सभी धर्मो मे किसी न किसी रूप मे देवतावाद को मान्यता प्राप्त है। सभी धर्मो मे प्राय कुछ एक देवता ऐसे है जिन्हे पीडा पहुँचाने वाले देवता माना गया है। यद्यपि आम तौर पर उन्हे अपने भक्तो के लिए रक्षक ही माना जाता है। धार्मिक विश्वासो के प्रारूपो के सम्बन्ध मे समाजवादी व्याख्याकार फ्रांस के विद्वान दुर्खेम तथा धार्मिक विश्वासो मे गण-चिन्ह आदि सिद्धान्तो की खोज करने वाले फ्रेजर महोदय ने नवीन दृष्टिकोण से देवतावाद के बारे मे विचार किया है।

भारतीय सस्कृति के अध्ययन एवं इतिहास के वैदिक आर्य साहित्य के कर्मकाण्ड की मूलभूत प्रेरणाओ के विश्लेषण से, यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे यजमान

---

१ आ० ग्र० सूही वार म० ३, जिउ बैसतरि धातु सुधु होइ तिउ हरि का भउ दुरमति मैलु गवाइ ··· ॥ सोरठ वार, म० ३-६, भै पाइऐ मनु वसि होआ हउमै सबदि जलाइ···· ॥

ऐहिक अभ्युदय की प्राप्ति के लिए देवताओं को यज्ञादि कर्मकाण्ड के द्वारा प्रसन्न करने का प्रयत्न किया करता था । इस सम्बन्ध मे हमे ऐसे कई उदाहरण मिल जाते है, जिनमे देवता क्रोध मे आकर घोर अनिष्ट करने के लिए तत्पर बतलाये गये है । पौराणिक साहित्य मे भी देवताओ के पारस्परिक वैर-विरोध की अनेक गाथाएँ हमे उपलब्ध होती है । उपासको के द्वारा प्राप्य उपहार का भाग मिलने पर यजमानो की इच्छा की पूर्ति करना एवं उनके उपेक्षा के भाव अथवा लापरवाही के फलस्वरूप अपनी प्रचण्ड कोपाग्नि द्वारा हानि पहुँचाना आदि देव-परिवार की ऐसी दुर्बलताएँ है, जिन्हे मानव की कोटि की दुर्बलताएँ तो मान सकते है, देवताओं अथवा परमसत्ता की नही । आदिग्रन्थ के मूलमन्त्र मे परमात्मा के निर्वैर-स्वरूप की चर्चा कर सभवत इन्ही देवसुलभ दुर्बलताओ से उसे अतीत माना है । उनके विचारानुसार वाहगुरु हर प्रकार से निर्वैर, न्यायप्रिय और नियन्ता शक्ति है । यही कारण है कि देवताओ का वैरभाव उन्हे, परमसत्ता की तुलना मे, गौण बना देता है । इस धारणा के माध्यम से आदि-ग्रन्थ मे देवतावाद के महत्त्व एव अवतारी पुरुषो को परमात्मा स्वीकार करने का खण्डन भी कर दिया गया है ।

निर्वैर भाव का मनोवैज्ञानिक पक्ष—मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह है कि वैर, ईर्ष्या एव हानि पहुँचाने वाले अनैतिक आचरण एव असामाजिक व्यवहार की ओर प्रेरित करने वाली ग्रन्थियाँ जीवन मे किसी अभाव विशेष की परिणाम हुआ करती है । दूसरो की दृष्टि मे अनन्य श्रद्धा का पात्र बनना या बनने की कामना का होना भी मानव की स्वाभाविक (सामाजिक) प्रवृत्ति मानी जाती है । परन्तु जिस समय उसकी यह माँग (भूख) पूरी नही होती, वह उन व्यक्तियो के प्रति ईर्ष्यालु बन जाता है, जिन्हे उसका अभीप्सित (Wanted) स्थान मिल गया है तथा जिस किसी व्यक्ति ने उसकी उपेक्षा कर, किसी दूसरे को अपनी आस्था और श्रद्धा का पात्र बना लिया है । सभवत. यही दुर्बलता उन देवी-देवताओं मे भी है, जिनके सम्बन्ध मे ऊपर उल्लेख किया गया है । अध्यात्म-दर्शन की दृष्टि से यह जीव का अज्ञान है तथा देवताओ का इस रूप मे प्रस्तुतीकरण, देवता और जीव मे समान योग्यताओ की ओर सकेत करना है । उपर्युक्त सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ मनस्, अन्त करण एव बुद्धि आदि इन्द्रियो की आसक्तियो की परिणाम मानी जाती है । परन्तु शुद्ध न्याय-भावना तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव का उदय तो उस समय होता है, जब हम इन्द्रियो के धर्मो की आसक्तियो की सीमाओ से ऊपर उठ जाते है । निर्गुण संतो की भाँति ही सिक्ख गुरुओ ने भी वाहगुरु को सच्चिदानन्द एव 'प्रकाश-विमर्श-भरित चैतन्य सत्ता' माना है । वह केवल सर्वशक्तिमान सत्ता ही नही, बल्कि परात्पर तत्त्व भी है । इसलिए उसकी तुलना मे किसी दूसरी समान शक्ति को स्वीकार किया ही नही जा सकता ।

> **तिस का सरीकु को नही । न को कंटकु बैराई ......॥ आ० ग्रं० वार वडहंस, म० ३ । वही० सूही म० ५ । तिसहि सरीकु नाही रे कोई । किसको बुतै जबाबु न होई......॥**

आदिग्रन्थ मे वाहगुरु को हर दृष्टि से सर्वोपरि सत्ता स्वीकार किया गया है। उसकी निर्वैर के रूप मे स्वीकृति का एक यह कारण भी माना जा सकता है।

वाहगुरु की निर्वैरता की विशेषताएँ—परमात्मा का किसी से भी वैर नहीं, क्योकि उसकी कोई कामना ही नही है। वह परिपूर्ण एवं अकाम सत्ता है, जिसे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किसी से कुछ भी लेना नही है। उसमे छीन लेने की शक्ति किसी दूसरी सत्ता मे सम्भव नही। वह सर्वान्तर्यामी है, और प्राणियों के कर्मों का न्यायपूर्ण निर्णय-कर्ता होने के कारण कर्मानुसार फल देने की पूर्ण सामर्थ्य भी रखता है। उसकी अनुकम्पा इसी मे है कि जिसने जैसा कर्म किया है, वह उसी के अनुरूप ही फल प्राप्त करता है। वाहगुरु प्रेम स्वरूप है और जीवो की रक्षा एवं पालन करना उसका स्वभाव या विधान है। जीव का सुख और दुःख उसके अपने कर्मों पर निर्भर करता है। वह जिस प्रकार का बीज बोता है, अन्ततः उसी प्रकार के फल का अधिकारी बनता है—

> **जैसा से वे तैसो होई…… ॥ आ० ग्रं० गउड़ी म० १, वही० प्रभाती म० १, आपे प्रीति प्रेम परमेसरु करमी मिले वडाई। अहिनिसि जीआ देखि सम्हाले सुखु दुखु पुरबि कमाई ॥ वही० मारू सोहले म० १, वारी खसमु कढाए किरतु कमावणा…… । वही० पटी आसा म० १, नाराइण निंदसि काइ भूली गवारी। दुक्रितु सुक्रितु थारो करमु री ॥ तू सुणि किरत करंमा पुरबि कमाइया। सिरि सिरि सुख सहंमा देहि सु तू भला ॥ दर्द दोस न देउ किसै दोसु करंमा आपणिआ ॥ जो मै कीआ सो मै पाइआ दोसु न दीजै अवर जना…… ॥**

इस उपर्युक्त दृष्टिकोण की व्याख्या के लिए ही आदिग्रन्थ मे वाहगुरु को निरवैरु बतलाया गया है। परमात्मा का वैर किसी से नही क्योकि न्याय करने वाला वैर-भाव की प्रवृत्ति से प्रेरित हुआ ही नही करता। परमात्मा का निर्वैर स्वरूप जीव के हित-सम्पादन मे अत्यन्त सहायक अनुकूलता है। नाम की साधना के सिद्धान्तानुसार साधक वाहगुरु के जिस स्वरूप की साधना करता है, धीरे-धीरे वह स्वय भी तद्रूप ही हो जाता है -

> **सतगुरु अंदरहु निरवैरु है सभु देखे ब्रहम इकु सोइ…… ॥ वही० गउड़ी वार म० ४, वही माझ म० ५-४१, तूं निरवैरु संत तेरे निरमल…… ॥ आ० ग्रं० माझ वार म० २-२२, सर संधे आगास कउ किउ पहुचै बाणु ……॥ वही० सारंग म० ५, निरवैरै संगि वैरु रचाए पहुचि न सकै गवारं …… ॥ वही० गउड़ी, बावन अखरी, म० ५, ववा वैरु करीऐ काहू। घट घट अंतरि ब्रहम समाहू…… ॥ वही० सिध गोसट म० १-१७, गुर मुखि वैर बिरोध गवावै…… ॥**

परमात्मा के निर्वैर स्वरूप की आराधना करने वाले का मन वैर-मल से रहित (पवित्र) हो जाना स्वाभाविक है। 'निरवैर' (परमात्मा) का साधक किसी से वैर कर ही नही सकता। आदिग्रन्थ में वैर-भाव को विष बतलाया गया है। तदनुसार वैर नाम-बेलि को अंकुरित होने एवं फूलने-फलने का अवसर ही नही देता। जो व्यक्ति परमात्मा के निर्वैर स्वरूप का चिन्तन करता है भक्ति की स्रोतस्विनी स्वत: उसके अन्त:करण मे प्रवाहित होने लगती है। गुणहीन होने पर भी परमात्मा के साथ 'लिव' लगाने वाले के मन की दुविधाएँ तत्काल मिट जाती है। वह विशुद्ध भाव से अपनी दुर्बलताओ को परमात्मा के आगे बयान करता और कर सकता है। परमात्मा का हृदय माँ का हृदय है, और उसका अनुकम्पा का भाव जीव के प्रति तद्वत् बना रहता है—

> **कोटि अपराध भरे भी तेरे चेरे राम······ ।। आ० ग्रं० बिहागड़ा, म० ५, वही० गउड़ी म० ५, कोटि पतित उधारे खिन महि करते बार न लागै रे। दीन दरद दुख भंजन सुआमी जिसु भावै तिसहि निवाजै रे। सभ को मात पिता प्रति पालक जीअ प्रान सुख सागरु रे ।।**

अजूनी : वाहगुरु का अयोनिज स्वरूप—आदिग्रन्थ मे परमात्मा के लिए 'अजोनि', 'अजूनी', 'अजोनी' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। तदनुसार वाहगुरु न परिणामी सत्ता है और न ही उसका कही जन्म हुआ है। जो योनिज है उसका वजूद (Existance) या जन्म अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त निमित्तोपादान कारण की अपेक्षा रखता है। परमात्मा सत्यस्वरूप अविनाशी सत्ता है। ऐसी सत्ता कभी 'योनिज' नही हो सकती। आदिग्रन्थ मे परमात्मा (वाहगुरु) को अयोनिज इस लिए भी कहा गया है कि तदनुसार अवतारी महापुरुष (राम और कृष्ण आदि) परमात्मा नही हैं। गुरमत के अनुसार वाहगुरु देवताओं और अवतारी पुरुषो की भाँति शरीरी हस्ती नही है—

> जनम मरण ते रहत नाराइण ।। (आ० ग्रं० भैरउ, म० ५)
> जनमि मरणि नही धंधा ।। (वही० वारमाझ, म० १)

वह ब्रह्माण्ड का व्यापक चैतन्य है और उसी के कारण नामरूपात्मक (समस्त) जगत का अस्तित्व है—

> **आसा म० १-२२—जनम मरण दुख मेटिआ जपि नामु मुरारे। नानक नाम न वीसरै पूरा गुर तारै···।। वही० विहा० वा० म० ३-१६—दमि दमि सदा सम्हालदा दमु न बिरथा जाइ। जनम-जनम का भउ गइआ जीवन पदवी पाइ···।। वही० सू० म० १-५—जनमत ही दुख लागै मरणा आइकै। जनमु मरणु परवाणु हरि गुण गाइकै ।।**

आदिग्रन्थ मे 'अजूनी-सिद्धान्त' की सिद्धि के लिए वाहगुरु को करण-कारण भी माना गया है।[1] परमतत्त्व को 'करन-कारन' या करण-कारण कहने से गुरुओं का आशय उसे निमित्तोपादान कारण सत्ता सिद्ध करना प्रतीत होता है। वाहगुरु जिस प्रकार जगत का निमित्तोपादान कारण है, उसी प्रकार वह स्वय सिद्ध सत्ता है। वह प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न चैतन्य है, जिसे अपने अस्तित्व का पूर्ण स्वतन्त्र्य प्राप्त है।

सैभं : वाहगुरु का स्वयम्भू स्वरूप—'सैभं' और 'स्वयंभू'—सैभं स्वयंभू का तद्भव रूप है। 'स्वय' का अर्थ 'अपने आप' और 'भू' का अर्थ 'होने वाला' किया जाये तो 'सैभं' (स्वयंभू) का अर्थ 'स्वप्रकाशित होने वाली सत्ता होगा। अत. गुरुओं के मत मे परमात्मा केवल अयोनि ही नही, अपितु स्वप्रकाशित सत्ता भी है। गुरुओं ने वाहगुरु को चैतन्य माना है। जो सारे ब्रह्माण्ड मे अपनी ज्योति को फैलाए हुए है।

गुरपरसादि— रिलिजन' के अर्थ मे प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय एव धर्म मे किसी न किसी उपास्य एव धार्मिक ग्रन्थ की मान्यता आवश्यक है। ये ग्रन्थ ही उस धर्म के मानने वालो के लिए प्रमाण ग्रन्थ भी हुआ करते है। धर्म विशेष के अनुयायी अपने धार्मिक ग्रन्थो का ईश्वर प्रदत्त ज्ञान मानते है। मनस्, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियो एव कर्मेन्द्रियो द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान अन्तर्ज्ञान से भिन्न है। सिद्ध पुरुष विभूतियाँ हुआ करते है। ऐसे ही व्यक्तियो के आत्म साक्षात्कार के अनुभव अन्तर्ज्ञान या शब्द माने जाते है और इन्ही 'अति चैतन्य सम्पन्न' सिद्ध पुरुषो की 'बानी' ईश्वरीय ज्ञान कहलाती है। उपनिषद्विद्या को भी इसी कारण 'पराविद्या' कहा गया है। अध्यात्म वेत्ता ऋषि मन्त्रो के रचयिता न होकर केवल द्रष्टा ही माने गये है। उनके ये अनुभव तुरीयातीतावस्था के अनुभव है, जिन्हे बाद मे वे अपनी बैखरी वाणी के द्वारा व्यक्त करते है। इसी कारण द्रष्टा महापुरुषो की वाणी को ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान मान लिया गया है।

अध्यात्मवेत्ताओ के अनुसार साधक चित्त की वृत्तियो के निरोध के द्वारा अति चैतन्य-लोक मे विचरण करने का अधिकार प्राप्त कर सकता है। योग-विद्या का महत्त्व इसी कारण स्वीकार किया गया है। इस अवस्था का अनुभव ही ईश्वरीय ज्ञान कहलाता है, जो सामान्य व्यक्ति की ज्ञान-सीमा से अतीत होता है। इसीलिए अति-चैतन्य की अवस्था के ज्ञान को परा-विद्या कहा गया है। परा-विद्या प्रत्यक्ष एव अनुमान आदि साधनो के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान मे भिन्न है। इसीलिए सभी धर्म-मनो

---

[1] आ० ग्र० धनासरी म० १—सभ महि जोति जोति है सोइ ॥ वही० मारू सोहले म० १—जोति सरूप सुख दाता सचे सोभा पाइदा ॥ वही० बिला० म० १—छन्त १—जोति सबाईडीए त्रिभवण सारे राम ॥ दसवीं पातसाही, गिआन प्रबोध—जिमी असमान के बिखे समसत एक जोति है।

अति चैतन्य की अवस्था की उपलब्धि से पहले की दशा मे गुरुओ एव ऋषियों की वाणी को साक्ष्य से रूप मे स्वीकार करने का विधान है ।[1]

जैमिनी ने पूर्व मीमासा शास्त्र की चर्चा करते हुए उपनिपदो के ज्ञान को अर्थवाद मानकर उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता ही नही समझी। शकराचार्य ने उत्तर मीमांसा में जैमिनी की इस मान्यता का खण्डन करते हुए मात्र विधि-वाक्यो को प्रमाण मानने से पूर्ण असहमति प्रकट की है। इसके विपरीत वह केवल उपनिपद् विद्या को ही प्रमाण की कोटि का ज्ञान मानते है।[2] अध्यात्मविद्या के अनुसार मात्र मन्त्रोच्चारण ही अदृष्ट के फल का प्रदाता नही हो सकता। केवल पूर्व मीमासा मे ही यह स्वीकार किया गया है कि मात्र मन्त्र का उच्चारण भी अभीष्ट फल प्रदान कर सकता है। परन्तु पूर्वमीमासा क इस सिद्धान्त को बादरायण और शकराचार्य स्वीकार नही करने है। उनके अनुसार श्रुतियो का परम ध्येय केवल कर्मकाण्ड का विधि-विधान करना ही नही अपितु अज्ञान के आवरण को हटाकर शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करवाने मे भी सहायता पहुँचाना है। सभी निर्गुण सन्त और सिक्ख गुरु तोतारटन्त की भाँति मन्त्रोच्चारण करते रहने का खण्डन करते है।[3] वैदिक ज्ञान को, जिसे वे कर्मकाण्ड मानते है, त्रिगुणातीत कोटि का ज्ञान स्वीकार नही करते। उन्होने गुरु के उपदेश अथवा गुरु-शब्द को ही आध्यात्मक ज्ञान माना है और वैदिक ज्ञान को अपरा-विद्या बतलाया है।[4]

---

[1] शा० गी० भा० १३-१२—इदतु ज्ञेय अतीन्द्रियत्वेन शब्दैक प्रमाण गम्य, नान्यथा अदृष्टत्वात् ॥ वही० २-१८—शास्त्र तु अन्त्य प्रमाणम्। अतद्धर्माध्यारोपण मात्र निवर्तकत्वेन प्रामाण्यमात्मना प्रतिपद्यते, न तु अज्ञातार्थं ज्ञापकत्वेन ॥ शा० ब्र० सू० भा० भूमिका—नैसर्गिको मिथ्या प्रमाण रूप कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रवर्तकोऽध्याम सर्वलोक प्रत्यक्ष। अस्य अनर्थ हेतो प्रहाणाय आत्मैकत्व विद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरम्यन्ते ॥ वही० १।१।१, 'आत्मा च ब्रह्म'।

[2] शा० गी० भा० अध्या० ६, भूमिका—मोक्षस्य नित्यत्वात् अनारम्यत्वम् ॥ वही० १३।२, अद्वयत्वात् अविपयत्वात् आत्मत्वाच्च-इद ज्ञेय-न केनचित् शब्देन उच्यत इति प्रयुक्तम् ॥ वही० १८।६६, न हि नित्य वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा क्रियते ॥ बृ० उप० शा० भा० १।४।१, न हि पारमार्थिकं वस्तु कर्तुं निवर्तयितु वार्हति ब्रह्मविद्या ॥ ब्र० सु० शा० भा० २।१।६, स्वरूपाद्यभावात् हि नायमर्थं प्रत्यक्ष गोचर. लिगाद्यभावाच्च, ने अनुमानादीनाम्''' ॥ श बृहद० भा १।४।७, न वाक्यस्य वस्त्वन्वाख्यान क्रियान्वाख्यान वा प्रामाण्याप्रामाण्य कारणं, कि तर्हि निश्चित्फल-वद्विज्ञानोत्पादकत्वम्। तद् यत्रास्ति तत्प्रमाण वाक्यं, यत्र नास्ति तदप्रमाणम् ॥

[3] आ० ग्रं० पृ० २४, मनु जाणसहि, गली पाइआ ॥ वही० पृ० ८६, पडित पडि पडि ऊचा कूकदा माइआ मोहु पिआरु ॥ वही० पृ० १६०-६१, असतु अनाडी कदे न बूझै। कथनी करे तै माइआ नालि लूझै ॥ वही० पृ० ६८६, पडि पडि भूलहि ...॥

[4] वही० पृ० ४०५, बेद सासत्र जन धिआवहि तरन कउ ससारु ॥ करम धरम अनेक किरिआ सभ ऊपरि नामु अचारु ॥

वैदिक कर्मों के जैमिनी ने नित्य, नैमित्तिक, काम्य एवं प्रतिषिद्ध चार प्रमुख भेद किए हैं। तदनुसार अग्निहोत्र नित्य कर्म हैं, परन्तु नित्य कर्मों के सम्पादन से कर्ता को किसी निश्चित फल की प्राप्ति नही स्वीकार की गयी है। फिर भी उन्हे नियमित रूप से करते रहना आवश्यक माना गया है। जैमिनी के विचारानुसार नित्य कर्मों का अनुष्ठान इसलिए आवश्यक है क्योकि उन्हे न करने से अनिष्ट की सम्भावना बनी रहती है। नैमित्तिक कर्मों अर्थात् यज्ञ आदि का सम्पादन अवसर विशेष पर ही किया जाने को कहा गया है। प्रतिषिद्ध कर्म न करने का आदेश है और काम्य कर्म आवागमन के हेतु माने गये हैं। अत काम्य कर्मों से भी दूर रहने के लिए बार-बार सावधान भी किया गया है। लेकिन सिक्ख गुरु पूर्व मीमांसा की उपर्युक्त धारणा को मान्यता नही देते। उनसे पूर्व स्वामी शकराचार्य ने भी पूर्वमीमांसों के कर्मकाण्ड की बहुलता का विरोध किया था। जिस प्रकार की धार्मिक और सामाजिक अव्यवस्था शकराचार्य के युग मे थी, उससे कही अधिक हीन स्थिति निर्गुण सन्तों के समय हो गयी थी। उस समय सभी ओर नित्य कर्मों का जाल-सा बिछा हुआ था। लोग काम्य कर्मों की ओर आकृष्ट हो रहे थे। नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान मे व्यर्थ की जटिलताएँ प्रवेश पा चुकी थी। उपनिषत्कालीन अध्यात्म विद्या का महत्त्व गौण हो गया था। वैदिक यज्ञयागादि की जगह वैधी भक्ति के आडम्बर का ही बोलबाला था। मीमासको के नित्य कर्मों का स्थान धीरे-धीरे पौराणिक कर्मकाण्ड ले चुके थे। शंकराचार्य ने प्रचलित कर्मकाण्ड का पूर्ण निषेध न कर उसे केवल गौण स्थान ही दिया था। परन्तु निर्गुण सन्तो ने हिन्दू और मुसलमान, दोनो के जटिल एव व्यर्थ के कर्मकाण्ड को बाह्याडम्बर घोषित किया। गुरु के द्वारा बतलाये गये आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने का ठोस कदम भी निर्गुण सन्तो ने ही उठाया। 'रिलिजन' के रूप में सीमित अर्थों वाले धर्म की उन्होंने स्थान-स्थान पर कटु आलोचना की है।[1] एक प्रकार से उन्होंने देवतावाद वाले धर्म मे आँचल छुडाकर भक्ति को एक सार्वभौम मानव धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

मध्यकालीन निर्गुण सन्तो की विचारधारा को सशक्त बनाते हुए आदिग्रन्थ मे प्रवृत्ति परक कर्मों का विरोध किया गया है। आसक्ति प्रधान कर्मों को जीव के

---

[1] आ० ग्र० पृ० ३५६, गुरु का सबदु मनै महि मुंद्रा खिथा खिमा हढावउ ··॥ वही पृ० गुड करि गिआनु धिआनु करि धावे करि करणी कसु पाईऐ ··॥ वही० पृ० ४४१, उतरि अवघटि सरवरि न्हावै। बकै न बोलै हरिगुण गावै ··॥ वही० पृ० ४१३, नानक सूतकि जनमि मरीजै ·····॥ वही० पृ० ४३६, करम धरम की सार न जाणै सुरति मुकति किउ पाईऐ····॥ वही० पृ० ४७०, सिमल रुकु सराहरा अति दीरघ अति मुचु ·······॥ वही० पृ० ४७१, दइआ कपाह········सुणि वेखहु लोका ·· ···॥ वही० पृ० ४७२, जे मोहाका घरु सूचे सेई नानका जिनि मनि वसिआ साइ ······॥ वही० पृ० ७२८, भांडा धोइ बैसि धूपु देवहु····॥

बन्धन का हेतु बतलाये हुए निष्काम कर्म या निष्काम कर्म-योग पर अधिक बल दिया गया है।[1] कर्म योग से गुरुओं का आशय निष्काम एव शुभकर्मों से है। उनके विचार मे नाम-सिमरन ही सर्वोत्तम शुभ कर्म है। समाज-हित की दृष्टि से किये गये कर्मों को भी वे निष्काम कर्म ही मानते हैं—

> **तीरथि नावण जाउ तीरथ नामु है······ ।। आ० ग्रं० पृ० ६८६, वही० पृ० ६८६, धन जोबनु आक की छाइआ···।। नानक नाम बिना दोहागणि···।। वही० पृ० ६८६, धन सोहागणि नारि—— ——।। वही० पृ० ७२६, भांडा हछा होइ······।। सभि कुल तारसी ।। वही० पृ० ८३८, बसमी नानु·· ···।। असथिरु चीतु साचि रंगु माणहु।। वही० दुआदासि······।। प्रणवति नानक तह लिव लाई ।।**

शंकराचार्य ने भी कामना या आसक्ति को मानव-जीवन के ध्येय की प्राप्ति के मार्ग की बहुत बडी रुकावट माना है। इस सम्बन्ध मे गीता के दूसरे अध्याय की प्रस्तावना मे व्यक्त किये गये उनके विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आदिग्रन्थ मे भी इन्द्रियो की प्रवत्तियो को भगवदुन्मुखी बनाने वाले कर्मों को ही निवृत्ति कर्म बतलाया गया है। तदनुसार भाव-भक्ति और आत्मसाक्षात्कार का अभाव ही अविद्या है। कर्म करते रहना मानव का स्वभाव है, क्योंकि कर्म किये बिना वह रह ही नहीं सकता। प्रवृत्ति प्रधान कर्मों को गुरुओं ने सासारिक एषणाओं की ओर ले जाने वाले कर्म माना है। उनके विचार मे सत्कर्म वे है, जो जीव को ज्ञान की ओर प्रवृत्त करते है। वे उसी ज्ञान को ज्ञान मानते है जो प्रभु-भक्ति की ओर अग्रसर होने में जीव की सहायता करता है। गुरुओ के विचार मे वैदिक और पौराणिक कर्मकाण्ड जीव को आत्मसाक्षात्कार एवं प्रभु-भक्ति की ओर से विमुख बनाता है। यही कारण है कि आदिग्रन्थ मे बार-बार कर्मकाण्ड का विरोध हुआ है।[2]

सद्गुरु और उसका महत्त्व—आदिग्रन्थ मे केवल बाह्याडम्बर प्रधान कर्मकाण्ड का ही विरोध किया गया है। क्योंकि गुरुओं ने सन्यास की अपेक्षा गृहस्थ जीवन को श्रेयस्कर बतलाया है और जल मे कमल की भाँति निरासक्त भाव से शुभकर्म करते रहने का उपदेश दिया है। अतः 'गुरमत' सन्यास मार्ग नहीं है। उसमे गहस्थ

---

[1] वही० पृ० ४७३, आपे भाडे साजिअनु ··।। वही० पृ० ५०४, रोजी ऐ जीउ नामु दिडहु मामे लिव ··।। वही० पृ० ६६१, बहुता बोलणु झवणु होइ——।। वही० पृ० ६६२।

[2] आ० ग्रं० पृ० ७८६, दुह दीवे चौदह हट नाले। नानका नदरि बाहरे कबहि न पावहि नामु ।। वही० नानक बदरा माल का····।। साध भले अणनातिआ चोर-सिचोरा चोर ।। वही० पृ० ७६०, बाँगा बगु सिङिआ नाले मिली कलाण ।। वही० पृ० ८३८, खमटि खटु दरसन····माचे-साचे साचि समावहि ।।

रहकर ही प्रभु-भक्ति मे लीन रहने का विधान है ।[२] आदिग्रन्थ की विचारधारा को यदि संक्षेप मे स्पष्ट करना हो तो यह कह सकते हैं कि परमात्मा के अनुग्रह से जीव को सद्गुरु की प्राप्ति होती है । परन्तु सद्गुरु वह है, जिसने सांसारिक आसक्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो और वह प्रभु-भक्ति मे पूर्ण लीन हो चुका हो । ऐसा सद्गुरु ही सदैव आत्मसाक्षात्कार की स्थिति मे विचरण करता है । वही शिष्य को नाम-सिमरन अथवा नाम का मन्त्र देने का अधिकारी है ।

आदिग्रन्थ मे इस विश्वास को अत्यन्त आदर के साथ स्वीकार कर लिया गया है कि नामसिमरन की साधना के अभ्यास से साधक 'हउमैंभाव' से अतीत हो जाता है । इससे उसकी इन्द्रियाँ विषयासक्तियों मे विरत होकर वाहगुरु की भक्ति के प्रति उन्मुख हो जाती है । अन्त मे भक्त (जीव) की ज्योति धीरे-धीरे चारो ओर की सीमाओं को तोडकर प्रभु की असीम ज्योति मे समा जाती है । गुरु की कृपा प्राप्त करने के लिए सबसे पहले शिष्य को गुरमुख बनना पडता है और इस अवस्था की योग्यता प्राप्त करने के लिए उसे पहले अपने अन्त करण को शुद्ध बनाना होता है । गुरुओं का दृढ विश्वास है कि सद्गुरु की सच्ची शरण वाहगुरु की कृपा से प्राप्त होती है । प्रभु-प्राप्ति भी गुरु के प्रसाद या कृपा के बिना सम्भव नहीं है । इसीलिए गुरुनानक ने मूलमन्त्र के अन्त मे 'गुर परसादि' का उल्लेख किया है ।

गुरु का 'शबद' आत्मसाक्षात्कार की अवस्था के अनुभव का वैखरी रूप है । इसीलिए उसे आप्तवाक्य के रूप मे स्वीकार किया गया है । इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष एवं अनुमान-प्रमाण की सहायता से हम जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अध्यात्म-ज्ञान से निम्न स्थिति का ज्ञान माना गया है । हमारी इन्द्रियाँ सीमित ज्ञान को ही प्राप्त कर सकती हे, जबकि परम चैतन्यावस्था का अधिकारी इन्द्रियों की सीमा से अतीत ज्ञान के विस्तार का अधिकारी बन सकता है । ऐसे सिद्ध पुरुष का ज्ञान ही 'गुरु शबद' कहलाता है । गुरुनानक ने आत्मसाक्षात्कार अथवा वाहगुरु की प्राप्ति के लिए गुरु की कृपा अथवा गुरु के शब्द की शरण को अनिवार्य माना है । निर्गुण सन्त-परम्परा के अग्रदूत महात्मा कबीर गुरु को गोबिंद से भी अधिक महत्त्व देते हुए कहते है .

गुरु गोबिंद दोऊ खडे का के लागूं पाय ।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोबिंद दियो बताय ॥

---

२ आ० ग्र० पृ० ८३८, दुआदसि मुद्रा मनु अउधूता । ' वही० पृ० ८४३, मुध नवेलड़िआ गोइलि आई राम नानक मुध नवेल मुन्दरि देखि पिरु साधारिआ ॥ वही० पृ० ८७७, सुरति सुबद्दु साखी मेरी सिङी बाजै लोकु सुणे '' ऐसे भगत मिलहि जन नानक तिन जमु किया करे ॥ वही० सुणि साछिद्रा ' छिअ दरसन की सोझी पाइ ॥ वही० पृ० ९०३, भेख करहि खिथा' नानक जोगी त्रिभवण मीतु ॥

गुरुनानक ने गुरु और गोबिद मे कोई अन्तर नही माना है। समूची गुरबानी ही गुरु स्तवन है। सारी बानी मे एक भी 'शब्द' ऐसा नही जिसमे गुरु के महत्त्व की ओर संकेत न हुआ हो।[१] गुरुपरसादि-सिद्धान्त उन सभी भारतीय धर्म-मतो की प्रधान विशेषता है, जिनमे अध्यात्म-विद्या को जीव की अन्तिम शरण माना जाता है। इस बारे मे सगुण भक्तो और निर्गुण संतो मे किसी प्रकार का मत-वैभिन्य नही है।

सुख दाता गुर सेवीऐ सभि अवगुण कढै धोइ ॥ आ० ग्रं० पृ० ४३, वही० पृ० ४४, बाह पकड़ि गुरि……॥ वही० पृ० ४६, मिलि सतिगुर सभु दुखु गइआ…॥ वही० पृ० २८, घटि-घटि रमईआ मनि वसै किउ पाईऐ …गुरु पूरा सतिगुरु भेटिऐ… ॥ वही० पृ० १७, गुरु पउड़ी बेड़ी गुरु गुरु तुलहा हरि नाउ। गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथ दरीआउ ॥ वही० पृ० २०, गुरु बिनु किउ तरीऐ सुखु होइ ॥ वही० पृ० २०, सतगुरि मेल मिलाइआ……॥

गुरुनानक का 'मूलमन्त्र' सम्पूर्ण 'गुरबानी' की कुंजी माना जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक था कि गुरुओ के परमतत्व सम्बन्धी विश्वासो एव विचारो के स्पष्टीकरण के लिए उसकी तनिक अधिक विस्तार से चर्चा की जाती। आदिग्रन्थ भक्ति-काव्य-रचना है। इसमे दार्शनिक की भाँति ब्रह्म, माया, जीव और जगत के बारे मे विचार नही किया गया है। परन्तु इसका आशय यह नही कि गुरुओ का कोई निश्चित दर्शन ही नही था। हमारी समस्या केवल यह है कि हम परमसत्ता के प्रति अभिव्यक्त भक्त की भावनाओं मे से उसकी विचारधारा के मौक्तिक एकत्र कर, उसे दार्शनिक सूत्र मे पिरोने के उपरान्त एक निश्चित दर्शन-माला प्रस्तुत करे। अत इस उद्देश्य को सम्मुख रखते हुए अगामी पृष्ठो मे आदिग्रन्थ मे प्रतिपादित वाहगुरु के स्वरूप से सम्बन्धित विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न पराद्वैत चैतन्य—गुरुनानक ने वाहगुरु को पराद्वैत चैतन्य और प्राणि मात्र का दाता बतला या है। जैसे—

ब्रह्मा बिसनु महेसु सरैसट……खाणी बाणी गगन पताली जंता जोति तुमारी ॥ आ० ग्रं० पृ० १०१२ वही० पृ० १०२१, आपे करे कराये आपे ……॥

---

[१] वही० पृ० ५५, गुरमती परगासु होइ सचि रहै लिव लाइ। तिथै कालु न सचरै जोती जोति समाइ ॥ वही० पृ० १५२, सतिगुरु मिलै सु मरणु दिखाए ॥ वही० पृ० ४२०, गुरु बिनु किनै न पाइओ केती कहै कहाए ॥ वही० पृ० ७५१, लालि रता मनु मानिआ गुरु पूरा पाइआ ॥ वही० पृ० ६३८-३६, सतिगुर मिलै अंधेरा जाइ ॥ वही० पृ० १२७३, प्रिउ सभ है जेति गुर भावै प्रिउ पाई ॥ वही० पृ० १४११, नानक ते सोहागणी जिनहा गुरमुखि परगटु होइ ॥ वही० पृ० १०३१, सतिगुर बाझु न बेली कोई ॥ वही० पृ० ११६६, जन नानक हरि गुरु गुर……॥

उनके विचार मे वाहगुरु को छोड़ कर दूसरी कोई अनादि सत्ता नहीं है। उन्होंने बार-बार इस सिद्धान्त पर बल दिया है कि वाहगुरु (निरंजन) सारे ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है।[1] वही सारी सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है, परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप पराद्वैत ही है। आदिग्रन्थ की विचारधारा के अनुसार वाहगुरु जैसी दूसरी अनादि चेतन सत्ता नहीं है।[2] प्रस्तुत ग्रन्थ का वर्ण्य विषय इसी पराद्वैत वाहगुरु का नामसिमरन है, जिसे भक्ति-भावना से परिपूर्ण उद्गारो के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। गुरुओ ने वाहगुरु को सूर्य, चन्द्रमा, और धरती आदि लोको मे सर्वत्र समाया हुआ बतलाया है। वे इसे परात्पर अद्वैत मानते हैं और उसी द्वारा अनेक रूपो और रगो मे अपने आपको साकार रूप धारण किए हुए बतलाते है।

हुकमं आइआ····हुकमं दीसं जगतु उपाइआ ।। हुकमंजल थल······ ।।
आ० ग्रं० पृ० १०३७ वही० पृ० १७, तुधु संसारु उपाइआ·· ····।।
वही० पृ० सभ आपे तुधु उपाइकै······।। वही० पृ० एक तू होरि
वेस बहुतेरे नानक जाणै चोज न तेरे ।।

उनका विश्वास है कि वाहगुरु ही ससार की रचना करता है और अपनी इच्छा के स्वातंत्र्य से उसे पुन अपने भीतर समेट लेता है। आदिग्रन्थ के अनुसार वाहगुरु विश्वरूप है। परन्तु विश्व का रूप धारण करने के उपरान्त भी उसके निर्गुण एव अतीत स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। ब्रह्माण्ड का रूप धारण करना उसकी लीला माना गया है। इस सम्बन्ध मे हम यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि वाहगुरु की लीला के सिद्धान्त को उसके स्वभाव के रूप मे ही स्वीकार किया जाना चाहिए—अवतारी लीला के रूप मे नही। यही उसका स्वाग है। आदिग्रन्थ मे 'सागु' शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है। परन्तु सागु या स्वाग का अर्थ गुरुओ के विश्वासानुसार अध्यास, प्रतीति या भ्रम नही माना जा सकता। वह स्वाग रचकर भी अपने लीला-स्वभाव को भूलता नही है। वाहगुरु द्वारा जीव का रूप धारण करना उसका इच्छा-स्वातंत्र्य है। परन्तु जीव-स्वरूप मे आने पर वह अपने शुद्ध स्वरूप को भुला

---

[1] वही० पृ० १०२१, आपे धरती धउलु अकास ।। वही० आपे काजी आपे मुला ।। वही० पृ० १०२१-२२, आपि उपाइआ जगतु सबाइआ····।। वही० केतड़िआ जग धुधुकारा· ।। वही० पृ० १०२४, आपि दइआलु दूरि नही दाता ·।। वही० पृ० १०३४, अटलु अडोलु ··।। रूपु न रेखिआ · ।। वही० १०३६, सुंन कला अपरपरि · ।। वही० पृ० १०४१, आपि अतीतु अजोनी सभउ · ।।

[2] वही० पृ० १०३८, जह देखा तह दीन दइआला ····निरालमु राइआ ।। वही० पृ० १०४० जो ब्रहमडि खडि सो जाणहु ।।

[3] आ० ग्र० पृ० १२३२, अगम अगोचरु अनाथु अजोनी गुरमति एको जानिआ ।। वही० पृ० १२३७, आपे आपि निरंजना जिनि आपु उपाइआ। आपे खेलु रचाइओनु ·।। वही० पृ० १०७३, वरना चिहना बाहरा लेखे बाझु अलखु ।। वही० १४१२, पूरे का कीआ सभ किछु पूरा घटि वधि किछु नाही ।।

देता है। गुरुओं के विचार में वाहगुरु द्वारा सृष्टि का रूप धारण करना, माया या अविद्या के आवरणों का परिणाम नहीं अपितु उसकी अपनी इच्छा या शक्ति के स्वातंत्र्य का विलास है।

यद्यपि आदिग्रन्थ मे स्पष्ट रूप से वाहगुरु की इच्छा या स्वभाव का दार्शनिक विवेचन नहीं हुआ है, परन्तु वाहगुरु के स्वरूप के बारे मे प्राप्त उल्लेखो के अध्ययन से पता चलता है कि परमसत्ता की इच्छा या स्वभाव से गुरुओं का आशय उसके स्पन्द से ही है। स्पन्द के उन्मीलन पक्ष के समय वाहगुरु समूचे ब्रह्माण्ड का रूप धारण कर लेता है और निमीलन अवस्था मे यह सारा का सारा 'पसारा' रुक जाता है तथा वाहगुरु पुनः अपने शुद्ध स्वरूप मे भास्वर होने लगता है। इसी को निर्गुण की त्रिगुणातीतावस्था कहते है।[1] वाहगुरु के अद्वैत स्वरूप की चर्चा करते हुए गुरु अर्जुन देव कहते है कि वाहगुरु 'एक' अर्थात् अद्वैत परमतत्व है। प्रगट एव निराकार दोनों अवस्थाओ मे उसी की सत्ता सर्वत्र परिव्याप्त हो रही है। इस अवस्था को तथा स्वयं वाहगुरु को गुरुबानियों मे 'सुन' (शून्य) भी बतलाया गया है। 'सुंन' से गुरुओ का आशय शक्तिमान और उसकी शक्ति अथवा इच्छा की अभेदावस्था से है। वे इसका वर्णन करते हुए कहते है कि वाहगुरु आदि, मध्य और अत सभी अवस्थाओ मे एक जैसा रहता है। अपने स्वरूप को विभिन्न रूपो एव स्तरो द्वारा अभिव्यक्त करने पर भी उसके स्वभाव मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही आता।[2] इससे यह स्पष्ट है कि आदिग्रन्थ मे सांख्य दर्शन की प्रकृति के स्वतन्त्र परिणाम की मान्यता को स्वीकार नही किया गया है। अद्वैत सत्ता वाहगुरु 'कर्ता' और 'दीवाणु' है, वह अद्वैत निरजन है तथा उसी ने बहुरगी बनकर अनेक रूप धारण किये हुये है। उसकी इच्छा ही उसका पूर्ण स्वातंत्र्य है। यही कारण है कि सृष्टि की रचना से पहले किसी अतिरिक्त तत्त्व अर्थात् उपादान की आवश्यकता नहीं है। उनका यह सिद्धान्त द्वैतवादी दर्शनो से बिल्कुल भिन्न है और शकराचार्य आदि अद्वैतवादी दार्शनिको के सिद्धान्त से भी पर्याप्त भिन्नता रखता है।

निमित्तोपादन कारण—आदिग्रन्थ मे वाहगुरु को बारम्बार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादान कारण माना गया है। इस सम्बन्ध मे एक स्थान पर कहा गया है कि वाहगुरु ही धनुष और बाण है। बातचीत करने वाला और उसे सुनने वाला भी वही है। वही अपने भीतर से अपनी इच्छा के स्वातत्र्य द्वारा सृष्टि की रचना करता है और स्वय ही उसे देख भी रहा है। भ्रमर एव फूल वही है। वही ब्रह्माण्ड के रूप मे अपने सौन्दर्य को बिखेरकर और वही पुनः देखकर आनन्दित भी हो रहा

---

[1] आ० ग्रं० पृ० २५, आपे नेड़ै दूरि आपे ही आपे मंझि मिआनुो। आपे वेखै सुणे आपे ही कुदरति करै जहानुो॥ वही० पृ० ४३७, तेरा सभु कीआ तूं थिरु थीआ तुधु समानि को नही।

[2] आ० ग्रं० पृ० १०३७।

है। रस भी वही है और उसका रस लेने वाला रसिया भी। पानी भी वही है और मछली भी। इस प्रकार सभी कुछ वह स्वय ही है।[१] गुरु अर्जुन देव ने खण्ड और ब्रह्माण्ड के एक ही उत्स की चर्चा करते हुए वाहगुरु को सृष्टि का निमित्तोपादान कारण माना है और, "एकै कनक अनिक भाति साजी बहु परकार रचाइओ" (आ० ग्रंथ पृ० २०५) कह कर परमात्मा द्वारा स्वय ही अपनी इच्छा से विश्व का रूप धारण करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह लिखते है :

सर्वशक्तिमान वाहगुरु स्वयं इस सृष्टि का निमित्त एव उपादान कारण है। सारी की सारी सृष्टि उसी की लीला है। ब्रह्माण्ड वाहगुरु द्वारा धारण किये हुये विविध रूपों और विभिन्न नामों का समुच्चय है। वह इच्छा करने ही सृष्टि की रचना कर सकता है और चाहने पर एक ही क्षण मे उसका सहार करने मे भी पूर्ण समर्थ है। सृष्टि का रूप धारण कर लेने पर भी वह अलिप्त एव-निर्गुण ही बना रहता है। ससार की रचना उसकी लीला है।[२] इसी आशय को दुहराते हुए वह पुन लिखते है, "अपने गुणों से सभी को मोह लेने वाले वाहगुरु ? तुम्ही ससार के कण-कण मे समाए हुए हो। तुम्ही सारी सृष्टि के कारण-करण हो।"[३]

अन्यत्र एक स्थान पर अनन्य भक्त की भाँति हृदयोद्गारों को वाणी देते हुए गुरु अर्जुन देव जीव को कहते है कि अनन्यभाव मे वाहगुरु की भक्ति में लीन रहकर ही वह मोक्ष-पद प्राप्त कर सकता है। परमात्मा का हुक्म सर्वोपरि शक्ति है। ब्रह्माण्ड की लीला रचाने के लिए उसका मात्र इंगित ही पर्याप्त है। वह जगत का कारण भी है और करण भी।[३] आगे चलकर उन्होंने पुन एक स्थान पर कहा है, वाहगुरु ऐसी उपादान सामग्री नही जो किसी भी अवस्था मे समाप्त हो जाये वह

---

[१] आ० ग्र० पृ० १६५, हरि आपे जोगी डडाधारी॥ हरि आपे रवि रहिआ बनवारी॥ हरि आपे तपु तापै लाइ तारी॥१॥ ऐसा मेरा रामु रहिआ भरपूरि॥ निकटि वसै नाही हरि दूरि॥१॥रहाउ॥ हरि आपे सबदु सुरति धुनि आपे॥ हरि आपै वेखै विगसै आपे॥ हरि आपि जपाइ आपे हरि जापे॥२॥ हरि आपे सारिग अम्रितधारा॥ हरि अम्रित आपि पीआवणहारा॥ हरि आपि करे आपे निसतारा॥३॥ हरि आपे बेड़ी तुलहा तारा॥ हरि आपे गुरमति निसतारा॥ हरि आपे नानक पावै पारा॥४॥६॥४४॥

[२] आ० ग्र० १७५, आपे जगत उपाइआ मेरे गोविंदा हरि आपि खेलै बहुरंगी जीउ॥ वही० पृ० ८३३, इहु जगु वरतु रूपु सभु तेरा ...॥ वही० १०९४ तुधु जग मैं खेलि रचाइआ विचि हउमै पाइआ ॥ वही० पृ० १२३६, आपे आपि निरजना जिनि आपु उपाइआ॥ आपे खेलु रचाइओनु सभु जगतु सबाइआ ....। वही० ४७२ नदूए सांगु बणाइआ बाजी ससारा॥

[३] आ० ग्र० पृ० २९३-९४, सो अंतरि सो बाहरि अनत॥ घटि घटि बिआपि रहिआ भगवत॥ धरनि माहि आकास पइआल॥ सरब लोक पूरन प्रतिपाल॥ बनि तिनि परबत है पारब्रहमु जैसी आगिआ तैसा करमु॥ पउण पाणी बैसतर माहि चारि कुंट दहदिसो समाहि॥

तो आदि, मध्य और अत तीनों अवस्थाओ मे अविनाशी सत्ता है। वाहगुरु सर्वत्र पूर्ण भाव से समाया हुआ है। वही असख्य प्राणियो के रूपों मे साकार है। गुरु अर्जुन देव ने इसी विचार को, 'जीअ जत सभ तेरे कीते घटि-घटि तुही धिआइये' (आ० ग्र० पृ० ७४८) द्वारा भली भाति स्पष्ट किया है। उनके विचार मे सर्वशक्तिमान वाहगुरु सारे ब्रह्माण्ड मे समाया हुआ है तथा वही सूक्ष्म रूप मे उसे अपने भीतर समाहित रखता है या धारण किये रहता है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट कि सिक्ख गुरुओ के विचार मे अद्वैत सत्ता अपनी ही इच्छा से एक से अनेक और पुन अनेक से अद्वैत रूप धारण करती है। वाहगुरु ने अपने भीतर से स्वय सृष्टि की रचना कर, पुन उसी मे अपने आप को छिपाया हुआ है। यही कारण है कि भक्तजन उसे सर्वव्यापक सत्ता मानते है।[2]

निराकार वाहगुरु परात्पर तत्त्व—आदिग्रन्थ के अनुसार वाहगुरु निराकार, अतीत चैतन्य-सत्ता है। गुरु नानक ने परमात्मा को सर्वोपरि बतलाते हुए कहा है कि निरकार वाहगुरु शाश्वत हस्ती है। वही सृष्टि की रचना करने वाला सर्वशक्तिमान, अगम्य एव अगोचर चैतन्य है। वह अवतारी पुरुष नही, अपितु अदृश्य एव अनिर्वचनीय सत्ता है। दृश्य पदार्थ या सत्ता ही वाणी का विषय होती है। अदृश्य एव निर्गुण वाहगुरु इसीलिए अनिर्वचनीय है। परमसत्ता चैतन्य-रहित केवल शून्य नही है गुरुनानक उसे प्रकाश-विमर्श स्वरूप स्पदमय चैतन्य मानते है। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वाहगुरु मे समाया हुआ बतलाते है। ब्रह्माण्ड मे समाने या कण-कण मे रहने या कण-कण मे व्याप्त होने से गुरुनानक का आशय यह है कि वाहगुरु की इच्छा ही उसका स्पद है। स्पन्द के सक्रिय पक्ष को वाहगुरु का 'हुकम' या उसकी शक्ति मान सकते है। उसी की इच्छा उत्तरोत्तर पच महाभूतात्मक जगत का साकार रूप ग्रहण करती रहती है। वाहगुरु विश्व का रूप धारण करने पर भी निराकार एव 'निरजन' ही रहता है। वही सम्पूर्ण सृष्टि की ज्योति है' यही उसका गुणैश्वर्य है।[3] उसी की ज्योति और चैतन्य से ब्रह्माण्ड साकार एव प्राणवान है।

[1] आ० ग्र० पृ० ४४८, तू आदि पुरख अपरपरु करता तेरा पारु न पाइआ जाइ जीउ ॥ तू घट घट अतरि सरब निरतरु सभ महि रहिआ समाइ जीउ ॥ वही० मेरा मनो मेरा मनु राता राम पिआरे राम ॥ सचु साहिबो आदि पुरखु अपरपरो धारे राम ॥ अगम अगोचर अपर अपारा पारब्रहम परधानो ॥ आदि जुगादि है भी होसी अवरु झूठा सभु मानो ॥

[2] आ० ग्र० ३५६, सूरजु एको रुति अनेक । नानक करते के केते वेस ॥ वही० पृ० ३६५, तू दरिआउ सभ तुझ ही माहि ॥ तू आपे करता तेरा कीआ सभु होइ ॥ तू करि करि वेखहि जाणहि सोइ ॥

[3] तुधु आपे त्रिसटि सभ उपाई जी तू आपे सिरजि सभ गोई ॥ जनु नानकु गुण गावै करते के जी, जो सभसै का जाणोई ॥ वही० पृ० ४१३, भीतरि एकु अनेक असख करम धरम बहु सख असख ....॥ आपि मरै मारै भी आपि ॥ आपि उपाए थापि उथापि ॥ त्रिसटी उपाई जोती तू जाति .....॥

गुरु अर्जुन देव ने 'निरंकार' प्रभु से साक्षात्कार प्राप्ति को जीव का अन्तिम लक्ष्य माना है। वह भगवान के अवतारी सगुण रूप के सिद्धान्त मे विश्वास नहीं करते। यद्यपि वह वाहगुरु को निर्गुण एवं निराकार मानते हैं, परन्तु उसकी इच्छा अथवा हुकम का जिस रीति से गुरुओ ने प्रतिपादन किया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाहगुरु की इच्छा के पूर्ण स्वातन्त्र्य के कारण ही उसकी शक्ति (ऐश्वर्य) के द्वारा रचना, स्थिति और संहार रूपा सृष्टि वाहगुरु के हुकम से रूपायित होती है और पुन: उसी में समा जाती है। अत: ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण रहस्य वाहगुरु की ही ज्ञान-शक्ति की सीमा के भीतर है। जीव की सीमित शक्तियाँ सृष्टि के रहस्यों की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने मे असमर्थ है।[1]

आदिग्रन्थ मे माधव, वाहगुरु, राम, वासुदेव, नारायण आदि परमात्मा के अभिधानों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। परन्तु इन अभिधानो से गुरुओ का आशय वैष्णव भक्तो से बिल्कुल भिन्न है। इन्होने भगवान द्वारा अवतार धारण करना नही माना है। कबीर एव अन्य निर्गुण सन्तो की भाँति आदिग्रन्थ में भी वाहगुरु को नाम और रूप की सीमाओं से अतीत माना गया है। गुरुनानक के विचार मे वाहगुरु त्रिकालातीत हस्ती है, जो अपनी ज्योति के रूप में सारी सृष्टि मे हर समय सर्व-व्यापक भाव से विद्यमान रहती है। भक्त हृदय अरूप और अविनाशी वाहगुरु से सम्बन्ध स्थापित कर उसके साथ रमण-सुख के आनन्द का उपभोग कर सकता है।[2] वाहगुरु स्वयम्भू एव स्वप्रकाशित सत्ता है। वह वासुदेव और दाशरथि राम की भाँति माता के गर्भ मे जन्म ग्रहण नहीं करता। वह तो अगम, अगोचर और सर्व-व्यापक है तथा सारी सृष्टि उसकी लीला है। परन्तु अपनी इच्छा से ब्रह्माण्डमय हो जाने पर भी अपने परात्पर रूप मे वह 'निरजन' ही रहता है।

वाहगुरु का कर्तृत्व—गुरुओ के अनुसार वाहगुरु सृष्टि का कर्ता है परन्तु उसका कर्तृत्व न्याय-वैशेषिक दर्शन के ईश्वर जैसा नही है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि की रचना करते समय ईश्वर को उपादान सामग्री की आवश्यकता रहती है। परन्तु गुरुओं ने वाहगुरु को प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न अद्वैत चैतन्य माना है, जो ऊर्णनाभ की भाँति अपने भीतर से ही निर्माण की सामग्री प्राप्त करता है। वे उसे रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद की भाँति चिदचिद्विशिष्ट सत्ता भी नही मानते। कुछ आलोचको ने आदिग्रन्थ मे वर्णित वाहगुरु के स्वरूप को विशिष्टाद्वैत

---

[1] ग्र० पृ० ४३७, सचु साहिबो आदि पुरखु अपरपरो धारे राम ॥ अगम अगोचर अपर अपारा पारब्रहमु परधानो ॥ वही० ४५८-५९, जलि थलि महीअलि पूरि पूरन कीट हसती समानिया।

[2] वही० ४५६-५७, चमतकार प्रगासु दहदिस एकु तह द्रिसटाइआ ॥ वही० ३७६, करहै न झुरै न मनु रोवन हारा ॥ अविनासी अविगतु अगोचरु सदा सलामति ब्रहमु हमारा ॥

विचारधारा के अनुरूप मानने का सुझाव दिया है। परन्तु हमारे विचार से आदिग्रन्थ मे वर्णित वाहगुरु का स्वरूप चिदचिद्विशिष्ट मान लेने पर विशिष्टाद्वैत के अन्य सैद्धान्तिक पक्षों को भी स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी धारणा गुरुओं की समूची विचारधारा के आधार को ही अव्यवस्थित कर देगी। वस्तुत गुरुओं के अनुसार परमसत्ता के कर्तृत्व और विशिष्टाद्वैत के अनुसार सृष्टि की रचना के सिद्धान्त मे पर्याप्त अन्तर है। आदिग्रन्थ मे यद्यपि वाहगुरु के लिए बार-बार 'नाराइणु' 'गोबिंदु' और 'माधउ' आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है तथापि इनके द्वारा प्रयुक्त इन अभिधानो का आशय वैष्णव भक्तों से बिलकुल भिन्न है। अतः इन शब्द-प्रयोगो तथा कुछ दूसरी समानताओ के कारण ही गुरुओ की विचारधारा को विशिष्टाद्वैतवादी मान लेना उचित नही है। हमारे मत मे इन अभिधानो के प्रयोग के कारण गुरुओं के दार्शनिक विचारो के स्वातन्त्र्य मे भी कोई बाधा उपस्थित नही होती।

कबीर ने सूक्ष्मवेद (सुच्छमवेद) की चर्चा करते हुए निरजन का उल्लेख किया है और सिक्ख गुरु भी वाहगुरु के लिए 'निरजन' शब्द का प्रयोग करते है। परन्तु कबीर 'निरजन' को वाहगुरु या राम नही मानते जबकि आदिग्रन्थ मे मायातीत भगवान के अर्थ मे 'निरजन' शब्द का प्रयोग किया गया है। यही स्थिति नाराइण, माधव और गोविंद की भी है। गुरुओं ने राम और कृष्ण आदि भगवान के अवतारो को समकक्षी नही माना है। वे अवतारवाद और वैधी भक्ति मे विश्वास ही नही करते। देवतावाद को वे धार्मिक सकीर्णता मानते है तथा हर प्रकार के धार्मिक बाह्याडम्बरो का खण्डन करते है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुरुओ ने भक्ति सम्बन्धी उद्गारो मे पौराणिक शब्दावली को पर्याप्त अर्थान्तर के साथ स्वीकार कर लिया है। इसलिए वाहगुरु के कर्तृत्व की व्याख्या स्वतन्त्र रूप से करने पर ही हम उसका सही सधान पा सकते है। गुरुनानक के कथनानुसार संसार की रचना करने वाला वाहगुरु है। वही प्रत्येक जीव को अपनी आज्ञा, हुकम या इच्छा से विभिन्न प्रकार के कर्मों की ओर प्रवृत्त करता है। परन्तु वाहगुरु के कर्तृत्व से गुरुओ का आशय उस द्वारा स्वय सृष्टिरूप हो जाने से है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि वाहगुरु अथवा 'करतार' ही सारे ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादान कारण है—

> तुधु संसारु उपाइआ। सिरि सिरि धंधे लाइआ····॥ आ० ग्र० पृ० ७५, सभ आपे तुधु उपाइ कै आपि कारै लाई ···॥ वही० पृ० १३८, तूं करता पुरखु अगंमु···॥ वही० पृ० ३५०, जेता सबदु सुरति धुनि तेती रूपु काइआ तेरी····॥ वही० पृ० ३५६, करता तू सभना का सोई···॥ वही० पृ० ४१२, जिनि धारि साजि गगनु अकासु····॥

गुरुओ के अनुसार सृष्टि की रचना परमात्मा की लीला एवं इच्छा है। वे सृष्टि की रचना को वाहगुरु की 'वडिआई' अर्थात् ऐश्वर्य मानते हैं। आदिग्रन्थ मे सृष्टि की रचना के लिए उपादान सामग्री के सम्भावित प्रश्नो का उत्तर भी एक

प्रकार से दे दिया गया है। तदनुसार वाहगुरु स्वयं ही 'अकल' से 'सकल' रूप धारण करता है। जैसे .

आपि करें आपि हरे वेखै वडिआई ''॥ आ० ग्र० पृ० ४२१, म० १,
वही० पृ० ४६२, आपीन्है आपु साजिओ ' ॥ वही० पृ० ४७३, आपे
ही करणा कीओ कल आपे ही तै धारीऐ ॥

वह स्वय ही सृष्टि के रूप मे निराकार से साकार हो जाता है। उसके बाद जब चाहता है अपने साकार रूप को समेटकर निराकार विश्वचैतन्यमय हो जाता है। गुरुनानक ने वाहगुरु को 'आपे करता पुरखु विधाता' कहकर 'आपे' शब्द द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि उसे ससार की रचना करते समय अपने से अतिरिक्त किसी दूसरी उपादान सामग्री की आवश्यकता नही है (आ० ग्र० पृ० १२२५)। यही भाव 'आपे आपि निरजना' (पृ० १२३७) द्वारा भी दर्शाया गया है।

गुरु रामदास ने भी 'तू आपे साचा सिरजण हारा' (आ० ग्र० १२६) द्वारा परमात्मा के कर्तृत्व की उपर्युक्त मान्यता की ही पुष्टि की है।[1] अत स्पष्ट है कि उसके विश्वासानुसार वाहगुरु ही सूर्य, चन्द्र एव अन्य दिव्य प्राकृतिक शक्तियों या उनके अधिष्टातृ देवताओं का रचयिता है। वे लिखते है, वाहगुरु ने अडज, जेरज आदि सभी प्राणियों का रूप धारण किया हुआ है। वही इस ब्रह्माण्ड का स्वामी है। वही जगत का प्राणाधार एव ब्रह्माण्ड का चैतन्य है। ब्रह्माण्ड की रचना करते समय उसे किसी अन्य उपादान अथवा दैवी शक्ति की आवश्यकता नहीं है और विश्व के निर्माण की योजना बनाते समय भी उसे किसी से विमर्श-परामर्श करने की आवश्यकता नही पडती।[2]

पाँचवे गुरु अर्जुन देव ने भी वाहगुरु के कर्तृत्व का उल्लेख करते हुए कहा है, 'औरे कछु न किनहु कीआ। नानक सभ कछु प्रभु ते हुआ' (आ० ग्र० पृ० १०६)। उनके विचारानुसार सृष्टि की रचना करने की शक्ति एव सर्वज्ञता केवल वाहगुरु का ही ऐश्वर्य है—

सभ कछु तिसका ओहु करनै जोगु। तिसु बिनु होआ न होगु''''॥
वही० पृ० २८२।

आदिग्रन्थ मे बार-बार इस ओर जिज्ञासुओ का ध्यान आकर्षित किया गया है कि यह ब्रह्माण्ड प्रकृति के स्वातन्त्र्य का परिणाम नही है। वाहगुरु न्याय और वैशेषिक दर्शन के ईश्वर की भाँति परमाणु आदि अतिरिक्त अनादि पदार्थो का मुहताज नही रहता। सृष्टि की रचना, उसकी इच्छा या उसकी लीला है। वह जब भी

---

1. आ० ग्र० पृ० ६८८, आपि उपाए आपि समाए हुकमि हुकमु पछाणा''' ॥ वही० पृ० ६०६, आपि सृसटि उपाइदा पिआरा करि सूरजु चदु चानाणु'''॥
2. आ० ग्र० पृ० ८३५, अडज जेरज ''॥ वही० पृ० १११५, तू जग जीवनु जगदीसु सभ करता स्रिसटि नाथु'''॥

ब्रह्माण्ड का रूपधारण करने की इच्छा करता है, ब्रह्माण्ड साकार हो जाता है और अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थित होने की इच्छा करते ही वह एक क्षण मे प्रलय की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। परन्तु सहार के समय भी वाहगुरु के 'निरकार' एवं निर्गुण स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता, क्योकि वह शाश्वत चैतन्य है—

> **आपन खेलु आपि करि वेखै। खेलु संकोचै तउ नानक एकै···॥ आ० ग्रं० पृ० २९२, वही० पृ० २९३, सरब भूत आपि बरतारा। सरब नैन आपि देखन हारा। सगल समग्री जा का तना। आपन जसु आप ही सुना ··॥**

गुरुनानक और गुरु रामदास की भाँति ही गुरु अर्जुन देव भी देवतावाद को स्वीकार नही करते। वह अपने विचारो को 'आपे करता अवर न कोई' (आ० ग्र० पृ० ७६-७७) आदि 'शबदो' द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वाहगुरु को ब्रह्माण्ड की सर्जना एवं सहार करते समय क्षण भर की देरी भी नही लगती। वही अनेक रूप धारण किए हुए है।[1] इस प्रकार के उल्लेख वाहगुरु को सृष्टि का स्वतन्त्र निमित्तो-पादान कारण ही सिद्ध करते है। गुरु अर्जुन देव ने अन्यत्र एक स्थान पर सृष्टि की रचना के विषय मे बतलाया है ·

> **सभु जगु जिनहि उपाइआ भाई करण कारण समरथु।**
> **जिउपिड जिनि साजिआ भाई दे करि आपणी वथु॥**
>
> (आ० ग्रं० पृ० ६३९)

[1] वही० पृ० ४९९, खिन महि थापि उथापन हारा। कीमति जाइ न करी···॥ वही० पृ० ६०९, अतरजामी करणै हारा सोई खसमु हमारा॥ वही० पृ० ७०६, खिन महि थापि उथापदा तिसु बिनु नही कोइ ॥ वही० पृ० ७४८, जीअ जंत सभ तेरे कीते घटि घटि तुही धिआइऐ ·॥ वही० पृ० ७६०, तू करता तू करण हारु तू है एकु अनेक जीउ ॥

९ | आदिग्रन्थ में वर्णित ब्रह्म (वाहगुरु) के स्वरूप का वैशिष्ट्य

● परमसत्ता के स्वरूप की अवस्थाओं (अवधारणाओं) में अन्तर

भारतीय संस्कृति के इतिहास के व्यापक फलक (Canvas) पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि आधुनिक युग की स्थिति उत्तर मध्य-युग मे नहीं थी; और जिन सामाजिक एव धार्मिक मान्यताओ का प्रचार पूर्व मध्य-काल में था, उत्तर मध्य-काल तक पहुँचते-पहुँचते उनमे पर्याप्त अन्तर पड गया था। इससे और अधिक पीछे की ओर ध्यान देने से इस तथ्य का और अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है कि किसी युग की सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताएँ भी एक साथ नहीं बन गयी थी उस युग के बाद वे तद्वत् स्थैतिक भी नही बनी रही थी। अतः इस पश्चगामी प्रक्रिया के माध्यम से पूर्व वैदिक युग की स्थिति का अनुमान लगाते हुए यह तथ्य हस्तगत होता है कि भारतीय आर्य आरम्भ मे औपनिषदिक युग के ऋषियो की कोटि के चिन्तक एव विचारक नही थे। वे अपने आरम्भिक युगों मे पार्थिव जीवन मे ही सांस लेते रहे थे और मृत्यु के उपरान्त जीवन की स्थिति आदि के अन्वेषण मे संलग्न रहने के स्थान पर ऐहिक जीवन को ही यथार्थ मानते थे। वे जीने के लिए सहने वाले निरन्तर सघर्षों मे जुटे रहते थे। वे सासांरिक थे, क्योंकि जागतिक पदार्थों और मनोगत सहज भावनाओ तथा दैनदिन की आवश्यकताओ से प्रेरित होकर, उनकी पूर्ण स्वीकृति मे ही उनकी जीवन-क्रिया चलती थी। भारत के आर्य-पूर्व जातियो के समाज जैसी स्थिति उनकी नही थी। सिन्धु सभ्यता के मोहेजोदड़ा आदि के प्रदेशो से प्राप्त अवशेषो के साक्ष्य के आधार पर पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने उसे 'नागरिक सभ्यता' माना है। आरम्भिक वैदिक ऋचाओ के अध्ययन से भी पता चलता है कि जिन लोगों की भावनाओ के वे उद्‌गार है, वे लोग जीवन के यथार्थ को स्वीकार कर, तदनुसार ही जीवन बिताते थे। उनमें जगत की यथार्थ बाधाओ से टक्कर लेने की अदम्य अन्तः प्रेरणा थी। आरम्भिक भौतिकवाद की सहज प्रेरणा से प्रेरित भावना एवं ओज से सहज रूप मे उनका जीवन स्फूर्तिमान था। उपनिषदो की विचारधारा के प्रचार से पहले भरतीय वैदिक आर्यों की ऐसी ही सामाजिक स्थिति थी।

सिन्धु-घाटी के सामाजिक जीवन की ओर सकेत करने वाली उपलब्ध सामग्री इस तथ्य की स्वीकृति के लिए पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती है कि आर्य जाति का जीवन सिन्धु-सभ्यता वालो से पर्याप्त भिन्न था। सिन्धु प्रदेश के निवासियों का समाज नागरिको का समाज था। नवागत आर्यों की जीवन-पद्धति उनके जीवन-यापन के तौर-तरीकों से भिन्न प्रकार की थी। नवागत आर्यों का प्राकृतिक शक्तियों से अधिक सम्बन्ध रहा था। वे उनके दैनदिन जीवन को विशेष रूप मे प्रभावित करती रहती थी। यह स्थिति ऐसी थी कि आर्य जाति के लोग अपनी विविध समस्याओं और आवश्यकताओं का संधान अपनी सामर्थ्य के द्वारा ही पा लेते थे। सूर्य और चन्द्र, प्रकाश और अन्धकार अतिवृष्टि और अनावृष्टि, गाज का गिरना और पयोधरो का बरसना आदि से प्राप्त होने वाले सुख-दु खो ने उनके जीवन-दर्शन का निर्माण किया था। अपने चतुर्मु खी वातावरण पर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था, जिसका मिला-जुला अन्तिम परिणाम यह हुआ कि उन्होने जीवन को प्रभावित करने वाली प्राकृतिक शक्तियो मे ही देवत्व का आरोप कर, उनकी स्तुतियाँ करना आरम्भ कर दिया। महती प्राकृतिक शक्तियो को देवताओ के रूप मे देखने की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उनमे उन सभी गुणो का आरोप कर दिया गया, जिनकी आत्यन्तिक कल्पना की जा सकती थी। अत वैदिक देवतावाद के उद्भव का आरम्भ मानव की यथार्थ जीवन की समस्याओ से सम्बन्धित एव प्रेरित माना जा सकता है।

ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओ मे उपर्युक्त परिस्थितियों एवं तदनुरूप प्राकृतिक शक्तियों मे देवत्वारोपण और ऐहिक जीवन की समृद्धि की कामना के हेतु की गयी स्तुतियो के साक्ष्य उपलब्ध हो जाते हैं। इन्द्र वैदिक आर्यों का प्रधान देवता है, जिसकी स्तुति करते हुए उसके द्वारा शत्रुओं के विनाश की कामनाएँ की गयी है। साथ ही यह विश्वास बनाया गया है कि वह उनकी प्रार्थना को स्वीकार करता है।[१] वरुण को धरती और आकाश को एक दूसरे से अलग करने वाली प्राकृतिक शक्ति (देवता) माना गया है। वैदिक आर्यों के अनुसार वह ब्रह्माण्ड का नियन्ता है।[२] अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि वह मानव को प्रकाश देने वाला देवता है। वह दीर्घ आयु का दाता और मस्तिष्क की ऊर्जा है। प्राकृतिक शक्तियो को देवता मानकर उनसे ऐसी शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रार्थनाओ में निहित है, जिससे अपने शत्रुओं को परास्त किया जा सके। देवताओं से ऐहिक जीवन की प्रत्येक प्रकार की सुख-समृद्धि की याचनाएँ की गयी है।[३] उस समय का सक्षिप्त धार्मिक रूप यह है—

---

१ ऋ० वे० १०-२२-८, अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तु रुण्यव्रतो अमानुषः। त्वं तस्या मित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय॥ वही० ६-८०-३।

२ वही० ५-८५-२, वनेषु व्यन्तरिक्ष ततान वाजपर्वत्सु पय उस्रियासु। हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ॥

३ वही० २-२१-६, इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्ति दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोष रयीणामरिष्टिं तनूना स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नानाम्॥

(क) देवताओ की प्राकृतिक शक्तियो के मूर्त रूप स्वीकार कर उनकी स्तुतियाँ एव प्रार्थनाएँ की गई है। (ख) देव-परिवार का विभाजन कर उनकी स्थिति खगोल, वायुमण्डल और पृथ्वीलोक मे स्वीकार की गई है। (ग) सिन्धु सभ्यता के समाज के साथ विरोध की परिसमाप्ति एव तज्जनित अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया के फलस्वरूप कई आर्येतर देवताओ को भी अपने देव—परिवार मे सम्मिलित कर लिया गया है।

● **आर्य विश्वासों में परिवर्तन : परमपुरुष**

सिन्धु प्रदेश के मूल निवासियों को पराजित करने के उपरान्त स्वय आर्य जाति मे ही नये सामाजिक परिवर्तन आरम्भ हो गये। अपनी सभ्यता से उच्च, विकसित एव श्रेष्ठ जीवन-पद्धति (सिन्धु-सभ्यता) से प्रभावित होकर उसके कई पक्षो को स्वीकार कर लिया गया। समय के साथ उनकी सामाजिक व्यवस्था मे स्वयमेव भी ऐसा परिवर्तन हुआ कि सम्पूर्ण आर्य परिवार सामाजिक समूहों मे परिवर्तित होने लग गया। इस परिवर्तन का प्रभाव यह हुआ कि बहुदेववाद की भावना का स्थान एकेश्वरवाद ने ले लिया। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे देवताओं का एकीकरण हुआ और स्वर्ग के अधीश्वर की कल्पना लौकिक राजा या शासक की सत्ता के अनुकरण के आधार पर की गई। इसी समय किसी एक देवता मे अन्य मुख्य-मुख्य देवताओ के गुणो एव शक्तियों को भी समाहित कर दिया गया है।[1] धीरे-धीरे बहुदेववाद से आगे बढकर एक प्रधान देवता (देवाधिदेव) की मान्यता का निर्माण हुआ और अन्य देवता उसी की विभिन्न शक्तियों के रूप मे पूजा के पात्र (विषय) बन गये।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के रचना-काल मे ही दार्शनिक चिन्तन की ओर ध्यान दिया जाने लग गया था। ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध मे विचार करते हुए उसे परमसत्ता का रूपान्तरण (Modification) स्वीकार कर लिया गया। 'पुरुष सूक्त' मे गीता के विराट पुरुष जैसी ही परम पुरुष की अवधारणा ने रूप प्राप्त कर लिया था। ऋग्वेद मे ही आदि पुरुष को ब्रह्माण्ड का भौतिक स्रोत मान लिया गया और ऋग्वेद की यह अवधारणा परवर्ती अध्यात्मवादी दर्शनो मे पर्याप्त फूली-फली है।[2] पुरुष सूक्त मे पुरुष का रूप मानो ब्रह्माण्डीय या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ही एकत्व है। ऋग्वेद की ऋचाओं मे कही 'पुरुष' कही 'प्रजापति' और कही 'हिरण्यगर्भ' के नाम से देवाधिदेव के स्वरूप (अवधारणा) का निर्माण हुआ है। इसमे उस समय का बहुदेववाद समाप्त नही हो गया था। यह तो दर्शन की वह पूर्व-भूमिका है, जिसे बहुदेववाद के साथ-साथ एकाधिदेव की मान्यता का निर्माण माना जा सकता है।

---

[1] ऋ० वे० ८-५८-२, एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक सूर्यो विश्वमनु प्रभूत। एकैवेषा सर्वमिद विभात्येक वा इद वि बभूव सर्वम् ॥ वही० १-१४६-४६, इन्द्र मित्र वरुणमग्नि राहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्। एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥

[2] ऋ० वे० १०-९०

प्रस्तुत प्रसंग मे ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' का उल्लेख असंगत नहीं होगा। भारतीय दर्शनो के अध्येता इसे परमसत्ता की निर्गुण-निराकार अवधारणा के मूलाधार का पूर्व रूप स्वीकार करते है। यह सूक्त ऋग्वेद के दसवें मण्डल का है, जो वैदिक ऋचाओं का अन्तिम एव वेदान्त (उपनिषदो) का आरम्भिक छोर है। तदनुसार ब्रह्माण्ड की रचना (साकारता) से पहले सत् और असत् कुछ भी नही था। आकाश ऊँचे-नीचे स्थान (गर्त) गहर-गम्भीर जल, मृत्यु-अमरता, रात-दिन, आदि मे से किसी का कोई आकार विद्यमान नही था। तब वायु नहीं थी, फिर भी कोई (हिरण्यगर्भ) सत्ता सांस अवश्य ले रही थी। वह अनादि और अनन्त सत्ता थी, जो अपनी ही शक्ति (सत्ता) से सत्तावान थी। उस समय सभी कुछ अमूर्त (अनभिव्यक्त) था। ऐसी ही स्थिति मे कामना का उदय हुआ था। इसके सम्बन्ध मे विद्वानों ने सोच-विचार कर यह तथ्य प्राप्त किया कि असत् (अनभिव्यक्त सत्तत्त्व) मे सत् (अभिव्यक्त ब्रह्माण्ड) की स्थिति पहले से ही विद्यमान थी। मूलकारण के सम्बन्ध मे सूक्त का ऋषि तब भी किसी अन्तिम निश्चय पर नही पहुँच सका। उसने सम्पूर्ण दैवीय सृष्टि को बाद की रचना मानकर कहा है कि परमसत्ता के उद्भव के विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना सम्भव नही है। अत वह सत्ता स्वय ही इस रहस्य को जानती है। सम्भव है कि वह स्वय भी कुछ न जानता हो।[१] इस सूक्त मे अन्तर्निहित दार्शनिक विचारो एव अवधारणाओ के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मत-भेद पाया जाता है। भौतिकवादी विचारक इसे सांख्यो के तत्त्व-विचार का आधार मानते हैं और अध्यात्मवादी इसे एकेश्वर या परब्रह्म की अवधारणा का आरम्भिक स्वरूप स्वीकार करते हैं। इस सूक्त के बारे मे यह माना जा सकता है कि प्राकृतिक शक्तियो में देवत्वारोपण और उसके बाद इन्द्र, वरुण एवं अग्नि आदि की देवताओ के रूप मे स्वीकृति के उपरान्त देवाधिदेव की अवधारणा का जो विचार बना उसी का यह अन्तिम रूप है, जिसमे परमसत्ता को अद्वैत स्वीकार कर लिया गया है। साथ ही यह भी मान लिया गया है कि वह अपने मूल (शुद्ध) रूप मे निर्गुण एवं निराकार (असत्) है। उसके इसी अनभिव्यक्त (असत्) स्वरूप से ही सत् (नामरूप ब्रह्माण्ड) का उदय हुआ है। यह विचार भारतीय दर्शनों की ईश्वरवादी अवधारणाओ का मूलाधार है।

● **आत्म-सिद्धान्त विरोधी विचार**

विद्वानो ने नासदीयसूक्त मे वर्णित विचारो और विश्वासों के प्रेरक तत्त्वों की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न धारणाओ के आधार पर की है। भौतिकवादी विचारक

---

१ ऋ० वे० १०-१२९, नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्। किमावरीय कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीत् गहन गभीरम्॥ न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न राज्या अह्न आसीत्प्रकेत। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर. किंचनास ·····॥ इय विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। योस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अग वेद यदि वा न वेद॥

इसके पीछे ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यों के पारस्परिक संघर्ष का अनुमान लगाते हैं। लेकिन आदर्शवादियों का विचार है कि विचारों की चिन्तन-परम्परा के प्रसंग मे ही इस सूक्त की व्याख्या करना उचित है। ये वैदिक युग (संहिता काल) की परवर्ती विचारधारा को औपनिषदिक और आरण्यक चिन्तन मे परिवर्तित स्वीकार करते हैं। उपनिषदो और आरण्यको मे वैदिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठानो की व्याख्याओ को उन्होंने आध्यात्मिक, आदर्शवादी एव रहस्यवादी अवधारणाओं के अन्तर्गत माना है। इन्ही से अध्यात्मवाद या निराकार परमसत्ता के सिद्धान्त का आरम्भ स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार परवर्ती युगो मे विभिन्न आस्तिक दर्शनो को इसी मूल अवधारणा ने जन्म दिया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कोई भी अवधारणा स्वयं में न 'सम्पूर्ण' होती है और न ही स्थैतिक ही। अवधारणाएँ युग की परिस्थिति के अनुरूप एव अनुकूल बनती और बदलती रहती हैं। यदि एक प्रकार की सामाजिक स्थिति बनी रहे तो पूर्व-निर्मित धार्मिक एवं दार्शनिक विश्वास भी पर्याप्त समय तक स्थिर बने रहते है। लेकिन सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन के कारण मूल आवधारणा की व्याख्याएँ और परिभाषाएँ नवीन परिवेश प्राप्त कर लेती है। भारतीय इतिहास मे एक बार ईश्वरवादी दृष्टिकोण के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था का प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर वह व्यवस्था कभी टूट नही सकी। अतः अध्यात्मवादी (दार्शनिक) मान्यताएँ धर्म और दर्शन मे निरन्तर तद्वत् बनी रही है। जो छोटे-मोटे सामाजिक परिवर्तन हुए है या दूसरी जातियो के मिश्रण के फलस्वरूप नए विश्वास बने हैं, उनके कारण कुछ अन्तर अवश्य आ गया, जो अन्तर इतना अधिक क्रातिकारी नहीं था कि मूलाधार को ही हिला कर भूमात् कर देता और उसके स्थान पर बिल्कुल नयी दार्शनिक अवधारणाओ के स्तम्भ खड़े कर स्वतन्त्र चिन्तन का प्रसाद बनाता। फिर भी हमे यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है कि धार्मिक और दार्शनिक विचार स्थैतिक एव अन्तिम सत्य नही होते और भारतीय चिन्तन परम्परा भी इसका अपवाद नही है।

युग की परिस्थितियो ने जैसे ही अपनी करवट बदली है, वैसे ही धर्म और दर्शन का स्वरूप भी बदलता रहा है। वैदिक आर्यों की विजय के बाद देवतावाद के प्रचार ने परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के क्षेत्र मे प्रवेश कर उपनिषदों और आरण्यको की विचारधारा का रूप प्राप्त कर लिया। अन्ततोगत्वा इनमे ब्रह्माण्ड की रचना करने वाली भौतिक जगत से भिन्न परन्तु उसकी पूर्ण मूलाधार परमसत्ता (परम चैतन्य) की अवधारणा भी प्राप्त हो गई। आगे चलकर सांख्य और वैशेषिक तथा न्याय का प्रतिनिधित्व करने वाली विचारधारा ने इसका विरोध किया जिसमे लोकायतो की मान्यताओं का पर्याप्त सहयोग रहा है। बौद्ध एव जैन धर्म-मतो की विचारधारा ने भी उपनिषदों की परब्रह्म की अवधारणा को अस्वीकार कर नए ढग के आदर्शवाद का प्रचार किया है। औपनिषदिक विचारधारा का खण्डन मण्डन तब तक चलता रहा, जब तक गीता के रचयिता ने फिर से पुरुषोत्तम-सिद्धान्त

की स्थापना नहीं की। गीताकार के द्वारा पुरुषोत्तम के सिद्धान्त की स्थापना और उसे क्षर और अक्षर से अतीत सत्ता मान लेने के उपरान्त पदार्थ को प्राथमिक सत्ता मानने वाली विचारधारा भी ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तु ही रह गई। साम्राज्य वादी और सामन्ती व्यवस्था के कारण पौराणिक धर्म का रूप अधिक प्रभावशाली बन गया और उसकी मान्यताएँ तब तक निर्विरोध प्रचार प्राप्त करती रही हैं, जब तक उत्तर-मध्यकाल मे निर्गुण सन्तों के द्वारा नए धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात नहीं हो गया।

● **यथार्थवादी दर्शनों की अवधारणाएँ एवं मान्यताएँ**

पदार्थ की प्राथमिक सत्ता के रूप में स्वीकृति—इसी खण्ड के चतुर्थ अध्याय मे 'भौतिकवादी दर्शन-परम्परा मे परम तत्त्व' शीर्षक के अन्तर्गत हम यह बतला आये हैं कि लोकायतिकों (चार्वाको) की विचारधारा का मूल स्रोत मानव का जीवन के प्रति सहज एव स्वाभाविक दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार वह ऐहिक जगत को ही यथार्थ मान कर जीवन मे आचरण करता है। यहाँ जगत को यथार्थ मानने की बात किसी दार्शनिक प्रणाली विशेष का अनुगमन करने से सम्बन्धित न होकर केवल मनुष्य की उस अवस्था की परिचायक है, जिस समय वह बौद्धिक चिन्तन से कम और सहज प्रवृत्तियो की स्वाभाविक प्रेरणा ही से अधिक काम लेता है। वही पर इस तथ्य को भी सकेतित कर दिया गया है कि सहिता काल के अन्तिम समय की आदर्शवादी अवधारणा ने जिस समय उपनिषदो और आरण्यको की मान्यताओ के रूप मे निश्चित दर्शन-प्रणाली जैसा रूप प्राप्त करना आरम्भ किया, उस समय इस प्रकार के चिन्तक भी सक्रिय हो उठे, जिन्हे पराविद्या स्वीकार्य नही थी और जो इस प्रकार की अव-धारणाओं को मात्र बौद्धिक विलास एवं वर्ग-हित की भावना का प्रचार मानते थे। इस द्वन्द्वात्मक सघर्ष ने जिस यथार्थवादी चिन्तन-परम्परा को जन्म दिया, उसे आदर्श-वादियो की ओर से चार्वाक या लोकायत दर्शन-प्रणाली का नाम दिया गया है। चार्वाक के पीछे तो उपहास उड़ाने की प्रवृत्ति कार्यरत है, जबकि लोकायत शब्द ऐहिक जगत मे विश्वास रखने वालो का द्योतकहोने के कारण साभिप्राय शब्द-प्रयोग है। लोकायतो ने आरम्भ मे औपनिषदिक आदर्शवाद (ईश्वरवाद) का पर्याप्त विरोध किया और आत्म-सिद्धान्त के मुकाबले मे अनात्म के सिद्धान्त के प्रचार के लिए अपनी कोशिशे भी जारी रखी।

वृहस्पति को लोकयत विचारधारा का आदि प्रवर्तक माना जाता है। विद्वानो ने वृहस्पति का समय वैदिक काल माना है। इससे यह प्रमाणित होता कि उपनिषदो की रचना मे ही पहले अध्यात्मवादी (ईश्वरवादी) धारणा का प्रचार हो चुका था और उसका विरोध भी तकरीबन उसी समय आरम्भ हो गया था। लोकयतों का विश्वास है कि प्रत्यक्ष जगत से भिन्न किसी का अस्तित्व नहीं है। रामायण एवं महाभारत में लोकायतों की विचारधारा से सम्बन्धित कथाओं का उल्लेख करते हुए

यह भी बतला दिया गया है कि जैन एव बौद्ध साहित्य मे भी लोकायतों एवं उनकी विचारधारा के सम्बन्ध मे उद्धरण प्राप्त हो जाते हैं। महावीर वर्धमान और महात्मा बुद्ध के समय ही शरीर से अलग चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्त्व का निषेध करने वाले कई विचारक औपनिषदिक अध्यात्मवाद (ईश्वरवाद) का विरोध करने लग गये थे। जैन एवं बौद्ध धर्म मूलत· आदर्शवादी विचारधारा के ही अन्तर्गत आते है, लेकिन इसमे सन्देह नही कि पूर्वोक्त वेद-विरोधी लोकायत विचारधारा ने भी इन धर्मों के दर्शनो की कई मान्यताओं पर अपने प्रभावो का अकन किया है। सत्कार्यवाद और यदृच्छावाद लोकायत विचारधारा के दो मूलभूत सूत्र हैं, जिनके आधार पर आत्म-सिद्धान्त और ईश्वर की अनादि, स्वतन्त्र चेतन अस्तित्त्व की अवधारणा का खण्डन किया गया है।

सांख्य और वैशेषिक क्रमश· प्रकृति (त्रिगुणात्मिका मूल जड तत्त्व) और परमाणुओ को प्राथमिक सत्ता मानते हैं और उन्हीं मे गति और क्रिया के धर्मों की स्थिति मानते हुए शरीरी चेतना की व्याख्या करते है। न्याय और योग दर्शनो की आरम्भिक मान्यताएँ भी पदार्थक ही थी और इनमे बाद मे ईश्वर और आत्मा की अवधारणाओं का प्रवेश हो गया था। फिर भी ये द्वैतवादी दर्शनो की श्रेणी मे ही गिने जाते है। इन दर्शनो की प्रमुख विशेषता यह है कि इनमे शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार करते हुए भी इस अवधारणा पर अधिक बल दिया गया है कि शरीर के साथ ही शरीर के चैतन्य (आदर्शवादियो के आत्मा) का भी लोप हो जाता है। यह विचारधारा पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विरोध करती है। वेदो को ईश्वरीय ज्ञान नही मानती और इसकी पाप एव पुण्य की परिभाषाएँ भी स्वतन्त्र प्रकार की है। इन दर्शनो का मूल स्वर ऐहिक है अत परलोक की अवधारणा की स्वीकृति इनका मूलभूत विचार नही माना जा सकता। प्राय· इन सभी दर्शनो का रूप बाद मे ही ईश्वरवादी धारणाओ से अनुप्राणित हुआ है। ये दर्शन भक्ति के परवर्ती रूपों एवं तद्विषयक अवधारणाओ से पूर्णतया मुक्त थे। इनके अनुसार न कोई अलौकिक परमधाम है और न ही इन मे रहने वाली किसी अलौकिक सत्ता (वासुदेव या नारायण) से सम्बन्धित (पौराणिक) विचारधारा के प्रति इनमे विश्वास दर्शाया गया है। लोकायत ईश्वरवादियो की कर्म की अवधारणा का खण्डन करते है और कर्म को प्रवर्तन हीन मानकर जीवो की उत्पत्ति का हेतु भौतिक तत्त्व ही मानते है।

भौतिकवादी दर्शनो की एकत्व की अवधारणा के अनुसार ब्रह्म जगत का प्राथमिक तत्त्व (मूलकारण) नही। वे प्रकृति को स्वत परिणमित मानते है और जगत के नाम और रूप को प्रकृति का विकास स्वीकार करते हैं। तदनुसार ब्रह्माण्ड समवायो (परमाणुओ या साख्यो द्वारा स्वीकृत पच्चीस तत्त्वों) का सम्मिलित रूप है। चेतना को समवाय का परिणाम स्वीकार किया गया है। उनके मत मे जिस समय समवाय का विघटन हो जाता है, उस समय तज्जनित चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार अनादि तत्त्व के द्वैत को भी स्वीकार नही किया गया। उसमे केवल पदार्थ को ही प्राथमिक कारण का स्थान प्राप्त है। यह

विचारधारा चेतना या आत्मा को पदार्थ की भाँति अनादि चेतन तत्त्व मानने का विरोध करती है। सांख्य शून्य से उत्पत्ति स्वीकार नही करते। उनके अनुसार यह अवधारणा कारण-कार्य के सम्बन्ध के अन्तर्गत नही आती। कणाद (वैशेषिक दर्शन के आचार्य) ने 'कर्म' को गति के अर्थ मे ही स्वीकार किया है। वे कर्म की अवस्थिति स्वयं पदार्थ मे अन्तर्निहित मानते है और इसी आधार पर ईश्वरवादी विश्वासो का विरोध करते है। नैय्यायिक परमाणुओं को जैव और अजैव की संरचना का आधार स्वीकार करते हैं। ईश्वर के द्वारा परमाणुओ को नियमित रूप देकर सृष्टि की रचना की अवधारणा न्याय-विचारधारा मे बहुत बाद मे स्वीकार की गई है। भौतिकवादी दर्शनो की मूल अवधारणाएँ सक्षेप मे इस प्रकार है।

(क) प्राथमिक सत्ता पदार्थ, प्रकृति अथवा परमाणुओ की है।

(ख) प्राथमिक मूल कारणो का समवाय ही शरीर मे चेतना को जन्म देता है ओर जिस समय शरीर का नाश होता है, उसी समय चेतना भी लुप्त हो जाती है।

(ग) कर्म का अर्थ विशेष प्रकार का कर्मकाण्ड नही, बल्कि मूलपदार्थ की गति है, जिसके कारण जगत का सम्पूर्ण वैविध्य बनता, विकसित होता एव अन्त मे विघटित होकर पुन अपने मूलरूप को प्राप्त कर लेता है।

(घ) पदार्थ से अतिरिक्त स्वतन्त्र चैतन्य (आत्मा) और परम चैतन्य (ईश्वर) का अस्तित्व नही है। जीवों के लिए पाप और पुण्य एव ईश्वर द्वारा फल देने एवं आवागमन के चक्कर मे भटकने आदि की अवधारणाएँ ईश्वरवादियों का मात्र अन्ध विश्वास है।

● आदिग्रन्थ में वर्णित वाहगुरु-स्वरूप का वैशिष्ट्य

आदिग्रन्थ मे वर्णित वाहगुरु के स्वरूप के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि तदनुसार परमचैतन्य (ब्रह्म) एक (अद्वैत) है और जीव और जगत उसी के द्वारा धारण किये हुये अपने रूप है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुरुनानक एव अन्य सिक्ख गुरुओ की दार्शनिक मान्यताओ का उक्त भौतिकवादी दर्शनो की मान्यताओं से किसी प्रकार का भी मेल नहीं है। बल्कि सिक्ख गुरु किसी भी ऐसी विचारधारा को, जिसमे परमात्मा की सत्ता एव उसकी शक्तियों के सम्बन्ध मे विश्वास न किया गया हो, अत्यन्त हेय दृष्टि से देखते है। उन्होने जीव के गुरमुख और मनमुख दो भेद किए है और मनमुख जीवों को नास्तिक तथा ईश्वर की शरण से विमुख बतलाया है। यहाँ तक कि उन के अनुसार ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कार्य ही वाहगुरु की इच्छा के संकेत, उसके हुकम और उसकी 'कुदरत' के अधीन चल रहा माना गया है। ऐहिक जीवन मे आसक्ति रखने वाले जीवो को बद्ध और आवागमन के चक्कर में भटकने वाले बतलाकर उन्हे गुरु की शरण, परमात्मा की भक्ति और नाम-सिमरन-साधना का उपदेश दिया गया है। उपर्युक्त समूचे सन्दर्भ को ध्यान मे रखते हुए

आदिग्रन्थ के ब्रह्म (वाहगुरु)-विचार को संक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

आदिग्रन्थ मे परमात्मा को अद्वैत माना गया है। परन्तु वाहगुरु के अन्तिम स्वरूप को जिस रीति से हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया गया है, उसे पराद्वैत ही कहा जा सकता है। तदनुसार जगत और जीव अलग एवं यथार्थ सत्ताएँ नही है। आदिग्रन्थ के पराद्वैत-सिद्धान्त को वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद और रामानुजाचार्य के विशिष्टा द्वैत जैसा सिद्धान्त स्वीकार नही किया जा सकता। मध्व का द्वैत-सिद्धान्त तो आदिग्रन्थ मे किसी भी रूप मे स्वीकार्य नहीं है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से उनके पराद्वैत की समानता का निराकरण भी गुरबानी मे बार-बार हुआ है। इसीलिए यहाँ आदिग्रन्थ की वाहगुरु के स्वरूप से सम्बन्धित विचारधारा के वास्तविक स्वरूप की जानकारी के लिए ऋग्वेद से आरम्भ कर, भारत के मुख्य-मुख्य धर्म-सम्प्रदायो मे स्वीकृत परमतत्त्व के स्वरूप का उल्लेख करना पडा है।

आदिग्रन्थ मे परमतत्त्व का जिस रीति से उल्लेख किया गया है, उसे एक विशेष अभिधान देना कठिन है। सिक्ख गुरु नाम के झगड़े मे न पड कर उपास्य को 'माधउ' 'नाराइणु' आदि विभिन्न नामो से पुकारते तो है, परन्तु उन्हे परात्पर सत्ता का नाम वाहगुरु ही विशेष कर प्रिय लगता है। वैष्णव धर्म-मतो की शब्दावली को उन्होने अपना तो लिया है, परन्तु वासुदेव और नारायण अथवा विष्णु से उनका वही आशय नही जैसा कि वैष्णव आचार्यों का। अभिनवगुप्ताचार्य परमतत्व को 'अनुत्तर' कह कर उसे नाम की सीमा मे बाँधना असम्भव बतलाते है।[1] आदिग्रन्थ मे वर्णित वाहगुरु के स्वरूप की चर्चा करते हुए पीछे हम बतला आये है कि तदनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वाहगुरु की इच्छा का ही साकार रूप है। वाहगुरु का यह स्वभाव ही उसकी 'शक्ति' 'हुकम' 'कुदरत' एव 'इच्छा' है। हमारे विचार मे शक्ति की अपेक्षा उसे वाहगुरु के स्पन्द स्वभाव का 'सक्रिय पक्ष' कहना ही अधिक समीचीन है। वाहगुरु केवल स्वप्रकाशित सत्ता ही नही, अपितु उसे अपने प्रकाश रूप का परिपूर्ण ज्ञान भी है। सत्ता सत् की होती है, और सत् का दिखाई देना आवश्यक है। यदि सत्-तत्त्व प्रकाशस्वरूप न हो तो वह दिखलाई नही दे सकता। प्रकाशस्वरूप होने के कारण ही वाहगुरु स्वतन्त्र सत्ता है। इसके साथ ही वह उपर्युक्त विशिष्टताओ और योग्यताओ Potentialities के कारण अन्य पदार्थों के अस्तित्व का कारण भी है। इसी को काश्मीर शैव दर्शन मे शिव और शक्ति के अभिधान के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

अद्वैतवेदान्तियो के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए हम बतला आए है कि उनके विचार से जगत की सत्ता यथार्थ नही, वह केवल आभास या प्रतीति है। इस आभास

---

[1] त० आ० ३।२४ से २८, नैषशक्तिर्महादेवी... ... .दुर्विज्ञेया हिसावस्था किमप्येदमनुत्तरम् ॥

के कारण ही ब्रह्म की ईश्वर और जीव के रूप मे प्रतीत होती है। अद्वैतवेदान्त मे ब्रह्म का जिस रीति से विवेचन किया गया है, वह शब्द स्वभाव वानी परिपूर्ण सत्ता सिद्ध नहीं होता। आदिग्रन्थ मे अविद्या और माया की चर्चा तो की गयी हैं, परन्तु वहाँ यह नहीं माना गया कि अविद्या अथवा माया वाहगुरु को आवरण मे ले लेती है या ले सकती है। तदनुसार वाहगुरु तो स्वयं मायापति हैं, परन्तु इस रूप मे नहीं, जिस रूप मे वासुदेव अथवा नारायण को वैष्णवाचार्यों ने मायापति माना है।

आदिग्रन्थ मे कहा गया है कि वाहगुरु ने अपने आप को अपनी इच्छा से विश्व के रूप में अभिव्यक्त किया है। वही करण और कारण दोनो है अथवा वही अपने रूप को देख कर रस ले रहा है। वाहगुरु-स्वरूप के उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि उसके द्वारा जगत की रचना और सहार कमल के उन्मीलन और निमीलन जैसा है। अर्थात् परमसत्ता ही त्रिगुणातीतता से जगत का रूप धारण करती है और पुन: वही अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। इसे वाहगुरु का स्वभाव, उसकी 'कुदरत' 'लीला' आदि कुछ भी नाम दिया जा सकता है। अभिधानों का भेद गुरुओ के मौलिक विचार मे किसी प्रकार का अन्तर उपस्थित नही करता। सांख्य दर्शन में पुरुष को निष्क्रिय साक्षि-चैतन्य माना गया है और संसार की रचना का कार्य प्रकृति का बतलाया गया है, परन्तु गुरु प्रकृति के कर्तृत्व वाले सांख्य-सिद्धान्त का समर्थन नही करते और न ही वे वाहगुरु को मात्र 'साक्षि-चैतन्य' ही मानते है। अतः उनके 'वाहगुरु के स्वरूप' का सांख्य दर्शन के 'पुरुष' से दूर का भी सम्बन्ध नही है। वे जीवो की सांख्या अर्थात् जीवो के अनेकत्व को भी स्वीकार नही करते।

अद्वैतवेदान्तियो का ब्रह्म चैतन्य सत्ता तो है, परन्तु उन्होंने जगत की प्रतीति माया और अविद्या के कारण मानी है। अत. उनके विचार मे ब्रह्म जगत का उस प्रकार रचयिता नही जिस प्रकार आदिग्रन्थ मे उसे ब्रह्माण्ड का स्रष्टा माना गया है। विज्ञानवादी तथा शून्यवादी बौद्धों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों के साथ आदिग्रन्थ के विचारो की तुलना करना ठीक नही है, क्यो कि दार्शनिक चिन्तन के स्तर पर तथा साधना के क्षेत्र मे वे सर्वातीत स्वतन्त्र चेतन सत्ता के सिद्धान्त को अन्य आस्तिक दर्शनो की भाँति स्वीकार ही नही करते। विज्ञानवादी बौद्ध चित्त के सिवाय अन्य किसी भी दूसरे पदार्थ या विषय को स्वतन्त्र सत्ता नही मानते और ठीक उन्ही की तरह शून्यवादी बौद्धों ने भी समूचे जागतिक व्यापार को 'शून्य' ही माना है। दोनों सम्प्रदायो की विचारधारा आदिग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित 'वाहगुरु' के स्वरूप तथा जीव और जगत सम्बन्धी विचारो से पूर्णरूपेण भिन्न है।

विशिष्टाद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत इन सभी सम्प्रदायों मे परमसत्ता के बारे मे जिस रीति से विचार हुआ है तथा इनकी अवतार एव व्यूह आदि के बारे मे जो मान्यताएँ है, वे भी आदिग्रन्थ की विचारधारा से मेल नहीं खाती। इसमे राम और कृष्ण, वासुदेव, विष्णु और नारायण की चर्चा वैष्णव सम्प्रदायो से भिन्न रूप मे

की गयी है। सिक्ख गुरु वाहगुरु के अनन्य भक्त है, अत: जहाँ तक भक्ति सम्बन्धी धारणाओ का प्रश्न है, किसी भक्त का उससे विरोध नही हो सकता। भक्ति-साधना के लिए भक्ति के बंधी स्वरूप के स्थान पर उन्होने उसका केवल मानसीकरण किया है। उनकी शेष बहुत सी बाते अन्य भक्ति-सम्प्रदायो के विचारो से पर्याप्त समानता रखती है।

आदिग्रन्थ मे वर्णित वाहगुरु को 'पूर्ण अस्मिता चैतन्य' भी कह सकते है। यह वह अस्मिता-भाव है, जिसमे समूची ब्रह्माण्डरूपता की अनुभूति समाहित है। जिस प्रकार वट के बीज मे वट-वृक्ष समाया रहता है, उसी प्रकार वाहगुरु मे सारी सृष्टि सूक्ष्म रूप मे समाई रहती है। ब्रह्माण्ड की रचना को हम वाहगुरु की उच्छलता कह सकते है क्योकि गुरुओ की दृष्टि मे ब्रह्माण्ड की रचना के उपरान्त भी उसके निजी स्वरूप मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। आदिग्रन्थ के अनुसार वाहगुरु को सृष्टि की रचना के लिए रजोगुण के विक्षोभ अथवा परमाणुओ की सहायता की आवश्यकता ही नही है। यही कारण है कि उसमे सृष्टि का निर्माण करने के लिए माया या अविद्या को अनादि एवं अनिवर्चनीय सत्ता ही नही माना गया। द्वैत-सिद्धान्त और पराद्वैत-सिद्धान्त की धारणाएँ भी परस्पर समान नही है। आदिग्रन्थ के अनुसार अद्वैत (प्रभु) मे ही द्वैत या सृष्टि को साकार करने की पूर्ण सामर्थ्य है। वाहगुरु स्वयं मात्र स्पन्द नहीं, वह संवित्सागर है। स्पन्द का यह उन्मीलन एव निमीलन उसकी शक्ति, इच्छा, विद्या अथवा महामाया है।

आदिग्रन्थ मे बार-बार वाहगुरु की इच्छा का उल्लेख किया गया है। कुरान मे भी खुदा द्वारा 'कुन' का उच्चारण करते ही कायनात के निर्माण का उल्लेख मिलता है। परन्तु वाहगुरु की इच्छा 'कुन' नही है। वह उसका स्पन्द है, जो अभेद से भेद की ओर अग्रसर होने का उसका अपना ही उन्मीलन पक्ष है। कुरान मे यह नही बतलाया गया है कि परमात्मा किस प्रकार सारी कायनात मे समाया हुआ है क्योकि तदनुसार अल्लाह ही जगत का रूप धारण नही करता। वह शक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राट् की भाँति सिंहासन पर बैठता है और 'कुन' कहकर सारी कायनात को बना डालता है। गुरुननाक के द्वारा वर्णित माया और वाहगुरु की इच्छा दोनो एक ही सिद्धान्त या दार्शनिक विश्वास है। वाहगुरु की इच्छा, पूर्ण स्वतन्त्रता है। यद्यपि गुरुनानक ने सृष्टि-क्रम का कही उल्लेख नही किया परन्तु वाहगुरु द्वारा स्वयं जीव रूप धारण करने के सिद्धान्त को मान लेने पर यह कहा जा सकता है कि पराद्वैतसत्ता ने विद्या दशा की इच्छा करने के बाद अपनी माया या शक्ति के द्वारा ही जीव रूप धारण किया हुआ है। समूचे आदिग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन करने पर ही हम उनके मूल दर्शन के सैद्धान्तिक स्वरूप का यही विवेचन कर सकते है। अन्य दर्शनो से आदिग्रन्थ के वाहगुरु के स्वरूप के अन्तर का यही स्वरूप एव वैशिष्ट्य है।

द्वितीय खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा में जीव

१ | जीव-स्वरूप सम्बधी आरम्भिक धारणाएँ

भारतीय दर्शन-परम्परा उस स्रोतस्विनी के समान है जिसके मूल उत्स एव विस्तार मे अप्रत्याशित अन्तर का अनुभव होता है। यद्यपि यही स्थिति विश्व की प्रत्येक दार्शनिक परम्परा की रही है, लेकिन यह स्वीकार करने मे किसी को आपत्ति नही होगी कि इस विशाल महाद्वीपाकार देश की दार्शनिक चिन्तन की धारा एक अपूर्व एव दिलचस्प घटना है। सम्भवत इसका कारण यह है कि इस देश मे इतना अधिक सामाजिक मिश्रण हुआ है जितना ससार के किसी अन्य देश मे नही। इस देश का भौगोलिक वातावरण भी विभिन्न प्रकार की विचारधाराओ को जन्म देने का कारण बना है। इसके साथ ही जिन सामाजिक परिस्थितियो के कारण दार्शनिक मान्यताओ का जन्म होता है, उनका जैसा वैविध्य इस देश मे रहा है तथा अब भी है वैसा किसी अन्य देश मे नहीं। यही कारण है कि जिस समय हम किसी भी दार्शनिक मान्यता की चर्चा करने बैठते है, हमे बहुत पीछे की ओर देखना पडता है। भारतीय चिन्तन-परम्परा के सम्बन्ध मे भी ऐसा किये बगैर हम उसे समग्र रूप एव सही सन्दर्भ मे समझ सकने मे समर्थ नही हो सकते। जहाँ तक जीव के स्वरूप से सम्बन्धित धारणाओं आदि का सम्बन्ध है, उसके विषय मे विचार करते समय बिना प्रागैतिहासिक जीव-स्वरूप सम्बन्धी मान्यताओ का पता लगाये समूची भारतीय चिन्तन-परम्परा मे स्वीकृत जीव के स्वरूप से भली भाँति अवगत नही हुआ जा सकता। अत प्रस्तुत अध्ययन मे जीव-स्वरूप सम्बन्धी आरम्भिक मान्यताओं को प्रस्थान बिन्दु के रूप मे स्वीकार किया गया है।

● जीव-स्वरूप सम्बन्धी आदिम मानव-धारणा

मानव के जीवन के बहुपक्षी अध्ययन के आधार पर अब यह धारणा पक्की हो चुकी है कि व्यक्ति और समाज की मनोदशा युगीन व्यवस्था को जन्म देने वाली परिस्थितियो के अनुरूप रूपायित होती है। युग विशेष की परिस्थितियाँ परिवर्तन की जिस दिशा मे करवट बदलती है, उनमे जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति और व्यक्ति के माध्यम से सारे समाज के धार्मिक विश्वास कारण-कार्य-सम्बन्ध के अनुरूप निर्मित

होने लगते है। तदनन्तर साकार होने वाली दार्शनिक मान्यताएँ भी सामाजिक व्यवस्था से प्रेरित होती है, जिसके फलस्वरूप समय पाकर धार्मिक विश्वासो और दार्शनिक मान्यताओ मे परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। मनुष्य न तो किसी धार्मिक विश्वास को लेकर जन्म ग्रहण करता है और न ही ये विश्वास शाश्वत एव परम सत्य ही हुआ करते है। भारतीय दर्शन-परम्परा मे जीव सम्बन्धी विश्वासो एव मान्यताओ के प्रसग मे भी यह नियम अपवाद नही है।

भारत के आदिम समाज मे तद्युगीन आर्थिक, भौगोलिक एव सामाजिक परिस्थितियो के अनुरूप ही जीव सम्बन्धी धारणाओ का निर्माण हुआ है। जीव सम्बन्धी आरम्भिक अर्थात् आदिम मानव की धारणाओ एव पूर्ण विकसित समाज मे स्वीकृत जीव-स्वरूप सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओ के तुलनात्मक अध्ययन से इस विचार की पुष्टि हो जाती है कि सभी युगो के धार्मिक विश्वास एव दार्शनिक मान्यताएँ एक जैसी नही होती। कोई भी विश्वास एव मान्यता एक साथ ही नही बन जाती या व्यक्ति को वह पहले से ही निर्मित एव दाय के रूप मे उपलब्ध नही हुआ करती। प्रसिद्ध समाजशास्त्री फ्राँसीसी विद्वान दुर्खेम ने भी यही माना है कि धार्मिक विश्वासो का रूप अपने युग की परिस्थितियो के अनुसार निर्मित होता है। वे मानव जाति की आरम्भिक धार्मिक मान्यताओ के विषय मे लिखते है कि उस युग के मानव की जीवन-यापन की पद्धति ही इस प्रकार की थी कि वह जादू-टोना एव गणचिह्नवाद तथा किसी सीमा तक सर्वात्मवाद के प्रति विश्वासी बना।[1] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय भारतीय जन-जीवन मे अतिमानवी शक्तियो के रूप मे देवी-देवताओ के अस्तित्व को स्वीकार किया गया, उस समय की परिस्थितियो मे ऐसे ही धार्मिक विश्वासो का आविर्भाव हो सकता था।

समाजशास्त्रियो के अनुसार मानव-समाज का ज्ञान-क्षितिज जब अत्यन्त सीमित था तब वह प्राकृतिक शक्तियो की तुलना मे स्वय को अत्यन्त असहाय एव असमर्थ समझता था। उसकी प्रमुख समस्या यह थी कि वह किस प्रकार अपने लिए पेट भर भोजन जुटा सके। वह कबीलो के रूप मे एक सीमित सगठन वाले समूह मे रहता था तथा उसका समस्त जीवन-व्यापार उसी व्यवस्था से अनुशासित था। उसे जगत का सचालन करने वाली किसी विश्व चैतन्यमयी शक्ति तथा जीव और जगत के साथ उस शक्ति के सम्बन्धो आदि के विषय मे सोच-विचार करने का अवकाश ही नही था। उसका अधिकाश समय जीवन की प्रतिदिन की आवश्यकताओ की पूर्ति मे ही व्यतीत हो जाता था। अत उसकी प्रत्येक समस्या व्यावहारिक (भौतिक) जगत से ही सम्बन्ध रखती थी। चेतना (जीवात्मा) और पदार्थ के स्वरूप एव इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्धो आदि के विषय मे सोचने की उसे फुर्सत नही थी। वह केवल

[1] दि एलिमेंटरी फार्म्स आफ रिलिजस लाईफ, भूमिका (१९६१) अग्रेजी अनुवाद।

प्राकृतिक शक्तियों के प्रति सबल जिज्ञासा-वृत्ति से प्रेरित तो था, लेकिन उसका तर्क-संगत समाधान प्राप्त करने में असमर्थ था।

उपर्युक्त तथ्य इसी मान्यता से सम्बन्धित है कि आदिमानव का जैसा सामाजिक जीवन था, उसी के अनुरूप जीव सम्बन्धी उसके विश्वास भी बने। उसने सर्वप्रथम जादू-टोना की शरण ली, क्योंकि जीविकोपार्जन के लिए उसे इसी से प्रत्यक्ष सहायता मिल सकती थी। जादू-टोना के प्रसंग में ही उसके धार्मिक विश्वास गणचिह्न-वाद और किसी सीमा तक सर्वात्मवाद के रूप में आगे बढ़े। इस स्थिति में उसके लिए वस्तुगत एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींच सकना सम्भव नहीं था। वह केवल इतना ही सोच सकता था कि उसके चारों ओर का संसार अलौकिक रहस्यमयता से परिपूर्ण है। इस रहस्यमयता की भावना ने आरम्भिक भारतीय समाज को पशु-पक्षियों एवं वृक्षों आदि में रहस्यात्मक आरोपण की दिशा में अग्रसर किया। उसने यह सोचा कि इनमें किसी रहस्यमयी अलौकिक शक्ति का निवास है, जो प्रसन्न रहने पर उसके जीवन में सुख का संचार कर सकती है और कुपित हो जाने की स्थिति में अनिष्टकार भी सिद्ध हो सकती है। धार्मिक विश्वासों के प्रारूपों का अध्ययन करने वालों ने इसे गणचिह्नवाद (टोटम) का नाम दिया है। इसके उपरान्त उसने विचार के क्षेत्र में और प्रगति की, जिसके फलस्वरूप वह सर्वात्मवाद की धारणा तक पहुँचा। वास्तव में गणचिह्नवाद और सर्वात्मवाद सम्बन्धी आरम्भिक धारणाएँ ही उसकी जीव सम्बन्धी मान्यताएँ हैं।

आदिमानव की सर्वात्मवादी मान्यता के सम्बन्ध में टायलर महोदय ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि यह मान्यता आरम्भिक मानव-समाज की आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति है। इस मान्यता के अनुसार व्यक्ति की आत्मा (Spirit) शरीर के नाश के साथ ही नष्ट नहीं हो जाती, बल्कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह तद्वत् बनी रहती है।[1] इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि आदिमानव की इस धारणा के अन्तर्गत धर्म का वह स्वरूप निर्मित नहीं हो पाया था, जिसे दुर्खेम विकसित धर्म के रूप में परिभाषित करते हैं।[2]

---

[1] प्रिमिटिव कल्चर, भा० २, पृ० ११, वही० भा० १, पृ० २३।

[2] दि एलिमेंटरी फार्म्स ऑफ रिलिजस लाईफ, (अंग्रेजी अनुवाद) पृ० ६१-६२।

"A religion is a unified system of beliefs and practices relative to sacred things, that is to say, things set apart and forbidden—beliefs and practices which unite into one single moral community called a Church, all those who adhere to them The secord element which thus finds a place in over definiton is no less essential than the first, for by Showing that the idea of religion is inseparable from that of the Church, it makes it clear that religion should be an eminently collective thing."

● आदिम मानव की जीव सम्बन्धी सामान्य मान्यताएँ

आदिम मानव के द्वारा मान्य सर्वात्मवाद के स्वरूप की आरम्भिक स्थिति मे देवताओ जैसी शक्तिशाली आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, जिसे उसके द्वारा स्वीकृत जीव का स्वरूप माना जा सकता है। उसकी इस मान्यता का आधार सम्भवत कबीले के शक्तिशाली सरदार थे, जिनकी आज्ञाओ एव निर्णयों को उसे शिरोधार्य करना पडता था। इसे हम बौद्धो के अर्हत, जैनो के तीर्थंकर, वैदिक आर्यो के देवता एव अन्त मे उपनिषदो के ब्रह्म की अवधारणा का मूल उत्स भी कह सकते है। आदिमानव-समाज मे धार्मिक विश्वास के रूप मे जीव के सम्बन्ध मे यह धारणा प्रचलित थी कि मानवात्मा का अस्तित्व शरीर से भिन्न है और कुछ अति मानवी आत्माएँ ऐसी है, जो व्यक्ति को सुख एव दुख देने मे पूर्ण समर्थ है।[१] आदि मानव के जीव सम्बन्धी विश्वासो के बारे मे विभिन्न मतो को सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

(क) आरम्भिक मानव समाज मे विकसित समाज जैसे धार्मिक एव दार्शनिक विश्वास नही थे।

(ख) जन-जीवन विशेषत वस्तुपरक यथार्थ से सचालित था।

(ग) जाने-अनजाने मानव की सम्पूर्ण व्यावहारिक क्रियाएं भौतिक जगत की यथार्थ स्थितियो से अनुशासित थी।

(घ) मानव-समाज प्रकृति के रहस्यो से बिल्कुल अपरिचित था और इसी कारण उसके धार्मिक विश्वास मुख्यत जादू-टोने, गणचिह्नवाद और इस धारणा मे प्रेरित थे कि आत्मा (चेतना) का अस्तित्व शरीर से भिन्न भी है। मानव-जीवन की इस मान्यता का आधार स्वप्न था, जिसमे मानवात्मा (चेतना) शरीर से स्वतन्त्र होकर भी क्रिया-रत रहती है।

(ड) सामान्य मानव से अधिक शक्तिशाली अतिमानवी जीवो की सत्ता मे विश्वास किया जाता था।

(च) कालान्तर मे ज्ञान के क्षितिज के विस्तार के कारण धीरे-धीरे यह धारणा भी बनती गयी कि व्यक्ति की अनुभूतियाँ सवेदनाएँ और विचार किसी अज्ञात आत्म-सत्ता (Spirit) के द्वारा निर्मित एव अनुशासित है।

(छ) आत्मा (चेतना) की अलग सत्ता की धारणा के कारण यह विश्वास भी था कि आत्मा दूसरा शरीर धारण करती है। वस्तुत पुनर्जन्म का मूलाधार यही मान्यता है।

(ज) वीर पूर्वजो की अतिमानवी आत्मा सामान्य मानव के भौतिक जीवन को अपनी इच्छानुसार परिचालित कर सकती है।

---

[१] प्रिमिटिव कल्चर, भाग २, पृ० ११, वही० भाग १, पृ० २३।

२ | वेदोपनिषद् में जीव-स्वरूप सम्बन्धी विचार

प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन राजनीतिक पराधीनता-जन्य परिस्थितियों के कारण पर्याप्त समय तक रुका रहा। दासता की स्थिति मे यहाँ के चिन्तको की मनोवृत्ति ही ऐसी बनी रही कि उन्होंने अपने अतीत के गौरव की ओर ध्यान ही नही दिया। फलस्वरूप हम अपनी परम्परा के प्रति बहुत अधिक उदासीन हो गये। खोज और अन्वेषण की जिज्ञासा के अभाव के कारण देश की जनता केवल कुलाचार के माध्यम से प्राप्त परम्पराओ का आँख मूँद कर आचरण करती रही। पश्चिम के विद्वानो मे विभिन्न क्षेत्रो की जानकारी की जिज्ञासा हुई, जिसके फलस्वरूप उन्होने प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया। उनके इस अध्ययन का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो लेकिन इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि इस देश के विद्वानो ने प्राचीन साहित्य मे निहित भारतीय विचारधारा के गौरव को पाश्चात्य विद्वानो के अध्ययन के आलोक मे ही अधिक देखा और समझा है। भारतीय चिन्तन-परम्परा के अध्ययन मे उपलब्ध तथ्यो के आधार पर प्राय इसी निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि भारतीय चिन्तन-परम्परा मात्र आदर्शवादी ही नही रही है। गहराई मे देखने पर आरम्भ से ही इसके समानान्तर एक भौतिकवादी विचारधारा भी सक्रिय दिखायी देती है। अत जीव-स्वरूप के सम्बन्ध मे विचार करते समय हमे भौतिकवादी दृष्टिकोण को भी उचित महत्त्व देना चाहिए।

● वेदों में जीव-विचार

आदर्शवादी एव भौतिकवादी तत्त्वो का मिश्रण—'वेदो मे जीव-विचार' के सम्बन्ध मे कुछ कहने से पहले लोकमान्य तिलक के विचार, जो उन्होंने गीता रहस्य मे व्यक्त किये है, उद्धृत करना सगत प्रतीत होता है। वे लिखते है कि दु ख से सभी मुक्ति चाहते है और सभी सुख की कामना करते है। इसी प्रसग मे उन्होंने आधिभौतिक सुखवाद की चर्चा की है और भारतीय भौतिकवादियो का वही स्वरूप प्रस्तुत किया है, जैसा कि सर्वदर्शनसग्रहकार माधवाचार्य तथा आदर्शवादी विचारक आचार्य शकर ने। आगे चलकर उन्होने आधिभौतिकवादियो के विषय मे इस प्रकार अपना विचार व्यक्त किया है

"इसलिए हम देखते है कि उन पण्डितो को भी कर्मयोग शास्त्र बहुत महत्त्व का मालूम होता है कि जो लोग पारलौकिक विषयो पर अनास्था रखते है, या जिन लोगो का अव्यक्त अध्यात्मज्ञान (ईश्वर) मे विश्वास नही है। ऐसे पण्डितो ने पश्चिमी देशो मे इस बात की बहुत चर्चा की है—और वह चर्चा अब तक जारी है—कि केवल आधिभौतिक शास्त्र की रीति से (सासारिक दृश्य युक्तिवाद) कर्म-अकर्मशास्त्र की उपपत्ति दिखायी जा सकती है या नही। इस चर्चा से उन लोगो ने निश्चय किया है कि नीतिशास्त्र का विवेचन करने मे अध्यात्मशास्त्र की कुछ भी आवश्यकता नही है। किसी कर्म के भले या बुरे होने का निर्णय उस कर्म के बाह्य परिणामो से -जो प्रत्यक्ष दीख पडते है, किया जाना चाहिए, और ऐसा ही किया भी जाता है। क्योकि, मनुष्य जो-जो कर्म करता है, वह सब सुख के लिए या दुख-निवारणार्थ ही किया करता है और तो क्या 'सब मनुष्यो का सुख' ही ऐहिक परमोद्देश है, और यदि सब कर्मो का अन्तिम दृश्य फल इस प्रकार निश्चित है, तो नीति-निर्णय का सच्चा मार्ग यही होना चाहिए कि सब कर्मो की नीतिमत्ता निश्चित की जाय।" वे सुखवादियो का वर्ग-विभाजन करते हुए पुन लिखते है

"उनमे से पहला वर्ग केवल स्वार्थ सुखवादियो का है। इस पन्थ का कहना है कि परलोक और परोपकार सब झूठ है। आध्यात्मिक धर्मशास्त्रो को चालाक लोगो ने अपना पेट भरने के लिए लिखा है। इस जगत मे स्वार्थ ही सत्य है, और जिस किसी उपाय से स्वार्थ सिद्ध हो सके, अथवा जिसके द्वारा स्वय अपने आधिभौतिक सुख की वृद्धि हो उसको न्याय, प्रशस्त या श्रेयस्कर समझना चाहिए। हमारे हिन्दुस्तान मे बहुत पुराने समय मे चार्वाक ने बडे उत्साह से इस मत का प्रतिपादन किया था और रामायण मे जाबालि ने अयोध्याकाण्ड के अन्त मे श्रीरामचन्द्र जी को जो कुटिल उपदेश दिया है वह, तथा महाभारत मे वर्णित कणिकनीति (म० भा० आ० १४२) भी इसी मार्ग की है। चार्वाक का मत है कि जब पचमहाभूत एकत्र होते है, तब उनके मिलाप से आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है, और देह के जलने पर उसके साथ-साथ यह भी जल जाता है। इसलिए विद्वानो का कर्तव्य है कि आत्मविचार के झझट मे न पड कर जब तक वह शरीर जीवित अवस्था मे है, तब तक 'ऋण लेकर भी त्यौहार मनावे, क्योकि मरने पर कुछ शेष नही रह जाता। चार्वाक हिन्दुस्तान मे पैदा हुआ था, इसलिए उसने घृत ही से अपनी तृष्णा बुझा ली। नही तो उक्त सूत्र (ऋण कृत्वा घृत पिबेत्) का रूपान्तर 'ऋण कृत्वा सुरा पिबेत्' होता।"[1]

लोकमान्य तिलक का गीता भाष्य (गीता रहस्य) अध्यात्मवादी एव आदर्शवादी मान्यताओ से प्रेरित होकर लिखा गया है। इसलिए चार्वाको (भौतिकवादियो) के प्रति उनकी यह मान्यता माधवाचार्य एव आचार्य शकर की धारणाओ की समकक्षी है।

---

[1] गीता रहस्य, आधिभौतिकसुखवाद, पृ० ८१।

लेकिन इस प्रकार से व्यक्त किये गये विश्वासो के अध्ययन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता की रचना तक अवश्य एक ऐसी विचारधारा पूरी शक्ति के साथ इस अवधारणा के प्रचार मे निरत थी, जिसके अनुसार न तो ईश्वर का अस्तित्व ही स्वीकार किया गया था और न ही आत्म-सत्ता के विषय मे यह मान्य था कि स्वतन्त्र चैतन्य के रूप मे वह शरीर से भिन्न अनादि, अनन्त एव शाश्वत सत्ता है। यही से हमे यह आधार भी प्राप्त हो जाता है कि भारतीय चिन्तन पूर्णतया अध्यात्म-मूलक ही नही रहा, उसका एक पक्ष भौतिकवादी चिन्तन-परम्परा से भी जुडा हुआ है। अब यह तथ्य स्पष्ट होकर सामने आ गया है कि सिद्धान्त किसी अन्वेषण का प्रस्थान बिन्दु न होकर 'अन्वेषण की उपलब्धि' होता है। जिस युग की जैसी आर्थिक एव तज्जन्य सामाजिक परिस्थितिया हुआ करती है, उन्ही के अनुरूप उस युग के धार्मिक विश्वास एव दार्शनिक अवधारणाएँ भी निर्मित होती है।

उपनिषत्पूर्व विचारधारा के सम्बन्ध मे एम० हिरियन्ना का मत है कि उस समय की विचारधारा का निर्माण करने वाली सामग्री हमे दो मूल स्रोतो से प्राप्त होती है जिनमे पहला है भारत मे आकर बस जाने के बाद आर्यो द्वारा रचित मन्त्र और दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ। मन्त्र काल की परवर्ती कृतियाँ (ब्राह्मण ग्रन्थ) कर्म-काण्ड प्रधान एव आदेश ग्रन्थ है। तदन्तर उपनिषदो का स्थान आता है। अथर्ववेद से लेकर उपनिषदो के अन्तर्वर्ती समय मे सामाजिक जीवन मे पर्याप्त अन्तर आ गया था, जिसके कारण चिन्तन के क्षेत्र मे परिवर्तन स्वाभाविक था। अत उपनिषदो मे जिस ब्रह्मवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है, वस्तुत वह वैदिक समाज की प्रेरक शक्ति नही था। कहा जाता है कि वरुण देवता की अवधारणा आर्य अपने साथ यहा लाये थे। बाद मे यहाँ की परिस्थितियो के अनुरूप उन्होने इन्द्र देवता की अवधारणा का निर्माण किया, और ऐसी स्थिति मे प्रधान देवता वरुण गौण बन गया। वैदिक देवता प्राकृतिक शक्तियो के अनुरूप ही कल्पित किये गये है। इस दृष्टि से यूनानी और वैदिक आर्यो के देवताओ के व्यक्तित्व मे पर्याप्त साम्य है। जिस प्रकार यूनानी देवता अतिमानव के रूप मे हमारे सम्मुख आते है उसी प्रकार का व्यक्तित्व वैदिक देवताओ को भी प्राप्त हुआ है। यह बात और है कि परिस्थितियो मे परिवर्तन की तेजी आ जाने के कारण यह व्यक्तित्वारोपण की प्रक्रिया वैदिक देवताओं के सम्बन्ध मे अधूरी ही रह गयी है और आदर्शवादी (ब्रह्मवादी) प्रभाव के कारण यह व्यक्तित्व पुनः निराकार की ओर उन्मुख हो गया है। फिर भी इन्द्र मे जो अहकार, हिंसा एव शौर्य दिखायी देता है, वह असाधारण मानव के व्यक्तित्व के अनुरूप है। वैदिक आर्य जाति का मूल लक्ष्य ऐहिक सुखो की प्राप्ति एव उन सुखो के मार्ग मे आने वाली बाधाओं का निराकरण था। ऐसी स्थिति मे न तो स्वर्ग और नरक की अवधारणा के लिए ही अवकाश था और न जन्मान्तर का ही कोई प्रश्न उठ सकता था।

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों मे अभिव्यक्त विश्वासों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'ऋत' की अवधारणा बन जाने पर भी आरम्भिक वैदिक आर्यों की आत्म-अवधारणा जैसी कोई मान्यता नहीं बन पायी थी। परलोक और जन्मान्तर जैसी मान्यताएँ भी तब तक अज्ञात थी। उपनिषद् और गीता मे उत्तरोत्तर विकसित 'लिंग शरीर' वाली अवधारणा भी संहिता-काल मे नही बन पायी थी। यद्यपि आर्य-पूर्व समाज की मान्यताएँ एव विश्वास अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया मे स्वीकार किये जाने लगे थे, लेकिन तब तक का समाज ऐसी व्यवस्था मे नही पहुँचा था, जिसमे ब्रह्मवादी अवधारणा को पल्लवित एव पुष्पित होने का अवसर मिलता। इसलिए कर्म की अवधारणा भी भिन्न प्रकार की थी। ब्राह्मण ग्रन्थो एव उपनिषदो की कर्म विषयक अवधारणा का निर्माण अभी भ्रूणावस्था मे ही था। इस सम्बन्ध मे हम स्पष्ट रूप मे कह सकते है कि संहिता-काल मे जीव के स्वरूप आदि के सम्बन्ध मे आदर्शवादी दृष्टिकोण नही बन पाया था और न पदार्थ-जन्य चेतना की अवधारणा ही बन सकी थी - यद्यपि आधार दोनो अवधारणाओ के लिए निर्मित हो रहा था।

● वेदों मे जीव-स्वरूप सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण

वैदिक साहित्य (संहिताओ) मे वर्णित आर्यों की आरम्भिक जीवन-दृष्टि के अध्ययन से पता चलता है कि सभ्यता के युग मे प्रवेश करने से पहले उनके जीव सम्बन्धी विचार दैनंदिन जीवन की परिस्थितियो से ही अधिक प्रभावित थे। उनके जीवन का अधिकाश समय यथार्थ समस्याओ अर्थात् जीविकोपार्जन मे ही व्यतीत होता था। उनके लिए सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत रहस्यमय था। प्राकृतिक शक्तियो एव देश के मूलनिवासियो (सिन्धु-सभ्यता वालो) पर विजय प्राप्त करना ही उनकी तब तक की मुख्य समस्या थी। जीवन की उक्त यथार्थ समस्याओ से निपटने के लिए उन्होंने इन्द्र, वरुण, अग्नि एव सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियो मे देवत्व का आरोप किया। तब तक वे जीव (मानव-चेतना) की स्थिति अथवा उसके स्वरूप आदि के सम्बन्ध मे अधिक कुछ नही सोच सके थे। न ही उनका ध्यान इस ओर ही गया था कि प्रत्येक मनुष्य का चैतन्य अलग-अलग है और हर एक शरीर मे एक ही चेतन सत्ता का निवास है। शरीर के विनाश के उपरान्त जीव के आवागमन के सम्बन्ध मे भी वे अधिक विचार नही कर पाए थे। ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओ मे जीव के आवागमन एव उसकी मुक्ति आदि के सम्बन्ध मे हमे कोई निश्चित धारणा नही प्राप्त होती।

प्राकृतिक शक्तियो मे देवी-देवताओ का आरोपण कर उनसे अपनी मनोकामना की पूर्ति के हेतु ही आरम्भिक (वैदिक) आर्य जाति यत्नशील दिखाई देती है। देवताओ को प्रसन्न करने के हेतु किए जाने वाले यज्ञो आदि मे अन्तर्निहित ऋषियों की धारणा से यह स्पष्ट है कि आरम्भिक वैदिक समाज मात्र अभ्युदय कामी ही था। वह दैनिक जीवन में काम आने वाली सामग्री एव साधनो के लिए

यज्ञयागादि के द्वारा देवताओ से याचना करता था कि वे उसके शत्रुओ का नाश करके उसके जीवन को सुख-समृद्धि से सम्पन्न बनाएँ। आरम्भिक वैदिक समाज मे देवताओ मे उन्ही शक्तियो का आरोप किया गया है, जो उसे प्राप्त नही थी और जिन्हे वह अपने जीवन मे साकार देखना चाहता था। वैदिक देवतावाद के पीछे यही प्रेरणा क्रियाशील दिखलाई देती है। जीव के स्वरूप आदि के सम्बन्ध मे वेदो में वर्णित आरम्भिक आर्य जाति की मान्यताएँ दार्शनिक चिन्तन की ऐसी उपलब्धियाँ नही है, जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि उनमे परवर्ती अध्यात्म-चिन्तन की भाँति जीव के स्वरूप, उसके पुनर्जन्म आदि के सम्बन्ध मे कोई निश्चित दृष्टिकोण अपनाया गया है।

पूर्ववर्ती वैदिक ऋचाओ मे वर्णित धार्मिक विश्वासो के सम्बन्ध मे के० दामोदरन का मत है कि ऋग्वेद विभिन्न देवी-देवताओ को अर्पित प्रशस्ति-पूर्ण स्तुतियो एव प्रार्थनाओ का सकलन है।[1] इनके अनुसार वैदिक आर्यो ने जड-चेतन सृष्टि की रचना के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न दृश्यो से विचार किया है। इससे यह अनुमान लगाना असगत नही कि वे पच महाभूतो से ही जगत की रचना स्वीकार करते प्रतीत होते है, लेकिन जीव के चैतन्य के विषय मे उनकी अलग से कोई विशेष मान्यता स्थिर नही हो पाई थी। डा राधाकृष्णन का भी विचार है कि ऋग्वेद के ऋषियो ने पच महाभूतो को भी जगत के चरम सत्य (मूल भौतिक कारण) के रूप मे स्वीकार कर लिया था। उनकी यह धारणा सम्पूर्ण परिवर्तनशील वस्तुओं के मूलाधार की खोज की जिज्ञासा के उत्तर मे सम्बन्धित थी।[2] के दामोदरन ऋग्वेद के जीव सम्बन्धी इन विचारो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि वैदिक ऋषि पदार्थ को भी जगत की रचना का मूल कारण स्वीकार करता था।[3] जगत, जिसमे जीव भी शामिल है, मे वैदिक ऋषियो का आशय जड-चेतन सृष्टि से है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जीव-चैतन्य की उत्पत्ति मूल पदार्थ (द्रव्य) से मानने की धारणा भी किसी न किसी रूप मे वैदिक समाज मे थी।

आरम्भिक वैदिक विचारको के जीव सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे नासदीयसूक्त मे वर्णित ब्रह्माण्ड की चर्चा भी महत्त्वपूर्ण है। अध्यात्मवादियो एव भौतिकवादियो—दोनो ने इस सूक्त मे वर्णित ब्रह्माण्ड-रचना सम्बन्धी विश्वासो की व्याख्या अपने-अपने ढग से की है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे वैदिक देवतावाद की धारणाओं मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। देवाधिदेव की धारणा से पहले इन्द्र, मित्र, वरुण एव अग्नि आदि को अलग-अलग तथा स्वतन्त्र देवता माना गया था और भिन्न-भिन्न प्राकृतिक शक्तियो को ही देवत्व प्रदान किया

---

[1] भारतीय चिन्तन-परम्परा, (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३७।

[2] भारतीय दर्शन भा० १, वैदिक प्रकरण।

[3] भारतीय चिन्तन-परम्परा, अध्याय २।

गया था। लेकिन देवाधिदेव की मान्यता के निर्माण के बाद इन देवताओं को विराट पुरुष या हिरण्यगर्भ (देवाधिदेव) की विभिन्न शक्तियाँ या अभिधान मान लिया गया। इससे देवताओं के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता का विचार गौण होता गया तथा जीव और जगत के प्रसंग में परमसत्ता के अद्वैतत्व का महत्व बढ़ गया। नासदीयसूक्त में स्पष्ट रूप से परमसत्ता को हिरण्यगर्भ का अभिधान देकर ब्रह्माण्ड की रचना एवं उसमें पूर्व की स्थिति पर विचार किया गया है।

आरम्भिक वैदिक समाज में जगत की रचना के मूलाधार की चर्चा करते हुए के० दामोदरन ने कुन्हन महोदय के साक्ष्य पर इस मत का प्रतिपादन किया है कि नासदीयसूक्तकार के अनुसार आत्मा (जीव-चैतन्य) पदार्थ से अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।[1] कुन्हन का मत है कि नासदीयसूक्त में पदार्थ से अलग आत्मा के स्वतन्त्र चैतन्य की चर्चा नहीं की गयी है। सूक्तकार के अनुसार सम्पूर्ण दृश्य जगत अनन्त है। यह अनन्त ही हमें अनुभव-जगत के पदार्थ और क्रिया के द्वारा रूपायित दिखायी देता है। पूर्ण एवं एकान्तिक सत्ता के रूप में स्थित अनन्त में ही जीवन-तत्त्व की स्थिति है। यह विश्वास अनीश्वरवादियों की उस धारणा की ओर संकेत है, जिसके अनुसार पदार्थ ही मूल कारण है। विश्व की प्रक्रिया का कोई (उससे भिन्न) स्रष्टा नहीं क्योंकि भौतिकवादी पूर्ण एकान्तिक सत्ता (अनन्त) में ही जीवन-शक्ति को अन्तर्निहित मानने तथा परिवर्तन और गतिमय संसार के विकास को भी उसी अनन्त पदार्थ में अन्तर्भुक्त स्वीकार कर लेते हैं।[2] ऋग्वेद में हमें देवताओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में कहीं-कहीं सन्देह की भावना भी प्राप्त होती है। वैदिक विचारधारा के आदर्शवादी व्याख्याताओं ने भी किसी न किसी रूप में वेदों में जीव के सम्बन्ध में भौतिकवादी मान्यता की स्थिति को स्वीकार किया है।

● उपनिषदों में जीव सम्बन्धी भौतिकवादी धारणा

उपनिषदों में विभिन्न प्रसंगों में जड़-चेतन सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में बार-बार जिज्ञासात्मक प्रश्न उठाये गये हैं। उस युग के विचारकों में यह पूछा जाता रहा है कि जगत (मानव एवं मानवेतर जड़-चेतन) की रचना किसने और किस प्रकार से की है? सृष्टि का मूल उत्स क्या है और वह उससे किस तरह उत्पन्न, अभिव्यक्त एवं विकसित या निर्मित हुई है? इसके साथ ही इस विषय में भी जिज्ञासा व्यक्त की गयी है कि चेतन जगत (जीव) की चेतना का मूलाधार क्या है? मानव को जीवन में प्राप्त होने वाले सुखों और दुःखों के कारण का कौन-सा समाधान स्वीकार किया जा सकता है? क्या मानव-जीवन की कोई सूत्रधार चेतन शक्ति है

---

1. भारतीय चिन्तन-परम्परा, पृ० ८१, 'पोस्ट फिलासफर्स ऑफ दि ऋग्वेद, के आधार पर।
2. डी० सी० कुन्हन, पोस्ट फिलासफर्स ऑफ दि ऋग्वेद, पृ० २३०।

अथवा उसके सुख और दुःख उसके भौतिक जीवन के ही क्रिया-व्यापार है जो कारण-कार्य व्यापार से सम्बन्धित है ? जीव सम्बन्धी ये प्रश्न उपनिषदों में जीवन की यथार्थ स्थिति से अवगत होने के लिए ही किये गये है।

उपनिषद मुख्यतः अध्यात्मविद्या (पराविद्या) प्रधान है फिर भी उनमें भौतिक-वादी दृष्टि का सर्वथा अभाव नहीं है।[१] उनमें जगत के प्रसंग में किये गये प्रश्नों के उत्तर में जीव सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण भी प्राप्त होता है। उपनिषदों की विचारधारा के तत्काल बाद जिस जैन एवं बौद्ध विचारधारा का सूत्रपात हुआ, वह औपनिषदिक ब्रह्मवादी दृष्टिकोण से पर्याप्त भिन्न एवं कर्म-फल के सम्बन्ध में ईश्वर की सत्ता के हस्तक्षेप की विरोधी थी। जैनसूत्रों एवं बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे विचारकों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है जो सबल तर्कों एवं युक्तियों के द्वारा ईश्वर वादी मान्यताओं का कटु विरोध करते थे। इससे यह अनुमान भी लगाया गया है कि वैदिक काल में जो भौतिकवादी अथवा यथार्थ दृष्टिपरक विचार, एक विशेष सामा-जिक व्यवस्था में, भ्रूण-स्थिति में विद्यमान थे, वे कालान्तर में उपनिषदों में मान्य ईश्वरवाद के बाद दार्शनिक विचारधारा का रूप धारण करने लगे थे। अतः इसमें सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता कि जिस समय उपनिषदों के विचारक ब्रह्मवाद का प्रचार कर रहे थे, उस समय पदार्थ को ब्रह्माण्ड का मूलकारण स्वीकार करने वाले विचारक भी विद्यमान थे। औपनिषदिक विचारधारा का गहरा चिन्तन-मनन करने वाले जर्मन विद्वान ड्यूसन एवं भारतीय चिन्तक डाक्टर राधाकृष्णन और हिरियन्ना ने भी यह स्वीकार किया है कि उपनिषदों के विचारकों ने किसी पूर्व निर्मित एवं निर्धारित धारणा का आश्रय न लेकर जीव और जगत सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया है।[२] इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि उपनिषदों में भी जीव के सम्बन्ध में भौतिकवादी दृष्टिकोण का अस्तित्व है।

उपनिषदों में एक ओर अनादि आत्मतत्त्व से सृष्टि की रचना की धारणा का प्रतिपादन हुआ है तो दूसरी ओर जगत का अनादि एवं मूल कारण पदार्थ भी बतलाया गया है। तदनुसार जगत की रचना, उसकी स्थिति एवं क्रियाशीलता (गति) पदार्थ के अन्तर्निहित गुण के कारण मानी गयी है।[३] वेदोपनिषत्साहित्य में 'ब्रह्म' (परमसत्य) के कई अर्थ हमें प्राप्त होते है। कहीं पर 'ब्रह्म' शब्द वेद का वाचक है और कहीं पर उसका प्रयोग वैदिक कर्मकाण्ड के लिए किया गया है। कहीं ब्रह्म को

---

१ Lokayata (A study in Ancient Indian Materialism) B Chattopadhyaya, Cronology, Probably between 800 B C. and 600 B. C.

२ दि प्रिंसिपल उपनिषत्स, पृ० ५८१, ७०६, बृ० उप० २-१-१६।

३ छान्दो० उप० ६-२-१ से ३, बृ० उप० ५-५-१, तैत्ति० उप० २-१-१, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत । आकाशाद्वायु, वायोरग्नि, अग्नेराप, अद्भ्य पृथ्वी, पृथिव्या औषधय, औषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेत रेतस पुरुष × × ×॥

'रहस्यपूर्ण शक्ति' का पर्याय माना गया है तो कही वह मन्त्र-शक्ति के अर्थ का द्योतक है। कही-कही ऋत (ब्रह्माण्डीय सिद्धान्त) के लिए भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग मिल जाता है। अन्तिम सत्य के रूप मे ब्रह्म का प्रयोग करते हुए उपनिषदों मे उसे पदार्थ, प्राण, मन बुद्धि और अन्त मे आनन्द के रूप मे वर्णित किया गया है। इस प्रकार के प्रसगो की व्याख्याएँ भौतिकवादी एवं अध्यात्मवादी विचारक अपने-अपने ढंग से करते है। इससे भी इसी मत की पुष्टि हो जाती है कि उपनिषदों के रचयिताओ के सम्मुख जीव सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण अवश्य विद्यमान था और वे उसकी चर्चा के लिए विवश थे। आदर्शवादी विचारक जिस समय बल देकर इस मत का प्रतिपादन करते है कि जीव अनादि एव शाश्वत चैतन्य है,[1] तब यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि उन्हे अवश्य किसी ऐसी विचारधारा का खण्डन भी करना था, जो जीव (चेतना) को पदार्थ-जन्य मानने के साथ ही पदार्थ को ब्रह्माण्ड का मूल कारण भी स्वीकार करती थी। उसके अनुसार चेतना की उत्पत्ति पदार्थ के समवाय मे ही निहित थी।

● **वेदोपनिषद् में जीव-स्वरूप सम्बन्धी आदर्शवादी अवधारणा**

यह तथ्य विद्वानो द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि वैदिक आर्य भी आरम्भ मे ही रहस्यपूर्ण चिन्तन और मनन एव परलोक की अवधारणाओ के प्रति उस सीमा तक व्यस्त नही हो गये थे, जिसका अवलोकन हमे उनके द्वारा व्यक्त अध्यात्म सम्बन्धी विचारो मे प्राप्त होता है। वे जन्मान्तरवाद जैसी मान्यता जीवन-यापन के पहले उत्थान मे ही नही बना पाये थे और न ही जीवनादर्श के रूप मे ज्ञान, भक्ति और कर्म के उपायो की परवर्ती धारणाएँ ही उनके द्वारा स्वीकार की गयी थी। ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओ मे उन्होंने ऐहिक जीवन की जैसी सुखमयी कामना की है, उसे यहाँ के मूलनिवासियो के साथ हुए उनके संघर्ष के सदर्भ मे रख कर देखने से पता चलता है कि तब तक 'स्वर्ग की कामना के लिए यज्ञ करने' का विचार भी निर्माण की स्थिति मे ही था। ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे देवताओ से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि दस्युओ का नाश करने मे समर्थ वे उनके इन शत्रुओं के शस्त्रों का नाश करे।[2] वरुण उनका सेनानायक देवता था। अग्नि देवता से वे जीवन का वरदान मांगते थे। देवताओं से दो ही प्रधान वस्तुएँ प्राप्त करना चाहते थे—एक शत्रुओ पर विजय और दूसरी भौतिक उन्नति, लम्बी आयु, पशुधन एव सन्तान धन की वृद्धि तथा हर प्रकार की सुख-समृद्धि।[3]

---

[1] छान्दो० ३-१४-१ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत × × × ।।

[2] ऋ० वे० १०-२२-८, अकर्मादस्युभि नी अमन्तुरन्यव्रतो अमानुष । त्वं तस्या मित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय ।।

[3] ऋ० वे० २-२१-६ इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्ति दक्षस्य सुभगत्वमस्मे । पोष रयीणामरिष्टि तनूना स्वाद्मानं वाच सुदिनत्वमन्हाम् ।।

वैदिक आर्यों की उक्त कामनाओं के आधार पर हम यह कह सकते है कि इस समय तक के उपलब्ध साहित्य के आरम्भिक युग मे उनकी परवर्ती जीव—स्वरूप सम्बन्धी अवधारणाएँ निर्मित नही हो पायी थी। धीरे-धीरे ही सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो एव राज्य-व्यवस्था के परिवर्तन आदि के साथ जीव, जगत एवं अन्य दार्शनिक धारणाओ का निर्माण हुआ। समय ने बहुत जल्दी ऐसी करवट ली कि एक ओर स्वर्ग की कामना के लिए यज्ञ किये जाने लगे और दूसरी ओर अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया की यात्रा मे यहाँ के मूल निवासियो के विश्वासो को भी अपनाया गया एव परिवर्तित परिस्थितियों ने भी जीव (जीवन) के सम्बन्ध मे विभिन्न रीतियों से सोचने-विचारने के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। जिन मन्त्रों मे जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है, वे परवर्ती रचनाएँ है। उनमे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उस समय तक परिस्थितियो मे पर्याप्त अन्तर आ गया था, जिन्होने मानव के यथार्थ जीवन से ऊपर उठकर अध्यात्म-चिन्तन की ओर विचारको को प्रेरित कर दिया था। इस नये चिन्तन मे जिस साहित्य की रचना हुई, वह उपनिषदे है। इन रचनाओ मे जीव के स्वरूप के विषय मे आदर्शवादी दृष्टि का प्राधान्य है --यद्यपि उपनिषदो मे जीव के सम्बन्ध मे भौतिकवादी दृष्टिकोण की चर्चाएँ भी हुई है। अत हम कह सकते है कि सहिताओ मे जीव को मुख्यत मानव-जीवन के ऐहिक रूप मे ही देखा एव विचारा गया है।

औपनिषदिक विचारधारा इस दृष्टि से दार्शनिक चिन्तन की नवीनता से सम्बन्धित है क्योंकि उसमें वैदिक कर्मकाण्ड के साथ ही जीव और जगत के साथ परम सत्ता के सम्बन्धो एव जीव के परमध्येय के विषय मे भी विचार किया गया है। उपनिषद्विचार ब्राह्मणो के द्वारा किया गया नवीन चिन्तन नही, अपितु उसमे क्षत्रिय वर्ण का भी पर्याप्त योगदान है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था के विघटन एव नयी वर्ग-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) के आविर्भाव एव उत्कर्ष की ओर बढने चरणो का समय है। राज्यो के निर्माण मे यद्यपि उस युग के ब्राह्मण वर्ण के हित भी अन्तर्निहित थे, लेकिन इसके कारण मुख्यत क्षत्रियो का प्रभुत्व बढा और उन्होने औपनिषदिक अध्यात्मविद्या के प्रचार मे विशेष रुचि का परिचय दिया। इस समय बहुदेववादी अवधारणा के महत्त्व को गौण बना कर एकेश्वरवादी विचार-धारा स्वय को अग्रिम पक्ति मे खडा करने मे सफल हुई है। उपनिषदे किसी एक ही समय मे नही लिखी गयी, क्योंकि इनकी विचार-शृखला मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इसे ऐसा भी माना जा सकता है कि इन उपनिषदो मे आये विचार विभिन्न समय मे विभिन्न विचारको के चिन्तन के परिणाम हैं।

उपनिषदो में मुख्यत जीव की मानसिक स्थितियो एवं समस्याओ के विषय मे ही अधिक विचार किया गया है। यह युगीन (परिवर्तित) परिस्थितियो का ही परिणाम है कि पूर्ववर्ती मान्यताओं के प्रति उदासीनता का भाव दिखलाया गया है और बौद्धिकता की शरण लेकर जीवन और जीवन के परमलक्ष्य की ओर रुचि

प्रदर्शित हुई है। इस युग के चिन्तक ने वस्तुओ पर मन की स्थिरता का अनुभव किया । उसकी दृष्टि इन्द्रियो के द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों के कारण की ओर गयी और वह इस दिशा मे सोचने की ओर भी अग्रसर हुआ कि व्यक्ति (प्राणी) उत्पन्न कैसे हुआ और जीवित कैसे रहता है । किसी को सुख और किसी को दु ख क्यो प्राप्त होता है । जीवन की चतुर्मुखी निरन्तर गतिमयता ने भी उसे मूल कारण की खोज मे आगे बढने की दिशा मे प्रेरित किया । स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्था के अनुभवो ने भी उसके सम्मुख कई प्रकार के प्रश्न खडे कर दिये, जिनका उत्तर प्राप्त करना उसके लिए आवश्यक हो गया ।

उपर्युक्त प्रश्नो ने इस युग को चिन्तक को विशेष रूप से आन्दोलित किया है और उसने इसके उत्तर भी प्राप्त किये है । लेकिन उत्तर एक जैसे न होकर उनकी स्वतन्त्र उपलब्धियाँ है । अत जो लोग यह सोचते है कि उपनिषदें किसी निश्चित एव समान विचारधारा का प्रतिपादन है, वे या तो भ्रम मे है अथवा किसी पूर्व ग्रह से प्रेरित है । उपनिषदो मे उठाये गये प्रश्नो के जो उत्तर है, उन्हे सामने रखकर एक निष्कर्ष तो यह निकाला जा सकता है कि उस युग का विचारक जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण समस्याओ पर दो दृष्टियो मे विचार कर रहा था । एक दृष्टि यह थी कि सम्पूर्ण जगत अर्थात् जड-चेतन सृष्टि का मूलाधार ब्रह्म (परम चैतन्य प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता) है । दूसरी दृष्टि ब्रह्म नामक उक्त सत्ता को मूल कारण स्वीकार न कर पदार्थ को ही मूलाधार मानती है और उसी मे जीवन एव गति की शक्ति को निहित स्वीकार करती है ।

मुण्डकोपनिषद् मे उच्चकोटि के ज्ञान (पराविद्या) और न्यूनकोटि के ज्ञान (अपराविद्या) के रूप मे ज्ञान के दो भेद स्वीकार किये गये है । तदनुसार वैदिक कर्मकाण्ड अपराविद्या और सर्वव्यापी शाश्वत तत्त्व (ब्रह्म) का ज्ञान पराविद्या अर्थात् पराकोटि का ज्ञान है ।[1] आदर्शवादी दृष्टिकोण से सोचने वाले ऋषियो के मत मे आत्मा स्वतन्त्र चैतन्य है एव शरीर मे भिन्न उसकी अलग सत्ता है । वे ब्रह्म को जगत का मूलभूत कारण स्वीकार करते है तथा आत्मा (जीव) और ब्रह्म मे अन्तत अभेद मानते है । छान्दोग्योपनिषद् मे भी अनादि तत्त्व (सत्) के अस्तित्व की चर्चा के प्रसग मे 'सत्' का अर्थ ब्रह्म किया गया है और आरम्भ मे केवल उसी की सत्ता मानी गयी है । तदनुसार जगत का मूल कारण ब्रह्म (सत्) है एव उसी से अग्नि एव उसके उपरान्त सभी तत्त्वो की उत्पत्ति हुई है ।[2] यहाँ ध्यातव्य तथ्य यह है कि उपनिषदो की अध्यात्मवादी विचारणा के अनुसार आत्मा और ब्रह्म दो स्वतन्त्र सत्ताएँ नही है । अत यह स्पष्ट है कि इस धारणा वाले ऋषि आत्मा (जीव) को पदार्थ—समवाय से जनित चेतना स्वीकार नही करते । तैत्तिरीय

[1] मुण्डक० उप० १-१-४, ५ ।
[2] छा० उप० ६-२-१/३, सदेव सोम्यमेदमग्र आसीदनेकमेवाद्वितीयम् × × ॥

उपनिषद में आत्मा से आकाश की उत्पत्ति के उपरान्त अन्न और अन्न से वीर्य तथा वीर्य से मनुष्य की उत्पत्ति की चर्चा भी इस तथ्य का सकेत है कि आदर्शवादी दृष्टि-कोण के अनुसार आत्मा पदार्थ के समवाय के द्वारा उत्पन्न चेतना नही, बल्कि उसका अनादि एवं शरीर से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व है।[१]

श्वेताश्वतर उपनिषद् मे एक स्थान पर यह स्पष्ट तौर पर उल्लेख किया गया है कि समय, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पचभूत आदि कोई भी जगत का मूलकारण नही है। इसके साथ ही जगत को उक्त तत्त्वो का समवाय भी न मानकर आत्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार कर लिया है।[२] उपनिषद्कार ने अन्त में जब यह सोचा कि मानव की सत्ता उसके प्राणो के कारण है, तब उसने यह विश्वास बना लिया कि शरीर मे स्थित यह प्राण आत्मा है और विश्व मे स्थित इसी प्राणशक्ति को उसने ब्रह्म कहा। फलस्वरूप आत्मा को भौतिक शरीर की जीवन शक्ति और ब्रह्म को अनुभवातीत सत्ता के रूप मे विश्व की जीवन शक्ति स्वीकार किया गया है। सम्भवत शरीर एव सकल ब्रह्माण्ड मे वायु की (प्राण शक्ति) व्यापकता के भाव ने ही इस अवधारणा को जन्म दिया जो कालान्तर मे विशेष चिन्तन की आँच मे पक कर दोनों की समरूपता के सिद्धान्त के रूप मे साकार हुई। इसी विचारणा के आधार पर 'मैं' और 'मेरा' की सीमाओ से अतीत आत्मा एव परमात्म-सत्ता की धारणा भी बनी। आत्म-सिद्धान्त की खोज का आधार मनोवैज्ञानिक है भी; क्योकि इसकी परिकल्पना सुषुप्ति की स्थिति पर आधारित है और इसे तुरीयावस्था कहा गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् मे आत्मा को प्रकाशस्वरूप चैतन्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। तदनुसार मानव का प्रकाश उसकी आत्मा है। इसी प्रकाश के कारण मनुष्य चेतन एव ज्ञाता है तथा उसे ज्ञेय के साथ ही अपने ज्ञातृत्व का बोध होता रहता है। आत्मा की सर्वव्यापकता की तर्क-सगत सिद्धि के लिए पानी मे घुले हुए नमक से उसे उपमित किया गया है। इसी साक्ष्य के आधार पर आत्मा को चिरतन और अनश्वर माना गया है। इसी प्रसग मे ऋषि ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को यह भी स्पष्ट किया है कि आत्मतत्त्व मनुष्य के प्राणतत्व से भिन्न एव स्वतन्त्रचैतन्य है।[3] उपनिषद् के इस विचार के अनुसार आत्मा ही परमात्मा है क्योकि आत्म-ज्ञान ही परमात्म-ज्ञान है। यही विश्वास छान्दोग्योपनिषद् मे भी दुहराया गया है।

---

१ तैति० उप० २-१-१, तस्माद्वा एतस्यादात्म न आकाश सभूत'।

२ श्वे० उप० १-२, कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति तिन्त्यम्। सयोग एषा न त्वनात्मा-अप्यनीश सुख-दु ख हेतो ॥

3 अस्तमिति आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यतमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किञ्चिज्ज्योतिरेवाय पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवाय ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥

उद्दालक एक प्रसंग मे अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए कहते है कि ब्रह्माण्ड का सारतत्व आत्मा है। मनुष्य के आत्मतत्त्व और विश्वात्मतत्त्व मे कोई अन्तर नही है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे इसी आशय को एक दूसरे ढंग से प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म को न जानने की वात कहने वाला अपने अस्तित्व को ही नकारता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में अद्वैतवादी (आदर्शवादी) विचारधारा का अत्यधिक उपबृंहण करते हुए उस व्यक्ति को अज्ञानी की सज्ञा दी गयी है, जो इस अनुभव-साक्ष्य के अनुसार आचरण नही करता कि वह स्वय ही ब्रह्मस्वरूप या 'ब्रह्म' है। इस प्रसग में विशेष कर ध्यातव्य बात यह है कि इसके द्वारा एक ओर देववाद या बहुदेववाद का खण्डन किया गया है और दूसरी ओर आध्यात्म-अनुभव के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी है कि सभी कुछ ब्रह्ममय है। इसी कारण किसी देवता को अपने से अलग एव दैवीय शक्ति मानकर उसकी पूजोपासना करने का निषेध भी किया गया है। 'सर्व खल्विद ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत' द्वारा इसी आशय का समर्थन हुआ है। इस प्रकार अध्यात्मवादी (आदर्शवादी) ऋषियो ने सम्पूर्ण जागतिक घटना-व्यापार को परमात्मा (ब्रह्म) की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। मुण्डक उपनिषद् मे 'ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड है,' कहकर ब्रह्म की सर्वव्यापकता[१] स्वीकार गयी है, जो आत्मा सम्बन्धी आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

उपनिषदों की विचारधारा के सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि भौतिक-वादी दृष्टि के रहते हुए भी उन मे प्राधान्य आदर्शवादी दृष्टि का ही है। कई विद्वानो के अनुसार उपनिषदो मे अभिव्यक्त भौतिकवादी विचार मूल तथ्य नही, अपितु उनका उल्लेख, मात्र खण्डन करने के हेतु किया गया है। लेकिन इससे एक दूसरा तथ्य भी हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि उपनिषदो मे भौतिकवादी विचारधारा के प्राबल्य की स्पष्ट स्वीकृति है। उपनिषदो मे कई प्रसंगो मे अन्न की प्राप्ति के उपायो तथा अन्न को सर्वोपरि स्वीकार करने का विश्वास भी प्रकट हुआ है। फिर भी इस तथ्य को भुलाया नही जा सकता कि उपनिषदों मे भौतिकवादी विचारधारा का बाहुल्य नही है, और न ही उनका मूलस्वर ही भौतिकवादी है।

---

[१] मुण्ड० उप० २-२-१२.

२ | पूर्व-वेदान्तिक चिन्तन-परम्परा और जीव

● **आदर्शवादी-भौतिकवादी विचारधारा का संघर्ष**

परिस्थितियाँ— भौतिकवादी दृष्टि से सिद्धान्त किसी अन्वेषण का प्रस्थान-बिन्दु न होकर 'अन्वेषण की उपलब्धि' होता है।[1] प्रकृति एव मानव-जीवन के आचरण (Behaviour) मे सिद्धान्त नि.सृत होता है, अत वह जीवन का शाश्वत नियम नही। इसलिए किसी शाश्वत नियम को स्वीकार कर, उसे प्रकृति एव मानव-जीवन पर लागू करना गलत निष्कर्षो को प्राप्त करने का गलत प्रयत्न होगा। अतः कोई भी सिद्धान्त प्रकृति एव इतिहास की अन्विति मे ही ग्राह्य हो सकता है। एगेल्स की इस धारणा को आधार बनाकर के० दामोदरन का निष्कर्ष है कि भारतीय दर्शन-परम्परा के आदर्शवादी विचारको ने एकागी (आदर्शवादी) दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके अनुसार 'भारत की वेदान्तिक चेतना' पर बल देकर यह भुला दिया गया है कि भारतीय दर्शन-परम्परा के निर्माण मे भौतिकवादी चिन्तको का भी पर्याप्त योगदान है।[2]

नासदीयसूक्त मे पदार्थ से अलग आत्मा के स्वतन्त्र चैतन्य की चर्चा नही की गई है। सूक्तकार के अनुसार सम्पूर्ण दृश्य जगत अनन्त है। यह अनन्त ही हमे अनुभव जगत मे पदार्थ और क्रिया के द्वारा रूपायित दिखायी देता है। पूर्ण एव एकातिक सत्ता के रूप मे स्थित अनन्त मे ही जीवन-तत्व की स्थिति है। यह विश्वास अनीश्वर-वादियो की उस धारणा की ओर संकेत है, जिसके अनुसार पदार्थ ही मूल कारण है। विश्व की प्रक्रिया का कोई सृष्टा नही क्योकि भौतिकवादी पूर्ण एकातिक सत्ता (अनन्त) मे ही जीवन-शक्ति को अन्तर्निहित मानते है तथा परिवर्तन और गतिमय ससार के विकास को भी उसी अनन्त पदार्थ मे अभिव्यक्त स्वीकार करते है।[3]

---

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए. दि कारेस्पाडेन्स आफ मार्क्स एण्ड एंगेल्स, एवं एगेल्स के द्वारा ड्यूरिंग के मत का खण्डन,

[2] भारतीय चिन्तन-परम्परा, प्रस्तावना, पृ० २,

[3] डी० सी० कुन्हन, पोस्ट फिलोसफर्स आफ दि ऋग्वेद, पृ० २३०,

ऋग्वेद में हमे देवताओ के अस्तित्व के सम्बन्ध मे भी सन्देह की भावना प्राप्त होती है। वैदिक विचारधारा के आदर्शवादी व्याख्याताओ ने भी यह स्वीकार किया है कि वेदो मे जीव और जगत के सम्बन्ध मे भौतिकवादी दृष्टि का आत्यन्तिक अभाव नही है।

इस सम्बन्ध में यदि हम आदिम सामाजिक परिस्थितियो-प्रवृत्तियो का सिंहावलोकन करें तो भौतिकवादी एव आदर्शवादी धारणाओ के निर्माण के प्रेरक तत्त्वो का स्पष्ट रूप से पता चल जायगा। मानव-जाति की आरम्भिक जीवन की परिस्थितियो के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय वह कबीलो और कुलो की व्यवस्था के रूप मे जीवन-यापन करती थी। उसने 'गणचिह्न' के रूप मे अपने धार्मिक विश्वास बनाये थे, क्योकि उसका ससार मुख्यत पशु-पक्षियो एव वनस्पति-जगत से ही सम्बन्धित था। ये गण-चिह्न ही ऐसे प्रतीक थे, जिनके द्वारा उस युग के मानव की नैतिक भावनाओ की सामूहिक स्वीकृति का कार्य सम्पन्न हो जाता था।[1] प्रकृति के प्रकोपो के प्रति असमर्थता के कारण ऐसी विचारधारा भी सक्रिय रही है। जीव-स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें भौतिकवादी दृष्टिकोण को भी उचित स्थान देना ही चाहिए। मानव ने जादू-टोना के द्वारा शक्तियो को नियन्त्रित कर सकने का विश्वास बनाया, जिसमे उसने नृत्य और बलि आदि के उपायो को भी सम्मिलित कर लिया। कृषि युग मे प्रवेश करने पर उसका समूचा कर्मकाण्ड कृषि-केन्द्रित हो गया। इसके सम्बन्ध मे जार्ज थामसन का मत है कि जादू-टोना आदि अनुष्ठान मानव की आवश्यकता-जन्य उस प्रवृत्ति से प्रेरित है, जिसके अन्तर्गत वह इनके द्वारा प्रतिकूल शक्तियो को 'स्ववश' बनाने का विश्वास करता है। कई विचारको के मत मे उस युग के मानव की यह भावना धार्मिक नही मानी जा सकती, क्योकि धर्म का प्रेरक भाव चेतना-युक्त अलौकिक शक्तियां (Agents) होती है। इनके सम्बन्ध मे यह विश्वास आवश्यक होता है कि ये शक्तियाँ प्रार्थयिता की इच्छाओ-एषणाओ को पूर्ण बनाने मे समर्थ है।[2] परन्तु कुछ विद्वान जादू-टोना, गणचिह्नवाद एव सर्वात्मवाद जैसी मान्यताओ को भी धर्म के अन्तर्गत मानते है। वस्तुत ये धर्म-विकास की परम्परा के प्रारूप है। इन आरम्भिक विश्वासो एव सभ्यतायुगीन धार्मिक विश्वासो के स्वरूप मे पर्याप्त अन्तर है। के० दामोदरन के अनुसार सर्वात्मवाद, प्रकृति की आराधना, गणचिह्न, जादू-टोना एव प्रेत (पितर) पूजा आदि की भावनाओ ने धर्म के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।[3]

---

[1] जॉन लेविस, दि रिलिजन्स आफ दि वर्ल्ड मेड सिम्पल, पृ० २१, एरेनफेल्स, काडर आफ कोचीन, पृ० १८०, जार्ज थामसन, स्टडीज इन एनशियेण्ट ग्रीक सोसाइटी, पृ० ३६,

[2] फ्रेजर मैजिक एण्ड रिलिजन, पृ० ८३-८४,

[3] के० दामोदरन, भारतीय चिन्तन-परम्परा, पृ० २९-३०,

आर्यों के आगमन के उपरान्त सिन्धु-सभ्यता के सामाजिक जीवन एवं उसमे प्रचलित धार्मिक विश्वासो मे पर्याप्त परिवर्तन हुआ। यहाँ के इन मूल निवासियो पर विजय के उपरान्त अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया आरम्भ हुई, जिसके फलस्वरूप अनेक पूर्ववर्ती धार्मिक आचार एव विश्वास स्वीकार कर लिए गये। उस समय देश के अधिकाश भागो में कुल-कबीलों वाली व्यवस्था ही प्रचलित थी। आर्यो के प्रसार के साथ ही आरम्भिक कबीलो एव कुलों वाले समाज मे तेजी से परिवर्तन हुआ और जल्दी ही गण-समूहो के उपरान्त साम्राज्य-व्यवस्था का प्रभाव बढने लगा। इसी समय वर्ण-व्यवस्था बलवती हुई। वर्ग-हीन समाज का रूप वर्गात्मक बन गया। एक साथ समूचे मानव-समाज मे एक जैसी व्यवस्था का प्रचलन सम्भव नही था और सभी नवोत्थित राज्य-व्यवस्था को स्वेच्छा से स्वीकार करने के लिए सहमत भी नही हो सकते थे। इसलिए धार्मिक मान्यताओ एव चिन्तन के क्षेत्र मे वैचारिक सघर्ष को जन्म मिलना स्वाभाविक ही था। उन लोगो, जिनका जीवन सहज जीवन के रूप मे व्यतीत होना था और जो आर्यो की वर्ण-व्यवस्था एव वर्ग-समाज से अभ्यस्त नही थे, मे वैचारिक क्रान्ति ने जन्म लिया। उन्होने ब्राह्मण व्यवस्था एव उसके धार्मिक विश्वासो का विरोध किया तथा उभरती हुई आदर्शवादी मान्यताओ के विरोध मे ईश्वरवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि जगत का निर्माण स्वभाव या यदृच्छावाद के अनुसार होता है। उसकी निर्णायक शक्ति ईश्वर नही है। जगत का मूल कारण पदार्थ है और उसी के समवाय से जगत निर्मित होता है। ईश्वर की भाँति ही जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता को भी उन्होने अस्वीकार किया। वे यह कहते रहे कि जीव (चेतना) अनादि स्वतन्त्र सत्ता नही बल्कि वह तत्त्वो के मिश्रण से उद्भूत है। शरीर के नाश के साथ ही इसका भी नाश हो जाता है। इस प्रकार की विरोधी विचारधाराओ के समय को ही हम आदर्शवादी एव भौतिकवादी विचारधाराओ का सघर्ष-काल कह सकते है।

आदर्शवाद की विजय—आचार्य शकर ने लोकायतो के भौतिकवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया है। इसके साथ ही उन्हे प्रकृत जन-समूह की कोटि मे रखते हुए भोगवादी माना है। सांख्य दर्शन के प्रकृति-सिद्धान्त के खण्डन मे भी उन्होने यही दृष्टिकोण अपनाया है। उनसे पहले बादरायण के ब्रह्मसूत्रो और गौडपादकारिका मे भी हमे लोकायत-विचारधारा का खण्डन प्राप्त होता है। 'सर्वदर्शन-सग्रह' मे माधवाचार्य ने भी अपने विचार-गुरु आचार्य शकर की मान्यताओ का अनुसरण करते हुए चार्वाको की भौतिकवादी विचाराधारा को ऐहिक सुखो की एषणा बतला कर, उसका विरोध किया है। इसके पीछे आदर्शवादी मान्यताओ की स्थापना का आग्रह ही क्रियाशील प्रतीत होता है। वस्तुत लोकायतो ने उभरती हुई आदर्शवादी प्रवृत्तियो का कठोर विरोध किया था क्योकि वे पदार्थ को जगत का मूलकारण मानते थे। उनका यह विचार ईश्वरवादियो की उन मान्यताओ को अस्वीकार करता है, जिनके प्रचार के लिए अनुकूल वातावरण बन गया था। इसलिए भौतिकवादी दृष्टि से जीव

और जगत के सम्बन्ध मे विचार करने वालो को इसके विरोध मे और अधिक सक्रिय होना पडा था ।

आदर्शवादी विचारधारा के आत्यन्तिक प्रभाव से पहले की परिस्थितियो पर विचार करते हुए आधुनिक भौतिकवादी विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि भारतीय चिन्तन-परम्परा को, उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यो के प्रकाश मे, शुद्ध आदर्शवादी परम्परा स्वीकार करना उचित नही है। उनका मत है कि भारतीय चिन्तन-परम्परा में ईश्वरवाद की उपलब्धि को सामाजिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे ही देखा-परखा जाना चाहिए। इसके सम्बन्ध मे भारत के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करते हुए उन्होने यह बतलाया है कि ईश्वरवादी दृष्टिकोण, कबीलो और कुलो की सामाजिक व्यवस्था के टूटने एव वर्ग तथा वर्ण-व्यवस्था के पनपने के उपरान्त ही बना है। लेकिन इस आदर्शवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ उस विचारधारा ने भी अपने लिए स्थान बनाए रखा है, जिसके फलस्वरूप समय-समय पर विचारक जीव, जगत और ब्रह्माण्ड के मूल कारण के सम्बन्ध मे भौतिकवादी दृष्टि से काम लेते रहे है। 'पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप प्रचलित मान्यताओ को पीछे धकेल कर साम्राज्यवादी व्यवस्था के समय आदर्शवादी विचारधारा का प्रभाव बढा', इसे वे स्वीकार करते है। परन्तु वे यह भी मानते है कि आदर्शवादी विचारो के विरोध मे भौतिकवादी विचार भी क्रियाशील रहे है एव इन दोनो मे परस्पर पर्याप्त सघर्ष भी होता रहा है। आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय दर्शन-परम्परा का अध्ययन करने वाले आधुनिक आदर्शवादी विचारकों ने भी यह स्वीकार किया है कि आदर्शवादी विचारधारा, भौतिकवादी विचारधारा के साथ सघर्ष मे विजयी हुई है। वे यह भी स्वीकार करते है कि जिस समय ईश्वरवादी विचारधारा का चिन्तन के क्षेत्र मे आत्यन्तिक प्रभाव था, उस समय भी भौतिकवादी विचारक जागतिक समस्याओ के सम्बन्ध मे अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे थे। हमे बौद्ध एव जैन-ग्रन्थो के साथ-साथ रामायण और महाभारत मे भी भौतिकवादी विचारधारा एव भौतिकवादी विचारको के सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। ये रचनाएँ स्वय आदर्शवादी दृष्टिकोण के पक्ष का समर्थन करती है। इनमे भौतिकवादियो की मान्यताओ के उल्लेख प्रतिपक्षी या विरोधी विचारधारा के रूप मे हुए है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिकवादी विचारधारा एव आदर्शवादी विचारधारा मे परस्पर पर्याप्त सघर्ष रहा है। परिस्थितियो के प्रतिकूल होने के कारण आगे चलकर भौतिकवादी विचारधारा 'जीवन दर्शन-प्रणाली' के लुप्त रूप मे मृत प्राय हो गई। आदर्शवाद का प्रभाव इतना अधिक बढा कि साख्य एव वैशेषिक दर्शन जैसी भौतिकवादी स्वर प्रधान दर्शन-प्रणालियो मे भी स्वतन्त्र चैतन्य के रूप मे आत्मा को और जगत की रचना करने वाली शक्ति के रूप मे ईश्वर की सत्ता को मान लिया गया।

● सांख्य-योग विचारधारा के अनुसार जीव-स्वरूप

आरम्भिक सांख्य—कुछ विद्वानो का विचार है कि साख्यकारिका मे जिस

रूप मे साख्य-विचारधारा को प्रस्तुत किया गया है, उस पर पर्याप्त आदर्शवादी (ईश्वरवादी) प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके सम्बन्ध मे डी० चट्टोपाध्याय ने अपनी रचना 'लोकायत' मे बहुत अधिक विस्तार के साथ विचार किया है। साख्य विचार-सरणि प्राचीनतम दार्शनिक प्रणालियो मे से है और किसी समय इस दर्शन-प्रणाली का भारतीय जन-जीवन पर पर्याप्त प्रभाव भी रहा है। डेवीज 'हिन्दू फिलासफी' मे लिखते है कि विश्व और मानव की उत्पत्ति एवं अन्य ऐसे ही विषयो के सम्बन्ध मे तर्क और युक्ति से जिन दर्शन-प्रणालियो मे काम लिया गया है, उनमे साख्यो का विशेष महत्त्व है। महाभारत के शान्तिपर्व के एक प्रसंग मे प्रह्लाद के द्वारा जिस रीति से जीव (मानव-चेतना) की चर्चा की गई है, उसके अनुसार प्रकृति (प्रधान) ही परम है और इसे स्वयमेव अस्तित्वमयी सत्ता स्वीकार किया गया है। जीव के सम्बन्ध मे आदर्शवादी दृष्टिकोण से भिन्न यह कहा गया है कि जीव को प्राप्त होने वाले सुख और दुःख आदि के सम्बन्ध मे ईश्वर के हस्तक्षेप आदि की चर्चा करना बिल्कुल व्यर्थ, युक्ति एव तर्क को तिलाञ्जलि दे देने के समान है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साख्यो की धारणा काफी प्राचीन है, जिसका आरम्भिक स्वर भौतिकवादी रहा है।

साख्य विचारधारा की प्राचीनता के सम्बन्ध मे रिचार्ड गार्बे का विचार है कि प्राचीन बौद्ध धर्म पर्याप्त सीमा तक साख्य विचारधारा से प्रेरित रहा है। साख्यदर्शन-प्रणाली को ब्राह्मणवादी परम्परा से स्वतन्त्र एव अवैदिक मानने का सुझाव देते हुए जिम्मर लिखते है कि साख्य और योग दर्शन का मूल पूर्व-वैदिक काल मे भी खोजा जा सकता है।[१] साख्यकारिका के अनुसार जीव का परम साध्य ज्ञान के द्वारा दुःख की पूर्ण निवृत्ति है। इससे यह स्पष्ट है कि साख्यो की दृष्टि अवैदिक है और उसमे मोक्ष आदि की प्राप्ति के साधन के रूप मे कर्मकाण्ड आदि को स्वीकार नही किया गया है। मोनियर विलियम का मत है कि साख्य-विचारधारा सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर आधारित है और जगत की सरचना के विषय मे साख्यो ने इसी सिद्धान्त को मूलाधार बनाया है।[२] जीव के सम्बन्ध मे विचार करते हुए स्तचेर्बात्स्की लिखते है कि साख्यो के अनुसार जीव (मानव शरीर) का आधार भी वही है, जो जड जगत का - अर्थात् प्रकृति या आदि पदार्थ मे ही जीव (चेतना) का आविर्भाव होता है।[3] साख्य दर्शन जीव को प्रकृति के रूपान्तरण का ही परिणाम मानता है। कपिल ने प्रकृति को 'अमूलम्-मूलम्' कह कर उसके किसी आदि मूल को स्वीकार करने से इन्कार किया है।[४] सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियो—मन, अहकार और इन सभी के समवाय से

---

१ फिलासफी ऑफ इडिया, पृ० २८,

२ इडियन विजडम, पृ० ८९-९०,

3 बुद्धिस्ट लॉजिक, खं० १, पृ० १८,

४ साख्य प्रवचन सूत्र, १-६८, मूले मूलाभावादमूलम्।

उत्पन्न चेतना को भी पदार्थ से उत्पन्न बतलाना यह प्रमाणित करता है कि आरम्भिक साख्य जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे अत्यन्त स्पष्ट दृष्टिकोण रखते थे। तदनुसार जीव स्वतन्त्र अनादि चैतन्य नही है जैसा कि आदर्शवादी विचारक मानते है। साख्यो के अनुसार मूलसत्ता केवल प्रकृति (पदार्थ) की ही है; और पदार्थ के समवाय से चेतना का आविर्भाव ही जीव (पुरुष) है। आरम्भिक सांख्य विचारधारा के अनुसार इन्द्रियों से चेतना के सम्पर्क के बाद सज्ञान का उदय होता है। गीता का लिंगशरीर साख्य दृष्टिकोण की ही प्रकारान्तर से स्वीकृति है। सूक्ष्म या लिंगशरीर की अवस्थिति के लिए स्थूल शरीर आवश्यक है क्योंकि लिंगशरीर स्थूल शरीर के अभाव मे अनुभव की योग्यता प्राप्त नही कर सकता। साख्यो की मूलभूत दृष्टि भौतिक है और उस अविकसित दशा मे वे तर्क, अनुमान, अनुभव और युक्ति के आधार पर जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे इतना ही सोच सकते थे। साख्य विचारक ईश्वर के अस्तित्व को अप्रमाण्य बतलाते है।[1] अत फलो की प्राप्ति के हेतु उन्होंने ईश्वर के हस्तक्षेप आदि को भी नही माना है। इस प्रकार उनका जीव आदर्शवादियो से भिन्न पदार्थ (प्रकृति) मे सम्भूत 'चेतना' मात्र है।

उपर्युक्त धारणा से इस तथ्य का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है कि साख्यो का 'पुरुष' ईश्वरवादियो के 'आत्मा' से भिन्न प्रकार की अवधारणा है। वे किसी सर्वव्यापक आत्मा (ईश्वर) के अशके रूप मे पुरुष की सत्ता को स्वीकार नही करते। यही कारण है कि 'पुरुष' सख्या मे अनन्त माने गये है। पुरुष को सक्रिय स्वीकार न कर, प्रकृति ही को क्रियाशील मानने का आशय भी यही है कि साख्यो का पुरुष, जीवात्मा की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न है। 'साख्यप्रवचनसूत्र' मे कपिल ने जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे आत्मा के योग को अस्वीकार किया है। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्राचीन साख्य विचारक यही स्वीकार करते दिखलायी देते है कि विचारतन्त्र (पुरुष) का उद्भव, पदार्थ के विकास की प्रक्रिया के सिवा और कुछ नही है, अत उसे स्वतन्त्र चेतन सत्ता स्वीकार नही किया जा सकता।[2]

आरम्भिक साख्य मे जीव (पुरुष) को भौतिक विकास की एक विशिष्ट स्थिति मान कर कर्म, ज्ञान, सुख और दुःख आदि को भी इसी विशिष्ट स्थिति (पुरुष चैतन्य) के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि मूल साख्य विचारक शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्त्व को अस्वीकार करते है।

आरम्भिक योग—'भारत मे योग की साधना का प्रचलन आर्य-पूर्व काल मे भी था', जिस के लिए अब सिन्धु सभ्यता के अवशेषो ने पर्याप्त आधार प्रस्तुत कर

---

[1] साख्य प्रवचन-भाष्य, १-९३,

[2] साख्य प्रवचन सूत्र, १-७५,

दिया है। उपनिषदों में भी योग-साधना के उल्लेख मिलते हैं।[1] बुद्ध एवं महावीर के द्वारा अपनाये गये योग-साधना के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि तब तक योग की साधना पर्याप्त प्रभावशाली हो चुकी थी। पतजलि ने योग की पूर्व-परम्परा को सूत्रबद्ध किया और उसके विचार-पक्ष को सकलन का रूप देकर सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया।[2] धीरे-धीरे योग की साधना अध्यात्म-अनुशासन हो गयी, जिसके अनुसार शरीर के अनुशासन के द्वारा चित्त की एकाग्रता, इसका मुख्य लक्ष्य स्वीकार किया जाने लगा। योग में साख्य से एक विशेष अन्तर यह है कि सांख्य में ईश्वर के लिए जहाँ स्थान ही नहीं, वहाँ योग में ईश्वर की जीवन से अलग सत्ता स्वीकार की गयी है। 'योग सूत्र' में (तेईसवें से उन्तीसवें सूत्र तक) ईश्वर की विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है। गार्बे के अनुसार योग के आरम्भिक रूप में ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति नहीं थी। अत ईश्वर का प्रवेश उसमें परवर्ती घटना है। इस प्रकार का अन्तर आदर्शवादी प्रभाव का ही परिचायक है।

हरिदास भट्टाचार्य का मत है कि आरम्भ में योग का ध्येय ईश्वर से अभिन्नता स्थापित करना नहीं था। लेकिन ईश्वर के प्रवेश के बाद योग की जीव सम्बन्धी अवधारणा ने आदर्शवादी आत्मा का स्वरूप प्राप्त कर लिया। ऐसी स्थिति में योगाभ्यासी के लिए चित्त-वृत्ति का निरोध मात्र साधन रह गया और ईश्वर के साथ ऐक्य स्थापित करना ही उसका परम लक्ष्य बन गया।[3] इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस स्थिति में भी योग के अन्तर्गत ईश्वर की स्थिति सर्वथा अनिवार्य नहीं थी। ईश्वर-प्राप्ति को लक्ष्य न मानने वाले साधक भी बराबर योग की साधना में निरत रहे है, जिनका लक्ष्य केवल चित्त-वृत्तियों का निरोध ही रहा है।

डा० राधाकृष्णन् ने भी योग के प्रसग में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि इसमें व्यक्तिगत ईश्वर की मान्यता दर्शन के शेष भाग में अधिक सम्बन्धित नहीं लगती।[4] यहाँ ईश्वर का स्वरूप ब्रह्माण्ड के रचयिता एव रक्षक का न होकर केवल पुरुष जैसा ही है। योग की साधना मूलत पुरुष को प्रकृति से अलग करने का यत्न था। ज्ञान की साधना द्वारा भी इसकी प्राप्ति में विश्वास किया जाता था। इसी प्रकार की अन्य अनेक बातें यह प्रमाणित करती है कि योग का साधना एव चिन्तन-पक्ष, दोनों ही, प्रकृति से अपने आपको अलग कर लेने के प्रयत्न थे। सम्भवत योग शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों को और अधिक बढा लेने का एक उपाय मात्र हो, जिसे बाद में ईश्वर की प्राप्ति के उपाय के रूप में भी स्वीकार कर लिया गया। जादू-टोना के विश्वास में भी इस साधना की आवश्यकता अनुभव की जाती है।

---

[1] श्वे० उप० २-८, त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीरम् ···।। कठ० उप० २-३-२,

[2] एस० एन० दास गुप्ता, हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, खं० १, पृ० २२६,

[3] दि कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ३,

[4] डा० रा० कृ० भा० द० भा० २, पृ० ३७१,

उक्त तथ्यों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साख्यो की भाँति योग के अन्तर्गत भी जीव पदार्थ-चैतन्य ही था और दुखों से निवृत्ति अथवा शारीरिक एव मानसिक शक्ति की वृद्धि के हेतु ही योग-साधना की जाती थी।

● परवर्ती सांख्य-योग में जीव

परवर्ती साख्य मे पुरुष को पदार्थ-जन्य चैतन्य के स्थान पर अपरिणामी और नित्य माना गया है। लेकिन प्रकृति मे क्रियाशीलता की मूल अवधारणा तद्वत् बने रहने के कारण उसे निष्क्रिय स्वीकार किया जाता है। इस स्थिति ने पुरुष से कर्तृत्व की शक्ति छीन ली है और उसे केवल भोक्ता का ही स्थान प्राप्त हुआ है। पदार्थ के समवाय से चेतना की उत्पत्ति की पूर्ववर्ती मान्यता को अस्वीकार कर देने के कारण जड जगत के साथ ही चेतन तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य हो गया। पुरुष की सत्ता स्वीकार कर लेने के बाद उसे अनेक माना गया है।[१] इस मान्यता का आधार यह है कि मानव-मानव का जीवन भिन्न प्रकार का है और उसकी भौतिक, नैतिक एव बौद्धिक शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न है। साख्य विचारको ने पुरुष को जड जगत से अलग चैतन्य सत्ता मान कर उसकी निमित्त और प्रयोजक कारण की अवधारणा की है। इसके अनुसार जगत का प्रयोजक कारण पुरुष को भोग या अपवर्ग प्रदान करना स्वीकार किया गया है। अपवर्ग का आशय पुरुष का अपनी स्वाभाविक अवस्था को पुन प्राप्त कर लेना है। प्रकृति के परिणमन के लिए यही मूल प्रेरक हेतु है। परवर्ती साख्यो की एक विशिष्ट अवधारणा यह है कि गत जन्म के सस्कार पुरुष को लिप्त नही बनाते, बल्कि वे बुद्धि को ही प्रभावित करते है। इसीलिए ये प्रभाव प्रकृतिगत ही माने गये है -पुरुषगत नही। परवर्ती साख्य मे पुरुष को, आरम्भिक अवधारणाओं से भिन्न, कारण और कार्य से अतीत, शुद्ध चैतन्य स्वीकार किया गया है। एम० हिरियन्ना का मत है कि साख्य मे पुरुष का स्वरूप परवर्ती न्याय और वैशेषिक मे स्वीकृत ईश्वर जैसा है।[२] लेकिन न्याय और वैशेषिक के ईश्वर की भाँति साख्यो का पुरुष जगत की सृष्टि मे एक जैसी भूमिका का निर्वाह नही करता। साख्यो का जीव (पुरुष) अपने शुद्ध रूप मे अनुभवकर्ता नही—अनुभव महत् या बुद्धि मे माना गया है, जो प्रकृति का विकार होने के कारण जड है। अतः ज्ञाता का कार्य केवल पुरुष या केवल बुद्धि का न स्वीकार कर दोनो का माना गया है। पुरुष, बुद्धि (महत्) मे प्रतिबिम्बित होकर उसमे ऐसी स्थिति का निर्माण कर देता है, जिससे वह चेतन ज्ञाता का कार्य करने लग जाती है। अत साख्यो का पुरुष अद्वैतवेदान्तियो की आत्मा से भिन्न अनुभवशील है—अनुभवातीत नही।

---

[१] सा० का० सख्या, १८,

[२] भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २८१,

साख्यो के अनुसार जड बुद्धि चेतन जैसी हो जाती है और निष्क्रिय पुरुष सक्रिय जैसा बन जाता है।[१] इस स्थिति के कारण वृत्ति ही ज्ञान 'का सा' रूप प्राप्त कर लेती है। यही पर यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि साख्य दार्शनिको के मत मे मानसिक कहलाने वाले व्यापार भौतिक अंगो की यान्त्रिक क्रियाएँ है और ये भौतिक अग पुरुष मे प्रकाशित होकर ही चेतन स्वरूप प्राप्त करते हैं। सांख्य और योग दर्शन मे बुद्धि स्वत. क्रियाशील है। बुद्धि में असख्य अनुभव-सस्कार समाहित रहते है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि का झुकाव भिन्न-भिन्न हुआ करता है। बुद्धि-व्यापार को चयनात्मक माना गया है। अत किसी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान द्रष्टा की उस समय की मनोदशा के अनुरूप होता है।[२] न्याय-वैशेषिक के विपरीत साख्य-योग मे भ्रम का कारण किसी चीज का अज्ञान है— विपरीत ज्ञान नही। जैनो की भाँति साँख्य-योग विचारक भी पूर्ण ज्ञान को सम्भव मानते है, लेकिन इस शर्त के साथ कि बुद्धि पूर्णतया शुद्ध हो। उन्होने पूर्ण ज्ञान का अभाव ही जीव का अविवेक माना है। परवर्ती साख्य एव योग मे कर्म और पुनर्जन्म को भी स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु इस स्वीकृति मे भी आरम्भिक धारणा बनी ही रही है। तदनुसार पुनर्जन्म पुरुष का नही, बल्कि 'लिग शरीर' का ही होता है। लिग शरीर की सरचना के विषय मे लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य मे यही स्वीकार किया है कि वह ग्यारह ज्ञानेन्द्रियो, बुद्धि, अहकार और पचतन्मात्राओ की संहति है। जीव (पुरुष) का लिग शरीर से मुक्त होना उसी समय सम्भव है, जब वह कैवल्य प्राप्त कर ले। जीव को साख्य एव योग-विचारधारा 'केवल' (कैवल्य प्राप्त या युक्त) मानती है। अत तदनुसार धर्म और अधर्म पुरुष का गुण नही, बल्कि मात्र बुद्धि की वृत्तियाँ है। यह पुरुष का भ्रम है कि वह अपने ऊपर इन वृत्तियो का आरोप कर लेता है। कोई भी पुरुष न मुक्त है और न ही बद्ध। पुरुष का पुनर्जन्म नही होता। प्रकृति ही नानारूपा है एव वही बन्धन और मुक्ति तथा पुनर्जन्म धारण करती रहती है।[3] वैचारिक स्तर पर योग की जीव सम्बन्धी मान्यताएं भी प्राय साख्य दर्शन जैसी है। योग चिन्तन प्रधान न होकर साधना प्रधान दर्शन है। तदनुसार जीव का परमसाध्य असम्प्रज्ञात समाधि है, जहाँ चित्त का पूर्ण निरोध हो जाता है। इस अवस्था मे ही जीव को विदेह मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसके अन्तर्गत बुद्धि के सम्पूर्ण दोष धुल जाते है और वह चैतन्य के द्वारा पूर्णरूपेण प्रकाशित होने लगती है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक का 'केवल' पुरुष एक ही अवस्था के सूचक है।[४]

---

[१] सांख्य कारिका, २०,

[२] साख्य तत्त्व कौमुदी, श्लो० १३,

[3] सां० का० श्लो० ६२, साख्य प्रवचन सूत्र, ५/२०-२५,

[४] सा० का० श्लो० ६७-६८,

निष्कर्ष– सांख्य और योग दर्शन—दोनो एक दूसरे के पूरक है। सांख्य का सम्बन्ध अधिकांशत. दार्शनिक चिन्तन से है और योग का सम्बन्ध जीव द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के उपायो से। एक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है तो दूसरा उसे क्रियात्मक रूप देता है। आन्तरिक विवाद के कारण सांख्य के भी दो भेद—निरीश्वर सांख्य और सेश्वर सांख्य—हो गये है। सांख्य आरम्भ मे निरीश्वरवादी ही थे, परन्तु ईश्वरवाद के प्रभाव के कारण कालान्तर मे, इस दर्शन मे ईश्वर के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया और उसकी यह शाखा 'सेश्वर सांख्य' कहलाने लगी। ईश्वर की स्वीकृति के बावजूद भी यह दर्शन प्रकृति और पुरुष की चर्चा ही अधिक करता है तथा तत्त्व-विचार एव योग की साधना-द्वारा पुरुष के कैवल्य पर ही अधिक ध्यान देता है। ईश्वरकृष्ण की रचना सांख्यकारिका निरीश्वर सांख्य की एक मात्र उपलब्ध प्रामणिक रचना है। तदनुसार जीवो की दो ही कोटियाँ है। पहली कोटि उन जीवो (पुरुषो) की है, जिन्हे कैवल्य प्राप्त हो चुका है। वे जीव, जो प्रकृति के परिणाम का अपने ऊपर आरोप कर, आवागमन मे भटक रहे है, दूसरी कोटि मे आते है। ये ही बद्ध जीव है।

योग दर्शन मे सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा के अन्तर्गत जीव की 'शाश्वत केवल' तथा 'सामान्यजीव' दो कोटियो के उल्लेख भी किये गये है। तदनुसार जीव संख्या मे अनेक है। उन्हे न्याय और वैशेषिक दर्शन की भाँति ही अनादि माना गया है और उनके स्वतन्त्र अस्तित्व पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। प्रकृति और पुरुष दोनो अनादि है। प्रकृति जड है और पुरुष चेतन। पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप मे 'केवल' है, लेकिन प्रकृति के परिणमन को अपना धर्म मान लेने के कारण उस समय तक बद्ध रहता है जब तक वह पुन अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित नही हो जाता। जीव का आवागमन तभी तक है, जब तक वह प्रकृति के प्रभाव मे रहता है। प्रकृति के आकर्षण से मुक्त होते ही वह आवागमन के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है।[१]

● न्याय-वैशेषिक चिन्तन-प्रणाली के अनुसार जीव-स्वरूप

आरम्भिक—वैशेषिक दर्शन मे सांख्यों की भौतिकवादी धाराणाओ को और अधिक पुष्ट किया गया है। उनका मूल स्वर भौतिकवादी ही है। वैशेषिक मे जीव की चर्चा जगत से भिन्न स्वतन्त्र रूप में नही की गयी। कणाद ने जैन विचारको की इस अवधारणा को, कि समूचे भौतिक वस्तु संसार का निर्माण अत्यन्त सूक्ष्म अणुओ (परमाणओं) मे होता है, किसी सीमा तक अपना लिया है। उनका मत है कि वस्तुगत रूप मे जगत का अस्तित्व मानव-चेतना से स्वतन्त्र एव पूर्णतया बाह्य है। उनकी

---

१ योग सूत्र, १/२४-२५,—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर.। स पूर्वेषामपि गुरुकालेनानवच्छेदात्— ॥

इस मान्यता का आधार यह है कि व्यक्ति अपने से भिन्न जगत का हर दृष्टि से विश्लेषण करने मे सक्षम है। इस सत्य की पूर्ण एव सही जानकारी को कणाद ज्ञान का नाम देते है। चेतना (जीव) के सम्बन्ध मे कणाद के अनुसार द्रव्य मे ही उन गुणो और क्रियाओ की स्थिति विद्यमान रहती है, जिनके कारण चेतना का अविर्भाव होता है। उन्होने पदार्थों की दो कोटियाँ—भौतिक एव अ-भौतिक स्वीकार की हैं। परन्तु इन दोनो ही कोटियो को वे द्रव्य के अन्तर्गत ही स्वीकार करते है। वे अभौतिक पदार्थों को यथार्थ मानते है। उन्होंने गुण और द्रव्य को अन्योन्याश्रित स्वीकार किया है। इससे यह सिद्ध है परमाणु स्वत अर्थात् स्वभावत अ-स्थैतिक एव अ-निष्क्रिय होता है। ब्रह्मवादियो की भाँति कणाद ने ब्रह्म को जगत का आदिकारण स्वीकार नही किया। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि उनके द्वारा स्वीकृत जीव के स्वरूप की अवधारणा ब्रह्मवादियो के द्वारा मान्य जीव (चैतन्य) की अवधारणा से पर्याप्त भिन्न एव लोकायतो की जीव-अवधारणा के अधिक अनुरूप है।

वैशेषिक दर्शन मे आत्मा के धर्म और मनस् के धर्म अलग-अलग स्वीकार किये गये है।[1] तदनुसार चेतना, बुद्धि और सज्ञान आदि पदार्थ से स्वतन्त्र आत्मा के गुण नही है। इसके सम्बन्ध मे के० दामोदरन 'भारतीय चिन्तन-परम्परा' मे लिखते है कि वैशेषिक सूत्रो मे आत्मा शब्द का प्रयोग तात्त्विक और आदर्शवादी अर्थ मे नही किया गया। अन्य पदार्थो की तरह ही वह भी चेतना-सम्पन्न पदार्थ ही है।[2] 'आत्मा और इन्द्रियो से जिस वस्तु का सम्पर्क होता है, उसी का ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है', कणाद की यह अवधारणा इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि मन से सयुक्त होकर ही आत्मा का क्रिया-व्यापार सम्पन्न होना सम्भव है। इससे अधिक कणाद ने आत्मा (जीव-चैतन्य) के सम्बन्ध मे विचार ही नही किया है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य जगत है, जिसके अन्तर्गत आत्मा स्वयमेव आ जाता है। वैशेषिक दर्शन की मूल धारणा यह है कि जगत की रचना के लिए किसी अभिकरण (ईश्वर) के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। आत्मा या जीव के स्वरूप की मान्यता के सम्बन्ध मे जिस प्रकार अन्य दर्शनो मे आदर्शवादी प्रभाव के कारण अन्तर आये, उसी प्रकार वैशेषिक विचारधारा के प्रतिपादको ने भी बाद मे कर्म और धर्म की परिभाषाओ मे पर्याप्त अन्तर कर, जीव की अवधारणा मे आदर्शवादियों के विचारो को मान्यता दे दी। इस परिवर्तन के कारण जीव मात्र चेतना न रह कर आत्मा और जीवात्मा की आदर्शवादी अवधारणाओ के अनुरूप ढाला गया—उसे पदार्थ-समवाय से जनित चेतना से भिन्न स्वतन्त्र चैतन्य स्वीकार कर लिया गया।

न्याय या 'हेतु विद्या' समानार्थक शब्द है। अत इस दर्शन-प्रणाली को तात्त्विक एव तार्किक सिद्धान्तो के प्रतिपादन की विद्या माना जा सकता है। न्याय चिन्तन-

[1] वैशेषिक सूत्र ३-२-४,

[2] भारतीय चिन्तन-परम्परा, पृ० १६७,

प्रणाली की मान्यताएँ मुख्यतः वे ही है, जो वैशेषिक दर्शन की। न्याय दर्शन के अनुसार भी ब्रह्माण्ड की रचना परमाणु-संघात से स्वीकार की गयी है और इसी प्रसंग मे जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी विचार हुआ है। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे आरम्भिक नैय्यायिक विचारधारा मूलत. भौतिकवादी विचारधारा है। इसके अन्तर्गत भी जगत की रचना के लिए ईश्वर (अभिकरण) की कोई आवश्यकता नही स्वीकार की गयी है। जगत का मूलकारण परमाणु है। पदार्थ-समवाय मे पाँच महाभूतो की रचना को स्वीकार करने के उपरान्त जीव (चेतना) की उत्पत्ति के लिए भी इन्ही महाभूतो को आधार सामग्री माना गया है। वैशेषिको की भाँति चेतन और अचेतन नामक पदार्थ की दो मुख्य श्रेणियाँ मानकर दोनो को अन्योन्याश्रित ही बतलाया गया है। न्याय दर्शन के अनुसार चेतन और अचेतन एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर अभिन्न रूप से सम्बद्ध है।

वैशेषिको की भाँति न्याय दर्शन की मूलभूत अवधारणाओ पर विचार करने वालो का आरम्भ मे यह मत था कि जीव (चेतन तत्त्व) के अस्तित्व का ज्ञान हम केवल अचेतन तत्त्वो की क्रियाशीलता के माध्यम मे ही प्राप्त कर सकते है। जीवो की उत्पत्ति भी उसी तरह परमाणुओ से ही मानी गयी, जिस प्रकार जड जगत की। मैक्समूलर का मत है कि जीव (चेतना) के सम्बन्ध मे नैय्यायिको की मान्यता उसे ईश्वरवादियो के आत्म-स्वरूप से भिन्न रूप मे प्रस्तुत करती है। तदनुसार मस्तिष्क मे स्वाभावत ऐसी शक्ति विद्यमान है, जिसकी सहायता से हम इन्द्रिय-जन्य प्रतिबिम्बो को एक साथ मस्तिष्क मे प्रवेश करने से रोक देते है। इसका कारण यह है कि आत्मा मे एक समय ज्ञान की एक ही क्रिया होती है। जिस समय तक इन्द्रिय-जन्य एक प्रतिबिम्ब मस्तिष्क मे प्रवेश किये रहता है, तब तक यह प्रतिबिम्ब चेतना मे नियन्त्रित स्थिति मे विद्यमान रहता है। जीवो के कर्मों के बारे मे विचार करते हुए गौतम ने न्याय सूत्रो मे इस मत का प्रतिपादन किया है कि वैध ज्ञान के उपरान्त मानव के द्वारा किये गये कर्म, उसके लिए सुख के कारण बनते है। इसी तरह जो कर्म वैध ज्ञान के द्वारा सम्पादित नही होते, वे ही मानव-जीवन मे दुख के हेतु बनते है। इससे अधिक जीवो के कर्मो पर न्यायदर्शन मे विचार नही किया गया। कर्मवाद की परवर्ती मान्यताएँ भी आरम्भिक न्याय की धारणा से स्वतन्त्र एव पर्याप्त सीमा तक भिन्न प्रकार की है। अत सिद्ध है कि आरम्भ मे न्यायदर्शन के विचारक स्वतन्त्र पदार्थ के वस्तुगत अस्तित्व को मस्तिष्क मे स्वतन्त्र स्वीकार करते थे और उनकी जीव की अवधारणा पदार्थोत्पन्न चेतना की मान्यताओं पर ही मुख्यत. आधारित थी। लेकिन कालान्तर मे आदर्शवाद के प्रभाव के कारण न्याय दर्शन की मान्यताएँ भी ईश्वरवादी बनती गयी, और इसके साथ ही जीव के स्वरूप से सम्बन्धित मान्यताओ मे भी पर्याप्त अन्तर आ गया। जगत की रचना के लिए अभिकरण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता मिली एव उसे जगत का निमित्त कारण मान लिया गया। अतः जीव का स्वरूप अध्यात्मवादियो के द्वारा स्वीकृत आत्मा के स्वरूप जैसा हो गया और इसी

सन्दर्भ मे 'कर्म' और 'धर्म को भी नवीन रूप में परिभाषित किया गया। व्याख्याकारो और भाष्यकारों ने तत्कालीन परिस्थितियो के दबाव के कारण आदर्शवादी मान्यताओं से समझौता कर लिया और आत्मा मात्र पदार्थ-जन्य चेतना न रहकर स्वतन्त्र अनादि चैतन्य बन गया।

परवर्ती—कणाद के 'वैशेषिक सूत्रो' के व्याख्याकार प्रशस्तिपाद ने उसे आदर्शवादी मोड़ दिया। प्रशस्तिपाद की भाँति ही वात्स्यायन (४०० ई०) ने भी गौतम के न्याय सूत्रो की आदर्शवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। फलस्वरूप न्याय-वैशेषिक दर्शनो मे भी जीव के सम्बन्ध मे ईश्वरवादी धारणा को प्रवेश मिल गया। आरम्भिक स्थिति मे इन दर्शनो का मूल स्वर भौतिकवादी ही था। जगत की रचना के सम्बन्ध मे ये दर्शन पदार्थ को मूलकारण मानते थे और केवल उसी की क्रियाशीलता को स्वीकार करते थे। ईश्वर की सत्ता को वे पूर्णत अस्वीकार करते थे। जीव को वे पदार्थ-समवाय-जन्य चेतना मानते थे। लेकिन तत्कालीन आदर्शवादी प्राबल्य के कारण ईश्वरवादी प्रभाव से इन दर्शनों की मूलभूत धारणाओ में पर्याप्त अन्तर आ गया। इन परिवर्तनो को दृष्टि मे रखते हुए एम० हिरियन्ना इसे भौतिकवादी दर्शन स्वीकार करने मे सकोच करते है।[1] फिर भी इस वास्तविकता को अस्वीकार नही किया जा सकता कि ये दर्शन आत्मा को भी अन्य वस्तुओ की भाँति ही एक वस्तु मानते है। तदनुसार आत्मा अन्य वस्तुओ के समान ही गुणों और सम्बन्धो से युक्त ज्ञेय सत्ता है। परवर्ती न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्माएँ सख्या मे अनेक मानी गयी है तथा प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापी और नित्य मानी गयी है। फिर भी भौतिकवादी स्वर के बने रहने के सकेत भी इन दर्शनो मे प्राप्त हो जाते है। जहाँ सिद्धान्त के रूप मे आत्माओ को नित्य और सर्वत्र विद्यमान माना गया है, वही यह भी स्वीकार किया गया है कि आत्मा के ये गुण तभी तक उसके साथ जाते है जब तक वह भौतिकशरीरी होती है। ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानना भी इन दर्शनो की आत्मा सम्बन्धी मान्यता को आदर्शवादी विचारको की मान्यता से भिन्नता प्रदान करता है। आत्मा का जड द्रव्य से इतना ही अन्तर स्वीकार किया गया है कि वह चैतन्य से युक्त हो सकता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन की आत्म-धारणा में आदर्शवादी प्रभाव के कारण यह अन्तर भी आ गया कि मूल अजड तत्त्व को आत्मा स्वीकार करना छोड़ दिया गया और इसके साथ ही पदार्थ-समवाय से जन्य चेतना की अवधारणा भी परिवर्तित हो गयी।[2]

निष्कर्ष—वैचारिक दृष्टि से न्याय और वैशेषिक दर्शन एक दूसरे के निकट ही नही बल्कि एक-दूसरे के पूरक भी है। दोनो के अनुसार जीव ज्ञाता है और उसका अस्तित्व भी ईश्वर की भाँति अनादि है। अद्वैतवेदान्तियो ने ईश्वर और जीव का

---

[1] एम० हिरियन्ना, 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', पृ० २२७.

[2] न्याय सिद्धान्त मुक्तावली (निर्णय सागर) पृ० २०९.

स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हे केवल प्रतीत सत्ता ही स्वीकार किया है। उनका मत है कि वास्तविक सत्ता केवल ब्रह्म की है। वही माया के कारण ईश्वर के रूप मे प्रतीत होता है और ईश्वर ही अविद्या के कारण जीव के रूप मे भासित होता है। अद्वैतवेदान्ती जीवो की अनेकता के विचार को स्वीकार नही करते, लेकिन न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार जीव अनन्त है। जीव और ईश्वर के अन्तर की चर्चा करते हुए उन्होने यह बतलाया है कि जीव का ज्ञान और शक्तियाँ ईश्वर की तुलना मे सीमित है। दोनो दर्शन ईश्वर को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप मे स्वीकार करते है। जीवो का वर्गीकरण करते हुए उन्हे 'मुक्त जीव' और 'बद्ध-जीव' दो श्रेणियो मे बाँटा गया है। साथ ही मुक्ति के पथ पर आरूढ जीवो के भी दो भेद स्वीकार कर लिए गये है। ईश्वर इन दर्शनो की दृष्टि मे पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है, जिसकी तुलना मे जीव का स्वातन्त्र्य सीमित है। ईश्वर ब्रह्माण्ड का सृष्टा, पालक, नियन्ता और सहारकर्ता है। सम्पूर्ण सृष्टि-विधान उसकी स्वतन्त्र इच्छा के अधीन है। जीव परमात्मा के अधीन बनलाये गये है। सृष्टि के विधान मे जीवो के स्वतन्त्र योग को ये दर्शन स्वीकार नही करते। सभी को उस के सकेतादेशों पर चलने वाला मानते है।[1]

● **बौद्ध धर्म-दर्शन मे जीव का स्वरूप**

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने जिस समय अपनी विचारधारा का प्रचार किया (ई० पूर्व छठी शताब्दी) उस समय वर्ण-व्यवस्था के रूप मे वर्ग-समाज का निर्माण हो चुका था। अत उस समय की सामाजिक, धार्मिक एव दार्शनिक मान्यताएँ स्वय इस नवोत्थित साम्राज्यवादी व्यवस्था से प्रभावित थी एव बदले मे वे उस व्यवस्था को सुदृढ बनाने मे सहयोग भी दे रही थी। पूर्ववर्ती कुलो और कबीलो वाली व्यवस्था टूट रही थी और उसके टूटने के कारण सामान्य जनता को शोषण का शिकार होना पड़ रहा था। मैक्समूलर के अनुसार जिस समय बौद्ध धर्म पूर्व और दक्षिण मे उत्तरोत्तर विजयी हो रहा था, उसी समय पश्चिम मे ब्राह्मणवाद भी पूरी तरह फल-फूल रहा था।[2] भारत जैसे विशाल देश मे यह स्थिति अस्वाभाविक नही थी। इससे यह ध्वनित होता है कि गौतम के सस्कार, कबीलो एव कुलो वाली सामाजिक व्यवस्था के थे और उन्होने जिन चार आर्य सत्यो की खोज की एव जिस 'प्रतीत्यसमुत्पाद' नामक अवधारणा को हमारे सम्मुख उपस्थित किया, उसका मूल कारण उस समय की जनता मे फैली हुई निराशा एव असन्तोष ही है।

उपर्युक्त परिस्थिति का विश्लेषण इस प्रकार भी किया जा सकता है कि बौद्ध कालीन पुरोहित चिन्तको का हित इसमे था कि वे धार्मिक एव सामाजिक

---

[1] न्या० सि० मुक०, १।५१, भारतीय दर्शन (डा० रा० कृ०) भा० १, पृ० ३२०-३३ वही० पृ० ६५-६६,

[2] सिक्स सिस्टम्ज आफ इण्डियन फिलासफी, पृ० १५,

जीवन में ऐसी मान्यताओं का प्रचार करें, जिनके कारण साम्राज्यवादी व्यवस्था को दृढ आधार मिले और वह अधिकाधिक फूले और फले। लेकिन दूसरी ओर एक समाज-समुदाय ऐसा भी था, जिसे पूर्ववर्ती जीवन-चर्या मे सुख का एहसास होता था और जिसे नव-निर्मित सामाजिक व्यवस्था मे घुटन, पीड़ा एव निराशा-जन्य दुःख महसूस हो रहा था। विद्वानो का विचार है कि बुद्ध के समय के कुछ एक विचारको, मक्खालिगोस्साल और केशकम्बिलन् आदि के दार्शनिक विचारो का निर्माण उपर्युक्त निराशा-जनित समाजव्यापी प्रवृत्तियो के कारण ही हुआ था। उस समय के इन प्रमुख विचारको की चिन्तन-धारा पर समग्र रूप मे दृष्टि डालने से इस तथ्य की स्पष्ट एव पर्याप्त पुष्टि हो जाती है। इन चिन्तको की निराशा से यह भी पता चलता है कि वे जनता को किसी निश्चित आदर्श का सम्बल नही दे पाये थे। उन्होने केवल परिस्थितियो के परिवर्तन के कारण स्थापित हो रही ब्राह्मण-व्यवस्था का कटु विरोध ही किया था, लेकिन अपनी ओर से वे किसी नये आधार की स्थापना नही कर सके थे। यही कारण है कि वे स्वय भी टूटे तथा समाज को भी घोर निराशा के गर्त से बाहर न निकाल सके।

गौतम बुद्ध उपर्युक्त परिस्थितियो मे पूर्णतया अवगत थे। स्वय वे यथार्थ से सघर्ष नही कर सकते थे, इसलिए यथार्थ जगत से सम्बन्धित जीवन की समस्याओं का यथार्थ समाधान भी नही खोज सके थे। वे ऐसा कर भी नही सकते थे। इसके सम्बन्ध मे जी० थामसन महोदय के विचार ध्यान देने योग्य है। वे लिखते है कि ऐसी परिस्थितियो मे वर्तमान से असन्तुष्ट किन्तु स्वय उस व्यवस्था को परिवर्तित कर सकने मे असमर्थ समाज एव धर्म मे सुधार करने वाला नेता जगत के यथार्थ से पलायन कर, किसी ऐसी आदर्शवादी मान्यता की शरण ले लेता है, जो उस युग की मुख्य भ्रमात्मक सान्त्वना बन जाती है।[१] गौतम बुद्ध ने जिन चार आर्यसत्यो की चर्चा की है, वे इसी भ्रमात्मक सान्त्वना के सूचक है.

(क) पाँचो सासारिक आसक्तियाँ दुःख की कारण है।

(ख) होना (शरीरी अस्तित्व) की तृष्णा-दुःख है और ये मुख्य तृष्णाएँ सख्या मे पाँच है।

(ग) तृष्णाओ से मुक्ति अष्टधा मार्ग पर चलकर ही प्राप्त की जा सकती है।

(घ) तृष्णा-परिहार ही निर्वाण (निब्बान) है।

बुद्ध ने भौतिक दुःखो को विश्वव्यापी शाश्वत पीडा स्वीकार किया है और यथार्थ जगत मे प्राप्त दुःखो का मानसीकरण कर दिया है। वे पुनर्जन्म को अनादि एवं दुःखो का कारण बतलाते है और इससे मुक्ति ही उनके अनुसार निर्वाण है। बुद्ध के अनुसार अविद्य मे सस्कार और सस्कारो से चेतना (consceousness) की उत्पत्ति होती है। चेतना से उन्होंने नाम-रूप सत्ता एव तदनन्तर छः ज्ञानेन्द्रियो एव उनसे

---

[१] Studies in Ancient Greek Society vol. 2, p. 342 FF.

तृष्णा (तण्हा) की उत्पत्ति मानी है। तृष्णा आसक्ति को जन्म देती है और आसक्ति से ही 'मैं हूँ' (Existence) का आविर्भाव होता है। इसके बाद ही शरीरधारी जीव अस्तित्व में आता है। यह जन्म ही जरा, मृत्यु, दुःख, सन्ताप, ग्लानि और निराशा का कारण है। इस क्रम को उलटकर निर्वाण की प्राप्ति होती है। महावग्ग में इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद कहा गया है।[1] अविद्या को इतना अधिक महत्त्व देकर बुद्ध ने व्यक्ति को यथार्थ से पलायन कर निर्वाण के आदर्श के व्यामोह की ओर आकर्षित किया है। वे सीधे जीव के स्वरूप की चर्चा नहीं करते, किन्तु उनके उपर्युक्त 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त के अन्तर्गत उनके जीव-स्वरूप सम्बन्धी अवधारणा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों एवं 'अभिधम्मपिटक' में वर्णित बुद्ध की दार्शनिक मान्यताओं में पर्याप्त अन्तर को देखते हुए विद्वानों ने आरम्भिक बौद्ध धर्म की अलग से चर्चा की है। अभिधम्मपिटक के रचना-काल एवं उपनिषत्काल में अधिक समय का अन्तर नहीं है। दूसरा तथ्य यह है कि ये दोनों ही विचारधाराएँ वैदिक युगीन यज्ञवाद को अपने-अपने ढंग से अस्वीकार करती हैं, अतः दोनों में कुछ एक विषयों के सम्बन्ध में साम्य की झलक विद्यमान है।[2] एकाध सभानता की ओर ध्यान देने के उद्देश्य से कहा जा सकता है कि उपनिषदों में जिस पुरुषरूप ईश्वर का निषेध किया गया है और आत्मा का गुण-निषेध हुआ है, उसी आशय को अपने अनुभव की उपलब्धियों के आधार पर प्रतिपादित करते हुए गौतम बुद्ध ने ईश्वर और आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता को बिल्कुल अस्वीकार जैसा कर दिया है। बुद्ध की सर्व-प्रधान मान्यता यह थी कि इस संसार में दुःख है और उसका नाश किया जा सकता है।[3] उनकी इस दुःखवादी धारणा के सामाजिक कारणों की चर्चा हम किसी अन्य प्रसंग में कर चुके हैं।

बुद्ध के पूर्व दर्शन को अधिक तर्क प्रधान एवं बौद्धिक वाद-विवाद का विषय बना दिया गया था। बुद्ध प्रत्यक्षवादी विचारक तो थे, लेकिन कर्म-सिद्धान्त में उनका विश्वास था और वे संस्कार-प्रवाह की धारणा को स्वीकार करते थे। आरम्भिक बौद्ध धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि वह व्यवहार-निष्ठ धर्म है क्योंकि बुद्ध के अनुसार किसी व्यक्ति को शान्ति ही निर्मल बना सकती है—दार्शनिक ऊहापोह नहीं। आत्मा (जीव) के सम्बन्ध में गौतम बुद्ध के विचार ये हैं कि वे क्षणिक संवेदनों और विचारों की सत्ता को ही स्वीकार करते थे, अतः उन्होंने अपरिवर्तनशील सत्ता वाले 'आत्म-सिद्धान्त' को अस्वीकार कर दिया है। उनके अनुसार यदि आत्मा के स्वरूप का वर्णन करना हो तो कह सकते हैं कि संवेदन, विचार और भौतिक

---

१ F Max-Muller, Sacred Books of the East, 13, p. 75-78,

२ देखिए Religion of the Veda पृ० २, ३, Oldemberg, Buddha, पृ० ५३,

३ वही० पृ० २१६-१७,

देह (जिससे उक्त दोनो सम्बद्ध हैं) का संघात ही आत्मा है। इसके सम्बन्ध मे बुद्ध के आत्म-विचार के विषय मे मिसेज रीस डैविड्स की यह धारणा कि बुद्ध 'सवेदनों' की सभा करने वाले किसी आत्मा रूपी राजा को नही मानते, [1] यह स्पष्ट कर देती है कि बुद्ध ने उपनिषदो के आत्म-सिद्धान्त को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है। उपनिषदो मे आत्मा (अधिष्ठान) को ही एकमात्र सत्य माना गया था।

आत्मा के विषय मे 'पंचस्कन्ध-सिद्धान्त' की चर्चा बौद्ध सम्प्रदायो मे विशेष विस्तार के साथ की गयी है। यह विचार बुद्ध के उस विचार का दार्शनिक रूप है, जिसके अनुसार वे रूप, विज्ञान, वेदना, सज्ञा और सम्कार के सघात को आत्मा मानते है। बुद्ध चित्त को परिवर्तनशील (चचल) मानते है और न तो आत्मा के सम्बन्ध में एकता के सिद्धान्त को स्वीकार करते है और न ही भौतिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे ही। दोनों स्थितियो मे उन्हे 'सघात-सिद्धान्त' ही स्वीकार्य है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण हमे राजा मिनेण्डर और बौद्ध विचारक नागसेन मे हुए वार्तालाप मे हो जाता है। कहा जाता है कि एक बार मुनि नागसेन ने राजा को रथ और उसके घटकों का उदाहरण देकर यह समझाया था कि अकेला घटक रथ नही; बल्कि घटक-समुदाय ही रथ है और इसी तरह 'आत्मा' भी भौतिक एव मानसिक घटको के समुदाय का नाम है।[2] बुद्ध ने न भूतद्रव्यो की और न ही आत्मा की विशेष प्रकार के विन्यास मे भिन्न स्वतन्त्र सत्ता ही स्वीकार की थी। उनके अनुसार उक्त सघात भी परिवर्तनशील ही है—उसे उन्होंने मात्र वस्तुओ या घटनाओ की सन्तति (प्रवाह) माना है।

बुद्ध उपनिषदो के अनुसार आत्मा की मान्यता का एक दूसरे ढग से भी खण्डन करते है। वे केवल क्रिया को स्वीकार करते है और किसी चेतन कर्ता की मान्यता का निषेध कर उत्पत्ति को निरन्तर हो रही प्रक्रिया के रूप मे प्रस्तुत करते है। इसी आधार पर बुद्ध ने उक्त अनुक्रम के भीतर ज्ञात तत्त्वो को तो स्वीकार कर लिया है, लेकिन ईश्वर का अलग अस्तित्व न मान कर उसे भी ज्ञात तत्त्व के अन्तर्गत ही माना है। इस दृष्टि से बुद्ध स्वभाववादी या यदृच्छावादी ही ठहरते है क्योकि वे उपनिषदो की भाँति आत्म या परमात्म तत्त्व के विषय मे विचार नही करते।[3] यहाँ यह तथ्य विशेषकर ध्यातव्य है कि बुद्ध का स्वभाव या यदृच्छावाद स्वतन्त्र प्रकार की अवधारणा है। तदनुसार कोई भी सन्तति तब तक अस्तित्व मे नही आती, जब तक कुल उपाधियाँ पहले से पूरी न हो गयी हो। एक बार आरम्भ हो जाने के उपरान्त सन्तति तब तक समाप्त नही होती जब तक उपाधियाँ बनी रहती है। आत्मा के प्रसग मे यह जान लेना भी जरूरी है कि बुद्ध के अनुसार अविद्या कोई 'विश्व शक्ति' नही जो ब्रह्मवादियों के द्वारा निष्प्रपंच ब्रह्म को व्यावहारिक

[1] बुद्धिस्ट साइकालोजी, पृ० ६८,
[2] ओल्डन वर्ग, बुद्धा, पृ० २५४,
[3] Keith, Buddhist Philosophy. पृ० ६८,

के रूप में प्रस्तुत करने का कारण मानी जाती है। आरम्भिक बौद्ध विचारधारा के अनुसार दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख का विनाश और दुःख के विनाश का उपाय नामक चार आर्यसत्य स्वीकार किये गये थे और इस तथ्य के अज्ञान को ही 'अविद्या' मान लिया गया था।

आरम्भिक बौद्ध धर्म मुख्यतः बुद्ध की उस विचारधारा का रूप है, जिसे पर्याप्त सीमा तक 'त्रिपिटक' मे सगृहीत किया गया है। फिर भी बुद्ध ने जो कुछ कहा था, वह प्रायः मौखिक ही था, इसलिए किसी अश तक अस्पष्ट भी। बाद मे जिस समय इस धर्म का व्यापक प्रचार हुआ उस समय बुद्ध के मूल उपदेशों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की जाने लगी। इसी कारण यह धर्म कालन्तर मे हीनयान और महायान नामक दो प्रधान मार्गों मे विभक्त भी हो गया। हीनयान मुख्यतः सर्वास्तित्त्ववादी है, लेकिन महायनियो ने इसमे भिन्न स्वतन्त्र सम्प्रदायो का निर्माण किया है। महायान बौद्ध धर्म एक प्रकार मे दर्शन प्रधान धर्म बन गया। आगे चलकर महायान बौद्ध धर्म मे जिन दार्शनिक सम्प्रदायो का विकास हुआ, उनमे विज्ञानवादी और शून्यवादी विचारकों की मान्यताओ का जीव के स्वरूप की मान्यताओं की परम्परा मे विशेष महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। जीव के विवेचन के प्रसग मे हम मुख्यतः इन्ही उक्त दो विचारधाराओ का उल्लेख कर रहे है।

● **परवर्ती बौद्ध धर्म में स्वीकृत जीव-स्वरूप**

विज्ञान की जीव के रूप में प्रतीति

बौद्ध दर्शन जीव की सत्ता उस प्रकार नही मानते, जिस प्रकार उपनिषदो, ब्रह्मसूत्रो एव गीता आदि के आधार पर आचार्य शकर एव उनके बाद के अद्वैत-वेदान्तियों ने मानी है। बौद्धो का जीव-सिद्धान्त वैष्णव आचार्यो की मान्यताओ से भी पूर्णतया भिन्न है। इस का प्रधान कारण यह है कि बौद्धो ने चित्त और विज्ञान से अलग किसी दूसरी सत्ता को स्वतन्त्र प्रमाता माना ही नही है। उनके अनुसार विज्ञान (बुद्धि) ही हमे जीवत्व की प्रतीति करवाता है और इस प्रतीति का कारण उन्होंने अहन्ता-भाव माना है। बौद्ध इसे जीव नही कहते। वे इसे 'आलय विज्ञान' का नाम देते है। बौद्धो के चार प्रमुख सम्प्रदाय है और उन सभो के अनुसार मूल सत्ता केवल चित्त या विज्ञान की ही है। 'आलय विज्ञान' के रूप में ही जीव के चैतन्य का आभास विभिन्न रूपो मे हमे बौद्ध दर्शनो मे मिलता है। योगाचार के अनुसार जगत क्षणात्मक सत्ता है और क्षण-क्षण का नैरतर्य या प्रवाह ही जीव के अस्तित्त्व का अनुभव करवाता रहता है। बौद्धो की जीव सम्बन्धी मान्यता केवल इसी रूप मे समझी जा सकती है। प्रस्तुत प्रसंग मे हम इसे बौद्धो का जीव-सिद्धान्त मान सकते है। योगाचार सम्प्रदाय वालो के अनुसार जीव दो प्रकार के है। एक जीव वे है, जिन्हे अभी तक निर्वाण प्राप्त नही हुआ है। ये जीव भव-बन्धन का दुःख उठा रहे है। दूसरे प्रकार के जीव वे है जिन्होने निर्वाण प्राप्त कर लिया है। उन्हे शाश्वत

भास्वरता मे तदाकार या एकमेक होने वाला जीव कहा गया है। योगाचार विचारकों ने जीवों के निर्वाण की अवस्था को उनकी भास्वरता माना है। माध्यमिक बौद्धों का दृष्टिकोण उनसे कुछ भिन्न है। वे इसे जीव का 'शून्य में समा जाना' मानते हैं। क्योकि उनके मतानुसार निर्वाण का अर्थ शून्यरूपता प्राप्त करना है।[१]

जैन दर्शनो में जीव के स्वरूप की चर्चा बौद्धों से भिन्न ढग मे की गयी है। वे जीव का यथार्थ अस्तित्व मानते है। उन्होंने जीव की तीन कोटियाँ निर्धारित की है—बद्ध जीव, आलोकाकाशोन्मुख जीव और शाश्वत-मुक्त जीव। 'बद्ध जीव' वे हैं, जो अभी तक आवागमन के चक्कर मे भटक रहे है। 'आलोकाकाशोन्मुख' जीवों को मुक्ति तो प्राप्त नही रहती, लेकिन उनकी यात्रा मुक्ति की ओर होती है। तीर्थंकर ही शाश्वत-मुक्त जीव है, जिनका निवास सिद्धशील लोक माना गया है।[२]

शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध और जीव

माध्यमिक या शून्यवादी बौद्ध विचारक यह मानते है कि सत्ता नामक कोई वस्तु या तत्त्व है ही नही। कारणता की धारणा के सम्बन्ध मे विलक्षण दृष्टिकोण अपनाते हुए भी जहाँ अन्य बौद्ध सम्प्रदाय वस्तुओ की उत्पत्ति को स्वीकार कर लेते है, वहाँ शून्यवादी इसका निषेध ही मानते है। उनके मत मे जगत मिथ्या सम्बन्ध रखने वाली मिथ्या वस्तुओ का जाल है।[3] नागार्जुन ने पहली कारिका में ही इस मत को स्पष्ट कर दिया है कि किसी का भी अस्तित्व नही है। इसी प्रसग में उन्होंने अस्तित्व का हर दृष्टि से खण्डन किया है, लेकिन अद्वैतवेदान्तियो की भाँति वे जगत और जागतिक पदार्थो का व्यावहारिक अस्तित्व भी स्वीकार कर ही लेते है। शून्यवादी योगाचारी है और योगाचार के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक जगत का अस्तित्व भ्रमात्मक माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शून्यवादियों की दृष्टि मे शून्य ही एकमात्र सत्य है। शून्यवाद को ही शकराचार्य ने खण्डन का विषय बनाते हुए यह कहा है कि सत्य सत्ता की स्वीकृति के अभाव मे किसी अन्य वस्तु का मिथ्यात्व सिद्ध नही किया जा सकता।[४] बाद मे 'शून्य' को भावात्मक सत्ता के रूप मे स्वीकार कर, यह मान लिया गया कि शून्य से माध्यमिकों का आशय सम्भवतः 'शून्य जैसा' मे था।[५] इसके सम्बन्ध मे एम० हिरियन्ना लिखते है कि उक्त भावात्मक शून्य-अवधारणा परवर्ती आरोपण है, जबकि वे माध्यमिको को पूर्वोक्त मान्यता के अनुसार शून्यवादी ही मानते है।[६]

---

[१] सौन्दरानन्द १६।२८, २६, डा० रा० कृ० भा० द० खं० १, पृ० ६००-६०१,

[२] भा० दर्शन, डा० रा० कृ० ख० १, पृ० ३२५, ३३३, वही० पृ० ३२०, ३३३,

[3] पीटर्स वर्ग सस्करण, नागार्जुन-कारिका, (टीका) पृ० ५८, वही० १३-१,

[४] देखिए : वे० सू० २-२-३१, (शां० भा०)

[५] भारतीय दर्शन (रा० कृ०) भा० १, पृ० ६६२-६६,

[६] भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २२३,

जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे माध्यमिको की उक्त धारणा को लागू किया जा सकता है। जीव के कर्मों के विषय मे नागार्जुन (माध्यमिक आचार्य) का मत है कि बोधिसत्त्व चाहे तो अपने शुभ कर्म दूसरो को बॉट सकता है। बोधिसत्त्व के विषय मे यह धारणा भी प्रचलित है कि वह अपने पुण्य अपने साथियो में वितरित कर सकता है और करता भी है। यही से भक्ति के तत्त्व ने बौद्ध धर्म मे प्रवेश किया है और बोधिसत्त्व को वही स्थान प्राप्त हुआ है, जो अवतारवादी धारणा के अनुसार अवतारी पुरुषो को प्राप्त है। जीव के सम्बन्ध मे माध्यमिको की मान्यताओ मे धीरे-धीरे परिवर्तन भी हुआ है।

४ | भौतिकवादी दर्शनों के अनुसार जीव-स्वरूप

● **वैचारिक सघर्ष**

सिन्धु सभ्यता के अवशेषो के अध्ययन के उपरान्त विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे है उस काल के भारत मे कृषि-अर्थतन्त्र व्यवस्था प्रचलित थी और परिस्थितियो मे परिवर्तन आ जाने के कारण कालान्तर मे स्वय यायावर आर्य जाति का जीवनाधार भी कृषि बन गया था। इस परिवर्तित वातावरण के प्रभाव से विभिन्न वर्ग बन गए थे और आर्य जाति की पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन हो गया था। गणपति या विशपति के रूप मे जीवन-यापन करने वाले आर्यों के समाज मे परिवर्तन के कारण का स्थान राज्य-व्यवस्था एव जमीदारी प्रथा ने ले लिया। वर्ण-व्यवस्था की स्थापना उक्त परिस्थितियो मे साकार हुए परिवर्तनो एव नयी व्यवस्था को सुचारु ढग से चलाने की उपलब्धि थी। इस तरह नये वातावरण ने एक ओर श्रम-विभाजन के लिए मार्ग प्रशस्त किया एव दूसरी ओर विशेषीकरण तथा विनिमय की प्रथा का प्रचलन हुआ। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' मे हमे नव निर्मित वर्ण-व्यवस्था के प्रचलन के स्पष्ट सकेत प्राप्त होते है, यद्यपि यह स्थिति परवर्ती वैदिक कालीन ही थी। वर्ण-व्यवस्था का उदय भी सामाजिक विकास की एक अवस्था विशेष का ही परिणाम था।

हम गत पृष्ठो मे इस तथ्य का प्रतिपादन कर चुके है कि जीवन-यापन के हेतु अर्जन के उपायो मे परिवर्तन के साथ ही सामाजिक चिन्तन मे भी परिवर्तन आ जाता है, जिसके फलस्वरूप धर्म और दर्शन का स्वरूप बदल जाना स्वाभाविक है। उदाहरण के रूप मे शरीर से भिन्न आत्मा की सर्वात्मवादी धारणा तथा मृत्यु के उपरान्त आत्मा के द्वारा दूसरे शरीर मे प्रवेश करने की परिकल्पना एव विश्वास ने ही परिवर्तित परिस्थितियो मे कर्म-सिद्धान्त को जन्म दिया है। डा० राधाकृष्णन ने 'भारतीय दर्शन' के प्रथम खण्ड मे यह स्वीकार कर लिया है कि कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणाओ का आधार आदिवासियो का वह विश्वास है, जिसके अनुसार वे

यह मानते थे कि मृत्यु के उपरान्त आत्माएँ पशुओं के शरीर मे निवास करती है।[1] अन्तर केवल यह है कि पहला विश्वास एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था के चिन्तन का परिणाम है एव दूसरे प्रकार का चिन्तन दूसरे प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की उपलब्धि। इस परिवर्तित सामाजिक स्थिति मे इस प्रकार के अन्य भी कई परिवर्तन हुए हैं, लेकिन जीव के स्वरूप आदि की मान्यताओं के प्रसंग मे हमारे लिए केवल यही उदाहरण पर्याप्त है। अत. जैसे ही जीव से सम्बन्धित चिन्तन में परिवर्तन हुआ वैसे ही यह भी मान लिया गया कि जीव को उसके द्वारा किए गए कर्मों के अनुसार पुरस्कार या दण्ड आदि प्राप्त होता है। कर्म की यह अवधारणा उक्त नवीन सामाजिक व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) की ही उपलब्धि है, जिसमे सामाजिक असमानता का समाधान प्राप्त किया गया है। आत्मा को इकाई के रूप मे स्वीकार कर, उसके द्वारा एक शरीर का त्याग एव दूसरा शरीर धारण करने की मान्यता भी उक्त कर्म-सिद्धान्त पर ही आधारित प्रतीत होती है। इस विचार का विशेष पल्लवन भगवद् गीता मे स्पष्ट दिखाई देता है, जो वर्ण-व्यवस्था की धारणा को अत्यन्त पुष्ट बनाने मे अत्यधिक क्रियाशील रहा है। इस नयी व्यवस्था को ब्राह्मणवाद का अभिधान दिया जा सकता है। आरम्भ मे नवीन परिवर्तनो के कारण नयी सामाजिक व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था ने एव तज्जन्य दार्शनिक चिन्तन ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई थी। लेकिन कालान्तर मे ब्राह्मणवाद जब स्वय सामाजिक प्रगति के मार्ग का अवरोध बन गया, तब की परिस्थितियो मे ब्राह्मणवाद का विरोध करना भी आवश्यक हो गया। यही समय आदर्शवाद एव भौतिकवाद के मध्य वैचारिक सघर्ष का समय है।[2]

● जीव-स्वरूप सम्बन्धी भौतिकवादी दृष्टिकोण

ऊपर सक्षेप मे जीव की अवधारणा के प्रसग मे वैचारिक सघर्ष की चर्चा इसलिए की गई है ताकि इस तथ्य से अवगत हुआ जा सके कि जीव की ब्राह्मणवादी अवधारणा पूर्ववर्ती जीव-धारणा से क्यो एव किस रूप मे भिन्न है तथा कालान्तर मे ब्राह्मणवाद के विरोधियो ने इसे क्यो भौतिकवादी दृष्टिकोण के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। भारत की दार्शनिक प्रणालियो को मुख्यत दो—आस्तिक एव नास्तिक—प्रणालियो मे विभाजित किया जा सकता है। आस्तिक प्रणालियाँ वे है, जो परलोक मे विश्वास रखती है एव वेदो की सत्ता को मानती है। जिन दर्शन-प्रणालियो मे उपर्युक्त दोनो मान्यताओ को अस्वीकार कर दिया गया है, वे नास्तिक कहलाती है। इन्हे आदर्शवादी एवं भौतिकवादी चिन्तन-प्रणालियाँ कहना ही अधिक युक्ति-सगत प्रतीत होता है। भारत मे भौतिकवादी विचारधारा की परम्परा का उल्लेख प्रस्तुत रचना के प्रथम खण्ड मे विस्तार के साथ कर दिया गया है।

---

[1] भारतीय दर्शन, ख० १, पृ० १३६,

[2] विशेष विवरण के लिए देखिए. डा० रा० कृ० भा० द० भाग १, पृ० ३५२-५३,

इसके सम्बन्ध में अब कोई असहमति नहीं हैं कि भारतीय चिन्तन के फलक में भौतिकवादी विचारधारा भी उतनी ही पुरानी है, जितना कि स्वयं दर्शन। भौतिकवादी विचार, बुद्ध से भी पहले किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थे, जिनके संकेत हमें ऋग्वेद मे भी प्राप्त हो जाते है।[१] जीव के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में आदर्शवादी धारणाओ का निर्माण हो जाने और कर्म एव पुनर्जन्म एवं परलोक की अवधारणाएँ बन जाने पर, जीव को स्वतन्त्र चैतन्य मानने का विरोध भी होने लगा। इसका कारण यह था कि पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त की अवधारणा के प्रचार के कारण जनता के शोषण के लिए ऊँचे वर्ण वालो को आधार प्राप्त हो गया था एवं वे अपने स्वार्थों को और अधिक दृढ बनाने में सफल होने लगे थे। जिन्हें यह व्यवस्था हितकर नही लगी, उन्होने जीव (मानव-चेतना) को पदार्थ-जन्य माना और ईश्वर की परमसत्ता का विरोध करते हुए पदार्थ को ही ब्रह्माण्ड का मूल कारण बतलाया। उक्त अवधारणा का भी खण्डन किया, जिसके अनुसार यह माना जाता था कि शरीर के नाश के साथ ही आत्मा का नाश नही होता और वह एक शरीर का त्याग करने के उपरान्त दूसरा शरीर धारण कर लेती है। ऐसे विचारको को लोकायत या भौतिकवादी कहा गया है और उनके द्वारा प्रचारित दर्शन-प्रणाली को लोकायत विचारधारा या 'भौतिकवादी विचारधारा' का नाम दिया गया है।

डी० भट्टाचार्य के अनुसार भारतीय भौतिकवाद के आदि प्रणेता बृहस्पति (वैदिक युगीन) के मत मे पदार्थ ही परम सत्य है। आत्मा अमर सत्ता नही और न ही मृत्यु के बाद जीवन के बने रहने की अवधारणा को ही स्वीकार किया जा सकता है।[२] आचार्य भृगु ने भी जीव की उत्पत्ति पदार्थ से ही मानी है। वे लिखते हैं कि जीवो का जीवनाधार पदार्थ है। सभी जीव अन्तत पदार्थ में ही समाहित हो जाते है। उपनिषदो के कई प्रसंगो मे भी पदार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का अनादि अस्तित्व न मानकर परलोक की अवधारणा का खण्डन किया गया है।[3] पुरान कस्सप, मारवलि गोसाल, अजीत केशकबलि आदि चिन्तकों के स्पष्ट उल्लेख बौद्ध एव जैन ग्रन्थो मे प्राप्त होते हैं। ये सभी विचारक आत्मा को शरीर से स्वतन्त्र एव अलग सत्ता स्वीकार करने का विरोध करते थे। उनका विचार था कि जिन तत्त्वो से शरीर का निर्माण हुआ है, शरीर के निधन के उपरान्त उसकी सामग्री पुन: अपने-अपने मूल तत्व में समा जाती है। मृत्यु के बाद आत्मा अर्थात् चैतन्य का भी अन्त हो जाता है। अजीत केशकबलि के अनुसार जिस समय तक शरीर है, उसी

---

[१] डा० रा० कृ० भा० द० ख० १, पृ० २७७,
जवाहरलाल नेहरू, भारत की खोज, पृ० ७१,

[२] हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, ख० १, पृ० १३, रा० कृ० भा० द० भा० १, पृ० २७७,

[3] एम० एन० राय, मैटिरियलिज्म, पृ० ७७-७८ पर उद्धृत।

समय तक चेतना रहती है। शरीर के विनाश के बाद आत्मा (चेतना) का बने रहना सम्भव नही है। आत्मा को शरीर से भिन्न एव स्वतन्त्र चैतन्य मानने वाले उसके स्वरूप आदि के बारे मे निश्चित रूप मे कुछ भी बतला नही सकते। अत आत्मा की शरीर से स्वतन्त्र स्थिति का दावा करने वाले गल्ती पर है।[1] जैनसूत्रो मे उक्त भौतिकवादी विचारको के मतो का उल्लेख करते हुए यह बतलाया गया है कि उनके अनुसार पाप और पुण्य की धारणाएँ मात्र कल्पना है क्योकि शरीर को बनाने वाले पदार्थ-समवाय के विघटित हो जाने पर स्वतन्त्र चेतना का अस्तित्व शेष रह ही नही सकता।

आजीवक विचारक आत्मा के आवागमन की अवधारणा के विरोध के माध्यम से उसे अविनाशी चैतन्य मानने का विरोध करते थे। उनके अनुसार नियति विश्व की घटनाओ की परिचालिका है—ब्रह्म नही। चेतना का जन्म शरीर से होता है। रामायण एव महाभारत मे भी भौतिकवादी विचारको की मान्यताओ का उल्लेख हुआ है, जिनके अनुसार मृत पुरुषो को उनकी सन्तान का दिया हुआ कुछ भी प्राप्त नही हो सकता। इन विचारको का यह दावा है कि इस ससार से परे मनुष्य जीवित नही रहता। महाभारत मे उपदेश देते हुए भारद्वाज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा की मान्यता की कोई आवश्यकता ही नही है। महाभारत मे विभिन्न प्रसगो मे उन आचार्यों की मान्यताओ का उल्लेख आया है, जिन्हे विद्वानो ने स्वभाववादी यदृच्छा या परिणामवादी विचारक कहा है। ये विचारक विश्व को स्वय निर्देशित मानते है और उसका निर्माण या नियमन करने वाली किसी अलौकिक शक्ति के अस्तित्व का विरोध करते है। शातिपर्व के एक प्रसग मे कहा गया है कि जीव और शरीर यदृच्छा से या अपने स्वभाव के कारण जिस प्रकार एक साथ सह अस्तित्व मे आते है, उसी प्रकार इनका एक साथ ही नाश भी हो जाता है। प्रत्येक प्राणी का अन्त मृत्यु है—इससे और अधिक कुछ नही।

स्वभाववादी विचारको की धारणाओ की चर्चा करते हुए महाभारत मे उनकी मान्यताओ के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि वे सभी वस्तुओ का स्वभावज अस्तित्व स्वीकार करते है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह सिद्धान्त प्रकारान्तर से साख्यो का ही मूलभूत प्रकृति-सिद्धान्त है। यदृच्छावादियो का मत है कि सभी कुछ यदृच्छया ही होता है अत. जगत की रचना के सम्बन्ध मे ईश्वरीय सृष्टि के सिद्धान्त मे भटकने की कोई आवश्यकता ही नही है।[2] आत्मा की सत्ता को भौतिकवादियो ने भी माना है। आदर्शवादियो मे भिन्न उनकी धारणा यह है कि वे उसकी अवस्थिति शरीर से भिन्न एव स्वतन्त्र स्वीकार नही करते। वे पदार्थ की सत्ता को चेतन-निर्भर न मान कर चेतना की सत्ता पदार्थाश्रित मानते है। उनके अनुसार जीव (मानव-

---

[1] एच० जैकोबी, जैन सूत्राज, भूमिका, पृ० ३४, वही० पृ० ३३९-४१,

[2] हिरियन्ना, आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० १०३-४,

चेतना) का मूल कारण पदार्थ है और यह चेतना (शरीर) पदार्थ-समवाय में स्वयमेव उद्भूत हो जाती है ।

ऊपर जिन विचारको एव जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में उनके विचारो का उल्लेख किया गया है, वे हमे बहुधा उन रचनाओ मे बिखरे रूप मे मिलते है, जो स्वय आदर्शवादी विचारधारा से प्रेरित है एवं जिनमे जीवपरक भौतिकवादी विचारधारा का उल्लेख भिन्न एव विरोधी पक्ष के रूप के हुआ है । ब्रह्म अर्थात् ब्रह्माण्ड के मूलकारण की मान्यताओ के सम्बन्ध मे भारतीय विचार-परम्परा का उल्लेख करते हुए हमने इस तथ्य का प्रतिपादन कर दिया है कि भौतिकवादी दृष्टि से जगत के सम्बन्ध मे विचार करने वाली प्राय. सभी रचनाएँ या तो स्वयमेव काल-कवलित हो गयी है अथवा आदर्शवादी चिन्तको के द्वारा उन्हे नष्ट कर दिया गया है । अध्यात्मवादियो ने अपने सिद्धान्तो की स्थापना करते समय भौतिकवादी विचारको की मान्यताओ का खण्डन करने के लिए ही उनकी रचनाओ एव उनमे व्यक्त विचारो का उल्लेख किया है, जिसमे यह पता चलता है कि ब्रह्माण्ड की रचना एव जीव-चैतन्य के विषय मे उनके क्या विचार थे । इस विषय मे किसी को सन्देह नही कि भौतिकवादी विचार-परम्परा किसी समय लोकायत दर्शन के रूप मे एक विशिष्ट दर्शन-प्रणाली के रूप मे इस देश मे प्रचलित हुई एवं उसने आदर्शवादी विचारधारा की न्यूनताओं को पर्याप्त सीमा तक सम्मुख लाने का प्रयत्न भी किया है । लोकायत दर्शन-प्रणाली की मान्यताओं को विद्वानो ने पुन निर्मित किया है, जिसके अनुसार उसकी जीव-चैतन्य सम्बन्धी धारणाओ को सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है

(१) लोकायत पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्वो की ही अनादि सत्ता मानते है और जीव-चैतन्य को इनके समवाय से उद्भूत चेतना का नाम देते है ।

(२) उनके मत मे सत्ता केवल उसी की मानी जा सकती है, जिसका प्रत्यक्षण सम्भव है या जो इन्द्रिय-गोचर है ।

(३) स्वतन्त्र आत्म चैतन्य की मान्यता को अस्वीकार कर लोकायतो ने इस धारणा का प्रचार किया है कि प्रकृति ही जगत का मूलकारण है ।

(४) आत्मा को वे शरीर ही स्वीकार करते है, उससे भिन्न एव स्वतन्त्र चैतन्य नही । उनका मत है कि जिस तरह पान, सुपारी और चूने के योग से लाल रग की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पदार्थ-समवाय से जीव या चेतना का प्रादुर्भाव हो जाता है ।

(५) जीव के जन्मान्तरण को वे नही मानते, अत उनके अनुसार परलोक की अवधारणा मात्र कल्पना है । स्वर्ग एव नरक की मान्यता को भी उन्होने आदर्शवादियो की मनगढन्त धारणा का ही नाम दिया है ।

(६) आत्मा की अमरता का वे खण्डन करते है और शरीर की मृत्यु के उपरान्त सभी तत्त्वो का बिखराव ही उन्हे मान्य है । तदनुसार आत्मा न किसी

दूसरे शरीर मे प्रवेश करती है और न ही उसका किसी अन्य लोक में गमन ही होता है ।

(७) अन्तर्भूत शक्ति या स्वभाव ने कारण भौतिक तत्त्व स्वयमेव ब्रह्माण्ड की रचना का कारण बनते है । मुक्ति को जीवन का लक्ष्य स्वीकार करना भ्रम है क्योंकि मोक्ष की अवधारणा एव मात्र कल्पना है ।

५ अद्वैत वेदान्त एवं शैव-शाक्त दर्शनों में स्वीकृत जीव-स्वरूप

अद्वैतवेदान्ती केवल ब्रह्म का ही यथार्थ अस्तित्व मानते है । उनके मतानुसार केवल ब्रह्म ही अनादि एव अनन्त सत्ता है और जीव तथा जगत मात्र प्रतीत सत्ताएँ हैं । जीव को केवल इसी दृष्टि से अनादि एव कर्म करने मे स्वतन्त्र माना गया है कि ब्रह्म मे ईश्वर की और ईश्वर मे जीव की प्रतीति की आरम्भावस्था के बारे मे कुछ कहना सम्भव नही है । आवागमन का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्ती भी स्वीकार करते है, अतः उन्हे जीवो की अज्ञानता को भी मानना पडा है। परन्तु उनके अनुसार जीव का अज्ञान वैसा नही है, जैसा कि साख्य विचारक मानते है । अद्वैतवेदान्तियो के अनुसार अविद्या और माया से अतीत जीव ही ब्रह्म है, इसलिए उसका कैवल्य वैसा ही नही, जैसा कि साख्यों के पुरुष का । साख्यों के अनुसार पुरुष अनेक है और उनका शुद्ध स्वरूप ही उनकी मुक्ति (कैवल्य) है। निरीश्वर साख्य तो प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त ब्रह्म नाम की किसी तीसरी अधीश्वर सत्ता को मानते ही नही । शकराचार्य का मत है कि माया के आवरण के कारण ब्रह्म ही ईश्वर है और अविद्या का आवरण ईश्वर की प्रतीति जीव के रूप मे करवाता है ।[1]

कर्म-विधान और ईश्वर के नियमन के प्रश्न का उत्तर देते हुए अद्वैतवेदान्तियो ने ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली चेतन सत्ता को 'ईश्वर' कहा है । वही विश्व की नियामक शक्ति है । वे यह भी मानते है कि ईश्वर को भी अविद्या अपने आवरण में ले लेती है और उसका आवरणभूत रूप ही जीव है ।[2] जीवो मे एक दूसरे से अन्तर

---

[1] पचदशी, १–१७, माया बिम्बो वशीकृत्य ता स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर । अविद्या वशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ×××× ॥

[2] ब्र० सू० शा भा० २।१।३४, सापेक्षो हीश्वरो विषमा सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षत इति चेत् धर्माधर्मावपेक्षत इति वदाम । अत सृज्यमान प्राणिधर्माधर्मापेक्षया विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराध । वही० २।१।३५, विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्तता नाम। प्राग्विभागाद्वैचित्र्य निमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्यासृष्टिः प्राप्नोतीति चेत्····नैष दोष । अनादित्वात्ससारस्य । भवेदेष दोषो यद्यादिमान् ससारः स्यात् । अनादौच ससारे बीजाकुर वद्धे तु सद्भावेन् कर्मण. सर्ग वैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुद्धयते······· ॥

देखकर अद्वैतवेदान्तियो ने उनकी विश्व, तैजस् और प्राज्ञ तीन कोटियाँ स्वीकार कर ली हैं। ईश्वर को उन्होने एक ही माना है। जीवो की इन तीन कोटियो मे से हर एक कोटि के तीन-तीन भेद भी माने गये हैं।[1] इस तरह व्यावहारिक दृष्टि से जीवों की अनेकता को किसी न किसी रूप में अद्वैतवेदान्ती भी स्वीकार कर लेते हैं। जीवो का अनादि एव स्वतन्त्र अस्तित्व न मानने के कारण अद्वैतवेदान्ती शाश्वत मुक्त जीवो के मत का समर्थन नही करते। अगर वे यह मान ले तो उनका जीव और जगत का सिद्धान्त ही बाधित हो जाता है। विद्यारण्य स्वामी ने 'कूटस्थ जीव' का भी उल्लेख किया है, लेकिन उनकी यह धारणा मौलिक नही है।[2] कूटस्थ जीव पीछे बतलायी गयी जीव की कोटियो के ही अन्तर्गत है।

● प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव-स्वरूप

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव मे विभिन्न मलो (आवरणो) की स्थिति स्वीकार की गयी है। तदनुसार तीसरा मल 'कार्म मल' कहलाता है। जीव की आसक्ति-भाव से कार्य मे प्रवृत्त होने की अवस्था ही उसका 'कार्म मल' माना गया है।[3] प्रत्यभिज्ञावादियो के मत मे ईश्वर के अनुग्रह से ही जीव कर्मो मे प्रवृत्त होता है, लेकिन कृत-कर्मो के फल के प्रति वह इसलिए उत्तरदायी माना गया है, क्योकि उसके वासना-सस्कार अपने-अपने है और वह अपनी ही रुचि एव अरुचि के कारण ही विशेष कर्मो की ओर उन्मुख होता है। जीव को कर्मो की ओर प्रवृत्त करने वाली शक्ति माया स्वीकार की गयी है। अन्त मे उसके कर्म ही (अच्छे-बुरे) उसकी मुक्ति एव बन्धन के कारण बनते है। कर्म-प्रवाह मे बहते-बहते जीव मे सस्कारो की स्थिति दृढ हो जाती है और वह उसे बन्धन मे डालने वाले आवरणो मे लपेटती रहती है। बद्ध होकर जीव एक योनि से दूसरी योनि मे पूर्वजन्म-कृत कर्मो का फल भोगने के हेतु भटकता रहता है। उसका कर्म-सस्कार उस समय तक नही टूटता जब तक वह भक्ति आदि उपायो का आश्रय ग्रहण कर धीरे-धीरे उन्हे दूर नही कर लेता। कर्म-सस्कार ही जीव का प्रवृत्ति-प्रवाह है, जिसमे डूबता-उतराता जन्म-जन्मान्तर की यात्रा मे वह सुख-दुःख भोगता है।[4]

---

१ गौ० पा० का० १।१,—बहि प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्त. प्रज्ञस्तु तैजस.। घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृता ॥ (ख) वही० १।३, विश्वोहि स्थूल भुङ् नित्य तैजस प्रविविक्त भुक् आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोग निबोधत।

२ पचदशी, ८।१६, (क) कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येव चिच्चतुर्विधा ॥ वही० (ख) ६।२२, अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्न चेतन। कूटवन्निर्विकारेण स्थित कूटस्थ उच्यते ॥

३ प्र० हृ० पृ० १६, तद्भूमिका सर्वदर्शन स्थितय ······ ॥

४ ई० प्र० वि० ३-२-८, कर्मोऽस्ति वासना सस्कार रूपो धर्माधर्मोऽस्त्येव × × ॥

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीव का स्वतन्त्र (चेतन) अस्तित्व नही। उसके प्रत्येक आवरण को शिव की इच्छा से ही प्रेरित एवं नियमित बतलाया गया है। इस धारणा का आधार यह है कि शिव ही पशु का रूप धारण करते हैं—अत: जीव का शिवाधीन होना स्वाभाविक है। इच्छा-स्वातन्त्र्य शिव का माना गया है—जीव का नही। परमसत्ता द्वारा जीव का रूप धारण करना ही जीव के अस्वातन्त्र्य का द्योतक है।[१] जो अद्वैतदर्शन ऐसा मानते है, उन सभी मे प्राय इसी धारणा का प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार जीव मायीय मलो के आवरण के कारण अपने शुद्ध (चैतन्य) स्वरूप को भूल जाता है। वह इन्द्रियो के धर्मों को अपने धर्म मान बैठता है और भ्रम के कारण कर्तृत्व के भाव मे ग्रस्त हो जाता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन मे जीव की स्थिति के बारे मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जीव के काम-मलो ने ही उसे शिव से पशु बना दिया है।[२] पशु-दशा मे 'शिवोऽहम्' को भूल कर संसारी बन जाना शिव की लीला है। इस रूप मे वह जीव है—प्रकृति-बद्ध जीव। संसारी जीव के सभी आचरण अविद्या-प्रेरित माने गये है। जब वह शिव की भक्ति एवं शाम्भव योग की साधना द्वारा फिर से आरोहणोन्मुख बन कर मध्यवर्ती भूमियाँ पार करता है, तब वह पुन शिवत्व प्राप्त कर लेता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार आरोहण की स्थिति मे शिव प्रकाश-विमर्श रूप चैतन्य का असीम सागर है। उससे भिन्न एव आणव मलो से बद्ध पशु नाम की कोई अनादि सत्ता (सीमित चैतन्य) नही। शिव स्वयं ही अपनी इच्छा द्वारा असीम से ससीम बनता है। उसकी यह आणवावस्था ही पशु-भाव है, जिसे काश्मीर शैव 'पशु' का अभिधान देते है। इसको शिव द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को भुला देना माना गया है।[3] आणव स्थिति मे शिव ही पशु कहलाता है। आणव पाश है, और स्वय को पाशो मे बाँध लेने के कारण ही शिव पशु है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार ईश्वर और जीव की भाँति शिव और पशु आरम्भ मे ही दो पृथक् सत्ताएँ नही है। जीव अनादि एव सख्या मे अनन्त है। ईश्वर एक एव सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिमान सत्ता है, जिस की तुलना मे जीव का ज्ञातृत्व एव कर्तृत्व—दोनो ही सीमित है। शैवागमो की दृष्टि मे पशु (जीव) की अणुता उसका नित्य धर्म नही, लेकिन न्याय और वैशेषिक

---

[१] वही० २-४-६, तस्मात् वस्तुत ईश्वर एव सर्वत्र कर्ता, अह च स च इति न परिमिते कर्ता अपितु सर्वत्र कर्ता × ×।।

[२] ई० प्र० वि० २।४।६, नन्वेव कुम्भकृतो नास्ति कर्तृत्वम् इति ससुत्सीदेत् धर्माधर्मादि व्यवस्था। यदि प्रत्येषि युक्तयागमयोस्तदेवमेव।। तथापि समस्तेतर निर्माणमध्यमेवेदमपि परमेश्वरेणैव निर्मित यत् अविचलस्तस्य कुम्भकार-पशो-र्मिथ्याभिमान प्रतिभुवे इवाधर्मणनाभिमान ···।।

[3] ई० प्र० वि०, २।४।२० भासमानवधीर्यागम प्रमाणकोऽयमभेद इति चेत् आगमोऽपि भेदात्मक एव वस्तुभूत प्रमातृ प्रमाण प्रमेय विभागश्च × ×।

दर्शन के अनुसार ईश्वर की तुलना मे जीव आरम्भ से ही पृथक् है और उनकी शक्तियाँ अत्यन्त सीमित है।

संख्य दर्शन मे जीव को त्रिगुणातीत, निष्कल एवं केवल माना गया है। वह मात्र द्रष्टा चैतन्य है। ब्रह्माण्ड का सारा व्यापार प्रकृति का है लेकिन पुरुष (जीव) प्रकृति के भुलावे मे आकर प्रकृति के कर्तृत्व का अपने ऊपर आरोप कर लेता है। इस आरोपण से वह कैवल्य के सिंहासन से नीचे उतर कर आवागमन मे भटकने लगता है। जो पुरुष तत्त्व-विचार तथा योग की साधना के द्वारा प्रकृति के माया-जाल से अपने आप को मुक्त कर लेते है, वे कैवल्य पद पा जाते है। साराश यह कि प्रकृति की भाँति ही वहाँ पुरुष की अनादि सत्ता मान ली गयी है, जो मात्र प्रतीति या आभास न होकर सत्य है। जीव का अस्तित्व अद्वैतवेदान्ती भी मानते है किन्तु मात्र व्यावहारिक सत्ता के रूप मे ही। उनके मत मे अविद्या के कारण ईश्वर जीव प्रतीत होता है। जीव के रूप मे 'मै कर्ता हूँ' 'मैं ही भोक्ता भी हूँ' आदि का भाव अज्ञान है और यह अज्ञान, अविद्या का परिणाम है। वे केवल ब्रह्म की ही यथार्थ सत्ता मानते है। प्रत्यभिज्ञावादियो की भाँति वे यह स्वीकार नही करते कि आरोहण मे जो शिव है वही अवरोहण मे पशु है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीव भी सत्य है और शिव भी एव जीव द्वारा शिवत्व-लाभ भी। जीव की वे न व्यावहारिक सत्ता मानते है और न ही यह स्वीकार करते है कि अन्त तक पशु और शिव मे द्वैत ही बना रहता है। वैष्णव आचार्यों ने जीव-स्वरूप सम्बन्धी जिन मान्यताओ की स्थापना की है, प्रत्यभिज्ञावादियो का मत उन से स्वतन्त्र एव भिन्न है।

शैव दर्शन के अनुसार शिव अपने आपको पाशो मे आबद्ध कर लेने के कारण ही पशु है। वह जब तक पशु है, उसकी वह स्थिति यथार्थ है—मिथ्या या भ्रम नही। पाशो को तोड़ लेने पर पशु शिव हो जाता है, पर शिव रूप नही। जीव द्वारा ब्रह्म रूप होने की मान्यता एव पशु द्वारा शिव होने की धारणा पूर्णतया भिन्न है। वैष्णव भक्ति-दर्शनो एव इतर शैव मतो से काश्मीर शैवदर्शन इस मान्यता के कारण विशिष्ट रूप प्राप्त कर लेता है। तदनुसार जीव की अणुता उसका नित्य धर्म नही है। अत अपने मलो को हटाता हुआ जीव आरोहण की यात्रा की समाप्ति पर शिवत्व प्राप्त कर लेता है। इसे शिव का पशु रूप त्याग कर पुन स्वरूप प्राप्त कर लेना कह सकते है। काश्मीर शैवो की 'शिवोऽहम्' की मान्यता अद्वैतवेदान्तियो की 'अहं-ब्रह्मास्मि' जैसी ही है। लेकिन शकर के मायावाद के अनुसार जीव के मिथ्यात्व का विचार एव प्रत्यभिज्ञादर्शन मे पशु सम्बन्धी मान्यता एक दूसरे से भिन्न है। 'अहं-ब्रह्मास्मि' और 'शिवोऽहम्' मे 'मैं ब्रह्म हूँ' तथा मैं 'शिव हूँ' दोनो का प्रेरक दार्शनिक धरातल भिन्न है। एक के अनुसार जीव का जीवत्व अयथार्थ है जबकि दूसरे के अनुसार पशु का स्वरूप भी उतना ही सत्य है जितना कि शिव का।

प्रत्यभिज्ञावादियो का मत है कि अणुता की स्थिति मे जीव (पशु) ज्ञाता और ज्ञेय रूप मे स्वय को जगत से भिन्न अनुभव करने लगता है। यह पूर्ण भेद की

अवस्था है, जिसमे जीव-जीव मे भेद हो जाता है और अपने-अपने वासना-सस्कारो के अनुसार सभी कुछ अपने से भिन्न बन जाता है।[१] जीव, जगत से और जगत, जीव से पृथक् हो जाता है। शिव, पशु और प्रकृति इन तीनो का पूर्ण अलगाव ही इस भेदानुभूति का परिणाम है। जीव जागतिक विषयों मे लिप्तता का अनुभव करने लगता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव की यही स्थिति उसका पशु-भाव है।

● **हिन्दू तान्त्रिक दर्शनों के अनुसार जीव का स्वरूप**

बौद्ध तान्त्रिकों ने वज्रोपाय आदि के रूप मे शक्तिमान और शक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हिन्दू तान्त्रिक दर्शनों मे भी शिव और शक्ति के रूप मे जीव और जगत की नियामक शक्तियों का उल्लेख मिलता है। जीव के सम्बन्ध मे हिन्दू-तन्त्र दर्शन की मान्यता है कि आत्मतत्त्व ही सीमित रूप मे जीव का अभिधान प्राप्त करता है। तान्त्रिकों की पचमकार की साधना के विरोध के फलस्वरूप आदि ग्रन्थ में शाक्तो को मायोपासक बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में अभी तक आदि ग्रन्थ के दर्शन के व्याख्याताओं का ध्यान ही नहीं गया कि सिक्ख गुरु शाक्तों को माया के पुतले बतलाकर, उनकी निन्दा करते है। आदिग्रन्थ के टीकाकारो ने शाक्त का अर्थ माया-लिप्त जीव किया है, जो शाक्त सम्प्रदायो की मान्यताओ के अनुसार ठीक नहीं है। सम्भवत शाक्तो की विचारधारा से अवगत न होने के कारण ही शाक्त-निन्दा के पूरे के पूरे सदर्भ को ही गलत परिप्रेक्ष्य दे दिया गया है। हमारे विचार मे शाक्तो को मनमुख बतलाकर, उनके आचरण की निन्दा गुरुओं ने मात्र उन्ही जीवों को लक्ष्य बना कर नहीं की, जो सासारिक आसक्तियो मे लिप्त रहते है। यदि उन द्वारा शाक्तो की निन्दा, इस उद्देश्य से ही की गयी होती तो वे उन्हें शाक्त न कह कर किसी अन्य अभिधान का प्रयोग भी कर सकते थे।

शाक्त एक सम्प्रदाय है और निर्गुणसन्तो के समय तक उनका व्यापक प्रभाव युगीन समाज मे विद्यमान था। यह तो हो सकता है कि शाक्तो के अतिरिक्त औघड आदि दूसरे सम्प्रदायों को भी शाक्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही मान लिया गया हो, लेकिन शाक्तो से सन्तो का आशय मात्र मनमुख जीवों से ही नहीं है। शाक्त शब्द का प्रयोग उस सम्प्रदाय के साधकों के लिए हुआ है, जो शक्ति के उपासक है और जिनकी साधना-विधियाँ धीरे-धीरे समाज विरोधी लगती है अथवा नैतिकता की दृष्टि से वास्तव मे ही समाज को पतनोन्मुखी बनाने वाली है। इस सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा माया-सिद्धान्त के प्रसग मे की जायगी। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हमारा केवल अभीष्ट यह है कि हिन्दू तन्त्र-दर्शन के अनुसार जीव का स्वरूप क्या है। तान्त्रिक दर्शन तत्त्व-विचार की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर एवं युक्ति तथा प्रमाणों के धरातल पर बहुत अधिक तार्किक है। वे शुद्ध स्वरूप की स्थिति मे जीव को चित्-संवित्

[१] प्र० ह० पृ० १३ चित्तभेदान्मनुष्याणा शास्त्र भेदो पडानते × × ।

सत्ता ही मानते है। तदनुसार विश्व चैतन्य (World consciousness) और आत्म चैतन्य मे मूलत कोई भेद नही है। उनकी यह भी मान्यता है कि शुद्ध आत्म चैतन्य अपरिच्छिन्न, अरूप एव अपरिणामी सत्ता है। तदनुसार शिव तत्त्व और उसके क्रियाशील पक्ष (Enengy) को शक्ति तत्त्व स्वीकार किया गया है। शैव तान्त्रिक शिव के उपासक है क्योकि वे शक्तिमान रूप की आराधना करते है। शाक्तो के अनुसार 'शक्ति के बिना शिव, शव' है। शक्ति के उपासक शाक्त कहलाते है। अत दोनों तान्त्रिक विचारधाराओ के अनुसार शिव और शक्ति दोनो एक दूसरे से भिन्न एव स्वतन्त्र सत्ताएँ नही है, बल्कि एक ही सत्ता के दो पक्ष है। शक्ति का कार्य सृष्टिरूप होना या सृष्टि करना माना जाता है। शैवो के अनुसार अपने विमर्श-पक्ष द्वारा सृष्टि की रचना करने के कारण शिव ही जगत की रचना करने वाली सत्ता है। शिव और शक्ति की अभेदावस्था का स्वरूप ही परमशिव है, जिसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे 'अनुत्तर' कह कर अनिर्वचनीय परम सत्ता स्वीकार किया गया है।

तान्त्रिको के शिव और शक्ति-सिद्धान्त का प्रभाव सभी युगनद्ध साधना वाले सम्प्रदायो पर दिखायी देता है। यहाँ तक कि वासुदेव और उसकी शक्ति की परवर्ती धारणाएँ भी तान्त्रिको की शिव और शक्ति की अभेदावस्था की धारणा से प्रभावित हुई है। यह प्रभाव वैष्णव सहजियो तक व्याप्त है। तान्त्रिको के अनुसार शक्ति (महामाया) विश्व की जननी है। तान्त्रिक ग्रन्थो म महामाया का वर्णन ब्रह्माण्ड की योनि के रूप मे प्राप्त होता हे।

जीव के स्वरूप-लक्षण के प्रसग मे तान्त्रिक आचार्यो ने विश्व की प्राण-शक्ति महामाया को ही जीव की भी प्राण-शक्ति माना हे। महामाया महाकुण्डलिनी के रूप मे विश्वव्यापी सत्ता मानी गयी है। वही कुण्डलिनी के आकार मे मानव-देह मे मूलाधार मे स्थित रहती है। यही चैतन्य है जो उत्थापन से पूर्व प्रसुप्तावस्था मे अपने शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ बतलाया गया हे। अत. तीन वलयो मे अवस्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगा कर, इडा और पिंगला के मध्यवर्ती सुषुम्ना-मार्ग से ऊपर ले जाकर दशम द्वार मे शिव से एकमेक कर देना ही तान्त्रिको के अनुसार जीव का मोक्ष है। जगत की रचना आदि के सम्बन्ध मे भी तान्त्रिको की स्वतन्त्र मान्यताएँ है। तदनुसार जगत की रचना महाकुण्डलिनी रूपा महामाया की योनि मे होती है। विश्व की रचना, स्थिति एव सहार आदि के हेतु महामाया की विभिन्न शक्तियो को भी स्वीकार कर लिया गया है। इस दृष्टि से तान्त्रिको की ब्रह्माण्ड-रचना सम्बन्धी-मान्यताएँ मौलिक है।

प्राय सभी भारतीय दर्शनो मे परमसत्ता की शक्ति द्वारा जगत की रचना के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन हुआ है, लेकिन शाक्तो के ब्रह्माण्ड-रचना-सिद्धान्त मे महामाया को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। शक्ति द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना मानने वाले कई सिद्धान्तो मे शक्ति की अपेक्षा शक्तिमान का पक्ष प्रबल है, जबकि शाक्तो के अनुसार शक्तिमान को शक्ति के बिना निष्क्रिय बतला कर शक्ति को ही अधिक

महत्त्व दिया गया है। तान्त्रिकों के अनुसार महामाया को वही स्थान प्राप्त है, जो शक्ति के अधीश्वर शक्तिमान को अन्य सम्प्रदायों में। परमसत्ता के सम्बन्ध में भी तान्त्रिक विचारक जिस रीति से उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, वह अद्वैत वेदान्तियों के ब्रह्म के स्वरूप एवं सांख्यों के पुरुष-विचार से भिन्न है। तदनुसार सृष्टि शक्ति का कार्य है तो सही, लेकिन अद्वैत वेदान्तियों के ब्रह्म एवं सांख्यों के पुरुष की भाँति वह निष्क्रिय चेतन सत्ता नहीं है। तान्त्रिक शक्ति के भी दो रूप स्वीकार करते हैं। उस का एक स्वरूप कर्मशरीरी है और दूसरा पराशक्त्यात्मक। शक्ति के ये दो स्वरूप मूलतः स्वतन्त्र एवं भिन्न न होकर, महामाया की दो शक्तियों के ही प्रतीक है। जिस समय वह ब्रह्माण्डमयी कहलाती है, उसे कर्मशरीरिणी का अभिधान दे दिया जाता है और जब वह परात्पर अवस्था में होती है, उसे पराशक्ति के रूप में वर्णित किया जाता है।

महामाया के उपर्युक्त दोनों रूप उसकी दो भुजाएँ मानी गयी है। यही मान्यता ब्रह्माण्ड को शिव-शक्तिमय बतलाने का मूल आधार है।[1] तदनुसार ब्रह्माण्ड केवल शिवमय अथवा केवल शक्तिमय नहीं है। आत्म चैतन्य को सीमित बना कर उसे जीव की स्थिति में ले आने वाली शक्ति ही है।

आत्म चैतन्य की अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का अलग-अलग अनुभव नहीं रहता। यह आत्म साक्षात्कार से मिलती-जुलती स्थिति है, जिसे तान्त्रिक शब्दावली में स्वप्रकाशस्वरूपता कहा गया। माया शक्ति के प्रभाव से जब आत्म चैतन्य जीवरूपता प्राप्त करता है, तब वह स्वप्रकाशस्वरूप नहीं रहता। उसे अस्मिता का स्पष्ट अनुभव होने लगता है और ज्ञेय एवं ज्ञान भी उसे अलग-अलग दिखायी देने लगते हैं। यह उसकी वह अवस्था है जब कर्म-संस्कार बनते हैं और संस्कार वासना का रूप धारण कर लेते हैं। संस्कार और वासना के मलावरण ही जीव के बन्धन हैं। और इस अवस्था में वह बद्ध जीव कहलाता है। यह स्थिति प्राप्त हो जाने के उपरान्त वह अपने आपको दूसरे जीवों से भिन्न मानने लगता है। व्यक्तित्व विशेष की प्राप्ति एवं उसकी अनुभूति तथा तदनुकूल आचरण ही बद्ध जीव की पहचान है। कुछ लोग उसे अपने लगने लगते हैं और कुछ के प्रति वह पर का भाव बना लेता है। 'मैं' और 'मेरा' की स्थिति यही है कि जीव व्यापक आत्म चैतन्य न रह कर सीमित चैतन्य बन जाता है।

तान्त्रिकों के अनुसार जीव का व्यक्तित्व विशेष ही उसका पारतन्त्र्य है। वह कोई अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता न होकर शरीर, चित्त कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों से युक्त आत्म चैतन्य का ही रूप है। इस मान्यता की परिधि में आते ही तान्त्रिक भी

---

[1] आर्थर एवेलॉ, सर्पेण्ट पावर, पृ० २५-२७, कुब्जिकातन्त्र, अध्या० १, योगिनी हृदयतन्त्र (सर्पेण्ट पॉवर पृ० २७ पर उद्धृत) महानिर्वाणतन्त्र, पृ० ७।१८ प्रपञ्चसार तन्त्र, अध्या० १६,

अद्वैत विचारकों जैसे ही हो जाते है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्ती आत्म चैतन्य को पूर्ण एवं स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते है, उसी प्रकार तान्त्रिक भी। फिर भी जीव के सम्बन्ध मे तान्त्रिको और अद्वैतवेदान्तियो की मान्यताओ मे पर्याप्त अन्तर है। अद्वैतवेदान्तियो के अनुसार जीव और जगत की सत्ता मिथ्या या मात्र व्यावहारिक है, लेकिन तान्त्रिको के मत मे जीव और जगत मिथ्या नही है। जीव की परावस्था को तान्त्रिको ने स्वीकार तो किया है, परन्तु एक विशेष रूप मे ही। तदनुसार परावस्था जीव की स्थिति विशेष है, जिसमे 'अहम्' और 'इदम्' का अलग-अलग अनुभव नही होता। तान्त्रिको की शब्दावली मे इसे जीव की परासंविद्-अवस्था कहा गया है। जीव के सन्दर्भ मे ही तान्त्रिको ने पराशक्ति को परादेवी माना है और उसे प्रकाश-विमर्श स्वरूपिणी कहा है। तदनुसार पराशक्ति स्व-स्वरूप के प्रकाशनार्थ सर्वप्रथम सविकल्प ज्ञान-दशा को प्राप्त करती है। उसके बाद उसके विषय और विषयी दो अलग-अलग रूप बन जाते है।[1] तान्त्रिक विचारक शुद्ध और अशुद्ध तत्त्वो के रूप मे तत्त्व-भेद की चर्चा भी करते है। तदनुसार माया के बाद के सभी तत्त्व माया द्वारा धारण किये हुए रूप है। इस प्रकार तान्त्रिको ने द्वैत को स्वतन्त्र मान्यता दे दी है। वे प्रकृति के उपरान्त विकृति-प्रकृति-क्रम के अनुसार तत्त्वो के उत्तरोत्तर परिणमन को तो स्वीकार कर लेते है, लेकिन जहाँ साख्यो ने प्रकृति को ब्रह्माण्ड का मूल माना है, वहाँ तान्त्रिको ने माया को मूल माना है। साख्यो और तान्त्रिको के तत्त्व-विचार म यही मौलिक भेद है। यह भेद परिणमन और विकास के रूप मे भी है और प्रकृति एव माया के रूप मे भी। एक के अनुसार पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त प्रकृति (प्रधान) का उत्तरोत्तर परिणमन होता है, दूसरे के अनुसार यह माया का विकास है। अर्थात् माया ही उत्तरोत्तर अपने आपको पृथ्वी तत्त्व तक लाकर ब्रह्माण्ड का रूप धारण कर लेती है। अत यह स्पष्ट है कि तान्त्रिको के मत मे ब्रह्माण्ड की समग्र रचना माया का कार्य है प्रकृति का नही।

तान्त्रिक महाकुण्डलिनी (माया) के अवरोहण को ब्रह्माण्ड की रचना का विधान मानते है। उनके अनुसार मानव-देह मे कुण्डलिनी उसी का कनिष्ठ रूप है। कुण्डलिनी ही जीव है जो मूलाधार मे सुप्तावस्था मे रहती है। तान्त्रिको के अनुसार ब्रह्माण्ड मे जो स्थिति महाकुण्डलिनी की है, वही मानव-देह मे कुण्डलिनी की। जीव कुण्डलिनी अथवा प्राण शक्ति है। योग दर्शन मे भी कुण्डलिनी के रूप मे ही जीव का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। अन्त साधना प्रधान प्राय सभी सम्प्रदाय किसी न किसी रूप म कुण्डलिनी-सिद्धान्त को स्वीकार करते है। 'शारदातिलकसार तन्त्र' के अनुसार पारमार्थिक सत्ता केवल शिव की मानी गयी है। शिव को सच्चिदानन्द स्वरूप बतलाया गया है। शक्ति न शिव से भिन्न है और न ही शिव

[1] कुलचूडामणि निगम, अध्या० १, श्लोक १६-२४, शारदातिलक, अध्या० ६, योगिनीतन्त्र, (गर्वेण्ट पावर, पृ० ३३ पर उद्धृत)

द्वारा उत्पन्न स्वतन्त्र सत्ता। वह शिव की नयी सृष्टि नहीं, बल्कि उसी का क्रियाशील पक्ष है। शक्ति के उपरान्त नाद या सादाख्य तत्त्व का उदय होता है, वही बिन्दु का रूप धारण करता है। यह बिन्दु तत्त्व ही ईश्वर माना गया है। इसके अनन्तर शक्ति स्वरूप क्रिया-शक्ति का विस्फोट होता है। शब्द रूप यह विस्फोट ही जगत है। यह मान्यता एक प्रकार से आदिग्रन्थ में भी प्राप्त होती है। '१ ओंकार' की व्याख्या में हम इसी मान्यता का संकेत पाते हैं। लेकिन गुरुओं की इस मान्यता को तान्त्रिक धारणा का अनुसरण नहीं कहा जा सकता।

बिन्दु के विस्फोट को तान्त्रिक साकार ब्रह्माण्ड मानते हैं और ब्रह्माण्ड की रचना के सन्दर्भ में ही उन्होंने जीव के स्वरूप की चर्चा की है।[1] गोरखनाथ के नाम से प्रचलित 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में भी विस्फोट के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है। शक्ति के स्थान पर शिव तत्त्व को प्राधान्य देकर नाथ सम्प्रदाय में तान्त्रिकों की अधिकांश मान्यताओं को स्वीकार कर लिया गया है। कहा जाता है कि गोरखनाथ ने विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं को लेकर नाथ सम्प्रदाय की स्थापना की थी। दर्शन के क्षेत्र में शिव को परम तत्त्व का महत्त्व एवं कुण्डलिनी-साधना द्वारा दशम द्वार में जीव और शिव का मिलन, नाथ सम्प्रदाय की प्रधान विशेषता मानी जाती है। जीव के स्वरूप के बारे में गोरखनाथ के विचार तान्त्रिकों से अधिक भिन्न नहीं हैं।

---

१ शा० ति० व्या० १, सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात्। आसीच्छक्ति स्ततो नादः नादाद् बिन्दुसमुद्भव ।। सर्पेण्ट पॉवर, पृ० ४३, पराशक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः। बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः स्मृता ।। बिन्दु शिवात्मक बीज शक्तिर्नादस्तयोर्मिथ। समवाय समाख्यात सर्वागमविशारदै ।। वही० पृ० ४४, निर्गुण सगुणश्चेति शिवो ज्ञेय सनातन। निर्गुणाश्चैव संजाता बिन्दवस्त्र एव च ।। ब्रह्मा बिन्दुर्विष्णु बिन्दु रुद्र बिन्दुर्महेश्वर ।।

६ | अवतारवादी वैष्णव दर्शनों में जीव

● **पंचरात्र संहिताओं में वर्णित जीव-स्वरूप**

श्रेडर ने पंचरात्र संहिताओं के रूप में वैष्णव सम्प्रदाय को अत्यन्त प्राचीन माना है। इन संहिताओं के रचना-काल में ही वासुदेव के अवतार के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हो गयी थी। वासुदेव की भक्ति के उल्लेख हमें गुप्त सम्राटों के शासन काल में ही प्राप्त होने लगते है। तदनन्तर वासुदेव की भक्ति का स्रोत क्षीण हो गया एवं उसका पुनरुत्थान तब हुआ जब वैष्णव आचार्यों ने शांकर मायावाद का खण्डन कर भक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने के यत्न किये। श्रेडर ने संहिताओं के पुनरुद्धार द्वारा वासुदेव की भक्ति-परम्परा के भूले हुए सूत्रों को फिर से सामने लाने का प्रयत्न किया है। पंचरात्र संहिताओं के प्रतिपाद्य से यह सिद्ध है कि वासुदेव (कृष्ण) की भक्ति के नये रूप के निर्माण में उन्होंने दार्शनिक आधार का कार्य किया है। इनमें अहिर्बुध्न्य और जयाख्य संहिताएं दार्शनिक विश्वासों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की है और कृष्ण। भक्ति के नये स्वरूप के प्रचार में अन्य रचनाओं के साथ ही उनका भी पर्याप्त योग है। आचार्य शंकर ने बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन कर उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों एवं गीता की मान्यताओं के आधार पर ब्रह्म-सिद्धान्त की स्थापना की। शांकर मायावाद एवं उनके ब्रह्म-विचार के सम्मुख बौद्ध धर्म न टिक सका और उसे सीमावर्ती देशों में शरण लेनी पड़ी। सामयिक परिस्थितियों के कारण शंकराचार्य को अपने ध्येय में अप्रत्याशित सफलता मिली तो सही, लेकिन उससे भक्ति के मार्ग में अवरोध भी उपस्थित हुआ।

शांकर मायावाद के विरोध में वैष्णव आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैत आदि सिद्धान्तों की स्थापना कर, नव्य भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात किया। इन आचार्यों ने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे और ब्रह्म, जीव, जगत एवं माया के स्वरूप आदि के बारे में स्वतन्त्र मान्यताओं की स्थापनाएँ की। भक्ति की साधना का प्रचार करना वैष्णव आचार्यों का मुख्य ध्येय था, अतः उन्होंने आलवारों के भक्ति-गीतों, विष्णुपुराण आदि के साथ ही पंचरात्र संहिताओं को भी साक्ष्य माना और शांकर मायावाद तथा जगन्मिथ्या के विश्वासों का खण्डन किया। ज्ञान-साधना के

स्थान पर भक्ति की साधना पर बल दिया गया और फिर से भागवत भक्ति के प्रचार का मार्ग प्रशस्त हुआ। पचरात्र सहिताओ की जीव सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि वैष्णव आचार्यों ने जीव के बारे मे अपनी मान्यताओं के निर्धारण मे उनसे पर्याप्त सहायता ली है।

अहिर्बुध्न्य एव जयाख्य सहिता के अनुसार ब्रह्म की माया (वासुदेव की शक्ति) उसकी इच्छा के अधीन है। जगत की रचना उसी का कार्य है। जिस समय वासुदेव का सकेत होता है, वह ब्रह्माण्ड की रचना मे प्रवृत्त हो जाती है। अतः वासुदेव की माया (शक्ति) का क्रियाशील होना ही सृष्टि का आरम्भ माना गया है।[1] उपर्युक्त दोनो सहिताओ के अनुसार सृष्टि के तीन भेद है - शुद्ध सृष्टि, प्राधानिक सृष्टि और ब्राह्मी सृष्टि। वासुदेव को परब्रह्म बतलाया गया है। वासुदेव अपने आपको अच्युत, सत्य और पुरुष के रूप मे अवतरित करते रहते है। जीव के प्रसग में वासुदेव और उसकी शक्ति की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया है कि जीव की सत्ता अनादि है। एक ही चैतन्य विविध रूपो मे भासित नही होता, वल्कि जीव सख्या मे अनन्त है। जीवो मे अनादि वासना की मान्यता के आधार पर उनके आवागमन के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार जीव की अपुनारम्भावस्था ही उसका मोक्ष है।[2] रागादि दोषो से युक्त आत्म चैतन्य को जीव माना गया है और जीव के अज्ञान की धारणा का भी स्वतन्त्र दृष्टि मे प्रतिपादन हुआ है।

सहिताओ मे जीव के अज्ञान की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया है कि त्रिगुणमयी सृष्टि के मलावरणो मे लिप्त होना ही उसका अज्ञान है। अत. तदनुसार जीव के अज्ञान की मान्यता, शाकर अद्वैत-विचार से भिन्न प्रकार की है। शकराचार्य ने माया और अविद्या नामक दो शक्तियाँ मानी है। तदनुसार माया ब्रह्म की ईश्वर के रूप मे प्रतीति करवाती है और अविद्या ईश्वर की जीव के रूप में। वे जीव और ईश्वर का यथार्थ अस्तित्व ही स्वीकार नही करते। सहिताओ के अनुसार जीव मात्र प्रतीति या आभास सत्ता नही है। वैष्णव आचार्यों का जीव-सिद्धान्त सहिताओं से लिया गया है और उसे अन्य वैष्णव ग्रन्थो की मान्यताओ द्वारा पुष्टि एव विस्तार प्राप्त हुआ है। सहिताएँ भक्ति-दर्शन है, अत जीव के शरीर धारण करने के प्रसग को भी वे प्रतिपादित करती है। उनके अनुसार बद्ध जीव उस समय तक अज्ञान मे भटकते रहते है जब तक वे वर्तमान मानव देह मे ही भक्ति आदि उपायो की शरण प्राप्त नही कर लेते। भक्ति को सहिताओ मे व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया गया है और ज्ञान एव योग को अनन्यासक्ति के हेतु सहायक माना है। जीव का मानव-देह धारण करना आवश्यक है, क्योंकि अन्य योनियाँ कृत-कर्मो का फल भोगने के लिए है। जीव भक्ति की साधना मानव-देह मे ही कर सकता है। इससे भी यही सिद्ध

---

[1] जयाख्य सहिता, (गायकवाड सिरीज) पृ० २८, स्वदीप्ति क्षोभयित्वा × × ॥
[2] वही० पृ० ३२, अनादिवासना × × ॥

होता है कि संहिताओं में जीव की आभास सत्ता वाली मान्यता को स्वीकार नहीं किया गया है।

अध्यात्म-ज्ञान की प्राप्ति के बारे में भी संहिताएं मायावादियों से भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण का प्रतिपादन करती है। तदनुसार प्रतिमा-पूजन, मन्त्र-जाप एवं अन्य भक्त्युपाय ही अध्यात्म-ज्ञान के साधन है। परमात्मानुरक्ति को अध्यात्म-ज्ञान मान कर उसी को परमोपाय एवं परमोपलब्धि मानना उनका स्वतन्त्र दृष्टिकोण है।[1]

परमसत्ता का अनुग्रह ही भक्ति-सिद्धान्त की प्रधान मान्यता है। इस अनुग्रह-सिद्धान्त की नींव पर ही वासुदेव के पूर्णावतार, अंशावतार, एवं व्यूहावतारों की धारणाओं का निर्माण हुआ है। व्यूहावतार भगवान वासुदेव के अंशावतार माने गये है, जिनके विभिन्न कार्यों आदि का उल्लेख भी हुआ है। उनके सभी कार्य जीव के प्रति अनुग्रह से प्रेरित बतलाये गये है। अतः प्रकारान्तर से इसे हम वासुदेव का ही अनुग्रह मान सकते हैं। देवतावाद के सन्दर्भ में अंशावतारों का विशेष महत्त्व है। देवताओं की सार्थकता सिद्ध करने के लिए ही संहिताओं में अंशावतारों का प्रतिपादन हुआ है। इससे अन्त में ब्रह्माण्ड का प्रत्येक व्यापार भगवान वासुदेव का ही कार्य सिद्ध होता है। अपनी प्रकृति (शक्ति) एवं अंशावतारों के माध्यम से सृष्टि की रचना, पालन और संहार की लीलाएं वासुदेव का ही विलास है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार नारायण अंशी है और जीव तथा जड़ सृष्टि उस का अंश। इस मान्यता का आधार भी पंचरात्र संहिताओं में विद्यमान है।

रामानुजाचार्य के अनुसार परब्रह्म (नारायण) और जीव में विजातीय सम्बन्ध नहीं है। वे इसे सजातीय सम्बन्ध ही मानते हैं। पंचरात्र संहिताओं में परब्रह्म (वासुदेव) और जीवों के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए परब्रह्म को अग्नि और जीवों को उसका स्फुलिंग माना गया है। अतः सजातीय सम्बन्ध वाली उपर्युक्त मान्यता भी संहिताओं की ही देन है। पंचरात्र मत के अनुसार जीव, ब्रह्म नहीं हो जाता बल्कि वह उसमें समा जाता है। यही धारणा विशिष्टाद्वैत में अंशांशिभाव-सम्बन्ध द्वारा प्रतिपादित की गयी है। इससे सजातीयता की धारणा के प्रतिपादन के साथ ही अंशी द्वारा अंशों में समा जाने की मान्यता का भी प्रतिपादन हो जाता है। इससे अद्वैतवेदान्तियों के आभास-सिद्धान्त का खण्डन भी हो जाता है।

वैष्णव आचार्यों ने शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत आदि जिन स्वतन्त्र सिद्धान्तों का निरूपण किया है, वे सभी पंचरात्र संहिताओं में बीज के रूप में विद्यमान है। तदनुसार हर एक जीव एक दूसरे से भिन्न प्रकृति एवं स्वभाव वाला इसलिए है कि उसके अनादि संस्कार अपने-अपने होते हैं। जयाख्य एवं अहिर्बुध्न्य संहिताओं में भी वासना-संस्कारों के वैभिन्न्य की स्वीकृति द्वारा इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन हुआ है। जीवों के कर्मों के भेद आदि की धारणा भी संहिताओं में मिल जाती है

[1] जयाख्य संहिता, पृ० ४०, सर्वोपमानरहितं वागतीतं स्वसंवेदनम् × × × ॥

और ये धारणाएं वैष्णव दर्शनों में मान्यता के रूप में स्वीकार कर ली गयी है। श्रीनिवासाचारी के अनुसार विशिष्टाद्वैत में यह स्वीकार किया गया है कि वासना एवं संस्कारों के भेद के कारण ही जीवों का व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न होता है।[1] यह मान्यता संहिता-दर्शन में स्वतन्त्र एवं भिन्न नहीं है। ब्रह्माण्ड को परमसत्ता की प्रकृति (शक्ति) की रचना मानना जगत की सत्यता का प्रतिपादन है। जीव को आभास सत्ता मानने की बजाय उसे अंशी ब्रह्म का अंश स्वीकार करना जीव के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करना है। व्यूहावतारों द्वारा ब्रह्माण्ड के विभिन्न कार्यों का सम्पादन जगत के मिथ्यात्व का खण्डन है। शंकराचार्य से पहले वासुदेव की भक्ति के प्रचारार्थ संहिताकारों ने दर्शन एवं उपाय की स्थापना कर दी थी, जिनका उपयोग वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी से अलग अपने सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि के रूप में किया है। जिस समय भक्ति की पुनः स्थापना के प्रयत्न आरम्भ हुए उस समय साक्ष्य के रूप में इन संहिताओं से पर्याप्त सहायता ली गयी। ऊपर पंचरात्र मत की जिन मान्यताओं का उल्लेख किया गया है, उनसे वैष्णव आचार्यों को अपने सिद्धान्तों के निर्माण एवं शंकराचार्य के मायावाद के खण्डन में पर्याप्त सहायता भी मिली है एवं संहिताओं के दर्शन का पुनः प्रतिपादन भी हुआ है।

● **विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव का स्वरूप**

विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज ने शांकर मायावाद के खण्डन के लिए, परमसत्ता को चिदचिद्विशिष्ट सिद्ध किया है। उनका मत है कि चित् (जीव) एवं अचित् (जड़) की मात्र व्यावहारिक सत्ता नहीं बल्कि यथार्थ है, और ये अंशी (नारायण) के अंश हैं। ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्धों की दृष्टि से इसे अंशांशि-सम्बन्ध-सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। तदनुसार अविद्या के आवरण के कारण जीव ईश्वर की प्रतीति नहीं बल्कि नारायण के अंश के रूप में उसका यथार्थ एवं अनादि अस्तित्व है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव परमात्मा तो नहीं है। परन्तु उसकी अनादि एवं यथार्थ सत्ता अवश्य है। रामानुज ने नारायण का स्वगत भेद या स्वजातीय अंग होने के कारण जीव की रचना या उत्पत्ति के समय का निर्धारण नहीं किया है। क्योंकि अपने अंशी नारायण की भाँति उसका अस्तित्व भी अनादि है। नारायण में समा जाना उसका मोक्ष है और आवागमन से पहले की स्थिति उसकी अनारम्भावस्था है। रामानुज से पूर्व शंकराचार्य ब्रह्म को निर्विशेष सत्ता मान चुके थे। ईश्वर के साथ ही जीव के स्वरूप का उल्लेख करते समय उन्होंने जीव की केवल व्यावहारिक सत्ता को ही स्वीकार किया था। उनके अनुसार अविद्या के कारण ईश्वर, जीव के रूप में प्रतीत होता है, इसलिए जीव की यथार्थ सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

---

[1] पी० एन० निवासाचारी, दि फिलासोफी आव विशिष्टाद्वैत, पृ० ६६, सान्याल. श्रीकृष्ण चैतन्य, भा० १, पृ० ६५।

'ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या' आचार्य शकर की इस मान्यता का मूलाधार उनके द्वारा ब्रह्म को निर्विशेष मानना है इसी मान्यता के अन्तर्गत उन्होने जीव के अनादि एवं यथार्थ अस्तित्व को भी अस्वीकार किया है।

विशिष्टाद्वैत के रूप मे आचार्य रामानुज ने जीव और जगत (जडतत्त्व) को नारायण का अग या अश माना है और आचार्य शंकर के निर्विशेष सिद्धान्त का खण्डन किया है। तदनुसार माया या अविद्या ब्रह्म के अधीन है, अतः वह ब्रह्म एवं ईश्वर की अन्यथा प्रतीति करवाने मे असमर्थ है। ब्रह्म का चिदश ही मन, बुद्धि एव अन्य इन्द्रियो के समवाय रूप मे जीव का अभिधान प्राप्त करता है। इससे यह स्पष्ट है कि 'नारायण द्वारा जीव का रूप धारण करना' एव 'ईश्वर की जीव के रूप मे प्रतीति होना' इन दोनो ही मान्यताओं मे पर्याप्त अन्तर है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार महाप्रलय के समय समस्त जीव नाम और रूप का परित्याग कर पुन अपने अशी मे समा जाते है। भक्ति की साधना से भी ससारी जीव अपने मलो का परित्याग कर आवागमन से मुक्त हो, अपने मूल उत्स मे समा सकता है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जगत की रचना का उद्देश्य नारायण का अनुग्रह-भाव है। जगत की कर्म-भूमि मे जीव को भक्ति के उपाय का आश्रय प्राप्त हो सकता है। अत जीवो के प्रति द्रवित होकर नारायण उन्हे भक्ति का अवसर प्रदान करने के हेतु जगत की रचना करते है। तदनुसार लक्ष्मी का ही यह अनुग्रह है कि वे भक्तों को आवागमन से मुक्ति दिलाने के हेतु नारायण को जगत की रचना के लिए प्रेरित करती रहती है। नारायण जिस समय इच्छावान बन जाते है तब उनके सकेत मे वह जगत की रचना मे प्रवृत्त हो जाती है। अत: प्रकृति (लक्ष्मी) को जगत की रचना का सकेत करना भगवान का अनुग्रह है।

रामानुज के अनुसार गीता मे भी जगत और जीव की रचना के सम्बन्ध मे उपर्युक्त धारणा का ही प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने जीव सम्बन्धी मान्यताओ की स्थापना के हेतु स्पष्टत पचरात्र सहिताओ, विष्णुपुराण, भागवत पुराण, ब्रह्म सूत्र, उपनिषद् और प्रबन्धम् की मान्यताओ को साक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया है।[1]

जीव को परमात्मा का विशेषण बतलाकर, रामानुज ने दोनो मे विशेष्य-विशेषण-भाव स्वीकार किया है। उनका मत है कि जिस प्रकार विशेषण विशेष्य की स्वगत विशेषता है, उसी प्रकार जीव भी नारायण का विशेषण है। अनन्य भाव से उसमे अनुस्यूत चित् सत्ता है। इस मान्यता को आधार बनाकर शकराचार्य के निर्विशेष-सिद्धान्त को उन्होने गलत सिद्ध किया है। ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखकर

---

[1] रामानुज, गीताभाष्य, अध्या० ३।१०,--सहयज्ञा: प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥ वही० २।१२,—नत्वेवाह जातु नास न त्व नेमे जनाधिपा। न चैव न भविष्याम सर्वे वयमत. परम्, श्रीभाष्य, २।२।४,

उन्होंने शंकराचार्य की जीव-सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन किया है। साथ ही उन्होंने न्याय और वैशेषिक तथा सांख्य एवं योग मे स्वीकृत जीव-स्वरूप को भी गलत ठहराया है।[1] वे जीव को कर्ता, ज्ञाता एव भोक्ता आदि मानते तो है, लेकिन उसे नारायण का अश (शेष) स्वीकार करने की स्थिति मे ही। इससे यह सिद्ध है कि जीव को पूर्ण रूप से नारायणाश्रित मानकर, उन्होने उसके ज्ञातृत्व, कर्तृत्व एव भोक्तृत्व को अन्य दर्शनों से भिन्न रूप मे स्वीकार किया है। जीव का स्वातन्त्र्य वे केवल इसी सीमा तक स्वीकार करते है कि वह अपनी इन्द्रियो को इच्छित कर्मों की ओर नियोजित कर सकता है। इससे अधिक उसका स्वातन्त्र्य नही, यह तो प्रतिक्षण परमात्मा के अनुग्रह पर निर्भर है। जीव को सतत भगवदाश्रयत्व का उपदेश देकर उन्होने इसी मान्यता का प्रतिपादन किया है। सभी भक्ति-सम्प्रदायो मे जीव के प्रयत्नो को अपने स्वतत्र दृष्टिकोण से स्वीकार किया गया है। जीव के पारतन्त्र्य का यह अर्थ नही है कि अच्छे-बुरे कर्मों का उत्तरदायित्व उस पर नही, बल्कि उसे तो अपने कर्मों के फल को भोगने के लिए पूर्ण उत्तरदायी ही माना गया है। अत. जीव का पारतन्त्र्य इस दृष्टि से है कि वह हमेशा यही मानता रहे कि वह मात्र निमित्त है, जबकि कर्ता केवल परमात्मा है। जीव परमात्मा का अंश होने के कारण अपनी स्वतन्त्र सत्ता एवं तज्जनित स्वातन्त्र्य का दावा नही कर सकता। जिस समय सीमित चैतन्य के रूप मे उसे जीवन प्राप्त हो जाता है, परमात्मा की सत्ता की तुलना मे वह परतन्त्रता की कोटि मे आ जाता है। इस सम्बन्ध मे रामानुजाचार्य ने परमात्मा के निहतुक अनुकम्पा-भाव के आदर्श को भक्ति का प्रधान अग स्वीकार किया है।[2]

●परमात्मा और जीव मे रक्षक-रक्षित सम्बन्ध

विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा प्रकारी सत्ता है और जीव उसका प्रकार है। यह मान्यता सत्कार्यवाद का अनुसरण है।[3] गीता मे अर्जुन को उपदेश देते हुए इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार चित् और अचित पुरुषोत्तम मे इस रीति से अनुस्यूत रहते है, जिस तरह सूत मे मणियाँ। यह विश्वास सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड

---

[1] रामानुज, वे० सू० भाष्य, २-३-१९।

[2] वे० सू० २/३/३३, वही २/३/३९, तथा M, Yamunacharya, Ramanuja's Teachings in His own Words, p. 104 (1963);—"The souls on their side endowed with all the powers imported to them by the Lord and with bodies and organs bestowed by him and forming abodes in which he dwells, apply themselves on their own part, and in accordance with their own wishes, to work either good or evil. The Lord then recognizing him who performs good actions as one who obeys his commands bless him with piety, riches, worldly pleasures and final release; while him who transgresses his commands. He causes to experience opposite of all these."

[3] श्रीभाष्य, २-१-१५।

में परमात्मा के समाहित रहने की धारणा का आधार है। अर्जुन को वासुदेव के विराट रूप का दर्शन करवाना इसी आशय की अभिव्यक्ति है।[१] परमात्मा को कारण और जीव को कार्य स्वीकार करना भी प्रकारान्तर से उनके विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध को ही द्योतित करता है। आचार्य रामानुज के द्वारा प्रतिपादित परमसत्ता का स्वरूप-लक्षण जीव के प्रसंग मे ही प्रतिपादित किया गया है। वास्तव में आचार्य ने जीव को दृष्टि मे रखकर ही नारायण का स्वरूपैश्वर्य वर्णित किया है। वे नारायण को चित् और अचित् के अंशी रूप मे ही अद्वैत सत्ता मानते हैं। तदनुसार परमसत्ता को उस कपड़े के समान कहा है, जिसमें जीव (चित्) और जगत (अचित) 'बाना' है और ताना (मूलाधार) स्वयं नारायण है। सजातीय भेद के रूप मे ही जीव सूक्ष्म रूप से परमात्मा में समाहित रहता है। ईशावास्योपनिषद मे परमात्मा के सर्वव्यापकत्व को सम्भवतः इसी अर्थ मे स्वीकार किया गया है। ईशावास्य के इस प्रसग की व्याख्या करते हुए रामानुजाचार्य लिखते है कि परमसत्ता के व्यापकत्व द्वारा उपनिषत्कार का आशय जीव का पारतन्त्र्य सिद्ध करना है। विशिष्टाद्वैत की यह मान्यता मध्व के द्वैत-सिद्धान्त मे स्वतन्त्र एव भिन्न है। इससे परमात्मा से अलग जीव की अनादि चेतन सत्ता की मान्यता का खण्डन हो जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामानुज का जीव-स्वरूप सम्बन्धी विचार साख्यो, नैय्यायिको एव भेदवादी वैष्णवो मे कुछ भिन्न है।[२]

गीता के अनुसार अष्टधा प्रकृति भगवान की अपरा प्रकृति है। उसे विश्व की धारयित्री सत्ता स्वीकार किया गया है। रामानुज ने गीता के इस आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि नारायण की इच्छा का सकेत प्राप्त कर अपरा प्रकृति जीवो को उनके वासना-सस्कारो के अनुसार विभिन्न कर्मों मे नियोजित करती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे परमसत्ता को मायापति और प्रकृति को माया बतलाया गया है। इसी धारणा के अनुरूप वहाँ जीव के स्वरूप का निरूपण हुआ है। गीता के अनुसार परमसत्ता जीवो को कर्मभूमि की सुविधा प्रदान करने के लिए जगत की रचना करती है। रामानुजाचार्य इस मान्यता की अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या करते है।[३] वासुदेव की प्रकृति को गीता मे महद्ब्रह्म कहा गया है। तदनुसार भगवान महद्ब्रह्म अर्थात् अपनी प्रकृति मे प्रवेशकर भूतात्मक सृष्टि की रचना करते है।[४] रामानुज ब्रह्मसूत्रो की व्याख्या करते समय गीता की उक्त मान्यता को साक्ष्य के रूप

---

[१] गीता, अध्याय ७, श्लोक ७, बृह० उप० ३-७-३--यस्य पृथवी शरीरम् ॥ श० प० ब्रा० १४-५-६-५, यस्यात्मा शरीरम् ॥ श्रीभाष्य, १-१-१।

[२] कठोनिषद्, २-५-१५।

[३] रामानुज, ब्र० सू० भाष्य. १-१-१।

[४] गीता, अध्याय, १४-३।

में उद्धृत करते हुए ब्रह्म और जीव में परस्पर आधाराधेय-सम्बन्ध की धारणा का प्रतिपादन करते हैं।[1]

विशिष्टाद्वैत के अनुसार पुरुषोत्तम (नारायण) नियामक सत्ता है और जीव उसके द्वारा नियम्य। वह प्रकृति द्वारा जीवों की रचना एवं उनका नियमन करता है। नारायण और उनकी प्रकृति में अभेद है। और प्रकृति के रूप में वह जीव की रचना करता है। अतः प्रकृति द्वारा ब्रह्माण्ड के नियमन का आशय भगवदैश्वर्य है। रामानुज ने अपने इस सिद्धान्त को उपनिषदों के साक्ष्य द्वारा प्रमाणित किया है।[2] परम सत्ता और जीव में नियामक-नियम्य-भाव के अतिरिक्त रक्षक-रक्षित-भाव को भी स्वीकार किया गया है। तदनुसार भगवान रक्षक है, जो जीवों को भक्ति की प्रेरणा दे कर उनकी रक्षा के हेतु ही (भगवान प्रकृति रूप में) ब्रह्माण्ड की रचना करता है। जीव के प्रति यही भगवान का अनुग्रह-भाव है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार चित् एवं अचित् की रचना करना भगवान की लीला है। उनकी यह शाश्वत प्रतिज्ञा है कि वह भक्तों की रक्षा के हेतु समय-समय पर अवतार धारण करते रहते हैं। रामानुज ने इसे भगवान का गोप्तृत्व-भाव माना है। वे उपदेश देते हुए कहते हैं कि जीव नारायण को सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान मानकर उसके अनुग्रह की कामना करता रहे।[3] अतः जगत तथा जीव सम्बन्धी उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि आचार्य रामानुज जीव को नारायण का अंश मानते हैं। उसे वे पूर्ण रूप से परमात्मा ही न मान कर उसी पर निर्भर रहने का उपदेश देते हैं। जीव का स्वातन्त्र्य केवल इतना ही स्वीकार किया गया है कि वह इन्द्रियों का अधिपति होने की स्थिति में अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें सदसत्कर्मों में नियोजित कर सकता है।

● द्वैतवाद में जीव का स्वरूप

वैष्णव आचार्यों ने शांकर मायावाद का खण्डन करने और भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा प्रथम स्थान देने के हेतु विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण किया। उसी परम्परा में आचार्य मध्व ने द्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है। आचार्य शंकर ने जीव के यथार्थ अस्तित्व का खण्डन करते हुए, उसे अविद्या के कारण मात्र प्रतीत सत्ता ही माना था। वे मानते हैं कि माया के कारण ब्रह्म की ईश्वर के रूप में और अविद्या के कारण ईश्वर की जीव के रूप में प्रतीति होती है। आचार्य रामानुज ने ब्रह्म के चित् और अचित् स्वरूप-लक्षण द्वारा जीव को उससे भिन्न मानते हुए भी

---

1. ब्र० सू०, १-१-१।
2. बृ० उप० ३-७, तैत्ति० उप० ३-२४,
3. गीता, अध्या० ९-३०, कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तो विनश्यति ॥ वही० १-१०-११ —तेषां सततं युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥ ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

उसकी अलग, स्वतन्त्र एव अनादि सत्ता को स्वीकार नही किया। लेकिन आचार्य मध्व के अनुसार जीव न तो मात्र प्रतीत सत्ता है, और न ही वह उसे आचार्य रामानुज की भाँति परमसत्ता का चिदश एव उसका स्वगत या सजातीय अग ही मानते हैं। उनके मत मे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों ही अवस्थाओ मे उसका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है। उनकी यह भी मान्यता है कि जीव को अपने इस अस्तित्त्व का अनुभव भी होता रहता है।[1] वस्तुतः आचार्य मध्व की धारणा उपनिषदो की अनुच्छित्ति-धर्मता पर आधारित है।

आचार्य शकर जीव के अनेकत्व को स्वीकार नही करते, लेकिन आचार्य मध्व ने आरम्भ मे ही शकराचार्य की उक्त मान्यता को अस्वीकार कर दिया है। वे द्वैतवादी आचार्य है, इसलिए वे जीव, जगत और परमात्मा तीनो का अलग-अलग अस्तित्त्व स्वीकार करते है। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार भी जीव आरम्भ से ही अनेक है और पूर्वमीमासक भी जीवो को सख्या मे अनन्त ही मानते है, परन्तु उनके अनन्तता के सिद्धान्त एव द्वैतवाद की जीवो की अनन्तता की मान्यता मे पर्याप्त अन्तर है। न्याय वैशेषिक, साख्य एवं योग दर्शन भी द्वैतवादी ही है। उनमे वर्णित विश्वासो के अनुसार प्रत्येक जीव मे परस्पर भेद है। यह भेद अनादि है। तदनुसार अविद्या के कारण ईश्वर की जीव के रूप मे प्रतीति नही होती। रामानुज, निम्बार्क और वल्लभाचार्य भी शकराचार्य की जीव सम्बन्धी मान्यताओ को स्वीकार नही करते, लेकिन वे मध्व की भाँति द्वैतवादी न होने के कारण जीव के बारे मे भी भिन्न दृष्टिकोण रखते है। वे तीनो अवस्थाओ मे जीव के स्वतन्त्र अस्तित्त्व वाली मध्वाचार्य की मान्यता से भिन्न जीव के स्वरूप का निरूपण करते है। वैष्णव आचार्य केवल इस सम्बन्ध मे ही एक मत है कि अविद्या के कारण ईश्वर की जीव के रूप मे प्रतीति नही होती और यह जगत मिथ्या या मात्र आभास नही है।

मध्वाचार्य एकात्मवादी है, लेकिन उनका एकात्मवाद पूर्ण मौलिक है। उसके अनुसार केवल परमात्मा की ही सर्वोत्तम सत्ता है। उन्होने जीव और जगत को नियम्य और परमसत्ता को उनका नियामक माना है। उनकी नियम्य और नियामक सम्बन्धी धारणा भी पर्याप्त मौलिक है, जो उनके अनादिशेष-सिद्धान्त पर आधारित है। अनादिशेष-सिद्धान्त के अनुसार जीव अनादि काल से ही विशिष्ट सत्ता है —सजातीय या स्वगत भेद नही। यही पर वे विशिष्टाद्वैतवादियो से पूर्णरूपेण भिन्न हो जाते है॥ वे इस तथ्य पर अधिक बल देते है कि जिस समय तक जीव मुक्ति प्राप्त नही कर लेता, उसी समय तक उसकी विशिष्ट सत्ता रहती है।[2]

---

[1] विष्णुतत्त्व निर्णय, पृ० २६,

[2] उपाधिखण्डन, २,—आत्म स्वरूप भेदस्य निर्दोषित्वेन ॥ अनुव्याख्यान, ३, पृ० ४६;—यद्यनादिर्विशेषो न साम्प्रत कथमेव स ? आकस्मिको विशेषश्चेददृष्टे क्वचिदिष्यते। सर्वत्राकस्मिकत्व स्यात् नादृष्टोपक्षिता क्वचित्। अदृष्टाच्चेद्विशेषो-यमनादित्वं कुतो न तत् ? ॥

तदनुसार जीव की विशिष्ट सत्ता बनी ही रहती है। व्यष्टि (जीव) के स्वतन्त्र व्यक्तित्व एव उसके भिन्न-भिन्न आचरणो को ध्यान मे रखते हुए मध्वाचार्य का द्वैत-सिद्धान्त यथार्थ के अधिक निकट प्रतीत होता है।[१] जीवों की अनेकता पर साख्यों ने भी अधिक बल दिया है, पर उनकी पुरुष सम्बन्धी अन्य मान्यताएँ मध्वाचार्य की जीवसम्बन्धी धारणाओ से पर्याप्त भिन्न है। मध्वाचार्य भी साख्यों की भाँति जीव को प्रकृति से पूर्ण स्वतन्त्र एव अनादि शुद्ध चैतन्य नही मानते, लेकिन यह मानते है कि उसे ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता है और वह मात्र तत्त्व-विचार के द्वारा ही प्रकृति के धर्मों के आरोपण से मुक्त नही हो सकता। अत: साख्यो के पुरुष-कैवल्य और मध्वाचार्य के जीव-मुक्ति-सिद्धान्त मे पर्याप्त अन्तर है। मध्वाचार्य भी परमात्मा के अनुग्रह को जीव के लिए आवश्यक मानते है। उनके विचार मे जीव केवल तत्त्व-विचार से ही मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। मध्वाचार्य के जीव-सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि उसके अनुसार जीवो की अनेकता औपधिक नही है।[२] आचार्य मध्व ने परमात्मा और जीव मे जिस प्रकार का पृथक्त्व स्वीकार किया है, वह आचार्य रामानुज से भिन्न है। वे शकराचार्य की इस मान्यता को भी अस्वीकार करते है कि अविद्या और माया ईश्वर या परब्रह्म को अपने आवरण में लेकर उन्हे किसी दूसरे रूप मे प्रस्तुत कर सकती है।[3]

मध्वाचार्य के अनुसार स्वय को भगवान पर आश्रित न समझना ही जीव का अज्ञान है। परमतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को न पहचानना भी वे जीव का अज्ञान मानते है। उनका मत है कि अज्ञानी जीव न तो अपने स्वरूप को ही पहचान सकता है और न ही वह भगवान पर स्वय को निर्भर ही मानता है। मध्व जीव को स्वतन्त्र कर्ता और स्वतन्त्र भोक्ता भी नही मानते। वे माया को पूर्णतया ब्रह्म की इच्छा के अधीन मानते है। माया के जिस स्वरूप की मध्वाचार्य ने चर्चा की है; उससे सांख्यो के

---

१ Madhva's Teachings in his own words; p. 79, If the Individual peculiarities of equipment etc., are finally to be attributed to some inexplicable Adrishta or unseen merit that is also beginningless and uncaused, it would be as good as admitting that the plurality of selves is, in the last analysis, intrinsic and beginningless."

२ विष्णुतत्त्व निर्णय, पृ० २६,—उपाधिमेदागिकारे हस्तपादाद्युपाधि भेदेऽपितद्गत सुखदु खादि भोक्तर्यथा भदोऽपिन प्रतीयते, एवमेव शरीरादि भेदेऽपि भोक्तु भेदो न दृश्यते। सर्वदेहगत सुख दु खादिकमेकेनैव भुज्यते।

3 वही० पृ० २६,—किचोपाधिरात्मन एकदेश ग्रस्त्युत सर्वमात्मानम् ? एकदेशागिकारे सावयवत्वम्। सावयवस्य चानित्यत्वम्। सर्वग्रासे च नोपाधिभेदक: स्यात्॥ वही० पृ० २८,—अज्ञान सिद्धौ मिथ्योपाधि सिद्धि.। अज्ञान विना मिथ्यत्वासिद्धं। नच मिथ्योपाधि विना अज्ञानसिद्धि। मिथ्योपाधि भिन्नस्यैवाज्ञत्वात्.........॥

प्रकृति-सिद्धान्त का भी खण्डन हो जाता है। वे यह भी स्वीकार नही करते कि परमात्मा की इच्छा या आज्ञा (माया) जीव को भटका सकती है। इस प्रकार वे माया द्वारा जीव को अपने जाल मे फँसाने की मान्यता का भी विरोध करते है।[1]

● शुद्धाद्वैत मे जीव का स्वरूप

शुद्धाद्वैत आचार्य वल्लभ का दार्शनिक सिद्धान्त है, जिसे ब्रह्मवाद या अविकृत-परिणामवाद भी कहा गया है। आचार्य वल्लभ पुष्टिमार्गी आचार्य-भक्त है। जहाँ आचार्य रामानुज ने शाकर मायावाद का खण्डन करने और जगत को सत्य सत्ता सिद्ध करने के लिए ब्रह्म की सविशेषता पर बल दिया है, वहाँ आचार्य वल्लभ ने उसे माया-सवलित न मानकर उसकी शुद्ध स्वरूपता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार ब्रह्म माया-सवलित सत्ता नही। वह कार्य-कारण रूप है। अत पूर्ण शुद्ध सत्ता होने के कारण अमायिक है।[2] इसमे यह स्पष्ट है कि वे आचार्य शकर की भाँति यह नही मानते कि माया ब्रह्म को प्रभावित कर सकती है। मायावाद का खण्डन करने के कारण ही आचार्य वल्लभ के मत को अविकृत परिणामवाद, ब्रह्मवाद एव शुद्धाद्वैत के अभिधान प्राप्त हुए है। शुद्धाद्वैत के अनुसार जड-चेतन सृष्टि अर्थात् जगत और जीव ब्रह्ममय है। ब्रह्माण्ड (जीव-जगत) मिथ्या नही वल्कि सत्य सत्ता है। जीव और जगत दोनो ब्रह्म के ही रूप है। जीव की बुद्धि का विकल्प ही उसे ब्रह्म से भिन्न अस्तित्व की प्रतीति करवाता है। इस प्रतीति के निरसन के उपरान्त जीव एव ब्रह्म के भेद का अन्तर मिट जाता है।[3]

---

[1] गीता, अध्या० ७-१४, —दैवी ह्यषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते॥ श्वे० उप० ३-१६, ब्र० सू० ३-२-५,—पराभिध्यानात्तु तिरोहित ततोह्यस्य बन्ध विपर्ययौ'''॥ M T. words,—p. 86;—Here is obvious that there is some other principle—over and above all these—that is preventing the self from realizing its true nature in full, here and now. This is the principle of Prakriti-jada-which presses down the 'jivas' from beginningless eternity and obscures their natures at the will of the Lord and not by its own power."

[2] शु० भा० श्लो० २८, माया-सम्बन्ध-रहित शुद्धमित्युच्यते बुधै।
कार्य-कारण रूप हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम्॥

[3] शु० भा० ५, ६; सर्व ब्रह्मात्मक विश्वमिदमवबोधयेत्पुर।
सर्वशब्देन यावद् हि दृष्टश्रुतमतो जगत्॥
बोध्यते तेन सर्वहि ब्रह्मरूप सनातनम्।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात्तुकारणम्॥
तत्त्व० दी० निर्ण० ९१, ज्ञानाद् विकल्प बुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपत॥

शकराचार्य के विपरीत आचार्य वल्लभ के अनुसार अविद्या के कारण जीव के रूप मे ईश्वर की प्रतीति नही होती। उनके अनुसार उपनिषदो मे भी ब्रह्म द्वारा अनेक रूप धारण कर रमण करने के उल्लेख मिलते है।[1] वस्तुत उपनिषद् की इस मान्यता के आधार पर ही उन्होने जीव के रूप मे ईश्वर-प्रतीति का खण्डन किया है। वे यह मानते है कि ब्रह्म स्वय अनेक रूपो मे रमण करने की इच्छा के कारण अपने आनदाश का तिरोधान कर लेता है और यही उसके द्वारा जीव का रूप धारण करना है। जीव इसलिए सत्य है क्योकि वह परमसत्ता की लीला है। परमतत्त्व की लीला मिथ्या नही हो सकती क्योकि वह स्वय उसकी रचना है। इसलिए जीव को आभास सत्ता मानना उचित नही है। जीव को शुद्धाद्वैत मे ब्रह्म का असख्यात अश माना गया है। जीव-स्वरूप होते ही उसमे वासना-सस्कारो का उदय होता है और वह कर्म-क्रीडाओ मे आबद्ध हो जाता है। जीव दशा मे जीव ब्रह्मस्वरूप न रहकर जीवत्व के धर्म को प्राप्त कर लेता है। यही ब्रह्म स्वरूपता का तिरोधान है। तदनुसार जीव नित्य सत्ता है।[2] जीव परमतत्त्व की सृष्टि है। लीला करने के लिए भगवान जब तक जगत को बनाए रखना चाहते है तब तक जीव भी लीला-पात्रो के रूप मे बने रहते है। इस प्रकार शुद्धाद्वैत का जीव सिद्धान्त प्रत्यभिज्ञावादियो के पशु-सिद्धान्त से पर्याप्त मेल खाता है। प्रत्यभिज्ञावादियो के अनुसार भी पशु (जीव) शिव का धारण किया हुआ उसका अपना ही रूप है।

शुद्धाद्वैत के अनुसार परमसत्ता केवल ब्रह्म ही है और जीव का रूप उसी ने अपने आनदाश का तिरोधान कर धारण किया हुआ है। अत वल्लभाचार्य जीव की उत्पत्ति के स्थान पर उसका आविर्भाव स्वीकार करते है। जीव का आविर्भाव ब्रह्म से उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि मे आविर्भूत होते है। इसलिए गीता की भाँति ही उन्होने जीव की उत्पत्ति और मरण को अस्वीकार किया है। जन्म लेना और विनाश होना शरीर के धर्म हैं—जीव के नही। शाकर मत के अनुसार जीव विभु है जबकि वल्लभाचार्य ने उसे 'अणु' माना है। शकराचार्य जीव को कर्ता और भोक्ता नही मानते, जबकि शुद्धाद्वैत मे उसे कर्त्ता भी माना गया है और भोक्ता भी। परन्तु जीव और ब्रह्म के कर्तृत्व एव भोक्तृत्व मे पर्याप्त अन्तर है। ब्रह्म मे पूर्ण स्वातन्त्र्य की स्थिति स्वीकार की गयी है, लेकिन जीव का स्वातत्र्य भगवान की इच्छा के आधीन है। वल्लभाचार्य की जीव-सम्बन्धी यह मान्यता आचार्य रामानुज जैसी ही है। दोनो आचार्य किसी न किसी रूप मे ब्रह्म और जीव के अशाशि-भाव-सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। लेकिन दोनो की कई मान्यताएँ एक दूसरे से भिन्न

---

[1] तैत्तिरीयोपनिषद्,

[2] गीता, अध्या० २-२०, न जायते म्रियते वा कदाचन नाय भूत्वा भविता वा न भूय। अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

[3] ब्र० सू० २-३-२९,

भी हैं। आचार्य बल्लभ ने 'तद्गुणसारत्त्वात्' और तध्व्यपदेश प्राज्ञवत् सूत्रो की व्याख्या द्वारा जीव के अणुत्त्व को सिद्ध किया है। 'तत्त्वमसि सूत्र की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि जीव मे आनन्दधर्म अप्रत्यक्ष रूप मे ही रहता है। इसे प्रत्यक्ष मान लेने पर जीव स्वय ब्रह्म हो जाएगा। जीव द्वारा आनन्दाश के आविर्भाव के उपरान्त उसे निजस्वरूपता प्राप्त होती है। इस स्थिति मे जीव और ब्रह्म दो नही रह जाते।[1]

---

[1] ब्र० सू० २।३-३०, यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥

७ | आदिग्रन्थ में वर्णित जीव का स्वरूप

● **जीव-स्वरूप-परम्परा : विहंगमावलोकन**

परमसत्ता और जीव के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो एव धर्म-मतो की मान्यताएँ एक जैसी नही है। अत परमात्मा और जीव सम्बन्धी धारणाओ मे भी दार्शनिको मे मतैक्य का अभाव है। लेकिन जीव के स्वरूप आदि के बारे मे विचार करते हुए सर्भ। मत-सम्प्रदाय अन्तत यह मान लेते है कि जीव अपने वास्तविक रूप को भूल कर इन्द्रियो के धर्मों का अपने ऊपर आरोप कर लेता है और यही उसके आवागमन का प्रधान कारण है। यद्यपि इस मूल धारणा की व्याख्याएँ एक जैसी नही है तथापि आवागमन मे विश्वास करने वाले धर्म-मतो की प्रधान मान्यता यही है कि जिस साध्य का जीव प्राप्त करना चाहता है, वह उसकी अनारम्भावस्था भी है और उसे प्राप्त करने से पूर्व की स्थिति वाला उसका स्वरूप ही उसकी बद्धता है। उसके बन्धन को मनोधर्मी होना ही स्वीकार किया गया है। प्रत्येक भक्ति-सम्प्रदाय जीव की कर्तृत्व-भावना को उसका अहम् मानता है और परमात्मा के अनुग्रह के अभाव मे कृत-कर्मों के अनुसार ही उसके भोक्तत्व को भी स्वीकार करता है। तदनुसार जीव अपने साध्य को उस समय तक प्राप्त नही कर सकता, जब तक वह स्वातत्र्य के मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर अपने आपको कर्ता एव भोक्ता समझने की भ्रान्त धारणा का परित्याग नही कर लेता। तत्त्व-चिन्तको की स्थिति इससे भिन्न एव स्वतन्त्र है। वे जीव द्वारा मलावरणो के परित्याग को तो मानते है परन्तु अनुग्रह की मान्यता को स्वीकार नही करते। साख्य तो पुरुष और प्रकृति को ही मूल एव अनादि मानकर, पुरुष के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लेना ही उसका कैवल्य स्वीकार कर लेते है। इसलिए उनकी दृष्टि मे किसी अतिरिक्त सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान सत्ता के अस्तित्व एव उसके द्वारा जगत और जीव के नियमन का प्रश्न ही नही है।

अद्वैतवेदान्तियो के मत मे जीव का स्वतन्त्र एव वास्तविक अस्तित्व ही नही है। जीव को वे आभास सत्ता मानते है और इस प्रतीति का कारण अविद्या को स्वीकार करते है। बौद्धो का दृष्टिकोण न साख्यो से मिलता है और न ही

अद्वैत वेदान्तियों के जीव एवं ब्रह्म की विचारधारा से। उनके आलयविज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्ति-चैतन्य की प्रतीति होती है, जिसे उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद-सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट किया है। वे आवागमन को मानते है और संस्कार या वासना-प्रवाह को भी स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में जीव अपने से ऊँची किसी परम सत्ता के अधीन एव उसके अनुग्रह पर आश्रित नही है। परब्रह्म की उपासना का सिद्धान्त उपनिषदों में ही खोजा गया है और अनुग्रह के विश्वास की मान्यता के संकेत भी वही से ग्रहण किये गये है। उपनिषदिक धारणा के अनुसार परमसत्ता की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही नही होती। इसे वैष्णव आचार्यों ने परमात्मा के अनुग्रह की धारणा का आधार बनाया है। गीता में क्षर और अक्षर से अतीत की सर्वोपरि सत्ता मानकर पुरुषोत्तम के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया और अवतार की मान्यता की स्थापना हुई है। वही पर यह भी कहा गया कि जो जीव इन्द्रियो को सभी विषयो से हटाकर परमात्मा की ओर सयोजित कर देता है, भगवान उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लेते है। इसके साथ ही 'मामेकंशरण व्रज' के द्वारा प्रपत्ति का सकेत भी हमे गीता मे मिल जाता है।[१]

भारतीय धर्म-मतो मे हमे तीन प्रमुख साधनाओ के उल्लेख मिलते है। ये साधनाएँ कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग है। वैदिक युग मे यज्ञ-याग आदि का प्राबल्य रहा, जिसके कारण कर्म-काण्डात्मक साधना का प्राधान्य हुआ। उस समय तक जन्मान्तर का सिद्धान्त अभी निर्माण की स्थिति मे था। अत. ऐहिक सुखो की प्राप्ति एव दु.खो से निवृत्ति ही उस युग के मानव-समाज की कामना थी। इस कारण धार्मिक अनुष्ठानो मे यही भावना प्रेरणा का हेतु बनी। तदनन्तर चिन्तन के क्षेत्र मे नये सूत्र जुडे एव भिन्न-भिन्न देवताओं की सर्वोपरि शक्ति के रूप मे देवाधि-देव अथवा परब्रह्म को मान्यता प्राप्त हुई। यही से चिन्तन की धारा ने नयी दिशा ग्रहण की और अन्त मे उपनिषदो के रूप मे उसे मूर्तरूप प्राप्त हुआ। याज्ञवल्क्य और गार्गी के सवाद मे जीव के परम लक्ष्य का प्रतिपादन करते हुए यह बतलाया गया है कि जीव का लक्ष्य अपने स्वरूप को पहचानना अथवा परब्रह्म को प्राप्त करना है। यही ज्ञान का मार्ग है। तदनन्तर जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने भी जीव की परमोपलब्धि के सम्बन्ध में विचार किया है और उनकी मान्यताएं वैदिक धर्म के विश्वासो से भिन्न एव स्वतन्त्र है।

वैदिक ऋचाओ मे ही, कर्मकाण्ड के साथ-साथ, ज्ञान एवं भक्ति के विचार-सूत्र भी विद्यमान थे। उपनिषदो को वेदान्त कहकर उस समय के विचारको ने इसी तथ्य की ओर सकेत किया है। तब,,देववाद के अनुसार यज्ञों के द्वारा देवताओं को केवल बलि से ही नही बल्कि प्रार्थनाओं द्वारा भी प्रसन्न किया जाता था। देवता

---

[१] गीता, सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकशरण व्रज। अहं त्वा सर्व-पापेभ्यो मोक्ष-यिष्यामि मा शुच.॥

के प्रति प्रार्थना का अर्थ यही है कि उसे ऐसी शक्ति माना गया है, जो हमें सुख भी दे सकती है और दुःख भी । इसे भक्त का आत्म-निवेदन भी कह सकते हैं। आत्म-निवेदन का प्रधान प्रेरक भाव उपास्य की तुलना मे उपासक की परवशता है। परवशता की भावना मे ही वे सभी अन्य भाव भी समाहित है, जिनके अनुसार जीव अपने आपको उपास्य शक्ति की तुलना मे छोटा एवं उसकी कृपा पर निर्भर मानता है । अत. भक्ति की साधना के सूत्र वैदिक युगीन प्रार्थनाओं में भी विद्यमान थे। धार्मिक कर्मकाण्ड एव तत्सम्बन्धी इतर विश्वासो का निर्माण युगीन समाज की परिस्थितियो की परिणति हुआ करता है। युग की परिस्थितियाँ जैसे-जैसे परिवर्तित होती रहती है, वैसे ही धार्मिक विधि-विधानों मे भी परिवर्तन आता रहता है । कर्मकाण्ड और ज्ञान-काण्ड के उपरान्त भक्ति की साधना की ओर प्रवृत्त होने मे भी युगीन परिस्थितियो का ही योगदान है । कर्म की साधना और ज्ञान की स्थिति में भक्ति सर्वाधिक प्रिय एव ग्राह्य साधना सिद्ध होने के दो भिन्न एव स्वतन्त्र कारण हो सकते है । जो उपासना-विधि मानव के हृदय से अधिक सम्बन्धित होती है, उसे व्यापक मान्यता प्राप्त होना स्वाभाविक है, क्योकि आम लोगो के भावो एव विचारो के साथ उसका निकट का सम्बन्ध होता है । भक्ति-साधना के व्यापक प्रचार का यही प्रधान कारण है । हमारे विचार से दूसरा कारण यह है कि जिस समय सामन्तीय समाज एव साम्राज्य का विकास होता है, उसी समय अवतार का सिद्धान्त पनपता है और अवतार मे ही भक्ति के लिए दृढ आधार प्रस्तुत रहता है । साम्राज्य की एक बार स्थापना हो जाने पर वह व्यवस्था जल्दी समाप्त नही होती । अत मानव की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक होने एवं साम्राज्यवाद मे सम्राट को परमात्मा का अवतार मानने के कारण अवतार की धारणा को बल मिलता है और भक्ति की साधना के लिए दृढ आधार प्रस्तुत होता है । ऐसे युग मे साधना भक्ति प्रधान बन जाती है । गुप्त साम्राज्य मे अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई, जिसमे राम कृष्णादि को ईश्वरत्व प्राप्त हुआ एव अशोक के राज्यकाल मे बुद्ध को भगवान का रूप ।

आदिग्रन्थ भक्त-हृदयो की भावनाओ का काव्य है और उसमें जीव की भावनाओ, उसको दिये गये उपदेशो एव उसके भिन्न-भिन्न आचरणो का उल्लेख व्यापक है । सिक्ख गुरु यद्यपि निर्गुण सन्तो की ही परम्परा मे आते है फिर भी उनके काव्य मे भक्ति का स्वर अपेक्षाकृत अधिक भाव-पूर्ण एव आत्म-निवेदन की प्रेरणा से आपूर्ण है । तदनुसार सगुण भक्तो के अवतारवादी दृष्टिकोण के प्रति आस्था न रखते हुए भी परमसत्ता की भक्ति पर ही बल अधिक है । अत गुरुओ द्वारा वर्णित जीव के स्वरूप की मान्यताओ से सम्बन्धित दार्शनिक चिन्तन मे पर्याप्त अन्तर होने पर भी भक्ति-साधना के क्षेत्र मे वैष्णव भक्तो की विचारधारा का ही अधिक प्रभाव है । वे वाहगुरु की भांति जीव को भी अनादि सत्ता नही मानते । इसलिए उनकी विचारधारा द्वैतवादियो से भिन्न प्रकार की है। विशिष्टाद्वैत में जिस रीति से ब्रह्म और जीव

के सम्बन्ध का उल्लेख हुआ है, उसके प्रेरक दार्शनिक चिन्तन से भी उनकी जीव-सम्बन्धी मान्यताएँ भिन्न हैं। इस प्रकार भक्ति की दृष्टि से एक होते हुए सगुण भक्त एवं निर्गुणोपासक दोनों भिन्न हो गये है। आगामी पृष्ठो मे आदिग्रन्थ के अनुसार जीव के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है। जिससे हम यह जान पायेंगे कि गुरुओं की मान्यताएँ भारतीय परम्परा मे स्वीकृत जीव के स्वरूप से किस सीमा तक समान एवं भिन्न है।

● **आदर्शवाद और आत्म-स्वातन्त्र्य**

आदर्शवादियो (अध्यात्मवादियो) के अनुसार जीव और ब्रह्म मे तत्त्वत अभेद है। वे जगत को भी ब्रह्ममय मानते है एवं उनकी दृष्टि मे जगत और ससार दो भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड को उन्होंने नित्य और अनित्य के रूप मे द्विरूपात्मक माना है। लेकिन नामरूपात्मक ससार की मूलाधार सत्ता (ब्रह्म) को उन्होंने नित्य अविनाशी परमशक्ति स्वीकार कर लिया है। कही-कही नित्य तत्त्व को 'ब्रह्मसृष्टि' और अनित्य तत्त्व को 'मायासृष्टि' भी कहा गया है। आत्मा को ब्रह्म से भिन्न एव स्वतन्त्रसत्ता स्वीकार न करने पर भी वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि आत्मचैतन्य देहेन्द्रियो मे सयुक्त होकर ब्रह्म से भिन्न हो जाता या भिन्न प्रतीत होने लगता है। अध्यात्मवादियो की दृष्टि मे आत्म तत्त्व के ऊपर माया या अविद्या के आवरण के कारण सभी जागतिक पदार्थ दो प्रकार के हो जाते है या भासित होने लगते है। कोशो की चर्चा उन्होने इसी प्रसग मे की है। तदनुसार जिस किसी को कोषो ने जितनी मात्रा और गहराई मे आवृत्त कर लिया है, उसका चैतन्य (चेतन तत्त्व) उतना ही अस्पष्ट एव आवरण-युक्त हो जाता है। इस मान्यता के आधार पर ही चेतन और अचेतन—दो भिन्न अवधारणाएँ मान ली गयी हैं। तदनुसार स्थूल देह को अन्नमय कोश के अन्तर्गत रखा गया है एव शरीर मे परित व्याप्त प्राणतत्त्व (वायु) को प्राणमय कोश स्वीकार किया गया है। इसी तरह मनोमय कोश मनोराज्यान्तर्गत आता है तथा आनन्दमय कोश को आत्मचैतन्य की अवस्था का नाम दिया गया है। कुल मिलाकर ये कोश या कचुक सख्या मे पाच है।

उपनिषदो के अनुसार उक्त प्रथम चारो कोशो से अतीतता प्राप्त कर आनन्दमय कोश की अवस्था की प्राप्ति ही आत्मस्वरूप की पहचान है। इससे यह स्पष्ट है कि जिस आत्मचैतन्य को लोकायत विचारधारा पदार्थ-समवाय-जन्य चेतना मानती है, उसे आदर्शवादी विचारक अनादि एव स्वतन्त्र चैतन्य के रूप मे स्वीकार करते है। तदनुसार उक्त स्थिति को फिर से प्राप्त करना ही आत्मसाक्षात्कार है।[1] इस प्रकार की अवधारणाओं से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'लिग शरीर' की अवधारणा की चर्चा भी कोशो की मान्यता के ही अन्तर्गत आती है। लिंगशरीर की

---

[1] तैत्ति० उप० २।१-५, ३।२-६।

धारणा कर्म-सिद्धान्त से जुडी हुई है। तदनुसार कर्म ही लिंग शरीर को आवागमन के चक्कर में भटकाता रहता है। अतः आत्मस्वातन्त्र्य की चर्चा लिंग शरीर के प्रसंग में ही की जा सकती थी और गीता में इसी पद्धति का अनुसरण हुआ है।

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार मायाशक्ति के कारण ब्रह्मसत्ता नाम और रूपमय जगत के रूप में परिणमित नहीं होती, बल्कि ऐसी भासित होती प्रतीत होने लगती है। क्योंकि वे ईश्वर और जीव के यथार्थ एवं भिन्न अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनकी माया की सामान्य अवधारणा के अनुसार ब्रह्म ही देश, काल एवं नाम में रूपात्मक, सगुण शक्ति के रूप में व्यक्त या प्रतीत होने लगता है।[1] तदनुसार कर्म ही माया है क्योंकि इन वेदान्तियों ने अनेक प्रसंगो में इच्छा को ही कर्म के रूप में स्वीकार किया है। गीता मे कर्म की चर्चा के प्रसंग मे कहा गया है कि अक्षरब्रह्म की नामरूपात्मक सृष्टि-क्रिया ही कर्म है। इसी धारणा को एक दूसरे ढंग से प्रतिपादित करते हुए यह माना गया है कि ब्रह्म ही अपनी माया से प्रकृति मे उत्पन्न होता है। कर्म को अत्यन्त व्यापक अर्थ मे ग्रहण कर मूल सृष्टि को भी क्रिया या कर्म के अन्तर्गत ले लिया गया है। तदनुसार नामरूप 'माया' है। माया के अन्तर्गत नाम और रूप एवं कर्म आदि सभी का समाहार हो जाता है। सांख्यों की प्रकृति और वेदान्तियो की माया की अवधारणाओ मे यही प्रधान भेद है। सांख्यों की प्रकृति त्रिगुणात्मक है, लेकिन ब्रह्मवादियो के अनुसार सांख्यों का न तो 'पुरुष' ही अनादि तत्त्व है और न ही प्रकृति। वे केवल ब्रह्म को ही नित्य और अविकारी सत्ता मानते है। उनके अनुसार नित्य परिवर्तनशील प्रकृति एव देहेन्द्रियो के आवरण से युक्त आत्मतत्त्व का ऊपरी आवरण ही अनित्य एव अविकारी है। आदर्शवादी विचारक मायात्मक कर्मों को भी अनादि स्वीकार करते है।[2] तदनुसार इन्द्रियो के अज्ञान के कारण मूलब्रह्म के नामरूप कल्पित होते है, जिसे उन्होने सर्वज्ञ ईश्वर की 'माया', या 'शक्ति' कहा है। माया को अध्यात्मवादियो ने भी माना है लेकिन वे इसे स्वयम्भू, स्वतन्त्र एव अनादि शक्ति के रूप मे स्वीकार नही करते।[3] माया के आरम्भ के विषय मे वे कुछ नही कहते, उसे वे केवल अनिवर्चनीय मानकर ही मौन धारण कर लेते हैं।

आदर्शवादी विचारको की जीव (मानवात्मा) की चर्चा के प्रसंग मे माया

---

[1] गीता, अध्या० ७, श्लो० २४-२५, अव्यक्तं शक्तिमापन्न मन्यन्ते मामबुद्धयः। मा भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ नाह प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृत.। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ बृ० उप० १-६-१।

[2] ब्रह्मसूत्र २।३५-३७, गीता, ७।१४, वे० सू० शा० भा० २।१।१४, सर्वज्ञेश्वर-स्यात्मभूते इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपंच-बीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य 'माया' 'शक्ति' प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलभ्येते॥

[3] गीता, अध्या० ३ श्लो० १५।

एवं कर्म सम्बन्धी उक्त धारणा यह महत्त्व रखती है कि उनके अनुसार माया या कर्म का अनादित्व दुर्विज्ञेय हो गया है 'आत्मा देहेन्द्रियो के आवरण मे कब और कैसे आती है, इसके सम्बन्ध मे इनका केवल यही उत्तर है कि आत्मा एक बार देहेन्द्रियों के बन्धन मे आ जाने के बाद उस समय तक आवागमन से मुक्ति प्राप्त नही कर सकती जब तक उसे आत्मसाक्षात्कार प्राप्त नही होता। आत्मसाक्षात्कार से उनका आशय आनन्दमय कोश की अवस्था को प्राप्त कर लेना है।

ईश्वरवादी कर्म-बन्धन (जीवात्मा का) और कर्मबन्धन से मुक्ति के उपायो के सम्बन्ध मे एक मत नही रखते। परन्तु वे इस धारणा के सम्बन्ध मे सहमत है कि नामरूपात्मक जगत का आधार ब्रह्म (आत्मतत्त्व) ही है। उसे वे अविनाशी एव स्वतन्त्र सत्ता मानते है। उनके अनुसार जीव (आत्मा नही) विश्वव्यापी परमेश्वर का अश है। देहेन्द्रियो से युक्त होकर वह देही कहलाता है। जीवात्मा (मानव-देह-चेतना) को परब्रह्म का अश होने के कारण मूलरूप मे कर्मात्मक प्रकृति से पूर्णतया मुक्त माना गया है। गीता इसे देहेन्द्रियो मे असीम चैतन्य के रूप मे स्वीकार करती है। आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा वस्तुत इच्छाओ से अतीत एव अकर्ता है।[1] फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से उसे नामरूप की सीमा मे बद्ध भी स्वीकार कर लिया गया है। भक्ति के हेतु जिन्हे अद्वैत के स्थान पर द्वैत मान्य है, वे जीवात्मा के शक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार जीवात्मा का कर्म-स्वातन्त्र्य सीमित है और वह भी उसे ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। अध्यात्मवादी आत्माओ की अनेकता को मात्र प्रतीति भी स्वीकार करते है और उनकी यथार्थ सत्ता भी। कुछ विचारक भेद का हेतु अहकार को स्वीकार करते है और एक बार अह-ग्रस्त हो जाने पर उसके आवागमन को स्वीकार कर लेते है।[2] गीता मे यह विचार भी प्रतिपादित हुआ है कि जीव पुरुषोत्तम का अश है।[3] सभी ईश्वरवादी जीव, जगत और ब्रह्म के सम्बन्धो की अवधारणाओ के विषय मे एक मत नही। यही कारण है कि वेदान्त-विचार, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैत आदि भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के माध्यम से व्यक्त हुआ है।

● आदिग्रन्थ में जीव : जीव के भेद

आदिग्रन्थ मे वर्णित वाहगुरु-स्वरूप से यह स्पष्ट है कि सिक्ख गुरु पूर्णाद्वैतवादी या पराद्वैतवादी विचारक है। उनके अनुसार विश्वव्यापी सत्ता केवल वाहगुरु है और जगत एव जीव उससे भिन्न स्वतन्त्र अनादि सत्ताएँ नही है। अनादि सत्ता की चर्चा करते हुए बारम्बार इस विश्वास को दुहराया गया है कि अनादि सत्ता केवल ब्रह्म

---

[1] वे० सू० शा० भा० २।३।४०,

[2] महाभारत, शा० पर्व, १८७।२४,

[3] गीता, अध्या० १४-३, वही, अध्या० १५-७,

(वाहगुरु) की है और वह प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न चैतन्य है। जीव की उत्पत्ति के प्रसंग में आदिग्रन्थ मे कई बार इस मत की चर्चा की गयी है कि उसका अस्तित्व वाहगुरु की इच्छा पर निर्भर है। सिक्ख गुरु 'अहब्रह्मास्मि' वाले शाकर सिद्धान्त को स्वीकार करते दिखलायी नही देते— वे इसे जीव का हउमैभाव (अहभाव) मानते है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें आत्म-स्वातन्त्र्य उसी रूप मे स्वीकार्य है, जब देहेन्द्रियो से युक्त जीव स्वय को सम्पूर्ण मलों, कचुको एव कोशो से अतीत बना लेता है। उनका यह विचार गीता के लिंग शरीर देहेन्द्रिय-युक्त जीव-सिद्धान्त एव कार्यरूपा माया की अवधारणा का अनुसरण है। वे जन्मान्तर को स्वीकार करते है और जीव द्वारा भक्ति का आश्रय ग्रहण कर अपने शुद्ध स्वरूप को पुन प्राप्त कर लेने की धारणा का समर्थन करते हैं। आदिग्रन्थ मे दार्शनिक की भाँति जीव के स्वरूप पर अलग से विचार नही किया गया। लेकिन जीव के भेदो एव जीव की स्थिति तथा उसके परमध्येय के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर यह सूत्र प्राप्त किया जा सकता है कि जीव-स्वरूप के बारे मे गुरमत की धारणाएँ क्या है ?

जीव को आदिग्रन्थ मे अयथार्थ या मिथ्या नही माना गया है। वह वाहगुरु के द्वारा धारण किया हुआ उसी का सीमित चैतन्य है जो उसकी इच्छा से देह और इन्द्रियों को प्राप्त कर शरीरी चैतन्य का रूप प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होते ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का द्वैत बन जाता है और जीव जागतिक व्यापारों मे स्वय को लिप्त बना लेता है। यही वह अवस्था है, जब जीव को वाहगुरु की तुलना मे स्वय को छोटा समझने की अनुभूति होने लगती है। वह स्वय को पति-परमात्मा से अलग अनुभव करने लगता है और उसमे पुन अपने प्रिय से मेल की भावना जागृत हो उठती है और वह वाहगुरु की अनुकम्पा-याचना के लिए व्याकुल हो जाता है। गुरबानी के अनुसार ब्रह्म और जीव मे तात्विक भेद मान्य नही, जैसे

धातु मिलै फुनि धातु कउ लिव लिवै कउ धावै ।
गुर परसादि जाणीऐ तउ अनुभउ पावै ··· ॥ (ग्र० पृ० ७२४)

केवल जीव ही नही बल्कि सम्पूर्ण सचराचर सृष्टि को वाहगुरु मे मूलत: अभिन्न स्वीकार किया गया है। अद्वैतवेदान्ती माया के कारण ब्रह्म मे ईश्वर और ईश्वर मे जीव का मिथ्यारोपण मानते है और इसके निराकरण के उपरान्त जीव को ही ब्रह्म मान लेते है। गुरबानी मे इस अभेद को उसी रूप मे स्वीकार न कर यह माना गया है कि तारग (सागर) मे तरग की सत्ता की भाँति ही ब्रह्म से जीव का अस्तित्व है। गुरुओ का यह विश्वास विशिष्टाद्वैत के अशाशि-भाव से भी भिन्न प्रकार का है। गुरुनानक के अनुसार जीवो की उत्पत्ति वाहगुरु के हुक्म से होती है। अत: तदनुसार जीव वाहगुरु के स्फुरण, स्पन्द, हुकम या इच्छा के द्वारा धारण किया हुआ उसी का अपना सीमित चैतन्य है। जगत की भाँति जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व गुरुओं को मान्य नही है, जैसे .

तू दारआउ दाना बीना मै मछुली कैसे अंतु लहा ॥ (ग्र० पृ० २५)

वही—आपे नेडै दूरि आपे आपे ही आपे—

मंझि मिआनो·····।। वही० पृ० २५-२६, अछल छलाई न छलै न घाउ कटारा करि सकै ···इहु तेलु दीवा इहु जलै ।।

उक्त धारणाओं से स्पष्ट है कि गुरुओ को साख्यो का पुरुष-सिद्धान्त स्वीकार्य नही है। किसी सम्प्रदाय से बँधकर चलना गुरुओ का मार्ग नही था। उनके पास भारतीय दर्शन एवं प्रचलित उपासना-मार्गों की परम्परा थी तो सही, लेकिन वे किसी भी परम्परागत विचार को तद्वत् स्वीकार कर लेने की पद्धति का अनुसरण नहीं करते। वे वाहगुरु और जीव मे भेद उसी स्थिति मे स्वीकार करते है, जिस समय देहेन्द्रियो के अभिमान के कारण जीव हउमै-भाव मे लिप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे अपना स्वरूप विस्मृत हो जाता है और वह इन्द्रियो के धर्मों का अपने ऊपर आरोप कर लेता है, जैसे

बिखु बोहिआ लादिआ दीआ समुंद मझारि ।।
कधी दिसि न आवई न उरवारु न पारु ।।
वंझी हाथि न खेवटु जलु सागरु असरालु ।।
बाबा जगु फाथा महाजालि···· ···· ।।

(आ० ग्र० पृ० १००६)

गायास्वामी मतावलम्बी जीव का ब्रह्म मे बँसना मानते है। परन्तु गुरबानी मे इस प्रकार के विश्वास का कही स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। आदिग्रन्थ मे माया या अविद्या के कारण अपने स्वरूप के भूल जाने और उसमे इस अवस्था मे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेदबुद्धि की उत्पत्ति की चर्चा मिलती है। गुरु अर्जुन देव लिखते है कि परमात्मा और जीव मे अभेद है, लेकिन वाहगुरु की इच्छा—जिसे वे उसकी माया कहते है—के कारण यह अभेद क्रमश भेदाभेदावस्था से ऊपर उठ कर भेदा-वस्था की ओर उन्मुख हो जाता है। यही जीव का जीवत्व है। इसी अवस्था मे वह वाहगुरु-इच्छा के विलास के साक्षात्कार की अनुभव-स्थिति से नीचे उतर कर अपने आपको कर्मों का कर्ता और फल का भोक्ता मानने लगता है। उसका यह 'आपाभाव' सद्गुरु की शरण मे ही दूर होता है

कोटि अघा सभि नास होहि सिमरत हरि नाउ ।।
मनचिंदे फल पाई अहि हरि के गुण गाउ ।।
जनम मरण भै कटी अहि निहचल सचु थाउ ।। (ग्र० पृ० ७०७)

वाहगुरु की ज्योति मे ज्योति के मिल जाने से गुरुओ का आशय वही है जिसकी चर्चा उनमे पहले कबीर 'कुम्भ कुम्भहि समाना' के द्वारा कर चुके थे, लेकिन ज्योति मे ज्योति का समाना यही है कि आत्म-चैतन्य कोशो-कचुको से अतीत होकर स्व-स्वरूप का लाभ कर लेता है, जिसके लिए गुरबानी मे सद्गुरु की शरण और नाम-सिमरन के उपाय पर बल दिया गया है, जैसे .

गुरि मुखि लंघे से पारि पए सचे सिउलिव लाइ ॥
आवागउणु निवारिआ जोती जोति मिलाइ ॥
गुरमती सहजु ऊपजै सचे रहै समाइ ॥

(आ० ग्र० पृ० १००६)

जीव की अमरता का सिद्धान्त भी सिक्ख गुरुओ को मान्य है लेकिन यह अमरत्व-विचार भी अपने ढग का है। कारण यह है कि वे जीव को वाहगुरु की इच्छा से उसके द्वारा धारण किया हुआ रूप मानते है। क्योकि वाहगुरु अविनाशी और अजरामरसत्ता है, इसलिए उसी के प्रसग मे जीव को भी गीता की भाँति अजरामर मान लिया गया है :

न ओहु मरता ना हम डरिआ ॥ न ओहु बिनसै न हम कड़िआ ॥
न ओहु निरधनु न हम भूखे न ओसु दुख ना हम कउ दूखे ॥
आ० ग्रं० पृ० ३६१ ॥ जोती जोति मिलाई ऐ सुरती सूरति संजोगु ॥
हिंसा हउमै गतु गए नाहो सहसा सोगु ॥ ग्रं० पृ० २१-२२ ॥
जोती जोति मिलि प्रभु पाइआ मिलि सतिगुर मनूआ मान जीउ ॥
ग्रं० पृ० ४४६ ॥ आपि गइआ ता आपहि भए ग्रं० पृ० २०१ ॥

● **गुरमुख जीव**

आदिग्रन्थ मे वाहगुरु (परमसत्ता) की भक्ति को जीव का परम साध्य बतलाया गया है। इसलिए आदिग्रन्थ के प्रतिपाद्य को हम भक्ति-योग कह सकते है। इस सन्दर्भ मे ही जीवो के मनमुख और गुरमुख भेद माने गये है। प्रभु की भक्ति मे तल्लीनता गुरमुख जीव का प्रधान लक्षण है। उसे गुणवन्ती नारी के रूपक के द्वारा परमात्मा रूपी प्रेमी की प्यारी बतलाया गया है :

गुणवंती गुण वीथरै अउगुणवंती झूरि ॥
जे लोडहि वरु कामणी न मिलीऐ पिर कूरि ॥

(आ० ग्र० पृ० १७)

जीव की परमोपलब्धि परमात्म के साक्षात्कार मे है और इसी विश्वास एवं उद्देश्य का आदिग्रन्थ मे बार-बार प्रतिपादन हुआ है। वे सन्त सुहागिन नारियाँ बतलाये गये है, जिन्होने परमात्मा का साक्षात्कार किया है। इसी को गुरुओं ने 'उनके द्वारा प्रभु से रमण करना' कहा है। वे जीव द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने के प्रसग मे लिखते हैं कि मीठा बोलने, सन्तोष का शृ गार करने तथा सहज भाव और अन्य सद्गुणो को धारण करने के उपरान्त ही रसीले प्रियतम से मिलन सम्भव हो सकता है।[1] प्रकारान्तर से यही गुरमुख की पहचान बतायी गयी है। क्योकि गुरमुख गुरु

---

[1] आ० ग्र० पृ० १७-१८, जाइ पुछहु सोहागणी तुसी राविआ किनी गुणी ॥ सहजि सतोखि सिगारीआ मिठा बोलणी ॥ पिरु रसालु ता मिलै जा गुर का सबदु सुणी ॥

के 'शबद' का अनुयायी होता है और गुरु के 'शबद' के अनुसार चलकर ही जीव परमात्मा के अनुग्रह का पात्र बनता है और उसके दर्शन कर सकता है।

गुरुमुख जीव का दूसरा प्रधान गुण अपनी इन्द्रियो को अपने वश मे रखना बतलाया गया है। जिसने अपनी इन्द्रियां को विषयो की ओर से विमुख बनाकर वाहगुरु की ओर मोड़ लिया है, वह उसके अनुकम्पा-भाव को प्राप्त कर लेता है। परमात्मानुग्रह की अगली सीढी उससे मिल जाना, अथवा उसका साक्षात्कार करना है। गुरुओ के अनुसार जीव का बहिर्मुखता मे प्रत्यावर्तन कर अन्तर्मुखी होना ही भक्ति है। -यह साधक की स्थितप्रज्ञता है। वे इसे जगत की ओर से निरासक्ति एव प्रभु के प्रति अनन्यासक्ति कहते हैं। परमात्म-रति से 'अहं' का विगलन होता है और अहं के विगलन को ही गुरमत मे आत्म साक्षात्कार एव परमात्म-साक्षात्कार की संज्ञा दी गयी है। इस अवस्था मे मायिक आकर्षणों के प्रति मोह नही रहता। साधक नाम-सिमरन की साधना पर चल कर सत्यस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। उसके आवागमन के बन्धन टूट जाते है। गुरुओ के अनुसार उसे हमेशा के लिए परमात्मा की 'हजूरी' (सतत दर्शन) प्राप्त हो जाती है .

मुई प्रीति पिआरु गइआ मुआ वैरु विरोधु ॥
धंधा थका हउ मुई ममता माया क्रोधु ॥
करमि मिलै सचु पाईअै गुरमुखि सदा निरोधु ॥
सचि कारै सचु मिलै गुरमति पलै पाइ ॥

(आ० ग्र० पृ० १६)

गुरमुख जीव का तीसरा प्रधान गुण अपने दोषो को स्वीकार करना है। आदिग्रन्थ मे जीव की परवशता की चर्चा के प्रसग मे इसी आशय का प्रतिपादन है कि भक्त जीव प्रभु के आगे अपने अवगुणों को छुपाते नही। उनका यह विश्वास है कि परमात्मा सर्वज्ञ एव अन्तर्यामी है। अत जो कुछ जीव करता है, वह परमात्मा से छुपा नही रह सकता। ससारी होने के कारण जीव मे सद्‌गुणो के साथ त्रुटियाँ और कमियाँ भी है। अत उसे चाहिए कि वह विनम्र भाव से अपनी दुर्बलताओ को स्वीकार करे। मनमुख जीव ही अहकारी और हठी होते है। वे परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता एव सर्वज्ञता को मान कर अपने आचरण को परिवर्तित नही करते। गुरुमुख अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार कर परमात्मा मे उनके निराकरण की याचना करता है। गुरुनानक वाहगुरु से विनय करते हुए कहते है, कि 'मै घुमक्कड (सासी) के रूप मे रहता हूं। मेरे साथ लोभरूपी कुत्ता है। आशाओ और तृष्णाओ की कुतिया मैने पाल रखी है। झूठ की छुरी मेरे हाथो मे रहती है। मै पराए हक को छीन रहा हूँ। न मैं तेरी आज्ञा के अनुसार आचरण करता हूँ और न ही मेरे कर्म ही अच्छे है। इतना अवगुणी होते हुए यदि मुझे किसी पर भरोसा है तो वह

तेरे नाम के सिमरन का।"[1] गुरु नानक ने अपने आपको बाणक (मुरदार खाने वाले) के समान बतलाया है। यही गुरुमुख जीव की विशेषता है कि वह अपने अहम् को मिटाकर पूर्णरूप से प्रभु के आगे समर्पण कर देता है।

उक्त आशय का गुरुओं ने भिन्न-भिन्न शैलियों मे उल्लेख किया है। गुरुनानक गुरुमुख का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि उसे हरि के नाम मे प्यार होता है। वह जपी, तपी और सयमी है। दिन-रात वाहगुरु की भक्ति मे लीन रहता है। हउमै को मार कर निश्चिन्त होता है।[2] उसके लिए परमात्मा के घर का मार्ग 'दुहेला' (कठिन) नही। वह हरि के नाम का स्तवन करता हुआ, नाम की मणि को धारण किये हुए नाम मे ही 'लिव' लगाये रहता है।[3] वैसे तो हर एक जीव-नारी को वापिस अपनी ससुराल मे जाना होता है, परन्तु गुरुओ के मत मे उसी सुहागिन का ससुराल मे जाना सार्थक है, जिसे अपने पति से प्यार है।[4] इससे यह स्पष्ट है कि परमात्म-रति को ही गुरुओ ने गुरुमुख जीव का सर्वाधिक प्रशसनीय गुण माना है। अन्यत्र एक प्रसग मे शरीर के वृक्ष मे रहने वाले इस जीव रूपी पंछी के बारे मे कहा गया है कि जो सत्य स्वरूप वाहगुरु के नाम का चोगा खाता है, वही उसके नाम-रस का पान करता है। वही जन्म और मरण के चक्कर से बचा रहता है।[5]

गुरुमुख जीव-रूपी स्त्री दहेज माँगती है, और वह वस्त्रादि की भी इच्छा रखती है, लेकिन उसके दहेज और वस्त्राभूषण हरि के नाम के सिवा और कुछ नही होते

हरि प्रभु मेरे बाबुला हरि देवहु दानु मै दाजो ॥
हरि कपड़ो हरि सोभा देवहु जितु सवरै मेरा काजो ॥

(आ० ग्र०)

गुरुमुख नारी (साधक) यह जानती है कि जिसके हृदय रूपी घर मे प्रभु का

---

[1] आ० ग्र० पृ० २४, एकु सुआनु दुइ सुआनी नालि ॥ भलकै भौकहि सदा बइ आलि ॥ कूड़ छुरा मुठा मुरदारु ॥ धाणक रूपि रहा करतार ॥ मै पति की पंदि न करणी की कार ॥ हउ बिगड़ै रूपि रहा बिकराल ॥ तेरा एकु नाम तारे ससारु ॥ मै एहा आस एहो आधारु ।

[2] आ० ग्र० २९-३०, गुरुमुख जपतप सजमी हरि के नामि पिआरु ॥ अहिनिसि भगति करे दिनुराती ॥ हउमै मारि निचंदु ॥

[3] वही० पृ० ४१, गुरुमुख नो पथु परगटा दरि ठाक न कोई पाइ ॥ हरिनामु सलाहनि नामु मनि नामि रहनि लिव लाइ ।

[4] वही० पृ० ५०, सभना साहुरै वञणा सभि मुकलावण हार ॥ नानक धनु सोहागणी जिन सह नालि पिआर ॥

[5] आ० ग्र० पृ० ६६, पंखी बिरख सुहावडा सचु चुगै गुरभाइ ॥ हरि रसु पीवै सहजि रहै उड़ै न आवै जाइ ॥ जिन घरि वासा पाइआ हरि हरि नामि समाइ ॥

निवास है, वही उसके गुणो का ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जिसे कन्त सौभाग्य प्रदान करता है, वही सुख प्राप्त करती है। बिना कन्त का प्यार पाये वह भाग्यवती नहीं कहला सकती। उसी का आचरण ऊँचा माना जाता है, जिसका प्रिय से गहरा प्यार है।[1] इसलिए बाबुल से दहेज के रूप मे कन्त को मागना ही गुरुमुख को शोभा देता है। मायके मे ही प्यारे कन्त से नेह लगाये रखना गुरमुख की विशेषता है। इसके लिए उसे हृदय से 'हउमै' को दूर करना चाहिए तथा गुरु के 'शब्द' से एकमेक होकर प्रियतम को पहचानना चाहिए। यही एक उपाय है, जिसे अपनाकर ससुराल मे उसे अपने कन्त की सेज मिल सकती है।[2]

आदिग्रन्थ के अनुसार वाहगुरु सतो के बन्धन स्वय काटता है। तब उन्हे माया अपने प्रभाव के भीतर नही ले पाती। ऐसा जीव मायिक बन्धनो से ऊपर उठकर ब्रह्म-दृष्टि-सम्पन्न बन जाता है और उसे सर्वत्र सत्य स्वरूप परमात्मा के दर्शन होने लगते है। गुरुओ ने उसे 'सहज मे तद्रूप' जीव कहा है। गीता मे जो स्थिति स्थितप्रज्ञ की बतलायी गयी है, वही सहज मे स्थित जीव की भी है। क्योंकि सहज की अवस्था मे पहुँचकर ही जीव को निरासक्त भगवान से ऐक्य का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार के जीव के बारे मे कहा गया है कि

> **सहजे भोजनु सहजे भाउ ॥ सहजे मिटिओ सगल दुराउ ॥ सहजे होआ साधू संगु सहजि मिलिओ पारब्रह्म निसंगु ॥ आ० ग्रं० पृ० २३७ ॥**

गुरमुख जीव-नारी ही प्रभु की प्यारी होती है, क्योकि उसका नित नया स्नेह-बन्धन 'शबद' से बना रहता है।[3] जीव-नारी प्रिय से बिछुडी हुई है। वह दोबारा अपने प्रियतम से तभी मिल सकती है, जब उसके हृदय मे प्रेम जाग उठे तथा वह गुरु के 'शबद' के अनुसार अपना आचरण बनाले। सतमत के अनुसार गुरु ही जीव का ईश्वर से मेल करवाने वाला माध्यम (बिचोला) है। गुरु के बतलाए मार्ग पर चलने से ही वह प्रिय को अच्छी लगती है और प्रिय के मन पर चढ कर ही वह धन (पत्नी) कहलाने का अधिकार प्राप्त करती है।[4] परमात्मा के द्वारा उसको

---

[1] आ० ग्र० पृ० ९७-९८, मा गुणवती सा वडभागणि ॥ पुत्रवती सीलवती सोहागणि ॥ रूपवति सा सुघडि बिचखणि जो धन कत पिआरी जीउ ॥

[2] आ० ग्र० पृ० ११०-१११, पेईअड़ै सुखदाता जाता ॥ हउमै मारि गुरसबदि पछाता ॥ सेज सुहावी सदा पिरु रावे सचु सीगारु बणावणिआ ॥

[3] आ० ग्र० पृ० २४२, साच की मति सदा नउतन सबदि नेहु नवेलओ ॥ नानक नदरि सहजि साचा मिलहु सखी सहेलिओ ॥

[4] वही० पृ० २४३, पिरि विछिडि अडी जीउ कवणु मिलावै ॥ रसि प्रेमि मिली जीउ सबदि सुहावै ॥ सबदे सुहावे ता पति पावै दीपक देह उजारै ॥ सुणि सखी सहेली साचि सुहेली साचे के गुण सारै ॥ सतिगुरि मेलि ता पिरि रावी बिगसी अम्रित बाणी ॥ नानक साधन ता पिरु रावै जा तिस कै मनि भाणी ॥

अपना लेना ही प्रिय-मिलन है। इसे गुरुओ ने अत्यन्त भावमयी वाणी मे चित्रित किया है। यह जीव की वह अवस्था है, जब उसे अनिर्वचनीय आनन्द की सुखद अनुभूति प्राप्त होती है। ऐसे ही एक प्रसंग मे जीव-नारी के द्वारा अपनी सखी (सत्संगी जीव) के आगे मिलन के अनुभवो का वर्णन करती हुई कहती है, 'हे सखी, मैं सदैव अपने स्वामी के साथ रहती हूँ। मेरे तन और मन दोनो ही प्रिय के तन-मन के साथ एकमेक हो गये है। जिस दिन से मैने अपने प्रियतम को पा लिया है, उसी दिन से मै मीठी नीद सोने लगी हूँ। मेरा 'हृदय-कवल' विकसित हो गया है। सारे भ्रम दूर हो गए हैं और चारो ओर प्रकाश ही प्रकाश दिखलायी देने लगा । मैंने अटल सुहाग पा लिया है। अन्तर्यामी प्रभु ही मेरा वर है

> **सखी नालि वसा अपुने नाह पिआरे मेरा मनु तनु हरि संगि हिलिआ ।। सुणि सखीए मेरी नीद भली मैं आपनड़ा पिरु मिलिआ ।। भ्रमु खोइओ सांति सहजि सुआमी परगासु भइआ कउलु खिलिआ ।। वरु पाइआ प्रभु अन्तरजामी नानक सोहागु न टलिआ ।। आ० ग्र० पृ० २५० ।।**

गुरमुख जीव परमात्मा को हर दृष्टि मे महान भक्तवत्सल और कृपालु मानने लगते है। उन्हे वह अनाथो का नाथ, सभी जीवो का पालन-पोषण करने वाला और भक्तो का प्राणाधार लगने लगता है। स्वय को वे निर्गुणी, नीच और अज्ञानी समझते हुए, उसी की शरण चाहते है।[1]

कबीर ने 'दुलहनि गावहु मगलाचार' कह कर जीव और परमात्मा के विवाह का वर्णन किया है। ठीक उसी तरह का वर्णन हमे 'गुरु नानक-बानी' मे भी मिलता है। यह विवाह-गीत गुरमुख से ही सम्बन्धित है। तदनुसार हरि ने जीव-नारी पर कृपा की, और उसे ब्याहने के हेतु स्वय दुलहा बन कर उसके घर आया है। वर की बारात देखकर आनन्द मे विभोर जीवात्मा कहती है कि सखियो, तुम विवेक-विचार के गीत गाओ। आज मेरे घर भरतार आया है। इस प्रकार गुरु के द्वार पर विवाह के सम्पन्न होने की बात कह कर वह उन्हे बतलाती है कि मुझे प्रिय (वाहगुरु-वर) के स्वरूप आदि का तब पता चला है, जब मेरा उससे मेल हुआ है। मेरा 'आपा-भाव' दूर हो गया है और मन के जागतिक सकल्प-विकल्प मिट गये है। अन्त मे वह यह भी कहती है कि 'सभना का पिरु एको सोइ'। परन्तु उसके कथनानुसार वह मिलता उसी को है, जिस पर उसकी अनुकम्पा होती है और तभी वह 'सोहागिन' बनती है।[2] गुरमुख वह साधक जीव है, जिसे सहज समाधि की प्राप्ति

---

[1] आ० ग्र० पृ० २६०, प्रभ बखसंद दीन दइआल ।। भगति वछल सदा किरपाल ·· हम निरगुनीआर नीच अजान ।। नानक तुमरी सरनि पुरख भगवान ।।

[2] आ० ग्र० करि किरपा अपनै घरि आइआ ।।······ भनति नानकु सभना का पिरु एको सोइ ।। जिसनो नदरि करे सा सोहागणि होइ ।।

हो गयी है और जिसका चित्त पूर्णरूप से सत्यस्वरूप वाहगुरु में लीन हो गया है। गुरमुख का मन अन्य सभी आसक्तियो से निर्लिप्त होकर प्रभु के नाम मे ही रंगा रहता है। उस का अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है और उसे सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश ही दिखायी देने लगता है। परन्तु उसके स्वभाव की यह निराली विशेषता है कि वह इन गुणों को अपने प्रयत्नों का परिणाम न मानकर वाहगुरु का 'करम' (कृपा) समझता है। वह सदा यही कहता है कि गुरु की कृपा से ही जीव वाहगुरु की भक्ति कर सकते है।[1]

गुरमुख चातक की भाँति अनन्यासक्त जीव है। उसका हृदय केवल वाहगुरु की कृपा की वर्षा की बूँदो के लिए ही प्यासा रहता है। वह चकवी की भाँति प्रभु-दर्शन के सूर्य से ही आनन्दित होता है और मछली की तरह उसकी कामना केवल प्रभु-प्यार के पानी से ही तृप्ति प्राप्त करती है।[2] उसकी यह साधना कभी व्यर्थ नही जाती और वह गुरु की शरण के प्रताप से अपने प्रभु को प्राप्त कर लेता है।[3] गुरमुख जीवात्मा का मन प्रिय-प्रभु मे ही लीन रहता है और यही उसका श्रद्धा-भाव है। वह एक क्षण के लिए भी अपने प्रिय का वियोग नही सह सकता। उसके इस अनन्य प्रेम से करुणाद्र होकर वाहगुरु उसे अपना लेता है

सरधा लागी संगि प्रीतमै इकु तिलु रहणु न जाइ ॥
मन तन अंतरि रवि रहे नानक सहजि सुभाइ ॥
करु गहि लीनी साजनहि जनम जनम के मीत ॥
चरनह दासी करि लई नानक प्रभ हित चीत ॥

(आ० ग्रं०)

मनमुख जीव-नारियाँ प्रभु को भूलकर जागतिक आकर्षणो मे उलझी रहती हैं, अस्तु गुरमुख जीव-नारी का आचरण उनसे बिल्कुल अलग ढग का होता है। वे ऐसी जीवात्माएँ हैं, जिन्हें यह समझ है कि प्रिय किस प्रकार के शृंगार को पसन्द करता है। वे अपने आपको नाम के शृंगार से ही सजाती है। ऐसी प्रियतमाएँ ही प्रियतम के सामने खडी होने पर सौभाग्यवती बनती है--

पिर खुसीए धन रावीए धन उरि नामु सीगारु ॥
नानक धन आगै खड़ी सोभावंती नारि ॥

(आ० ग्र० पृ० १०८८)

---

[1] आ० ग्र० पृ० ५१२, गुरमुखि धिआन सहज धुनि उपजै साचि नामि चितु लाइआ ॥...जिसनो करमु होवै धुरि पूरा तिनि गुरमुखि हरि नामु धिआइआ ॥

[2] वही पृ० ७०२, चातक चितवत बरसत मेह ॥ ...अनिक सूख चकवी नही चाहत अनद पूरन पेखि देह ॥ आन उपाव न जीवत मीना बिनु जल मरना तेह ॥

[3] आ० ग्र० पृ ७०२, मनि तनि बसि रहे मेरे प्रान ॥ करि किरपा साधू संगि भेटे पूरन पुरख सुजान ॥

परमात्मा के प्रेमी के मन में और कोई आशा-आकांक्षा नहीं रहती। वह केवल प्रभु को ही चाहता है तथा अन्य सभी प्रकार की आशाओं और निराशाओ से अतीत होकर विचरण करता है।[1] मीन तथा चातक के उदाहरणों के द्वारा गुरुनानक गुरमुख की अनन्यासक्ति की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार मीन जल के बिना और चातक वर्षा की बूद के बिना तड़पते रहते है, उसी तरह गुरमुख की 'लिव' वाहगुरु के नाम से होती है। यदि उसे नाम रूपी जल की प्राप्ति न हो तो वह दर्शन की प्यास के दुःख से पीड़ित रहती है।[2]

गुरमुख आपा-भाव (हउमै) को अपने भीतर रहने ही नही देते और हृदय में सदा प्रियतम को बसाए रहते हैं। ऐसी जीवात्माए 'शबद' से अपना शृंगार करती हैं और सौभाग्यवती कहलाती हैं। इन्ही प्रभु-भक्तो के आचरण को दृष्टि मे रखकर आदिग्रन्थ मे मनमुख जीवों को उपदेश दिया गया है कि वे सर्वव्यापक भगवान के पास रहते हुए भी उसे पहचान नही पाते। प्रभु जल, धरती और आकाश सभी मे समाया हुआ है परन्तु मनमुख का ध्यान इस ओर न जाकर जागतिक नामरूप मे ही भटकता रहता है। वे उस पपीहे के समान है, जिसका निवास जल मे होता है, परन्तु वह जल की पहचान न होने के कारण प्यास-प्यास की रट लगाए रहता है। सामने अथाह जल के रहते हुए भी वह प्यासा ही रहता है। जीवात्माए सभी एक है लेकिन अपने कर्मों और उन कर्मों के संस्कारो एव वासनाओ के भेद के कारण वे भिन्न स्वभाव एवं आचरण वाली बन जाती है। आदिग्रन्थ मे पपीहे की दो भिन्न स्थितियो का वर्णन हुआ है। पहली स्थिति पपीहे के उस स्वरूप की है जिसमे वह चारो ओर जल कें रहते हुए भी, प्यास बुझाने वाले उसके गुण से अनभिज्ञ होने के कारण प्यासे का प्यासा ही रह जाता है। दूसरी स्थिति वह है जब उस पर मेघ करुणाद्र होकर वर्षा करता है और चारो ओर पानी ही पानी दिखाई देता है तथा उसकी प्यास बुझ जाती है।[3] पहला रूप मनमुख का है और दूसरा गुरुमुख का। गुरमुख हुक्म को पहचानने के कारण ही तृष्णाओ की प्यास से मुक्त होता है।

---

1. आ० ग्र० ११००, आसकु आसा बाहरा, मू मनि बड़ी आस ॥ आस निरासा इकु तू हउ बलि बलि बलि गईआसु ॥

2. वही० पृ० १२२२, जिउ मीना जल सिउ उरझानो राम नाम संगि लीवनि ॥ नानक सत चात्रिक की निआई हरि बूद पान मुख थीवनि ॥

3. आ० ग्रं० पृ० १२८२, बाबीहा जलमहि तेरा बासु है जल ही माहि फिराहि ॥ जल की सार न जाणही ता तू कूकण पाहि ॥ × × × × नानक गुरमुखि तिन सोझी पई जिन वसिआ मन माहि ॥

   वही० १२८४, बाबीहै हुकमु पछाणिआ गुर कै सहजि सुभाइ ॥ मेघु बरसै दइआ करि गूडी छहबर लाइ ॥ × × × नानक सो सालाईऐ जि देंदा सभना जीआ रिजकु समाइ ॥

गुरमुख जीवात्मा की परासक्ति एव अन्तिम इच्छा को आदिग्रन्थ मे इस प्रकार वर्णित किया गया है—

'हे सखि, मुझे महल एव रेशमी वस्त्रो एव सुहावनी सेज की कोई आवश्यकता नही। पतिव्रता नारी की भाँति मैं तो प्रिय के साथ सुहाग की रात का सुख चाहती हूँ'।[१] गुरमुख जीवात्मा का यह आदर्श सस्कृत के किसी कवि द्वारा वर्णित प्रेमिका की उस भावना से मिलता है, जिसमे यह कहा गया है कि प्रिय की भुजाओ मे कुशा का बिछावन भी मखमल की भाँति कोमल लगता है। यह भाव 'नरक की थरक' वाली बिहारी की नायिका की उक्ति से कम मनोहारी नही है। अन्तर केवल यह है कि एक सुख शारीरिक एवं मानसिक परितृप्ति का दाता है और दूसरा सुख आत्म-साक्षात्कार की आनन्दमयी विस्मादावस्था का।

● **मनमुख (मायाबद्ध) जीव**

अभी-अभी हम यह बतला आए है कि आदिग्रन्थ के अनुसार जीवो के 'गुर-मुख' और 'मनमुख' दो मुख्य भेद माने गये है। वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों मे पुष्टि जीव एव प्रवाह जीव आदि के रूप मे जीवो की मुख्य चार कोटियो के उल्लेख मिलते हैं परन्तु जीवो की कोटियो की ये मान्यता विशेष प्रकार के दार्शनिक विश्वासो और नवधा भक्ति मे लीन भक्तो के दृष्टि-भेद के अनुसार ही स्वीकार की गयी है। आदि-ग्रन्थ मे मन की प्रेरणा के अनुसार चलने वाले जीवो को मनमुख अर्थात् मनोन्मुखी जीव बतलाया गया है और गुरु के उपदेश (शब्द) का अनुसरण कर प्रभु की भक्ति करने वालो को 'गुरमुख जीव' कहा गया है। मनमुख जीव माया-बद्ध है क्योकि ऐसे जीवो के कर्म मायिक कर्म कहलाते है। मायिक कर्मों के बारे मे भी गुरुओ की मान्यता भिन्न प्रकार की है। उनके मत मे गुरु की सेवा, वाहगुरु के नाम का 'सिमरन' तथा 'गुरुशबद' के अनुसार आचरण ही सत्कर्म है। वैधी भक्ति (वैष्णवी) मे स्वीकृत विभिन्न पूजोपासनाओ एव विधि-विधानो को भी गुरुओ ने कर्म-काण्ड ही बतलाया है और उन्हे भक्ति की साधना मे बाधक स्वीकार किया है। जबकि वैष्णव भक्ति मे भावरूपा भक्ति को सर्वोपरि मानते हुए भक्त के अधिकारी भेद से अन्य भक्ति प्रकारो को भी मान्यता प्राप्त है। उनकी भक्ति सगुण भक्ति है, जिसमे प्रतीक के रूप मे मूर्ति को ही प्रभु का विग्रह माना जाता है। मन्दिर मे भगवान की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर, उसे भगवान का शरीरी एव जीवन्त रूप स्वीकार किया जाता है और इस कारण अष्टयाम-पूजा के विधान को भी भक्ति के ही अन्तर्गत माना गया है।

---

[१] आ० ग्र० पृ० १३०६, वारि वारउ अनिक डारउ ।। सुख प्रिअ सोहाग पलक रात ।। कनिक मन्दिर पाट सेज सखी मोहि नाहि इन सिउ तात ।। भुकत लाल अनिक भोग बिनु नाम नानक हात ।। रूखो भोजन भूमि सैन सखी प्रिअ सगि सूखि बिहाति ।।

सगुण भक्ति में मन्दिर-निर्माण और मूर्ति को भगवान का विग्रह मानने के कारण विधि-विधानों मे इतना अधिक विस्तार हो गया कि समूचा भक्ति-व्यापार मात्र आचार प्रधान हो गया। भावरूपा भक्ति केवल चर्चा की वस्तु बन गयी, जबकि वैधी भक्ति मे ही भक्त भक्ति की इति मानने लगे। इस प्रकार की भक्ति में सम्प्रदाय-भावना को प्रश्रय मिला, जिसके कारण भक्तों मे अपने सम्प्रदाय से इतर सम्प्रदाय वालो के प्रति भ्रातृत्व के भाव का लोप हो गया। निर्गुण सन्तों ने वैधी भक्ति को अस्वीकार कर भक्ति के उस स्वरूप को महत्त्व दिया, जिसमें भक्त के हृदय-समर्पण को ही सच्ची भक्ति माना जाता है। जीव की बहिर्मुखता को उसका मनोन्मुखी होना माना गया और उसकी अन्तर्मुखता को गुरमुखता। शास्त्रीय विवेचन की जटिलताओं से ऊपर उठकर जीवो के 'गुरमुख जीव' और 'मनमुख जीव' ये दो भेद इसी विश्वास पर आधारित है। आदिग्रन्थ मे वाहगुरु के स्वरूप का प्रतिपादन कर, उसकी भक्ति करने के लिए जीव को इस प्रकार से प्रेरित किया गया है कि वह मन के अनुसार जीवन-यापन का परित्याग कर अपनी इन्द्रियो को सर्वतोभावेन भगवदुन्मुखी बना ले।

गुरुओं ने मनमुख की पहचान अर्थात् उसके आचरण से परिचित करवाते हुए उसे सभी प्रकार के पापो और असत्कर्मों का पात्र बतलाया है और उसे प्राप्त होने वाले कष्टो आदि का उल्लेख कर 'गुरमुख' बनने का उपदेश दिया है। गुरमुख और मनमुख के आचरण के सम्बन्ध मे यह बतलाया गया है कि मनमुख शाक्त (मायोपासक) है क्योंकि उसे हरि की भक्ति के रस का पता ही नही है। उसका हृदय-'हउमै' (अहभाव) के काँटे से बिधा रहता है। जीवन मे वह जिस प्रकार से आचरण करता है, उस से उसे दुख ही दुख मिलता है। इस शरीर को त्यागने के बाद भी उसे यम की पीडाएँ ही सहनी पडती है। हरि का भक्त होने के कारण गुरमुख जीव-नारी की वृत्तियाँ सदा हरि के नाम मे ही लीन रहती है। उसे बार-बार इस भव के सागर मे जन्म और मरण के कष्ट नही सहने पडते। अन्त में वह अविनाशी पुरुष को प्राप्त कर लेता है और जगत मे रहते हुए भी उसे उत्तरोत्तर यश की प्राप्ति ही होती रहती है। गुरमुख जीव को आदिग्रन्थ में 'सुहागण' (सौभाग्यवती) और मनमुख को 'दुहागण' (रडानारी) बतलाया गया है। गुरुओ के अनुसार गुरमुख जीव-नारी आत्मिक स्थिरता (स्थितप्रज्ञता) सन्तोष और शीलवाली होती है और यही उसका शृंगार है। ऐसी जीव-नारियां गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करती है और अन्त मे पति-परमात्मा को प्राप्त कर लेती हैं।

> **जाइ पुछहु सोहागणी तुसी राविआ किनी गुणी ॥**
> **सहजि संतोखि सिगारीआ मिठा बोलणी ॥**
> **पिरु रसालु ता मिलै जा गुर का सबदु सुणी ॥** ग्र० पृ० १७ ॥

लेकिन भाग्य-हीन मनमुख स्त्री वाहगुरु की भक्ति से बिहूनी रहती है। उसका मन सांसारिक आसक्तियों में लीन रहता है। उसका जीवन कल्लर मिट्टी

वाली दीवार के समान है, जो धीरे-धीरे स्वतः टूटती और गिरती हुई अन्त मे नष्ट हो जाती है। जिस जीव-नारी का पति-परमात्मा से प्यार नहीं होता, वह आजीवन दुःख उठाती रहती है। जिसने कर्म-काण्ड को अपना शृ गार बनाया है, वह किसी भी स्थिति मे अपने प्रिय के दर्शन नही कर सकती। मनमुख के आचरण के बारे में कहा गया है कि ऐसे जीव गुरु से विमुख रहते है। वे भगवान के नाम का 'सिमरन' नही करते। उनका आचरण उन्हे चारो ओर से अन्धकार में भटकाता रहता है। उनके आवागमन के बन्धन नही टूटते क्योंकि जागतिक बन्धन उन्हें सदा बाँधे रहते हैं। एक दूसरे प्रसंग मे मनमुख को मलावरणो मे लिप्त, हउमै, तृष्णा और विकारों से आवृत्त बतलाया गया है।

मनमुख मैलु न उतरै ॥ आ० ग्रं० पृ० ३७ ॥
अउगुणवंती गुण को नहीं बहणि न मिलै हदूरि ॥
॥ आ० ग्र० पृ० ३७ ॥

उक्त वर्णन के द्वारा मनमुख का निरूपण मन के दास के रूप में किया गया है। सगुणोपासको की भाँति निर्गुण सन्त भी अहभाव के विगलन के उपरान्त ही भक्ति के प्रकाश को सम्भव मानते है। वे रहस्यानुभूतियो के प्रसग मे जीवात्मा को प्रेयसी के रूपको एव प्रतीको के द्वारा और परमात्मा को प्रेमी के रूप मे वर्णित करते है। गुरुनानक के अनुसार जिस जीव का आपाभाव तद्वत् बना रहता है, वह अह मे लिपटी और झूठी 'बनजारन' है। उनका मत है कि ऐसी जीव-नारी को माया ने लूट लिया है, लेकिन फिर भी वह गुमराह ही बनी बैठी है। यही कारण है कि वह सदा दुःखी रहती है। क्योकि जब तक वह अपने आप को परमात्मोन्मुख नही बना लेती, उसे प्रभु-प्रियतम के दर्शनो से वचित ही रहना पड़ता है। उनके अनुसार मनमुख उस मक्खी के समान है जो माया के गुड़ के लोभ से अभिभूत होकर, उसी मे फँस चुका है और छूटने के लिए छटपटा कर भी माया से मुक्ति प्राप्त नही कर सकता :

गुड़ मिठा माइआ पसरिआ मनमुख लगि माखी पचै पचाइ ।
॥ आ० ग्रं० पृ० ४१ ॥

आदिग्रन्थ मे वे जीव भी मनमुख या ससारी जीव ही माने गये है जो परिवार के मोह मे डूबे रहते है और जिन्हे अधिकार की मस्ती विनम्र नही होने देती। ऐसे जीव जागतिक ऐश्वर्य मे लीन रहते है। उन्हे उपदेश देते हुए इस प्रकार समझाया गया है—'तू पुत्र और कलत्र के शृंगार को देखकर इसी मै क्यो मस्त हो गया है। तू अनेक प्रकार से रगरलियाँ मना रहा है और वाहगुरु (कर्ता) तेरे ध्यान मे ही नही आता।' जीव को सचेत करने के लिए गुरुनानक उसकी आयु को चार प्रहरो के रूपक के द्वारा समझाते है, 'तेरा पहला पहर तो सासारिक धँधो मे बीत गया। दूसरे पहर मे तू खूब जी भर कर सोया और तेरे जीवन का तीसरा पहर भी इन मायिक आकर्षणो मे बीत गया। अब भोर का समय (जीवन का अन्त) निकट आ पहुँचा है। हे जीव तुझे चारो पहरों मे शरीर और प्राण देने वाले वाहगुरु की स्मृति ही

नहीं हुई है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न उपदेशों के द्वारा मनमुख को समझाना प्रकारान्तर से उसके आचरण पर प्रकाश डालना ही है। माया के कार्यों के उल्लेखों के द्वारा मनमुखों को उनके आचरण की ओर ध्यान दिलाने के संकेत भी आदिग्रन्थ में मिलते हैं। ऐसे प्रसगों में यह कहा गया है कि माया ने संसार में चारों ओर अपना जाल बिछा रखा है। वह जीवो के सम्मुख विभिन्न आकर्षणों का चोगा (प्रलोभन) बिखेरती रहती है। जो सन्तजन हैं, वे तो उसकी इस चालाकी को पहचान जाते है, परन्तु मनमुख रूपी कपोत माया के इस जाल में फँस जाते हैं।

माइआ जालु पसारिआ भीतरि चोग बणाइ ॥ त्रिसना पंखी
फासिआ निकसु न पाये भाइ ॥ आ० ग्रं० पृ० ५० ॥

आदिग्रन्थ में मनमुख माया के चेरे बतलाये गये है। माया के स्वरूप-लक्षण के सम्बन्ध मे यह तथ्य ध्यातव्य है कि गुरुओ के अनुसार सभी जागतिक आकर्षण माया ही है। वहाँ पर माया के उल्लेख पुत्र, सगे सम्बन्धी, घर, स्त्री, धन, यौवन, लोभ और अहकार आदि प्रतीको के द्वारा किये गये है। गुरुओ की दृष्टि मे मनमुख जीव शाक्त है। सम्भवत शाक्तो के द्वारा पचमकारो के सेवन को देख कर ही गुरुओं ने उन्हे मायासक्त समझा है। क्योकि कबीर आदि सभी निर्गुण सन्तो की भाँति सिक्ख गुरु भी शाक्तो की सर्वत्र निन्दा ही करते दीख पडते है। गुरुओ का शक्ति से तात्पर्य प्रभु की माया भी हो सकता है; अन्यथा शाक्तो से उनका आशय शक्तिरूपा उस देवी की उपासना से है, जिसे उसके उपासक पचमकार-सेवन मे परम सन्तुष्ट स्वीकार करते है।

माया का वर्णन जैसा आदिग्रन्थ मे मिलता है, उसके अनुसार वह सासारिक आसक्तियो का ही रूप है वाहगुरु की सर्जन-शक्ति का प्रतीक नही। शाक्तो की निन्दा का कारण भी यही है। इसीलिए गुरु उन्हे माया-लिप्त जीव (मनमुख) कहते है। गुरमत के अनुसार वे जीव ही मनमुख जीव हैं, जो अपने मन को वशवर्ती नही बनाते और न ही उसे परमात्मोन्मुखी बनाने का यत्न करते है। आदिग्रन्थ मे उन्हें उन पक्षियो के समान बतलाया गया है जो लोभ के कारण भटकते रहते है और दु:खी होते है

पंखि बिरख सुहावड़े ऊडहि चहुदिसि जाहि ॥
जेता ऊडहि दुख घणे नित दाझहि तै बिललाहि ॥ आ० ग्रं० पृ० ६६ ॥

गुरुओ का यह कहना है कि मनमुख जीव-नारी कितना भी शृंगार क्यो न करे वह प्रिय को कदापि अच्छी नही लग सकती। गुणो के सौन्दर्य के आभाव के कारण वह कुरूपा कही गयी है। वह अपने आप को सभी कुछ मानती है और प्रभु का हुकम मानने के स्थान पर सभी पर अपना हुकम चलाती है। उसमे अच्छे कर्मों का सौन्दर्य नहीं है, इसलिए प्रभु उसे नही चाहता। शाक्त मनमुख है, अत. वे सत्य को प्राप्त ही नही कर सकते। दुविधा के बन्धन मे पड़ कर वे आवागमन के चक्कर मे भटकते रहते हैं। आदिग्रन्थ मे गुरमुख का प्रधान गुण गुरु की सेवा माना गया है। लेकिन

मनमुख गुरु की सेवा के स्थान पर अपने मन की प्रेरणा के अनुसार आचरण करते है। यही कारण है कि वे मोक्ष के द्वार को कभी प्राप्त ही नही कर सकते। इसीलिए वे आवागमन के चक्कर से मुक्त नही हो पाते। उन्हे वारम्बार यमराज की यातनाएँ सहनी पड़ती है

> **सतिगुरु न सेवहि मूरख अंध गवारा ॥ फिरि आइ किथहु पाइनि मोख दुआरा ॥ मरि-मरि जमहि फिरि फिर आवहि जम दरि चोटा खावणिआ ॥ आ० ग्र० पृ० ११५ ॥**

आदिग्रन्थ मे मनमुख को निन्दक के रूप मे वर्णित कर अन्धा और आत्मघाती कहा गया है, जो बिना मजदूरी के भार उठाने वाला मूर्ख है। सिक्ख गुरु द्वैत के दो अर्थ स्वीकार करते है। उनके अनुसार परमात्मा (निरकार वाहुगुरु) को छोडकर देवी-देवताओ की पूजा करने वाले और मन के कहे के अनुसार चलने वाले भी द्वैत के पीछे भटक रहे है। ऐसे जीव मनमुख है। मनमुख जीवो के कर्मो को मायिक कर्म मानकर ही यह कहा गया है कि उनका चित्त सदैव कामासक्त रहता है। वे पर की स्त्री मे मातृत्व की दृष्टि न अपना कर उसके सग की कामना के लोलुप बने रहते है.

> **सुन्दर नारी अनिक परकारी परग्रिह बिकारी ॥ बुरा भला नहीं सुझी रे ॥ आ० ग्रं० पृ० २१३ ॥**

मनमुख जीव भक्ति से वचित माने गये है। अत वे अपने जीवन की बाजी उसी प्रकार हार जाते है, जिस प्रकार जुआ खेलने वाले। जुआरी जुए मे हार कर अत्यन्त निराश होता है परन्तु उसकी निराशा उसके कर्मो का ही परिणाम है।[1] इसी तरह मनमुख की इन्द्रियाँ सदैव किसी न किसी तृष्णा के जाल मे उलझी, भटकती रहती है। वह विषयो के रस का भोग करते समय, उसे अत्यन्त मीठा मानता है, परन्तु वह यह भूल जाता,है कि उसे इसका कडवा फल ही भोगना पडेगा। आवागमन के जाल से वह कदापि मुक्त नही होगा और उसे यमपुरी की अनेक यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।

> **आसा बन्धी मूरख देह ॥ काम क्रोध लपटिओ असनेह ॥**
> **सिर ऊपरि ठाढो धरमराइ मीठी करि-करि बिखिआ खाइ ॥**
>
> (आ० ग्र० पृ० १७८)

आदिग्रन्थ के अनुसार मनमुख के कर्म ही उसे भव के बन्धन की जेवडी मे बाँधने के हेतु बनते है, जिसके फलस्वरूप वह बार-बार भिन्न-भिन्न योनियो मे भटकाया जाता है।[2]

---

[1] आ० ग्र० पृ० २२०, रतनु जनमु अपुनो तै हारिओ गोबिन्द गति नही जानी ॥ निमख न लीन भइओ चरनन सिउ बिरथा अउध सिरानी ॥

[2] वही० पृ० २०७, अनिक जनम बहु जोनी भ्रमिआ बहुरि-बहुरि दुखु पाइआ ॥ तुमरी क्रिपा ते मानुख देह पाई है, देहु दरसन हरि राइआ ॥

गुरुओ ने भक्ति के हेतु जीवो को परमात्मा के सम्मुख विनम्र रहने का उपदेश दिया है। तत्कालीन सामाजिक मान्यता के अनुसार अपने पति की आज्ञा में रहना ही पतिव्रत धर्म का सच्चा लक्षण माना जाता था। साध्वी स्त्री वही नारी कहलाती थी, जिसकी दृष्टि मे पति ही उसका सर्वस्व होता था। आदिग्रन्थ मे इस सामाजिक दृष्टिकोण का जीव और परमात्मा के सम्बन्धों के माध्यम से प्रतिपादन एवं परमात्मा के प्रति जीव की अनन्यानुरक्ति का बार-बार उल्लेख हुआ है। अन्य देवी-देवताओं की भक्ति की ओर ध्यान न देकर केवल वाहगुरु मे अनन्यानुरक्त स्त्री रूपी जीव ही 'गुरमुख जीव' माना गया है। नाम-सिमान रूपा भक्ति के स्थान पर वैधी भक्ति के बाह्य विधानो एवं यज्ञादि दूसरे कर्म-काण्डो मे विश्वास करने वाले जीवो को सिक्ख गुरु, मनमुख जीव ही मानते है। उनका मत है कि जीव मे अनन्यानुरक्ति के भाव की स्थिति केवल नाम-सिमान से ही उत्पन्न हो सकती है। नाम-सिमान की तुलना मे कर्म-काण्ड अह के भाव के विगलन के स्थान पर जीव के हउमै-भाव की वृद्धि करते है। 'हउमै' का भाव जीव और परमात्मा के बीच पर्दे का काम करता है, जिससे जीव परमात्म से साक्षात्कार प्राप्त नही कर सकता। कर्म-काण्डात्मक उपायो को मन रूपी हाथी की मस्ती का हेतु मानकर उन्हे मायिक कर्म कहने का आधार भी यही है। नाम का सिमरन जीव में इस भाव का सचार करता है कि वह सर्वथा परमात्माधीन है। वाहगुरु की दृष्टि मे अपने छोटेपन की स्वीकृति ही जीव की विनम्रता कहलाती है। इससे जीव मे 'मै कर्ता हूँ' का भाव दूर होता है और परमात्मा के प्रति अनन्यानुरक्ति बढती है। गुरमुख जीव का लक्षण बताया गया है

> **स्रवनि न सुरति नैन सुन्दर नही ॥ आरत दुआरि रट पिगुरीआ ॥**
> **दीनानाथ अनाथ करुनामै साजन मीत पिता महतरीआ ॥ आ०**
> **ग्र० पृ० २०३ ॥**

जबकि मनमुख जीव सच्चे गुरु की शरण के अभाव मे अन्यान्य 'भरमो' मे भटकने वाले माने गये है। उन्हे अन्धा, विष को खाने वाला एव यमराज की यातना का पात्र समझा गया है।[1] ऐसे जीव ही माया-बद्ध जीव होते है जो जन्म-मरण के चक्कर मे भटकते और दुख उठाते है।[2] गुरमुख जीवों को सर्वत्र वाहगुरु दिखाई देता है और वे उसके दर्शनो मे ही अपने जीवन की सिद्धि समझते है।[3] लेकिन मन-

---

[1] आ० ग्र० २३१, बिनु गुर साचे भरमि भुलाए ॥ मनमुख अधे सदा बिखु खाए ॥ जम डडु सहहि सदा दुखु पाए ॥

[2] आ० ग्र० २०७, अनिक जनम बहु जोनी भ्रमिआ बहुरि बहुरि दुखु पाइआ ॥ तुमरी क्रिपा ते मानुख देह पाई है देहु दरसन हरि राइआ ॥

[3] वही० पृ० २२४, जह जह देखउ तह तह साचा ॥ बिनु बूझें झगरत जगु काचा ॥

मुख वह पति-परित्यक्ता स्त्री है, जिसे रातें कष्टदायक लगती हैं और वह नींद के सुख से सदा वंचित रहती है। उसे प्रिय का वियोग सताता है, जिससे उसकी देह दुर्बल हो जाती है। उसका शृंगार व्यर्थ है और सभी सुखदायक साधन उसके लिए दुःख के कारण बन जाते हैं। परन्तु उसकी यह स्थिति इस कारण है कि वह अपने यौवन के गर्व में चूर, पति के आगे समर्पण नहीं कर पाती। इसके लिए 'दुधा थणी न आवए' का प्रयोग कर गुरबानी मे मनमुखता के कारण प्राप्त होने वाले कष्टों को अत्यन्त सुन्दर काव्य बिम्ब द्वारा स्पष्ट किया गया है—

> **मुंध रैणि दुहेलड़ीआ जीउ नीद न आवै ।। सा धन दुबलीआ जीउ पिर कै हावै ।। धन थीई दुबली कंत हावै केव नैणी देखए ।। सीगार मिठ रस भोग भोजन सभु झूठ कितै न लेखए ।। मै मत जोबनि गरबि गाली दुधा थणी न आवए ।। नानक साधन मिलै मिलाई बिनु पिर नीद न आवए ।। आ० ग्रं० पृ० २४२ ।।**

मनमुख गुरु के 'शबद' को मन का विषय नही बनाता। वह मोह-ग्रस्त रहता है और माया के भ्रम इसे भटकाते रहते हैं। वह अपने आपको कर्ता मानता है और सद्गुरु की शरण के अभाव में उसका सन्मार्ग की ओर बढ़ना सम्भव नही हो पाता।[१] तीन गुणो के संसार मे आसक्ति के कारण जीव का आना-जाना समाप्त नही होता। परन्तु गुरुओ का इस सम्बन्ध मे यह मत है कि जीव का सन्मार्ग की ओर झुकाव भी वाहगुरु के अनुग्रह से ही होता है। अनुग्रह के अभाव मे जीव को आवागमन मे भटकना पडता है।[२]

त्रिगुणात्मिका माया के पाश मे भकटते हुए मनमुख जीव के बारे मे यह माना गया है कि इस जगत के बहुसख्यक जीव तो तीन गुणो के प्रसार मे ही भटकते रहते है। इनमे से विरले ही तुरीयावस्था को प्राप्त करते है। तीन गुणो की माया के कारण ही वे कभी उच्च और कभी निम्न स्थिति को प्राप्त करते है। मनमुख जीवों को हर्ष और शोक के द्वन्दो मे फँस कर जीवन बिताना पड़ता है। वे सृष्टि की रचना करने वाले वाहगुरु को जानने का यत्न नही करते बल्कि दूसरे अनेक उपायों मे उलझे रहते है। जागतिक आसक्तियो मे रस लेने वाले वे तीनो प्रकार के कष्ट-तापो को सहते है। वे वाहगुरु (पूर्ण ब्रह्म) के प्रताप को नही समझ पाते। वे माया के मोह-सागर मे गोते खाते हुए नरक के भागी बनते है।[३] आदिग्रन्थ के अनुसार जीव यद्यपि

---

[१] आ० ग्र० २४७, मनमुख मुगध गवारु पिरा जीउ, सबदु मनि न वसाए ।। माइआ का भ्रमु अधु पिरा जीउ, हरि मारगु किउ पाए ।। किउ मारगु पाए बिनु सतिगुर भाए मनमुखि आपु गणाए ।।

[२] आ० ग्र० पृ० २८४, तिहु गुण महि जा कउ भरमाए ।। जनमि मरै फिरि आवै जाए ।। × × × जैसा जनावै तैसा नानक जान ।।

[३] आ० ग्रं० पृ० २९७, तीनि बिआपहि जगत कउ तुरीआ पावै कोइ ।। तथा आगे.......।।

परतन्त्र है, परन्तु उसका यह पारतन्त्र्य वाहगुरु के स्वातन्त्र्य की दृष्टि से ही माना गया है। अन्यथा कृत-कर्मों के फल का भोगी होने के कारण वह अकर्मों या सुकर्मों के करने में स्वतन्त्र है। परमात्मा को सर्वव्यापक अन्तर्यामी और सर्वज्ञ एवं सर्व-शक्तिमान मान कर किये गये कर्म सुकर्म माने गये हैं। और उन कर्मों को असत्कर्म बतलाया गया है जो माया के साथ झूठे प्यार से प्रेरित होकर किये जाते हैं। ऐसे कर्मों में दूसरों की निन्दा करना भी असत्कर्म ही है। निंदक के बारे मे कबीर ने भी बहुत कुछ कहा है। निन्दक भी मनमुख ही होता है। वह मनोगामी होने के कारण समदर्शी नहीं हो सकता। अतः अहंकारी होने के कारण दूसरो की निन्दा करते रहने में ही आत्म-तुष्टि का अनुभव करता है।

मिथिआ दूजा भाउ धड़े बहि पावै ॥ पराइआ छिद्र अट-कलै आपणा अहंकारु वधावै जैसा बीजै तैसा पावै ॥ आ० ग्रं० पृ० ३६६ ॥

'जैसा बोना वैसा ही काटना' के अनुसार मनमुख को अपने बुरे कर्मो का फल भोगना पडता है। नाम-सिमरन से दूरी गुरुओ के मत मे द्वैत-भाव का कारण भी है और भ्रमो में भटकने के कारण भी जीव नाम के सिमरन से वंचित हो जाता है। उनके विचार मे जिस तरह मूल का परित्याग कर केवल डालियों को सींचते रहने से छाया की आशा करना मूर्खता है, इसी तरह वाहगुरु के सिमरन को भूल कर अन्य देवी-देवताओ की पूजा से निराश ही होना पडता है।[1] गुरु के अनुग्रह से हीन मनमुख जीव रूपी स्त्रियाँ पति-परित्यक्ताएँ है। वे 'दोहागण' (विधवाएँ-छुट्टड) कही गयी है। उनके शृंगार को व्यर्थ बतलाया गया है। क्योकि उन्हे प्रिय (वाहगुरु) से प्रेम नही है, अत वे उसके रहस्य से वंचित रहती है। उनकी सेज का रमण प्रभु नही करता। यही कारण है कि वे रात-दिन विरह और वियोग की पीडा मे जलती ही रहती है। उनका यह जलना अभिशाप है।[2] जबकि कंत की प्यारी का वियोग भी उसके लिए वरदान के समान माना गया है। गुरुओ ने प्रभु के प्रेम मे लीन परन्तु उसे प्राप्त न करने की पीडा को प्रभु-आसक्ता का शृंगार माना है। वह प्रभु से नित्य विनय करती हुई कहती रहती है 'मुझ (प्रेमासक्ता जीव-स्त्री) मे कोई गुण नही है। मैं अवगुणो से भरपूर हूँ। हे कंत ! मेरे गुणो एव अवगुणों की ओर ध्यान न दो।"[3] ऐसी अनन्यानुरक्त जीव-नारी को पति-परमेश्वर प्रभु गहरे प्यार से अपना लेता है।

---

[1] आ० ग्रं० पृ० ४२०, जिनी नामु विसारिआ दूजै भरमि भुलाई ॥ मूलु छाडि डाली लगे किआ पावइ छायी ॥

[2] आ० ग्रं० पृ० ४३०, दोहागणी पिर की सार न जाणही किआ करि करहि सीगारु ॥ अनदिन सदा जलदीआ फिरहि सेजै रवै न भतारु ॥

[3] वही० पृ० ३७२, गुनु अवगनु मेरा कछु न बीचारो ॥ न देखिआ रूप रंग सींगारो ॥

उसका जीवन सार्थक हो जाता है। वह अपनी सहेलियो (सत्संगियो) से कह उठती है कि प्रिय ने उसे अपना लिया है। उसने उसके गुणो और अवगुणो की कोई परवाह नही की।

> **सज अचार किछ बिधि नही जानी ।। बाह पकरि प्रिय सेजै आनी ।।** (आ० ग्र० पृ० ३७२)

वह सखियो-सहेलियो से प्रिय के मिलन-सुख का वर्णन करती हुई कहती है कि हे सखि, सुन! मेरे कत ने मुझे स्वय को पति कहने का अधिकार दे दिया है। मेरे आगन मे चाँद की शोभा बिखर रही है। मै दिन-रात प्रिय का सग-सुख भोगती हूँ। मेरे वस्त्र 'चलूल' के रग मे रगे गये है। मेरे आभरण मेरी शोभा बढा रहे है। प्रिय को अपनी आँखो से मैने देख लिया है। अब यमराज के दूत मेरी ओर आँख उठा कर भी नही देखते। मेरे घर नित्य उत्सव छाया रहता है। मैं हर प्रकार के सुखो का भोग कर रही हूं। नाम की नव निधियाँ मुझे प्राप्त हो गयी है। परन्तु यह सब कुछ तभी हुआ है जब स्वय प्रिय ने मेरा शृंगार किया है। मेरा सोहाग स्थिर हो गया है क्योकि मेरे भर्ता ने मुझे अपने अंग-सग कर लिया है।[1] गुरुनानक की यह रहस्यानुभूति अत्यन्त सुन्दर काव्योक्ति भी है और मनमुख की तुलना मे गुरमुख होने के लाभ का उद्‌घाटन भी करती है।

मनमुख जीव-नारी का यह भाग्य ही नही कि वह प्रभु-कत को अपना प्रिय कह सके। उसे अपना बनाने के लिए जो गुण चाहिए, वे गुण उसमे है ही नही। यही कारण है कि उसका जीवन व्यर्थ मे ही बीत जाता है। उसे आदिग्रन्थ मे मुग्धा (अज्ञाणी) एव अवगुणिआरी (अउगुणवंती) कहा गया है। वह आजीवन पश्चात्ताप की आग मे जलती रहती है

> **बूजड़ कामणि भरमि भुली हरि वरु न पाये राम ।। कामणि गुणु नाही बिरथा जनमु गवाए राम ।। बिरथा जनमु गवाए, मनमुखि इआणी अउगुणवंती झूरे ।।** (आ० ग्रं० पृ० ४३६)

मनमुखता का अर्थ है 'मायाकर्षणो मे लिप्तता का आचरण करने वाला।' मनमुखी जीव का आदिग्रन्थ मे उस हिरन जैसा बतलाया गया है, जो शिकारी द्वारा फैलाई गयी रोशनी को चन्द्रमा का प्रकाश समझ कर उसके जाल मे फस जाता है। मनमुख यह नही जानता कि माया के सभी आकर्षण मृग मरीचिका है। वह इतना मूढ है कि विषयासक्तियो मे लिप्तता के कारण प्रतीत सुख को दु खो मे बदलते देख कर भी होश मे नही आता। वह हमेशा कल्पना (आकाश) की नगरी को सत्य समझता है। माया के छलावे मे लिप्त हो जाता है। माया की सेज धोखे की होती

---

[1] आ० ग्र० पृ० ३७२ —सुनि बो सखी कति हमारो कीअलो खसमाना ।। करु मसतकि धारि राखिओ करि अपुना किआ जानै इहु लोक अजाना ।।' ......

है, लेकिन उसे इसका पता ही नही चलता। इसी कारण गुरुओ ने ऐसे जीवों को जिह्वा के आस्वादी, माया के लोभ एव अहकार मे मस्त तथा सदा 'हउमैभाव' मे लीन रहने वाला कहा है

लबि लोभि अहंकारि माता, गरबि भइआ समाइणु ।। नानक ध्रिग अगिआनी बिनसे न मिटै आवणु जावणु ।।
(आ० ग्रं० पृ० ४६०)

गुरमुख अपने आपको सन्त लोगो के चरणों की धूलि मानते है। मनमुखो का भाव एवं आचरण इससे बिल्कुल विपरीत होता है। उन्हे ईश्वर भक्तो की चर्चा अच्छी नही लगती। वे दुविधा की कुमति के घेरे मे भटकते रहते है। उनका अन्त:-करण मोह के अन्धकार से आवृत्त रहता है। अत वे अपने साथ अपने परिवार को भी पतन के गर्त मे धकेल देते है

मनमुख दुबिधा दुरमति बिआपे जिन अंतरि मोह गुबारी ।।
संत जना की कथा न भावै ओइ डूबे सणु परवारी ।।
आ० ग्रं० पृ० ५०७ ।।

मनमुख का अन्तम् कपट के कपाटो से बन्द रहता है। वे अज्ञानी है और उनकी जिह्वा झूठी बाते कहती है। उनके भ्रम कभी समाप्त नही होते और वे विषयो की गन्दगी मे भटकते और दुखी होते रहते है। ऐसे ही जीवो को धिक्कारते हुए गुरुओ ने कहा है कि वे प्रभु के प्यार और उसके नाम-सिमरन का परित्याग कर, दूसरे अर्थात् अधार्मिक कर्मों मे लीन रहते है। उनकी हालत उन मूढ व्यक्तियो जैसी है जो अमृत (प्रभु-नाम) का परित्याग कर विष (मायिक आसक्तियाँ-कर्म) खा रहे है। मायिक कर्म ही उनकी पूँजी है और यही उनकी कमाई भी। इस जगत मे कष्ट सहकर ऐसे जीव अन्त मे नरक मे जाते है। उनके मन मलिन है, इसलिए उनके आचरण भी अपवित्र ही होते है। अत वे गुरु के शबद को पहचानते ही नही। काम क्रोधादि विषयो मे लीन रहने के कारण वे अध्यात्म के मार्ग से वचित रह जाते है। यम के द्वार पर जब वे दण्डित किये जाते है, तक कोई भी उनकी पुकार नही सुनता।[1] वे इतना भी नही पहचानते कि जिनसे वे मोह लगाये बैठे है, उनमे से एक भी अन्त समय उनका साथ नही देगा

मनमुखु मुगधु नरु कोरा होइ ।। जे सउ लोचै रंगु न होवै कोइ ।। (आ० ग्रं० पृ० ७३२)

ऐसे जीवो का आना-जाना कभी नही छूटता। वे माया की ममता से प्रेरित जो संस्कार लेकर जन्म लेते है, पुन माया मे लिप्त रहकर उन्ही सस्कारो के साथ

---

[1] आ० ग्रं० पृ० ५८६ होर विडाणी चाकरी ध्रिगु जीवणु ध्रिगु वासु ।। अम्रित छोडि बिखु लगे बिखु खटणा बिख रासि······

वापिस लौट आते हैं। इस प्रकार माया-जनित संस्कारो के रहते हुए उनका आवा-गमन का बन्धन टूट ही नही सकता। चौरासी लाख योनियो का पूरा चक्कर उन्हें भोगना पड़ता है।[1] मनमुख जीव उस मुग्धा (अज्ञानी-अयाणी) की भाँति बतलाये गये हैं, जो अपने पति का आँचल छोड़कर किसी दूसरे से प्यार करने लगती है और आजीवन भटकती रहती है। यही हालत मनमुख जीव-नारी की भी है। वह वियुक्ता की भाँति कभी भी मन की शान्ति अनुभव नही कर सकती :

> **दूजी दुरमति अंधी बोली ॥ काम क्रोध की कची चोली ॥**
> **घरि वर सहजु न जाणै छोहरि बिनु पिर नीद न पायी हे ॥**
> **अंतरि अगनि जलै भड़कारे ॥ मनमुख तके कुंडा चारे ॥**
> **(आ० ग्रं० पृ० १०२२)**

वह शृंगार करती तो है परन्तु सदाचरण वाली न कहला कर दुराचारिणी ही समझी जाती है।[2] इस प्रकार आदिग्रन्थ मे मनमुख के स्वभाव, उसके आचरण और उसे प्राप्त होने वाले दुष्परिणामो का उल्लेख कर जीव को गुरमुख होने का उपदेश दिया गया है।

जीव की परवशता

आदिग्रन्थ के अनुसार जीव वाहगुरु के इच्छा-स्वातन्त्र्य के अधीन सीमित चैतन्य है। गुरुओ की भक्ति ज्ञानात्मिका होने पर भी, उसमे 'अहं ब्रह्मास्मि' वाली बात नही है। वास्तव मे ज्ञानी भी जब भक्त के रूप मे प्रभु से अनुकम्पा की याचना करता है, तब वह अपने आपको उपास्य की तुलना मे बहुत छोटा और उसके अनुग्रह पर आश्रित ही मान लेता है। सिक्ख गुरु तो ज्ञान को केवल कर्म-काण्ड की तुलना मे ही महत्त्व देते है, अन्यथा उनकी 'बानी' का स्वर भक्त का स्वर है और जीव सम्बन्धी मान्यताओ के प्रस्तुतीकरण मे उन्होने इसी स्वर को मुखरित किया है। गुरु नानक वाहगुरु के सम्मुख जीव को परवश बतलाते हुए लिखते है कि जीव का कोई भी कर्म उसकी स्वतन्त्र इच्छा से सम्पन्न नही हो सकता, यहाँ तक कि उसका बोलना अथवा चुप रहना भी परमात्मा पर ही निर्भर है। जीव न किसी को कुछ दे सकता है और न ही अपनी इच्छा से किसी से कुछ छीन ही सकता है। जो कुछ होना है, वह प्रभु की इच्छा से ही। जीव तो निमित्त मात्र है। यह उसका मिथ्याभिमान या 'अहं' है कि वह अपने आपको कर्ता मानता है। उनके अनुसार जीव के वश मे तो यह भी नही कि वह अपनी इच्छा से शरीर धारण कर ले या जब चाहे

---

[1] आ० ग्रं० ६३६ जो आवहि ते जाहि फुनि, आइ गए पछुताहि ॥ लख चौरासीह मेदनी घटै न वधै उताहि ॥ वधा मुआ बिगूती माइआ ॥ जो दीसै सो चालसी, किस कउ मीतु करेउ ॥

[2] आ० ग्रं० १२७७ बिनु पिर कामणि करै सीगारु ॥ दुहचारिणी कहीऐ नित होइ खुआरु ॥

उसका समापन कर दे। जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त होना भी उसके प्रयत्न से सम्भव नही होता। जिस समय वाहगुरु के अनुग्रह का पात्र होता है, उसी समय उसके आवागमन के बन्धन छिन्न होते है। अतः अध्यात्म की साधना द्वारा आत्म-साक्षात्कार करना भी परमात्मा का ही अनुग्रह है। जीव की परवशता का इस प्रकार उल्लेख कर गुरुनानक अन्त मे इस मान्यता का प्रतिपादन करते है कि सब कुछ ब्रह्माण्ड की रचना करने वाले वाहगुरु के ही अधीन है और जीव का सदाचारी अथवा दुराचारी बनना भी मात्र वाहगुरु ही की इच्छा पर निर्भर है।[1]

आदिग्रन्थ में वाहगुरु की 'रजा' पर इतना अधिक बल दिया गया है कि हम उसे गुरुओ द्वारा प्रतिपादित 'रजा-सिद्धान्त' कह सकते है। वाहगुरु के लिए गुरु नानक द्वारा प्रयुक्त 'सच्चे पातशाह' मे इसी मान्यता की स्वीकृति है। वे उसे राजाओ का राजा बतला कर जीव को उसकी रजा के अधीन रहने का उपदेश देते है। यद्यपि राजाओ को निरंकुश माना गया है परन्तु वाहगुरु के सम्बन्ध मे यह निरकुशता उसके इच्छा-स्वातन्त्र्य के रूप मे ही ग्रहण की गयी है। भक्ति की साधना की दृष्टि से 'परम सत्ता की इच्छा के पूर्ण स्वातन्त्र्य की धारणा' अनुकम्पा-सिद्धान्त का मूल आधार है। अतः गुरुनानक ने बार-बार इस मान्यता को दुहराया है कि वाहगुरु को जो अच्छा लगता है, वह वही करता है, अतः जीव को अपने आपको उसकी इच्छा के अधीन मानकर आचरण करना चाहिए।[2] जीव का कल्याण प्रभु के नाम-सिमरन मे है और वह यह तभी कर सकता है, जब परमात्मा ने अनुकम्पा से द्रवित होकर उसके भाग्य मे ऐसा लिख दिया हो।[3] जीव को सन्मार्ग और कुमार्ग पर चलाने वाला भी वाहगुरु ही है।[4] वे ही जीव मुक्ति प्राप्त कर सकते है जो वाहगुरु की रजा मे रहते है। उनका भव-जाल मे भटकना भी उसी की इच्छा का परिणाम है।[5] आदिग्रन्थ में जीव और वाहगुरु के सम्बन्धो के प्रसग मे प्रायः इसी धारणा का प्रतिपादन हुआ है। अत गुरुओ के अनुसार जीव वाहगुरु के अधीन एवं परवश है

सोई करणा जि आपि कराए ॥

(आ० ग्र० पृ० १०८)

---

१ आ० ग्र० पृ० ७, आखणि जोरु, चुपै न जोरु ॥ जोरु न मगणि, देणि न जोरु ॥ जोरु न जीवणि, मरणि न जोरु ॥ जोरु न राजि मालि मनि सोरु ॥ जोरु न सुरती गिआनि वीचारि ॥ जोरु न जुगती छूटै संसारु ॥ जिसि हथि जोरु, करि वेखै सोइ ॥ नानक उतमु नीचु न कोइ ॥

२ वही० पृ० ६, जो तिसु भावै सोई करसी फिरि हुकमु न करणा जाई ॥ सो पातिसाहु साहापति साहिबु नानक रहणु रजाई ॥ ३—वही० पृ० २५, नानक आणै आवै रासि ॥ ४—वही० पृ० ८०, धुरि मसतकि हरि प्रभ लिखिआ जन नानक नाम धिआइ ॥ ५—वही० पृ० ६७, तूं आपे गुरमुखि मुकति कराइहि ॥ तू आपे मनमुखि जनमि भवाइहि ॥

गुरमत के अनुसार जीव परमात्म-साक्षात्कार में भी स्वतन्त्र नहीं है। इस धारणा का प्रतिपादन करते हुए गुरु नानक ने कहा है कि वाहगुरु का दर्शन उसे प्राप्त होता है, जिसे वह स्वयं अपना दर्शन करवाना चाहता है।[१] जीव-नारी को पति-परमेश्वर की प्राप्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा प्रभु की इच्छा से ही प्राप्त होती है।[२] अन्तर्यामी वाहगुरु के अनुसार ही सभी कुछ होता है, जीव बेचारा तो उसकी इच्छा का मात्र दास है। वाहगुरु ने जगत को अपना खेल बनाया हुआ है, वह उसमें लिप्त नहीं होता और जीवों का उद्भव, उनका पालन और संहार, सभी कुछ उसी की इच्छा के क्रीडा-विलास हैं। जीव की परवशता पर गुरुओं ने इतना अधिक बल दिया है कि वे उसे हर प्रकार से परमात्म-निर्भर मान कर, प्रभु-सिमरन के अनुग्रह की याचना के लिए प्रेरित करते रहते है—

महलि राखै तैसे रहिना किआ इहु करै बीचारा ॥

(आ० ग्र० पृ० २०६)

तथा

आपे करि वेखै मारगि लाए भाई तिसु बिनु अवरु न कोई ॥
जो धुरि लिखिआ सु कोइ न मेटै भाई करता करे सु होई ॥

(आ० ग्र० पृ० ६०१)

गुरु नानक के मत मे वाहगुरु जीवो का सूत्रधार है और वही जगत को चौसर बना कर जीवो को अपने-अपने खेलो में लगाए रहता है। कुछ जीव उसने विविध प्रकार के 'भरमों' मे भटका रखे हैं और कइयों को अपनी भक्ति की ओर लगाया हुआ है। जीव दोनो दृष्टियो से उसकी इच्छा के अधीन है और वह जिसे जिस ओर नियोजित करता है वह वैसा ही आचरण करने लग जाता है।[४] इस आशय का स्पष्टीकरण आदिग्रन्थ में वाहगुरु के 'हुकम-सिद्धान्त' और जीव की परवशता के सिद्धान्त द्वारा किया गया है, जिसे हम भारतीय एव इस्लामी दृष्टिकोण का समन्वय

---

१ आ० ग्र० पृ० १२५, जिसु आपि वेखाले सु वेखै कोई ॥

२ वही० पृ० १२६, आपे करता दे वडिआई ॥

३ वही पृ० १७६-६८, सभु कीता तेरा वरतदा तू अन्तरजामी ॥
हम जत विचारे किआ करह सभु खेलु तुम सुआमी ॥
जन नानक हाटि विहाझिआ हरि गुलम गुलामी ॥
वही पृ० १६७, जनमु जरा मिरतु जिसु वासि ॥ सो समरथ सिमरि सासि गिरासि ॥

४ आ० ग्र० पृ० ६३५ इकि भरमि भुलाए इकि भगति राते तेरा खेलु अपारा ॥
जितु तुधु लाए तेहा फलु पाइआ तूं हुकमि चलावणहारा ॥
वही० आ० ग्रं० पृ० ६८२—.....हरि हरि रूप रंग सभि तेरे मेरे लालन लाल गुलारे ॥ जैसा रगु देहि सो होवै किआ नानक जत विचारे ॥

भी मान सकते हैं। गुरमुख और मनमुख जीवों के भेद का आधार भी यही है क्योंकि मनमुख जीवों का लक्षण देते समय उन्हे ईश्वर के हुकम और इच्छा को भुला कर, मन के अनुसार चलने वाला बतलाया गया है। वे जीव ही गुरमुख कहलाते है जो प्रभु के अनुग्रह और इच्छा को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानते हैं--

सासु मासु सभु जीअ तुमारा तू मै खरा पिआरा ॥

(आ० ग्र० पृ० ६६०-६१)

एवं

मति सुमति तेरै वसि सुआमी हम जंत तू पुरखु जंतेनी ॥
जन नानक के प्रभ करते सुआमी जिउ भावै तिवै बुलेनी ॥

(आ० ग्र० पृ० ८००)

गुरमत के अनुसार जीव का यह भाव, कि वह पूर्णतया परमात्माधीन है, उसे परमात्मा के निकट लाता है और उसकी यही दृष्टि सर्वत्र परमात्मा के रग और रूप को ही देखती है। वह हर स्थिति मे प्रसन्न रहता है, क्योंकि उसके अनुसार सम्पूर्ण जागतिक व्यापार प्रभु की इच्छा का विलास है। अपने आपको पूर्ण अस्वतन्त्र एव प्रभु की इच्छा के अधीन मानना एव तदनुकूल आचरण करना ही जीव की परवशता का अर्थ है।

गुरुओ के विचार मे जीव अनादि अस्तित्व नही है। वह वाहगुरु का धारण किया हुआ रूप है, क्योंकि पचभूतो का पुतला बनाकर चैतन्य (प्राण) के रूप मे स्वयं परमात्मा ने ही अपनी ज्योति (नूर) को उसमे रखा हुआ है—

पंच धातु करि पुतला कीआ ॥
साहै कै फुरमाइअड़ै जी देही विचि जीउ आइ पइआ ॥

(आ० ग्र० पृ० १००७)

और

न कोई करे न करणै जोगा ॥
आपे करहि रु रावहि सु होगा ॥

(आ० ग्र० पृ० १०४८-४६)

जीव कर्म करता है और उसका मन कर्म-सस्कार मे लिप्त हो जाता है। ये सस्कार ही उसकी वासना बनते हैं और जब तक उसका आवागमन दूर नही होता, वासनाएँ उसका पीछा नही छोडती। वह अपनी वासनाओ के अनुसार ही भिन्न-भिन्न जन्म धारण करता है। इस दृष्टि से भी उसका कर्तृत्व स्वतन्त्र नही है। इसी मान्यता के आधार पर गुरुओं ने यह कहा है कि वाहगुरु जिस जीव के मस्तक मे जो लिख देता है, उसे वही प्राप्त होता है।[1] आदिग्रन्थ के अनुसार जीवो को वाहगुरु ने

---

[1] आ० ग्रं० पृ० १०८५-८६, मिरतु दूख सूख लिखि पाए ॥ तिल नही बधहि घटहि न घटाए ॥ सोई होइ जि करते भावै, कहि कै आपु वञाणा ॥

उत्पन्न किया है और प्रत्येक जीव को एक दूसरे से भिन्नरूपता भी उसी की दी हुई है—

आपि उपाए नानका आपे राखे वेक ॥
मंदा किसनो आखीअं जा सभनां साहिबु एक ॥

(आ० ग्र० पृ० १२३७)

गुरबानी मे जीव की जीवन-यात्रा का विभिन्न रूपो मे प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार वह स्वतन्त्र होकर अपने जीवन का यापन नही कर सकता। जिस प्रकार कठपुतली का सूत्रधार उसे जिस प्रकार नचाता है, वह उसी तरह नाचती है; जीव की जीवन-चर्या भी उसी प्रकार वाहगुरु रूपी सूत्रधार के अधीन है। चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीवो का पालक बतलाकर गुरुओ ने वाहगुरु की पूर्ण शक्ति के स्वातन्त्र्य का ही प्रतिपादन किया है। परवशता निराशावादी दृष्टि नही बल्कि सतो ने इसे जीव का आत्म-बल माना है। इससे उसका अहं जाता रहता है, उसे समत्व-बुद्धि प्राप्त होती है और वह सत्कर्म के मार्ग पर बिना उद्वेलित हुए उत्तरोत्तर आगे की ओर बढने की प्रेरणा प्राप्त करता है।[1] इसके विपरीत मनमुख जीव मन की प्रेरणा मे चलते है, अपने कर्मो मे लिप्त एव आसक्त होते है और अन्त मे विफल होने पर निराश एव दु खी होते है। उन्हें इस तथ्य के प्रति सावधान करते हुए कहा गया है—

सभु को लेखे विचि है, मनमुख अहंकारी ॥

(आ० ग्रं० पृ० १२४७)

● **जीव और आवागमन**

आदिग्रन्थ के अनुसार बद्ध जीव (मनमुख) आवागमन मे भकटते रहते है और गुरमुख (भक्त) वाहगुरु की ज्योति मे मिलकर उसकी 'हजूरी' प्राप्त कर लेते है। जब तक जीव का भ्रम दूर नही होता तब तक उसके मायिक कर्मों के सस्कार वासना बनकर उसका पीछा नही छोडते। यहाँ यह विचारणीय है कि गुरुओ के मत मे मात्र ज्ञान से ही जीव की वासनाओ का अन्त नही होता। कर्मकाण्ड को तो उन्होने 'हउमै-जनित-कर्म' अथवा 'हउमै' के भाव को जन्म देने एवं उसकी वृद्धि करने वाला ही माना है। अत कर्मानुष्ठान से मलावरणो से मुक्ति की धारणा को उन्होने आरम्भ मे ही अस्वीकार कर दिया है। उनके विचार मे ज्ञानात्मिका भक्ति ही जीव का सत्कर्म है और कर्म का विरोध न करते हुए भी उनका कर्म-सिद्धान्त न तो पूर्वमीमासात्मक कर्मों की कोटि का है और न ही वैष्णव भक्ति मे स्वीकृत वैधी रूपा भक्ति जैसा ही। मनमुख को उपदेश देते हुए कहा गया है कि उनकी प्रीति हरि से नही

---

[1] आ० ग्र० पृ० १२३६, जिना चीरी चलणा तन्हा हथि किछु नाहि ॥ साहिब का फरमाणु होइ उठि कर लै पाहि ॥
वही० पृ० १२४२, जा न सिआ किआ चाकरी जां जंमे किआ कार ॥

होती।[1] अतः स्पष्ट है कि वाहगुरु में अनन्य आसक्ति, सद्‌गुरु की सेवा और 'नाम-सिमरन' ही उनकी भक्ति है और इसके सन्दर्भ में किये जाने वाले कर्मों को ही उन्होंने सत्कर्म माना है। जिन जीवों के कर्म उनके कर्म-सिद्धान्त से भिन्न हैं, उन्ही को वे आवागमन में भटकने वाला जीव मानते हैं।[2]

गुरुओं ने द्वैत-भाव की नई व्याख्या की है। वाहगुरु के नाम का विस्मरण ही उनके अनुसार द्वैत-भाव है। वे देवी-देवताओ को आराध्य मानने एवं उनके हेतु किये गये सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान को भी द्वैत ही कहते है। उनका मत है कि द्वैत की आसक्तियों में भटकता हुआ जीव वाहगुरु के नाम को भूल जाता है। उसके मन की वृत्तियाँ ससारी हो जाती है और वह परमात्मा के अनुग्रह से वंचित हो जाता है। द्वैत में विचरण करने वाले जीव के कर्म अशुभ कर्म है। अशुभ कर्मों के भार की 'गठरिया' उठाये वह इस ससार से चला जाता है। यही उसका वासना-सस्कार है, जिसके कारण वह भिन्न-भिन्न योनियो में जन्मता और मरता हुआ अन्त मे अपने आपको सदा के लिए भव सागर में डुबो देता है।[3] मनोधर्मी जीव ही गुरुओं के अनुसार मनमुख जीव है। वे मन के संकल्प एव विकल्प से प्रेरित होकर विविध कर्म करते है और अन्त मे यम की रस्सी मे बँध जाते है। जिस समय तक जीव की लिव' गुरु के 'सबद' से अनन्य भाव से नही जुड पाती, उसकी आवागमन की 'जेवडी' नही कटती। परन्तु जिन्होने 'सबद' के साथ सुरति जोड दी है, उनका जीवन सहजमय हो जाता है और वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते है।[4] आदिग्रन्थ मे बार-बार इसी मुक्ति एव आवागमन के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, जिससे उनके कर्म-सिद्धान्त मे विश्वास एव असत्कर्मों के कारण जीव के आवागमन की मान्यता का पता चलता है।

आदिग्रन्थ के अनुसार जीव दिगन्त व्यापी परमसत्ता के नूर ही का अश है। बद्ध जीव की आरम्भावस्था के बारे मे स्पष्ट रूप मे किसी निश्चित मान्यता का प्रतिपादन न करते हुए भी बार-बार यही कहा गया है कि जीवो का बार-बार आवागमन मे भटकना और मोक्ष का लाभ करना, वाहगुरु की इच्छा का स्वातंत्र्य

---

१ आ० ग्रं० पृ० १६६, जिन कउ प्रीति नाही हरि सेती ।।

२ वही० १७६, मनमुख मूए जिन दूजी पिआसा ।। बहु जोनी भवहि धुरि किरत लिखिआसा ।। वही० १७६, जैसा बीजहि तैसा खासा ।। वही० पृ० १८-१६, अन्धुलै नामु बिसारिआ मनमुखि अंधु गुबारु ।। आवणु जाणू न चूकई मरि जनमै होइ खुआरु ।।

३ आ० ग्रं० पृ० १६-२०, दुबिधा लागे पचि मुए अतरि तृसना अगि····।। बिनु सबदै भरमाईऐ दुबिधा डोबे पूरु····।।

४ वही० पृ० १५२, सहजै आवै सहजे जाइ ।। मन ते उपजै मन माहि समाइ ।। गुरमुखि मुकतो बधु न पाइ ।। सबदु बीचारि छुटै हरि नाइ ।।

है। अत इससे यही ध्वनित होता है कि गुरमत के अन्तर्गत जीव मे अनादि वासना की धारणा को मान्यता प्राप्त है। अनादि वासना वाली मान्यता की व्याख्या केवल यही की जा सकती है कि अपनी इच्छा से वाहगुरु ही जब जीव का रूप प्राप्त करता है और स्वयं को पचभूतात्मक शरीर मे ले आता है, तब वह अपने विशुद्ध स्वरूप का विस्मरण कर देता है। मन और बुद्धि एव ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियो की स्थिति मे जीव आत्मसाक्षात्कार वाले स्वरूप को भूल कर इन्द्रियो में ही आत्म बुद्धि बना लेता है। यही उसका द्वैत-भाव है और यही बन्धन। इस स्थिति से ऊपर उठकर जब तक वह पुन आत्मसाक्षात्कार की अवस्था प्राप्त नही करता, वह बद्ध जीव कहलाता है और उसके मायिक कर्म ही उसके लिए आवागमन के हेतु बनते रहते है।

जीव के आवागमन के सिद्धान्त को गुरुओ ने कर्म के सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित किया है। उनके मत मे ससार जीव का मायका है और पति-परमेश्वर के पास पहुँचना उसके देह-धारण करने का उद्देश्य। वे भक्ति को व्यापक अर्थ में लेते है और सन्यास-मार्ग के प्रति विशेष आस्था न रखने के कारण जीवन के प्रत्येक सदाचरण को भक्ति का ही अग मान लेते है। उनके अनुसार मानव-जीवन का आदर्श जल मे कमल के समान निरासक्त एवं निर्लिप्त रहना है। वे स्वय गृहस्थ रहकर ही इस आदर्श का प्रचार करते रहे है। इसी कारण उनकी भक्ति मे नि सगता को ही स्वीकार किया गया है, ससार के त्याग को नही। इस दृष्टि से उनकी भक्ति का आदर्श तुलसीदास के भक्त्यादर्श से मिलता है, परन्तु साथ ही उसके परानुरक्ति के स्वरूप मे माधुर्योपासना की प्रधानता होने के कारण वह सूफियो के 'इश्क-ए-हकीकी' से भी मिलती है और कृष्ण-भक्तो की मधुमती भूमिका वाली भक्ति मे भी। अन्तर केवल इतना है कि उसमे न सूफियो के 'इश्क-ए-मजाजी' के माध्यम को स्वीकार किया गया है और न ही कृष्ण-भक्तो के रास-लीला आदि विश्वासो को ही मान्यता प्राप्त है। इस दृष्टि से वे दूसरे निर्गुण सन्तो से भी कुछ भिन्न है।

आदिग्रन्थ मे सुहागिन (सौभाग्यवती) और दुहागन (अभागी) जीव-नारी की मन स्थितियो का जितना अधिक उल्लेख हुआ है, उतना हमे दूसरे निर्गुण सन्तो की बानियो मे नही मिलता। तुलसीदास की भक्ति का प्रधान स्वर दास्य-भाव का है जबकि गुरबानी में दास्य एव कान्ता-भाव-दोनो पर समान बल दिया गया है। 'नाम-सिमरन,' 'गुरु के सबद', 'वाहगुरु की इच्छा' के उपायो को निर्गुण सन्तो और सगुणोपासको ने भी कम महत्त्व नही दिया है, लेकिन गुरुओ ने इन्ही को भक्ति का सर्वस्व स्वीकार किया है। वे न तो योग की विशेष चर्चा करते है और न ही कर्म-काण्डात्मक भक्ति के उपकरणो का ही प्रतिपादन करते हैं। उनकी दृष्टि मे सच्चा भक्त वह है जो अनन्य-भाव से अपनी इन्द्रियों की सम्पूर्ण आसक्तियों को अपने उपास्य मे केन्द्रित कर देता है। इस प्रकार उनकी भक्ति सगुणोपासकों की भक्ति से भिन्न होते हुए भी भावना के स्तर पर उस जैसी ही हो जाती है, और अन्त. साधक होने पर भी उनका भक्ति-योग हठयोग की साधना की कृच्छ्रता से ऊपर उठ जाता

है। मनमुख के कर्मों को बन्धक कर्म एव भक्त के कर्मों को सत्कर्म मान कर ही उन्होने कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या की है और इसी आधार पर जीव की मुक्ति एव उसके आवागमन को स्वीकार किया है।

आदिग्रन्थ मे जीव के सत्कर्मों एव असत्कर्मों का स्पष्टीकरण भक्ति और ज्ञान के प्रसग मे किया गया है। अत. 'जैसा बीजहि तैसा खासा-आ० ग्र० पृ० १७६—की व्याख्या उन्ही के कर्म-सिद्धान्त के अनुरूप की जा सकती है। तदनुसार जीव के मस्तक मे वाहगुरु जो लिख देता है, उसी के अनुसार वह जगत मे रहता हुआ आचरण करता है।[1] यद्यपि प्रस्तुत विचार जीव की परवशता से सम्बन्धित है, लेकिन इसमें इस मान्यता की भी स्वीकृति है कि अपने पूर्व जन्म के कर्म-संस्कारो के द्वारा ही जीव के इस जन्म मे आचरण निर्धारित होते है।

---

[1] आ० ग्रं० पृ० २२२, सो कमावै धुरि लिखिआ होइ ॥

८ आदिग्रन्थ में वर्णित जीव के स्वरूप का वैशिष्ट्य

प्रस्तुत अध्ययन मे आदिग्रन्थ मे वर्णित जीव सम्बन्धी विश्वासो एव मान्यताओ का उल्लेख हुआ है। उससे पहले समूची भारतीय चिन्तन एव दर्शन-परम्परा मे जीव के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली अवधारणओ एवं विभिन्न दर्शन-प्रणालियो के माध्यम से जीव के स्वरूप आदि विभिन्न पक्षो पर विस्तार से विचार कर यह बतलाया गया है कि भारतीय चिन्तन-धारा मुख्यतः दो दिशाओ मे प्रवाहित रही है। एक के अनुसार जीव को जगत का निर्माण करने वाली उपादान सामग्री से भिन्न स्वतन्त्र चेतना के रूप मे स्वीकार किया गया है एव दूसरी चिन्तन-धारा मे चेतना (जीव) का स्वतन्त्र अस्तित्व न मान कर उसे मूल पदार्थो के समवाय से उत्पन्न माना गया है। इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जीव की चेतना न अमर है और न ही वह एक शरीर का परित्याग कर दूसरा शरीर धारण करती है। प्रथम कोटि के विचारक आदर्शवादी चिन्तक कहलाते है। जबकि दूसरी कोटि के चिन्तको को आदर्शवादी विचारको की संज्ञा दी गयी है। आदिग्रन्थ मे वर्णित जीव के स्वरूप के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध मे आलोचनात्मक विवेचना करने से पहले हम यह बतला देना चाहते है कि सिक्ख गुरु यद्यपि प्रमाण के हेतु न तो वेदो को ही साक्ष्य के रूप मे स्वीकार करते है और न ही प्रस्थानत्रयी को ही। वे शैवो, शाक्तों और वैष्णवो के धार्मिक एव आर्ष ग्रन्थो को भी अपने विश्वासो एवं मान्यताओ की पुष्टि के हेतु उद्धृत नही करते। वे ज्ञानी भक्त है, अतः उन्हे कोरे ज्ञानवादी या वैधी भक्ति मे आस्था रखने वाले केवल भक्त नही कहा जा सकता। वैष्णव भक्ति में स्वीकृत अवतारवाद उन्हे स्वीकार्य नही है। भगवान कृष्ण एवं मर्यादापुरुषोत्तम राम को उन्होने महान पुरुष ही माना है; परमात्मा या परमात्मा का अवतार नही। आदिग्रन्थ मे हमे इस प्रकार के अनेक उद्धरण प्राप्त हो जाते है, जिनमे नारदी भक्ति (प्रेमाभक्ति) की तो सराहना की गयी है, लेकिन राम और कृष्ण को भगवान या अवतार मान कर उन्हे परब्रह्म (वाहगुरु) मानने का विरोध किया गया है। वे इस रूप मे अध्यात्मवादी है, क्योकि आत्मसाक्षात्कर को ही उन्होने जीव की मुक्ति माना है परन्तु उनकी मुक्ति की अवधारणा 'मैं ही ब्रह्म हूँ' जैसी नही है। अत. उन्हें शाकर

अद्वैतवादी नही माना जा सकता और न ही विशिष्टाद्वैतवादी एवं शुद्धाद्वैतवादी ही स्वीकार किया जा सकता है।

आदिग्रन्थ की विचारधारा निर्गुण सन्त-परम्परा के अन्तर्गत है, लेकिन यह स्वीकार कर लेना भी उचित प्रतीत नही होता कि उसमें निर्गुण सन्तों की विचार-धारा को अक्षरशः तद्वत् स्वीकार कर लिया गया है। आदिग्रन्थ में वर्णित ब्रह्म, जीव और जगत एवं माया की अवधारणाएँ पर्याप्त सीमा तक मौलिक एवं स्वतन्त्र हैं। आदिग्रन्थ की विचारधारा आदर्शवादी विचारधारा के अन्तर्गत है क्योंकि उसमें वाहगुरु को तुरीयातीत परमचैतन्य माना गया है। जगत को वाहगुरु की लीला या रचना माना गया है और सम्पूर्ण मलावरणो से अतीत जीव को ही उसका आत्मसाक्षात्कार स्वीकार कर वाहगुरु एव आत्मतत्त्व मे अभेद स्वरूपता या अभेद-सम्बन्ध का प्रति-पादन हुआ है। परलोक की अवधारणा एवं जन्मान्तर-सिद्धान्त भी आदिग्रन्थ की विचारधारा मे पूर्णतया मान्य है। सिक्ख गुरु, गुरु एव नाम-सिमरन की साधना पर अत्यधिक बल देते है। उनके अनुसार इच्छा-स्वातन्त्र्य वाहगुरु का है--जीव का नही। जीव के उन्होंने गुरमुख और मनमुख दो मुख्य भेद किये हैं और मनमुख जीव को मायाबद्ध या माया के प्रभाव के अन्तर्गत माना है। अनुभव या गुरु के 'शबद' को वे साक्ष्य मानते है एव भारतीय चिन्तन-परम्परा में स्वीकृत जीव के स्वरूप की प्रचलित सभी अवधारणाओं या किसी एक अवधारणा को यथातथ्य तद्वत् स्वीकार कर लेने के स्थान पर स्वतन्त्र चिन्तन-पद्धति का आश्रय लेते हैं।

जीव के सम्बन्ध मे मुख्य-मुख्य आदर्शवादी भारतीय दर्शन-प्रणालियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें परमतत्त्व को असीम परमचैतन्य, सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया है। जो दर्शन-प्रणालियाँ अद्वैतवादी है, उनमे इसके सम्बन्ध मे विशेष कर चर्चा की गयी है कि जीव का स्वरूप क्या है ? क्या जीव भी परमात्मा की भाँति ही स्वतन्त्र एवं अनादि सत्ता है या वह परमात्मा की रचना है ? यदि वह परमात्मा की रचना है तो किस प्रकार एवं किस रूप मे ? इन सभी जीव सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा स्वतन्त्र धारणाओं एवं मान्यताओं के अनुसार दिये गये हैं। सहिताओ में प्राकृतिक शक्तियो मे देवत्व का आरोपण कर उन देवताओ से इस लोक में अभ्युदय एवं परलोक मे निःश्रेयस एवं स्वर्ग की प्राप्ति की कामना की गयी है। इसके लिए साधन के रूप मे यज्ञयागादि कर्मकाण्ड का आदेशात्मक विधान है। अथर्ववेद मे आर्येतर विश्वासो का उल्लेख है, जिन्हे कालान्तर में आर्यों ने भी स्वीकार कर लिया था। धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था में सर्वोपरि मान्यता प्राप्त हो जाने के उपरान्त एक समय ऐसा भी आया है, जब वेद, उपनिषदें, गीता, बादरायण के ब्रह्मसूत्र एवं पुराण अर्थात् निगमागम विभिन्न दर्शन-प्रणालियो के आधार ग्रन्थ मान लिए गये और धर्म-मतो के आर्षग्रन्थो को भी दार्शनिक चिन्तन का आधार स्वीकार कर लिया गया। बौद्ध एवं जैन दर्शन यद्यपि ब्राह्मण धर्म की परम्परा के अन्तर्गत नही आते लेकिन जन्मान्तर

के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण उन्हे भी आदर्शवादी दर्शन-प्रणालियों मे ही शामिल कर लिया जाता है। बौद्धो एवं जैनो से पूर्ववर्ती एव उपनिषदों की जीव-स्वरूप सम्बन्धी मान्यताओ के सम्बन्ध मे इस खण्ड के आरम्भ में पहले ही उल्लेख कर दिया गया है। इसके सम्बन्ध मे बहुत सी सामग्री की चर्चा परवर्ती दर्शन-प्रणालियो में भी हो जाने के कारण हम यहाँ पर बौद्धों एवं जैनो की जीव सम्बन्धी मान्यताओ से ही विषय को आरम्भ कर रहे है।

बौद्धो के अनुसार चित्त एव विज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान चेतन सत्ता नही है। उनके मत मे जीवो के केवल दो ही भेद स्वीकार किये जा सकते है। पहले जीव वे है, जिन्होने निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया है। दूसरे जीव वे हैं, जो अभी तक आवागमन के चक्कर मे भटक रहे है। जैनो के मत मे जीवो की तीन कोटियाँ है—बद्ध जीव, आलोकाकाशोन्मुख जीव, एव सिद्धशील जीव। तदनुसार जीवो को अनादि मान कर यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि सभी जीव अपने-अपने सत्प्रयत्न के द्वारा सिद्धशील जीवो की अवस्था मे पहुँच सकते हैं। आदिग्रन्थ मे जैनो और बौद्धो के जीव-सिद्धान्त का हमे कही भी अनुसरण प्राप्त नही होता। आदिग्रन्थ की विचारधारा आदर्शवादी (ईश्वरवादी) विचारधारा है। तदनुसार जीव का स्वातन्त्र्य वैसा नही जैसा कि बौद्ध एव जैन दार्शनिको ने स्वीकार किया है। न ही इस मत का कही प्रतिपादन हुआ है कि जीव अनादि एव स्वतन्त्र चेतन सत्ता है। सिक्ख गुरुओ के मत मे अनादित्व केवल वाहगुरु (ब्रह्म) का है और उसी को स्वतन्त्र चेतनसत्ता स्वीकार किया गया है।

आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यता अद्वैत या पराद्वैत जैसी है, लेकिन उसमे स्वीकृत जीव के स्वरूप तथा अद्वैतवेदान्त की इस मान्यता मे पर्याप्त अन्तर है, जिसके अनुसार जीव के रूप मे ईश्वर की प्रतीति के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। अद्वैत-वेदान्ती जीव का यथार्थ अस्तित्व ही स्वीकार नही करते। उनके अनुसार ईश्वर ही माया (अविद्या) के प्रभाव के कारण जीव के रूप मे भासित या प्रतीत होता है। आदिग्रन्थ मे वर्णित जीव के स्वरूप की चर्चा के प्रसग मे हम यह देख आये है कि तदनुसार जीव परमात्मा (वाहगुरु) के द्वारा धारण किया हुआ रूप होने के कारण न मिथ्या या आभास है और न ही उसकी सत्ता मात्र व्यावहारिक ही है। वह यथार्थ है क्योकि जिस सत्ता ने वह रूप धारण किया हुआ है, वह स्वय पूर्ण यथार्थ सत्ता है। सिक्ख गुरु भक्त है, अत. उन्होने 'अहं ब्रह्मास्मि' को जीव के स्वरूप का मूलसूत्र मानने के स्थान पर इस प्रकार के भाव को 'हउमै' की वृद्धि का कारण माना है। तदनुसार वाहगुरु की इच्छा ही उसकी शक्ति है और उसने इस शक्ति के द्वारा ही जीव का रूप धारण किया हुआ है अथवा वह जब चाहता है स्वय जीव का रूप धारण कर लेता है। आदिग्रन्थ के अनुसार जीव का पारतंत्र्य भी वाहगुरु ही की इच्छा से है।

न्याय एव वैशेषिक दर्शन मूलत. भौतिकवादी दर्शन हैं, जिनमे बाद में ईश्वर की सत्ता की मान्यता का प्रवेश हुआ है। ये दोनों दर्शन ईश्वरवादी प्रभाव के अन्तर्गत है, लेकिन फिर भी इनमें ईश्वर की भाँति ही जीव की भी अनादि सत्ता स्वीकार की गई है। उक्त दोनो दर्शनो की यह धारणा आदिग्रन्थ की विचारधारा से साम्य नही रखती। इन दर्शनो मे पदार्थ या परमाणु को भी अनादि तत्त्व स्वीकार किया गया है, जो आदिग्रन्थ की विचारधारा से बिल्कुल भिन्न प्रकार का दृष्टिकोण है। ये दोनो ही दर्शन अपने परवर्ती रूप में द्वैतवादी दर्शन है, जिसे आदिग्रन्थ के अद्वैत सिद्धान्त के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। आदिग्रन्थ का अद्वैत-सिद्धान्त इस्लामी एकेश्वरवाद मे भी पर्याप्त भिन्न है, अत कुरान मे जिस रीति से बदे को खुदा की सृष्टि कहा गया है, वह आदिग्रन्थ की विचारधारा से भिन्न प्रकार का दृष्टिकोण है। जिस प्रकार न्याय और वैशेषिक की जीव सम्बन्धी मान्यताएँ आदिग्रन्थ की एतद्विषयक विचारधारा से मेल नही खाती, उसी प्रकार साख्य और योग दर्शनो की जीवपरक अवधारणाए भी आदिग्रन्थ मे वर्णित जीव-स्वरूप सम्बन्धी मान्यताओ से भिन्न प्रकार की है।

साख्य दर्शन आरम्भ मे ईश्वरवादी दर्शन नही था। अत जिस समय यह ईश्वरवादी प्रभाव के अन्तर्गत आया, उस समय भी इसमे प्रकृति को ही महत्ता प्राप्त रही। इस दर्शन के अनुसार जीव निष्क्रिय चैतन्य है और मूलत अकर्ता होते हुए भी वह अपने ऊपर कर्तृत्व का आरोप कर लेता है। प्रकृति और पुरुष को अनादि मानने के कारण यह भी द्वैतवादी दर्शनो के ही अन्तर्गत माना जाता है। इससे बिल्कुल भिन्न आदिग्रन्थ मे पूर्णाद्वैत की विचारधारा का प्रतिपादन है। सिक्ख गुरु विश्व की रचना को प्रकृति का स्वत परिणमन नही मानते। जबकि साख्यो के अनुसार जड प्रकृति अपने अन्तर्निहित स्वभाव के कारण स्वयमेव जगत के रूप मे प्रकृति-विकृतियो की प्रक्रिया के रूप मे परिणमित होती रहती है। आदिग्रन्थ मे वाहगुरु (ब्रह्म) के हुकम के बिना विश्व की छोटी से छोटी क्रिया भी सम्पन्न नही होती। सिक्ख गुरु जीव की निष्क्रियता के सिद्धान्त को भी स्वीकार नही करते। योग की दार्शनिक अवधारणाएँ प्राय वे ही है जो साख्य दर्शन की। भक्ति के लिए न साख्य मे स्थान है और न ही योग मे ही। अत उक्त सभी तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए यही कहा जा सकता है कि जीव-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे आदिग्रन्थ की विचारधारा एव साख्य और योग की अवधारणाएं परस्पर भिन्न एव स्वतन्त्र प्रकार की है।

आदिग्रन्थ मे अन्य निर्गुण सतो की भाँति शाक्तो का घोर विरोध हुआ है। सत-परम्परा के अनुसार शाक्त माया-लिप्त जीव है, जिन्हे वाहगुरु के दरबार में प्रवेश का अधिकार नही है। लेकिन हमारे मत मे शाक्तो के दार्शनिक चिन्तन का क्षेत्र भिन्न प्रकार का है जबकि उसके साधनात्मक रूप को देखकर संतो ने वैष्णव प्रभाव के कारण उसे गर्हित मान लिया है। अन्यथा शैवो और शाक्तो का दार्शनिक चिन्तन

निर्गुण संत-परम्परा की विचारधारा का विशेष विरोधी नहीं है। निर्गुण संतों पर गोरखनाथ के कौलमार्ग के विरोध का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। गोरख के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ कौल मार्ग के अनुयायी थे, जिनके साधना-मार्ग में नारी का विशेष स्थान था और जिसके कारण यह साधना अत्यन्त दूषित रूप धारण कर चुकी थी। वस्तुतः शैवों और शाक्तो मे मुख्य अन्तर केवल इतना है कि एक परमतत्त्व को शिव का अभिधान देता है और दूसरा शक्ति का। फिर भी हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि सिक्ख गुरु शाक्तो के दर्शनो में स्वीकृत जीव-चैतन्य की मान्यताओं से कदापि सहमत नही है। संत ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' नामक रचना में परमसत्ता एव शक्ति और शक्तिमान की जैसी सैद्धान्तिक चर्चा की है, वही प्रकारान्तर से गोरखनाथ के नाम से प्रचलित 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' मे मिलती है एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी प्राय उसी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है। आदिग्रन्थ मे वर्णित जीव के स्वरूप एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव के स्वरूप मे अधिक अन्तर दिखाई नही देता।

प्रत्यभिज्ञावादियो ने परमशिव के स्वरूप का जिस रीति से वर्णन किया है, उसी तरह का वर्णन आदिग्रन्थ मे वाहगुरु का भी हुआ है। काश्मीर शैव (प्रत्यभिज्ञावादी) परमशिव के शिव और शक्ति दो रूप मानते हैं और सिक्ख गुरुओ के अनुसार भी वाहगुरु और उसकी इच्छा या हुकम का जिस ढंग से उल्लेख हुआ है, उसे शक्तिमान और उसकी शक्ति की अवधारणा के अन्तर्गत लिया जा सकता है। ठीक इसी तरह की दार्शनिक मान्यता का उल्लेख 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' मे भी हुआ है। अन्तर केवल यह है कि काश्मीर शैव दर्शन मे आगे चलकर देवतावाद को भी स्वीकार कर लिया गया है, जबकि आदिग्रन्थ मे इस प्रकार के देवतावाद के लिए कोई स्थान ही नही है। शैवो, शाक्तो एव गोरखनाथ के योगसम्प्रदाय के दार्शनिक चिन्तन एव आदिग्रन्थ में वर्णित जीव के स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन से इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आदिग्रन्थ मे वर्णित जीव-सिद्धान्त शाक्तो के जीव-सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न है और गोरखनाथ तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन की जीव सम्बन्धी अवधारणाओ मे विशेष समानताएं लिए हुए हैं।

निर्गुण मतो के समय एक ओर अल्लाह का स्थान केवल मस्जिद और मक्का-मदीना था एव दूसरी ओर भगवान का अवतारी शरीर मन्दिरो मे सिमिट गया था। वैधी भक्ति-पूजा न केवल हिन्दुओ मे प्रचलित थी अपितु उसी में एकेश्वरवादी मुस्लिम समाज ने शरण ले ली थी। सभी प्रकार के धर्म के इस विकृत रूप के प्रति विद्रोह की भावना निर्गुण भक्ति-आन्दोलन मे रूपायित हुई थी। हिन्दू समाज मे उस समय तक विभिन्न वैष्णव आन्दोलन व्यापक क्षेत्र मे अपनी-अपनी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। इनमे मुख्य स्थान रामानुज के विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत एवं वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत का था। दार्शनिक स्तर पर एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी भक्ति की साधना के रूप मे सभी समान थे। आदिग्रन्थ मे यद्यपि ज्ञान और योग की

निन्दा तो नहीं, लेकिन भक्ति की तुलना मे इन दोनों को भक्ति के साधन के रूप में ही स्वीकार किया गया है।

आचार्य मध्व द्वैतवादी विचारक हैं, लेकिन आदिग्रन्थ मे वाहगुरु से भिन्न किसी की भी अनादि सत्ता को स्वीकार नही किया गया। मध्व के अनुसार जीव परमात्मा का मात्र चिदंश नही अपितु उनके मत में जिस प्रकार परमात्मा से अलग जगत की सत्ता है इसी तरह जीव की भी। आदिग्रन्थ मे जिस रूप में जीव की परवशता का उल्लेख हुआ है, वह भी मध्व के द्वारा प्रतिपादित जीव की परमात्माधीनता से भिन्न है। मध्व जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। ये विचार आदिग्रन्थ के एतत्सम्बन्धी चिन्तन के बिल्कुल विपरीत हैं। आदिग्रन्थ की अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार परमात्मा से भिन्न जीव के अनादि अस्तित्व को स्वीकार किया ही नही जा सकता। भक्ति के क्षेत्र मे भी सिक्ख गुरु संत ज्ञानेश्वर की भक्ति के ही अधिक निकट हैं। संत ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' एवं ज्ञानेश्वरी में जिस रीति से निर्गुण भक्ति की चर्चा की है तदनुसार तरंग और तारग की भाँति जीव और ईश्वर में उपासक एव उपास्य-भाव स्थापित हो सकता है। भक्ति के अन्य कई पक्ष जिस प्रकार सगुणोपासक आचार्य मध्व को मान्य हैं, उसी प्रकार जीव के द्वारा भक्ति की साधना के प्रसंग मे आदिग्रन्थ एवं द्वैतवादी मध्व की भक्ति-साधना में विशेष अन्तर नही है।

पचरात्र दर्शन मे जीव के स्वरूप की चर्चा करते हुए प्रकृति को वासुदेव की इच्छा की अधीनस्थ सत्ता बतलाया गया है। उक्त दर्शन मे स्वीकृत व्यूह-सिद्धान्त ही उसका जीव-सिद्धान्त है। व्यूहो की चर्चा के प्रसंग मे ही अहिर्बुध्न्य एव पंचरात्र सहिताओं मे जीवो की कोटियों का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार की जीव सम्बन्धी धारणाए हमे आदिग्रन्थ मे उपलब्ध नही हैं। व्यूह-सिद्धान्त में वासुदेव को ब्रह्म माना गया है, जो आदिग्रन्थ की विचारधारा के बिल्कुल उलट है। वासुदेव के निकट के सम्बन्धियो मे व्यूहावतार का आरोपण भी सिक्ख गुरुओं का मान्य मत नही हो सकता। पचरात्र सम्प्रदाय पौराणिक देवतावाद पर आधारित है, जिसका आदिग्रन्थ मे बारम्बार विरोध हुआ है। तांत्रिको के सम्बन्ध मे सामान्य चर्चा कर ही दी गई है। तत्र दर्शन शरीरी जीव और विश्वात्मा मे तात्त्विक भेद स्वीकार नही करते। तदनुसार आत्मा भी चित्सवित् सत्ता है। वे शिव की शक्ति को विश्वात्मा या महामाया मानते हैं एव यह स्वीकार करते है कि कुण्डलिनी के रूप मे वही जीव या प्राण-शक्ति का स्रोत है। वही मूलाधार चक्र मे शरीर मे अधोमुखी अवस्था मे स्थित रहती है। उनका मत यह भी है कि माया शक्ति के कारण ही आत्मशक्ति, जीव (Embodied Soul) का रूप धारण करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें जीव का यथार्थ अस्तित्व मान्य है। जीव के स्वरूप को परिभाषित करते हुए तंत्रग्रन्थो मे कहा गया है कि चित्त आदि इन्द्रियों एव पंचमहाभूतो में सीमित चैतन्य ही 'जीव' है। परादेवी (महामाया) ही तदनुसार परासवित् है और वही विषय-

विषयों के भेद से ब्रह्माण्ड का कनिष्ठ रूप धारण कर 'जीव' कहलाती है। 'शारदा तिलकसार तन्त्र' के अनुसार सच्चिदानन्द स्वरूप शिव मे ही शक्ति तत्त्व का उदय होता है। जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे तान्त्रिक ग्रन्थो में नाद और बिन्दु के रूप में भी चर्चाएं की गई है।

शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार जीव और जगत (जड-चेतन सृष्टि) दोनो ब्रह्ममय हैं। आपाततः उक्त अवधारणा आदिग्रन्थ की जीव सम्बन्धी अवधारणा से पर्याप्त सीमा तक मिलती दिखायी देती है। आचार्य वल्लभ का यह मत भी आदिग्रन्थ मे वर्णित जीव और जगत की धारणा से मिलता दिखायी देता है कि जीव और जगत मिथ्या नहीं बल्कि सत् सत्ताएँ है। जीव स्वय को परमात्मा से भिन्न इसलिए मानने लगता है, क्योंकि वह बुद्धि के विकल्प के प्रभाव के अन्तर्गत आ जाता है। आचार्य शंकर का मत है कि अविद्या के कारण ईश्वर की जीव के रूप मे प्रतीति होती है। लेकिन इसके विपरीत वल्लभ यह मानते है कि ब्रह्म ही रमण करने की इच्छा के हेतु जीवो के रूप मे अपने अनेक रूप बना लेता है। अपने आनन्दाश का निरोधान करने के बाद ब्रह्म स्वय जीव रूप हो जाता है। इसी को परमात्मा की लीला कहा गया है और इसी आधार पर जीव की सत्यता सिद्ध की गयी है। शुद्धाद्वैतवादी जीव को ब्रह्म का असख्यात अश मानते है। उक्त विचार आदिग्रन्थ की जीव सम्बन्धी विचारधारा से पर्याप्त साम्य रखते हैं। शुद्धाद्वैत की जीव की अवधारणा आदिग्रन्थ की जीवावधारणा के साथ प्रत्यभिज्ञावादी शैवों की पशु सम्बन्धी अवधारणा से कही अधिक मिलती-जुलती अनुभव होती है। यदि ध्यान मे देखा जाय तो आदिग्रन्थ मे वर्णित जीव-विचार शुद्धाद्वैत एव प्रत्यभिज्ञावाद के दार्शनिक चिन्तन से पर्याप्त साम्य रखता है। लेकिन जब देवतावाद एव अन्य अवधारणाओं के साथ तुलना करते है तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि निर्गुण विचारधारा के सन्दर्भ मे यह स्वीकार करना कठिन है कि जो कुछ शुद्धाद्वैत या प्रत्यभिज्ञावाद मानता है, जीव के सम्बन्ध मे वैसा ही आदिग्रन्थ मे वीकार कर लिया गया है। आदिग्रन्थ की विचारधारा अनुभव एव समन्वयवादी दृष्टिकोण का मिश्रित रूप है। उसमे समय और परिस्थिति एव मौलिक चेतना के जो अनुरूप लगा, उसे स्वीकार कर लिया गया है और जो-जो बातें मूल सिद्धान्त या मूलभूत अवधारणाओ के अनुरूप प्रतीत नहीं हुई, उन्हे त्याग दिया गया है।

आदिग्रन्थ के अनुसार नाम-सिमरन और गुरु की सेवा, अहं का त्याग एवं परमात्मानुरक्ति ही भक्ति का लक्षण है। वाहगुरु को निराकार स्वयम्भू सत्ता एवं जीव को उसके द्वारा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से धारण किया हुआ रूप बतलाया गया है। इनमें से भक्ति की बहुधा बाते सिक्ख गुरुओ ने वैष्णवो की ही स्वीकार कर ली हैं। परन्तु जहाँ तक उनके दार्शनिक विचारो का सम्बन्ध है, वे अवतारवादी वैष्णव-विचारधारा से भिन्न एव स्वतन्त्र प्रकार के है। उनका जीव-सिद्धान्त भी उक्त वैष्णव दर्शन-प्रणालियो से पूर्णत भिन्न है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा (नारायण) चिदचिद्विशिष्ट सत्ता है। उसमें दाडिम के बीजो की भाँति जीवों की सख्या की अनन्तता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए इस अभेद मे भेद को अनादि बतलाया गया है तदनुसार परमतत्त्व मे ही जड़-चेतन सृष्टि बीज के रूप मे समाहित रहती है। इस प्रकार परमात्मा के द्वारा स्वयं जीव और जगत का रूप धारण करना विशिष्टाद्वैतवाद की मान्यता नही है। आचार्य रामानुज का विचार है कि जीव बुद्धि, प्राण, मन आदि इन्द्रियों का स्वामी एवं उनसे स्वतन्त्र सत्ता है, जिसे उन्होने नारायण का अंश माना है। इसके विपरीत आदिग्रन्थ के अनुसार जीव का स्वरूप रामानुज के द्वारा स्वीकृत जीव के स्वरूप से पर्याप्त भिन्न हो गया है। लेकिन जहाँ तक जीव की परवशता आदि का सम्बन्ध है, सिक्ख गुरु भी परमात्मा की अनुकम्पा एव जीव के द्वारा परमात्म-भक्ति की साधना पर उतना ही बल देते है जितना आचार्य रामानुज ने दिया है।

तृतीय खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा में माया

१ | माया-सिद्धान्त की अवधारणा के आधार

● समाज में पुरुष और स्त्री की स्थिति

समाजशास्त्र के पण्डितो ने आरम्भिक मानव-समाज एव अद्यतन पिछड़ी जातियो मे प्रचलित धार्मिक विश्वासो के निर्मायक कारणो के अध्ययन के उपरान्त यह विश्वास प्रकट किया है कि समाज मे पुरुष या स्त्री की स्थिति का प्रधान आधार अर्थोपार्जन मे उसका अधिक या कम योगदान है। जिस युग की जैसी सामाजिक अवस्था होती है, उसके धार्मिक विश्वास और दार्शनिक मान्यताएँ तदनुरूप ही बनती एव बदलती रहती है। अत जिस किसी युग मे स्त्री की स्थिति उक्त दृष्टि से पुरुष की अपेक्षा अधिक महत्त्व की रही है, उस युग का धार्मिक कर्मकाण्ड प्रधानत. स्त्री की गौरवपूर्ण स्थिति की सूचना देता है। एव जिस समय अर्थोपार्जन का प्रधान उत्तरादायित्व पुरुष के कन्धो पर रहा तब स्त्री का स्थान समाज मे गौण हो गया है और पुरुष की स्थिति ऊपर उठ गयी है। मोहेंजोदडो और हड़प्पा के अवशेषों के साक्ष्य पर अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि आर्य-पूर्व भारतीय समाज की जीविका के निर्वाह का मुख्य साधन कृषि-कार्य था। यह वह अवस्था थी, जिस समय मानव प्रकृति की शक्तियो पर विजय पाने के उपाय नही खोज पाया था। प्राकृतिक शक्तियो के रहस्य से अनवगत होने के कारण ही उसने अधिक उपज के लिए जादू-टोना आदि विश्वासो का आश्रय लिया। इसके सम्बन्ध मे ब्रीफाल्ट महोदय लिखते हैं कि आरम्भिक स्थिति के मानव का यह विश्वास था कि अधिक अन्न प्राप्त करने के लिए उसकी निपुणता एव परिश्रम इतना काम नही देता, जितना जादू-टोना की शक्ति फलवती हो सकती है।[१]

अब तक भी विभिन्न भारतीय उत्सव एवं धार्मिक कर्मकाण्ड अधिकाशत. कृषि से ही सम्बन्धित हैं, क्योकि यह देश अब भी कृषि प्रधान देश है। यद्यपि एक

१ The Mothers (2nd Edo) Londan, 1952, iii, पृ० २-३, "The art of Cultivation is regarded by all uncivilized people as depending in an even high degree than other operations, upon magical power and procedures rather on skill and manual labour."

बार पुरुष के प्रभुत्व की स्थापना के उपरान्त नारी जाति का छीना हुआ गौरव उसे वापिस नही मिल पाया तथापि ऐसे उत्सवों मे उसकी प्रधानता अब भी पूर्ववत् विद्यमान है। अथर्ववेद के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि उसमे अन्तर्भुक्ति के उपरान्त स्वीकृत आर्येतर विश्वासों का प्राचुर्य है। केवल इतना ही नही, परवर्ती ऋग्वैदिक ऋचाओ में भी हमे उक्त कर्मकाण्ड एव विश्वासों की चर्चा मिल जाती है, जो परिवर्तित परिस्थितियों एवं उनके कारण स्वीकृत नये विश्वासों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। कृषि प्रधान समाज मे प्रचलित विश्वासों के संकेत हमे उपनिषदों एवं गृह्यसूत्रो मे भी इधर-उधार बिखरे रूप में प्राप्त हो जाते हैं। गृह्यसूत्रो में विभिन्न स्थानों पर कृषि-कार्य आरम्भ करने से पूर्व क्षेत्र के देवता की पूजा का विधान किया गया है। तदनुतार 'सीता' हल देवी है एव इसी तरह के अन्य उल्लेख संकेत करते हैं कि प्रत्येक कृषि-सम्बन्धी कार्य के समय विभिन्न देवियो की पूजा का प्रचलन उस समय अवश्य विद्यमान था।[1]

तान्त्रिको ने परमसत्ता को देवी के रूप मे पूज्य माना है और तान्त्रिक विश्वास एव मान्यताएँ कृषि प्रधान समाज मे ही विशेष प्रचलित रही हैं और ये ही बाद में भारतीय धर्म-साधना के विशेष अग बनी है। चाणक्य के अर्थशास्त्र मे कृषि का कार्य आरम्भ करने से पहले विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने का विधान है। राजनीति की इस रचना में इस प्रकार का आज्ञापरक संकेत यह सूचित करता है कि अधिक अन्न की प्राप्ति के हेतु उस समय के समाज मे ऐसी धारणा अवश्य प्रचलित रही होगी। आरम्भ से ही स्त्री का सम्बन्ध इस प्रकार के कर्मकाण्डो से रहा है, जो तान्त्रिको की शक्ति-पूजा का प्रधान आधार स्वीकार किया जा सकता है। कृषि को नारी-वर्ग के द्वारा किया गया आविष्कार भी माना जाता है, जिसके कारण कृषि सम्बन्धी कर्मकाण्ड मे उसे गौरव का स्थान प्राप्त था। तान्त्रिको की साधनाओ मे गुह्य साधना या वामाचार भी इसी तथ्य की ओर सकेत है। परमसत्ता की स्त्री के रूप मे स्वीकृति परवर्ती समय की दार्शनिक मान्यता का रूप धारण करती प्रतीत होती है। इसी तरह पचमकार की साधनाओ के अन्तर्गत दार्शनिक विश्वासो से तनिक मुक्त होकर यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि इस प्रकार के दार्शनिक आरोपण परवर्ती है। मूलतः यह एक प्रकार की कर्मकाण्डात्मक साधना है, जिसे जादू-टोना के ही अन्तर्गत रखा जा सकता है।

तान्त्रिक साधक 'वामोभूत्वा' अर्थात् स्वय को स्त्री मानकर साधना करते है। वामाचार का सीधा अर्थ यही हो सकता है कि यह वह आचार है, जिसका सम्पादन स्त्री के हाथों से होता है। इस मान्यता का ही परवर्ती काल मे आदर्शीकरण कर

---

[1] ऋ० वे० ४।५७।६, आश्वलायन गृह्य सूत्र, २-१०-४, सांख्यायन गृह्यसूत्र, ५-१३-५, भारद्वाज गृह्यसूत्र, २-१०, पारस्कर गृह्यसूत्र, २-१७-९, गोभिल गृह्यसूत्र, ४-४-२७,

दिया गया प्रतीत होता है। परवर्ती योग-साधनाएँ भी अपने भीतर स्त्री तत्त्व की अनुभूति की बात करती है, जो यह सूचित करता है कि योग की साधना जादू-टोना का ही आदर्शीकृत रूप है। स्त्री को ही कृषि-कार्यों मे अधिक महत्त्व क्यों दिया गया, इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध मे विद्वानो ने इनमे प्रजनन-शक्ति की समानता के आधार की खोज की है। कुण्डलिनी को सहस्रार मे ले जाने की मान्यता भी इस ओर सकेत करती है कि व्यक्ति (साधक) को अपना सम्पूर्ण पुरुषत्व परिवर्तित कर नारी रूप हो जाना चाहिए। कहा जाता है कि प्रत्येक पुरुष मे सम्पूर्ण स्त्री-शक्तियाँ विद्यमान रहती है। तान्त्रिको के द्वारा नारी को विशेष सम्मान देने का मुख्य कारण नारी जाति का कृषि-कार्य मे विशेष महत्त्व ही हो सकता है।

तान्त्रिक साधनाओ मे योनि-साधना का स्थान सर्वोपरि है। योनि प्रजनन-शक्ति का प्रतीक है। आरम्भिक विश्वास के अनुसार यह प्रजनन-शक्ति स्त्री मे ही मानी गयी थी। गर्भवती स्त्री द्वारा खेत मे बीज-वपन करवाने मे अधिक अन्न को उत्पत्ति होती है—यह विश्वास भी स्त्री के महत्त्व का सूचक है। यही आदिम विश्वास आगे चल कर देवी-पूजा का आधार बना। कामाख्या देवी को योनि के रूप मे प्रस्तुत करना इसी मान्यता का परिचायक है। योनि के साथ लिग की पूजा सम्पूर्ण विश्व की अत्यधिक प्राचीन मान्यता है। मोहेजोदडो और हडप्पा से प्राप्त योनि और लिग की मूर्तियो मे यह विश्वास और अधिक दृढ हो गया है कि नारी को देवी का स्थान क्यो और कैसे प्राप्त हुआ। अब तक भी यह विश्वास प्रचलित है कि धरती ऋतुमती होती है और अगर उस समय उसमे बीज-वपन किया जाय तो उससे अधिक अन्न प्राप्त हो सकता है। तान्त्रिको मे 'ख-पुष्प' की मान्यता भी ऋतु धर्म की ओर सकेत है। सामूहिक यौन-सम्बन्ध का प्रचलन भी यही बतलाता है कि तान्त्रिक विचारधारा कृषि प्रधान सामाजिक परिस्थितियो की परिणति या उपलब्धि थी। कृषि मे प्रयुक्त 'हल' लिग का प्रतीक है और धरती के अन्तस् को योनि के रूप मे स्वीकार किया गया है। धीरे-धीरे जिस समय समाज पुरुष प्रधान बना, तब इस प्रकार के समूचे कर्मकाण्ड की आदर्शात्मक व्याख्याएँ कर ली गयी। यह समूची परम्परा मुख्यत. अवैदिक अथवा आर्येतर है, जो कालान्तर मे हिन्दू धर्म के मुख्य अग के रूप मे हमारे सम्मुख प्रस्तुत हुई है।

● परिस्थिति-परिवर्तन

उक्त आरम्भिक परिस्थितियो एव उनमे नारी का सामाजिक महत्त्व कालान्तर मे वैसे-का-वैसा बना न रह सका। सिन्धु सभ्यता वाले समाज की पराजय और नवागत आर्यो की विजय के प्रभाव के कारण मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन हुआ और समाज मे पुरुष का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया। गणराज्य-व्यवस्था भग हुई और उसके स्थान पर राज्य-व्यवस्था का प्रसार हुआ। लेकिन पूर्ववर्ती विश्वासो को एकदम समाप्त कर देना सम्भव नहीं था। यह आवश्यक

नही कि मातृसत्तात्मक व्यवस्था केवल कृषि प्रधान समाज मे ही उभरती और पनपती है। अन्य ऐसे अनेक कारण भी है, जो नारी जाति की सामाजिक स्थिति को पुरुष जाति की स्थिति से बेहतर बनाते है। यह आज के युग मे भी देखा जा सकता है। कुछ भी हो सहिताओ में पुरुष देवताओं का प्राधान्य है और उसका कारण वैदिक युगीन आर्य जाति मे पितृसत्तात्मक सामाजिक प्रभाव ही स्वीकार किया जा सकता है। यह अनुमान लगाना असगत नही होगा कि विरल सख्या वाले नवागत आर्यो को यहाँ के लोगो से हर प्रकार का समझौता करना पडा होगा और अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया अवश्य सक्रिय रही होगी। आर्यो ने अपने पूर्वजो के पेशे का परित्याग कर कृषि के कार्य को अवश्य स्वीकार किया होगा और यहाँ के मूल निवासियो से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये होगे। इसी का यह परिणाम है कि परवर्ती काल मे प्रत्येक प्रधान देवता की पत्नी के रूप मे हमे देवी की उपासना के उल्लेख भी प्राप्त होते है।

आरम्भ मे देवताओ के साथ उनकी पत्नियो की मात्र चर्चा ही पर्याप्त समझी गयी। लेकिन समय बीतने के साथ-साथ देवी की उपासना का प्रचार बढता गया है। 'माया' शब्द का प्रथम उल्लेख हमे ऋग्वेद मे मिलता तो है, लेकिन विद्वानो के मत मे इन्द्र का माया के द्वारा कुछ कार्य करना उसके चातुर्य, शक्ति, छल एव नैपुण्य का ही सूचक है—किसी ऐसी शक्ति विशेष का परिचायक नही, जैसा कि कालान्तर मे देखने को मिलता है। यज्ञयागादि कर्मकाण्ड और वर्णव्यवस्था की मान्यता प्राप्ति के साथ ही आर्येतर विश्वास भी बने रहे। धीरे-धीरे देवतावाद से देवाधिदेव की धारणा बनी, लेकिन साथ ही बहुदेववाद के प्रति विश्वास के बने रहने पर उपासको के द्वारा विभिन्न देवी-देवताओ की पूजा का प्रचलन भी जारी रहा। वैचारिक स्तर पर देवाधिदेव की निराकार परमसत्ता को स्वीकार कर लिया गया, परन्तु इससे देवी-देवताओ के उपासको के विश्वासो मे कोई अन्तर नही आया। जगत की रचना, जीव के जन्मान्तर एव उसे प्राप्त होने वाले कर्म-फल के साथ ही यह विश्वास भी जुड गया कि प्रसन्न होकर देवता अपने उपासको की मनोकामना पूरी करता है। ऐसी मान्यता की स्थिति में अपने-अपने उपास्य की स्तुतियो मे उसे परमसत्ता ही स्वीकार किया गया और प्रत्येक उपासक ने अपने उपास्य को सृष्टि का कर्ता, पालक एव दुख निवारक मान लिया। धीरे-धीरे देवी ने भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया और वह मात्र किसी देवता विशेष की पत्नी न होकर सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ सत्ता बन गयी। समूचे भारत मे देवी-पूजा का प्रचार फैला और किसी एक देवी को मुख्य मानकर अन्य देवियो को उसकी शक्तियाँ स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार देवी और देवता मे प्रधान एव गौण का भेद समाप्त हो गया। यह भी मान लिया गया कि देवी और देवता मे परस्पर किसी प्रकार का तात्त्विक भेद है ही नही। यह उपासक की रुचि पर निर्भर करता है कि वह परमसत्ता को नारी के रूप मे उपास्य माने या पुरुष के रूप मे।

शाक्तो, शैवों, हिन्दुओ एव बौद्ध तान्त्रिको के विभिन्न सम्प्रदायो एव उनमें प्रचलित उपासना-विधियो के अध्ययन से पता चलता है कि देवी के रूप मे परमसत्ता की उपासना को विशेष प्रचार प्राप्त हुआ है। उसी प्रसंग मे पौराणिक युग की चर्चा करना भी असंगत नही होगा। हिन्दू धर्म बहुदेवतावाद प्रधान धर्म रहा है क्योंकि उस विशाल देश मे एकेश्वरवादी धारणा का पूर्णाधिपत्य सम्भव नही था। हिन्दू धर्म मे शिव और विष्णु को परमसत्ता के रूप में स्वीकार कर लेने के उपरान्त उनके द्वारा सृष्टि की रचना के प्रसग में उनकी शक्तियो की कल्पना की गयी है। उनकी पत्नियाँ स्वतन्त्र शक्ति के रूप में भी उपास्या बनी है। उनके साथ ऐसी कथाओ के सूत्र पिरो दिये गये है, जिससे दार्शनिक चिन्तन के लिए यह अवकाश निकल आया है कि परमसत्ता अपने सक्रिय या शक्ति-पक्ष के द्वारा सृष्टि की रचना करती है। विभिन्न विचारको ने इन अवधारणाओ की विभिन्न पक्षों एव दृष्टियो से व्याख्या भी की है। किसी ने यह माना है कि परमसत्ता स्वय पराद्वैत ही बनी रहती है और उसका शक्ति रूप ही जगत के रूप मे परिणत होता है। अथवा यह स्वीकार किया गया है कि परमसत्ता निमित्त कारण शक्ति है, जो अनादिकाल से विद्यमान उपादान सामग्री को लेकर ब्रह्माण्ड की रचना करती है। उसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान माना गया है।

● नारी रूप मे विश्वमाया की स्वीकृति

कालान्तर मे हिन्दू धर्म के वैदिक कर्मकाण्डात्मक स्वरूप के विरोध मे बौद्ध-धर्म का प्रचार भारतीय चिन्तन-धारा की मुख्य विशेषता बनी है। बुद्ध स्वय परमात्मा के अस्तित्त्व के सम्बन्ध मे मौन रहे है, लेकिन उनका मौन यह ध्वनित करता है कि जीव के कर्मों एवं उन कर्मों का अनुकूल या प्रतिकूल फल देने वाली किसी अतिमानवी सत्ता का अस्तित्त्व उन्हे मान्य नही था। बुद्ध के बाद बौद्ध-धर्म का स्वरूप पर्याप्त बदल गया और उसमे भक्ति का प्रवेश हुआ या हिन्दू-धर्म के समानान्तर अपने धर्म के व्यापक प्रचार के लिए बौद्ध विचारको ने ऐसा परिवर्तन स्वय कर लिया। आरम्भ मे उसी व्यक्ति को इस धर्म मे दीक्षित किया जाता था, जिसकी पात्रता पहले परख ली जाती थी। बाद मे सभी स्तर के लोगो को दीक्षित किया जाने लगा। नवदीक्षित लोगो ने धीरे-धीरे अपने विश्वासो के अनुरूप बौद्ध-धर्म को परिवर्तित कर दिया। साराश यह है कि हिन्दू एवं बौद्ध—दोनो ही धर्म काल-गति के प्रभाव के कारण तंत्र प्रधान धर्म बन गये। बौद्धो मे प्रज्ञोपाय एव करुणा तथा शून्यता की अवधारणा एव शैवो मे शिव और शक्ति तथा हर और गौरी का स्वीकृत दार्शनिक रूप इस ओर संकेत करता है कि तांत्रिक काल मे देवी की पूजा का अधिक प्राबल्य रहा है। एतत्सम्बन्धी मान्यताएँ बहुधा प्राचीन यौन सम्बन्धो का ही आदर्शीकरण हैं। इसके सम्बन्ध मे दास गुप्ता के निम्न विचार ध्यातव्य है। वे लिखते हैं कि यौनात्मक यौगिक क्रियाएँ अत्यन्त प्राचीन विश्वास है और ये प्रायः सभी भारतीय आध्यात्मिक

धारणाओं एवं धार्मिक कर्मकाण्ड में उपलब्ध होती है। धीरे धीरे इन्हें शैवों और शाक्तों के द्वारा अपना लिया गया। बौद्धों ने भी इन्हें अपनाया जिसके फलस्वरूप बौद्ध तंत्र मतों का आरम्भ हुआ। यह परम्परा वैष्णव एवं बौद्ध सहजिया सम्प्रदायों तक अपनी निरन्तरता बनाये हुए है।[1] इसके सम्बन्ध में लोकायतकार का विचार है कि तंत्र मूलतः न बौद्ध है और न हिन्दू बल्कि उसका मूल उत्स कृषि है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है

We have as a matter of fact tried to follow this procedure and were led to the view that Tantrism is neither Buddhist nor Hindu but simply agricultural in origin [2]

तान्त्रिकों की सृष्टि रचना सम्बन्धी धारणा वस्तुतः काम अर्थात् स्त्री एवं पुरुष के यौन सम्बन्धों की अनुवर्तिनी है क्योंकि वे विश्व को वामा उद्भूत मानते हैं। उड़ीसा के प्रसिद्ध मन्दिरों एवं खजुराहो में टंकित मूर्तियों के पीछे इसी विश्वास को उत्खनन किया गया है। इसी तरह बौद्धों का वज्रयान आम्नाय एवं कालचक्रयान भी विश्वोत्पत्ति को स्त्री तत्व की अभिव्यक्ति मानता है। भारतीय दर्शन परम्परा में तांत्रिकों की अवधारणा भी इसी मान्यता को पुष्ट करती है। तंत्रागम के अन्तर्गत भी स्त्री का प्राधान्य है जिसमें विश्व को वामा से उद्भूत माना गया है। इस प्रकार की सभी मान्यताएँ अपने मूलरूप में तांत्रिक ही प्रतीत होती हैं जिनका धार्मिक विश्वासों के अन्तर्गत आदर्शीकरण कर लिया गया है। योग की सभी साधनाओं में भी प्रायः यही अवधारणा परिवर्तित रूप धारण कर साकार हुई प्रतीत होती है।

हम लौटकर पुनः उसी आरम्भ बिन्दु पर आते हैं कि प्रत्येक युग के धार्मिक विश्वास एवं दार्शनिक मान्यताएँ मुख्यतः तद्युगीन सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित होती हैं। भारतीय दर्शन-परम्परा में माया देवी या ईश्वर की शक्ति की स्वीकृति की परम्परा भी इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत आती है। उपलब्ध सामग्री का ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर विवेचन विश्लेषण करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरम्भिक युगों में स्त्री को प्राप्त सामाजिक महत्त्व ही देवी या शक्ति एवं माया की अवधारणा का आधार रहा है जो परिवर्तित परिस्थितियों में विभिन्न रूप धारण करता हुआ निगुण सन्तों और सिक्ख गुरुओं की विचारधारा तक अपना स्थान बनाये हुए है।

---

[1] आब्स्क्योर रिलिजस कल्टस एज बैक ग्राउंड आफ बंगाली लिटरेचर (कलकत्ता १९४६) पृ० २७ २८

[2] लोकायत पृ० ३३०

२ | वेदोपनिषद् एवं गीता में माया-विचार

● **विश्व की रचना करने वाली शक्ति (माया) : परम्परा**

नामरूपात्मक ब्रह्माण्ड भारतीय दर्शनो की विचारणा का प्रधान विषय रहा है। ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थो, उपनिषदो और गीता मे हमे जगत की रचना के बारे मे विचारको के भिन्न-भिन्न विचार उपलब्ध होते है। जैन एव बौद्ध तथा साख्य-योग और न्याय-वैशेषिक दर्शनो मे जगत की रचना के प्रसग को उठाकर अपने-अपने सिद्धान्तो के अनुरूप उत्तर दिये गये है। इसी तरह आदर्शवादियो और यथार्थवादियो की मान्यताओ मे भी पर्याप्त मत-भेद दिखायी देता है। आदर्शवादियो द्वारा परमात्मा (परमसत्ता) के अस्तित्व की स्वीकृति के उपरान्त जगत के निर्माता का प्रश्न सामने आया, जिसके साथ यह विचार सूत्र भी सम्बन्धित हो गया कि ईश्वर (परमसत्ता) सृष्टि की रचना बिना किसी उपादान सामग्री की सहायता के करता है अथवा उसे अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त अनादि उपादान की भी आवश्यकता है। इसके उत्तर मे साख्य दर्शन ने जगत की रचना को प्रकृति का परिणमन माना, लेकिन जिन्होने जगत को ब्रह्म की रचना स्वीकार किया, उन्हे यह मानना पडा कि जगत का रूप धारण करने पर भी परमसत्ता स्वय अपरिणामी ही बनी रहती है। सृष्टि की रचना को लेकर जो दर्शन ईश्वर के साथ परमाणुओ के अनादि अस्तित्व को मानते है, उनके लिए ईश्वर के द्वारा जगत का रूप धारण करने एव स्वय अपरिणामी बने रहने का प्रश्न ही नही। जिन दर्शनो मे परमसत्ता की अद्वैतता पर बल दिया गया है, उनमे आरम्भ मे ही परमतत्त्व (परमात्मा) के दो पक्ष—शक्ति और शक्तिमान—स्वीकार कर लिये गये है। उनके अनुसार परमतत्त्व का एक स्वरूप शक्तिमान का है और दूसरा उसकी शक्ति का। इस प्रकार उनमे शक्तिमान और उसकी शक्ति परमसत्ता के दो जुडवे रूप स्वीकार किये गये है।

माया या ब्रह्म की शक्ति का सैद्धान्तिक निरूपण विशेष रूप से तब आरम्भ हुआ, जिस समय शकराचार्य ने मायावाद की प्रतिष्ठा कर जगत का मिथ्यात्व सिद्ध किया। इससे पहले माया-सिद्धान्त दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य नही रहा। आचार्य शंकर ने बौद्धो के शून्यवाद का खण्डन करने के हेतु जगत की आभास सत्ता मानी है।

शून्यवाद के खण्डन के प्रसंग में उन्होने ब्रह्म को परमसत्य सिद्ध किया है तथा माया और अविद्या नामक दो अनिर्वचनीय एव अवास्तविक शक्तियो के द्वारा ब्रह्म की ईश्वर के रूप में और ईश्वर की जीव के रूप मे प्रतीति के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है। काश्मीर शैवो ने शिव और शक्ति के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा एव शांकर मायावाद का खण्डन कर यह सिद्ध किया है कि जगत मिथ्या न होकर परमशिव का स्पन्द है। तांत्रिको (शाक्तो) ने शक्ति के बिना शिव को शव मानकर शक्ति को ही परमसत्ता का रूप दे दिया है। उनके अनुसार जगत मिथ्या न होकर शक्ति का रूप या उसका क्रीड़ा-विलास है। शाकर मायावाद के विरोध मे वैष्णव आचार्यों ने जगत और जीव सम्बन्धी अद्वैतवेदान्तियो की मान्यताओ का खण्डन करते हुए, परमसत्ता और उसकी शक्ति के सिद्धान्तो द्वारा जीव और जगत के सम्बन्ध मे अपनी-अपनी धारणाएँ स्पष्ट की है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत आदि नये दार्शनिक सिद्धान्तो के माध्यम से माया या परमसत्ता (ब्रह्म) की शक्ति के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये जाते रहे है।

आदिग्रन्थ मे दार्शनिक रीति का अनुसरण न करते हुए भी वाहगुरु की 'कुदरति' उसके 'हुकम' एव 'इच्छा' के रूप मे वाहगुरु द्वारा जगत की रचना की मान्यता को भिन्न-भिन्न शैलियो से प्रतिपादित किया गया है। तदनुसार वाहगुरु सत्य स्वरूप सत्ता है और जगत उसका धारण किया हुआ अपना ही रूप होने के कारण सत्य है- मिथ्या नही। माया के उल्लेख भी आदिग्रन्थ मे हुए है, लेकिन माया से गुरुनानक का आशय मुख्यत अविद्या से है। वे उसे वाहगुरु की रचना मानते है— उसकी 'कुदरत', 'हुकम', 'इच्छा' या 'स्वभाव' नही। माया का उल्लेख उन्होने जीव के अज्ञान के प्रसग मे ही किया है। गुरुनानक के अनुसार माया वाहगुरु के सकेत पर ही जीवो को ससार के सागर मे भटकाती रहती है। अभी तक इस ओर विद्वानो का ध्यान ही नही गया है कि वे गुरमत के अनुसार जगत को वाहगुरु की रचना किस प्रकार से सिद्ध करें, जिससे जगत और ससार दो भिन्न मान्यताएँ स्वीकार की जा सके। यदि गुरुनानक जगत को मिथ्या मानते तब तो यह कहा जा सकता था कि वे अद्वैत-वेदान्तियो की भाँति ही माया का सिद्धान्त स्वीकार करते है, लेकिन ऐसा है नही। प्रस्तुत अध्याय मे इसी समस्या पर विशेष विचार किया गया है। सर्वप्रथम भारतीय दर्शन-परम्परा मे माया के स्वरूप के बारे मे विचार हुआ है ताकि इस सम्बन्ध मे समूची पारम्परिक विचारधारा से अवगत हुआ जा सके। तदनन्तर दो अलग-अलग शीर्षको मे वाहगुरु की 'कुदरत' एव उसकी 'माया' की चर्चा कर इस ओर ध्यान दिलाया गया है कि 'कुदरत' और माया गुरुनानक की दृष्टि मे दो भिन्न एव स्वतन्त्र मान्यताएँ है। एक का सम्बन्ध जगत की रचना से है और दूसरी (माया) जीव को व्यामोह में डालने वाली वाहगुरु की रची हुई उसकी कुदरत (शक्ति) की ही एक सामर्थ्य विशेष है।

● **वेदोपनिषद् एव गीता मे माया का स्वरूप**

भारतीय दशन परम्परा मे माया का प्रधान सम्बन्ध आदशवादी जगत की रचना से रहा है। ब्रह्म को ब्रह्माण्ड का कर्ता मान कर उसके कतृत्व के प्रसग म उसी की शक्ति के रूप मे ही प्राय माया की स्वरूप चर्चा की गई है। माया की विशेष ढग से चर्चा करते हुए शकराचाय ने ऋग्वेद के एक मत्र[1] के आधार पर यह कहा है कि जीव और जगत के रूप म ब्रह्म (इन्द्र) की प्रतीति होती है—उनकी यथाथ सत्ता का ज्ञान नही। इस प्रतीति का कारण उन्होने अविद्या (माया) को माना है और यह भी स्वीकार किया है कि माया ब्रह्म के यथाथ स्वरूप को सवलित कर लेती है जिसके कारण वह ईश्वर के रूप म भासित होने लगता है। लेकिन वैष्णव आचार्यों को शकर का जगन्मिथ्या सिद्धान्त प्रस्थानत्रयी के अनुरूप स्वीकार करने मे आपत्ति है अत उन्होने जगत की चर्चा के प्रसग म शाकर मायावाद का भिन्न भिन्न दष्टियो से खण्डन किया है। शकराचाय एव वैष्णव आचाय माया सम्बन्धी मान्यताओ के क्षेत्र मे भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए भी इस विषय मे एकमत है कि वेदो म ही माया सम्बन्धी दाशनिक मान्यताओ की मूल धारणाए विद्यमान है। अन्तर केवल यह है कि ये आचाय प्रस्थानत्रयी एव सहिता मत्रो के अर्थों के बारे मे एकमत नही है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता की खोज से पूव भारतीय दशन का आरम्भ बिन्दु सहिताए ही मानी जाती रही है लेकिन उसके बाद उपलब्ध नयी सामग्री के आधार पर यह स्वीकार किया जाने लगा है कि आय विचारधारा मे उनके पूववर्ती समाज की विभिन्न धारणाओ का मिश्रण ऋग्वेद के समय म ही आरम्भ हो गया था। उपनिषत्काल म याज्ञिक कमकाण्ड के स्थान पर अध्यात्म विद्या को विशेष महत्त्व प्राप्त होने की घटना परवर्ती है। प्राचीन दशन साहित्य के आदशवादी व्याख्याकार डा० राधाकृष्णन का मत भी यही है कि नवागत आय पूववर्ती समाज को परास्त करने के उपरान्त स्वय उसकी नागरिक सभ्यता म प्रभावित हुए और कालान्तर मे उन्होने उनकी बहुतेरी मान्यताओ को अपना भी लिया। इसी तरह के विचार अभिव्यक्त करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि परवर्ती ब्राह्मण धम आय एव आर्येतर विचारधारा का मिश्रण है।[2] इस कारण माया सम्बन्धी विभिन्न धारणाओ पर भी इस मिश्रण का पर्याप्त प्रभाव पडा।

इस विषय म किसी को भी आपत्ति नही कि भारतीय सस्कृति एव दशन का आधुनिक ढग पर सुव्यवस्थित अध्ययन पश्चिमी विद्वानो द्वारा अठारहवी शताब्दी के

---

[1] रूप रूप प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूप प्रति चक्षणाय इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरय शतादश ।

[2] ईस्टन रिलिजन एण्ड वेस्टन थॉट ए विजन आफ इण्डियाज़ हिस्ट्री पृ० ३४,

अन्तिम दशक में आरम्भ हुआ था। उनके द्वारा इस ओर ध्यान दिये जाने के प्रेरणा-स्रोत कुछ भी रहे हो, लेकिन हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि ए० ई० गफ, मेक्समूलर, ड्यूसन और जैकोबी आदि विद्वानो ने सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक एवं विलसन के इस दिशा मे किये गये कार्य को आगे बढाया और दास गुप्ता राधाकृष्णन्, बेलवलकर, हिरियन्ना और विद्याभूषण आदि ने भी इन उपलब्धियो से लाभ उठाते हुए, भारत के अतीत गौरव के पुनर्मूल्याकन एवं राष्ट्रीय चेतना के जागरण के हेतु एतत्सम्बन्धी अध्ययन प्रस्तुत किये। अत. किसी युग-विशेष की दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन, उसके सामाजिक तथा आर्थिक आधार पर ही किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने वालो की मान्यता है कि दर्शन अपने आप मे पूर्ण नही होता। वह मानव-चिन्तन के अन्य पक्षो की भाँति युगीन जीवन की सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो को प्रतिबिम्बित करता है। इस सम्बन्ध मे मार्क्स का विचार है कि अस्तित्व के भौतिक साधनो को मानव की चेतना निर्धारित नही करती, बल्कि स्वय उसका सामाजिक अस्तित्व मानव-चेतना के निर्धारण का कारण बना करता है। इसके विपरीत आदर्शवादी विचारक वेदो को ईश्वरीय ज्ञान एव उपनिषदो को वेदान्त मानते है। उनका मत है कि उपनिषदो मे वैदिक मान्यताएँ ही परिवर्तित ढग से प्रतिपादित हुई है। वे माया की मान्यता का आरम्भ 'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते' से मानते है तथा उपनिषदो मे इस विश्वास की व्याप्ति स्वीकार करते है। आचार्य शकर ने इन्द्र को ब्रह्म मानकर जीव और जगत के रूप मे उसका भासित होना स्वीकार किया है। वे अविद्या या माया को ही इस प्रतीति का कारण बतलाते है। लेकिन अन्य तथ्यो को दृष्टि मे रखकर विचार करने पर ऐसा लगता है कि भौतिकवादी चिन्तको एव आदर्शवादी विचारको की मान्यताओ को सामने रखकर ही वेदोपनिषद् एव गीता मे स्वीकृत माया के स्वरूप के सम्बन्ध मे विचार करना चाहिए।

आदर्शवादी विचारको की यह मान्यता कि माया का उल्लेख वेदो मे हुआ है, ठीक है, लेकिन जगत की रचना करने वाली शक्ति के रूप मे नही। तदनुसार वह इन्द्र का चातुर्य अथवा शत्रुओ को परास्त करने मे प्रयुक्त उसकी योग्यता एव सामर्थ्य है। इन्द्र वैदिक देवता है, जिसे ब्रह्म का पर्याय स्वीकार करना सम्भव नही। तब तक देवाधिदेव की जो धारणा बन रही थी, वह उपनिषदो के ब्रह्म-सिद्धान्त मे बिल्कुल भिन्न प्रकार की थी। जीव और जगत के सम्बन्ध मे उपनिषदो की मान्यताएँ उसी रूप मे संहिता-साहित्य मे उपलब्ध नही होती। ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी सृष्टि की रचना के प्रसग मे ब्रह्म और उसकी शक्ति (माया) के उल्लेख प्राप्त नही होते। यज्ञ स्वर्ग की कामना के हेतु किये जाते थे, अत स्वर्ग की अवधारणा (Concept) आत्म-सिद्धान्त एव मोक्ष से भिन्न प्रकार की थी। वेदो मे माया का वही स्वरूप नही है, जैसा कि उसे परवर्ती काल मे प्राप्त हुआ है। उस समय के आर्यों के समूचे जीवन-दर्शन मे मोक्ष को महत्त्व ही प्राप्त नही हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थो मे जगत की रचना के

प्रसंग मे इसी तथ्य की पुष्टि हुई है कि तब तक ब्रह्म और माया एव उनके सम्बन्धो के विषय में विचारा नही गया था । माया से वैदिक चिन्तको का आशय उनके द्वारा स्वीकृत देवताओ की शक्ति एव चातुर्य से था—ब्रह्म की सर्जन-शक्ति या उसे आवृत करने वाली अनिर्वचनीय सत्ता से नही ।

माया-सिद्धान्त के लिए शाकर अद्वैतवेदान्तियो एव वैष्णवाचार्यों ने प्रस्थानत्रयी को ही प्रधान आधार बनाया है । उनका विचार है कि उनके द्वारा प्रतिपादित माया-सिद्धान्त उपनिषदो का ही माया-विचार है । इसमे कोई सन्देह नही कि उपनिषदों मे ब्रह्म के साथ-साथ जगत और जीव के प्रसग मे माया का उल्लेख भी हुआ है, लेकिन तब तक इस सम्बन्ध मे किसी निश्चित निर्णय पर नही पहुँचा जा सका था ।

ब्रह्मसूत्रो मे भी माया का स्वरूप इतना अधिक लचीला है कि उसमे कोई भी अभीष्ट अर्थ निकाला जा सकता है । यदि उपनिषदो मे माया के सम्बन्ध मे कोई निश्चित अवधारणा बन गयी होती तो ब्रह्मसूत्रो मे उसे और अधिक निश्चितता एवं स्पष्टता सहित निबद्ध कर दिया जाता । ब्रह्मसूत्रो के माया सम्बन्धी विचारो के बारे मे भी विद्वानों मे मतैक्य नही है । यही कारण है कि आचार्य शकर एव वैष्णव आचार्य यह कहते है कि ब्रह्मसूत्रो के मूल माया-सिद्धान्त को ही उन्होने प्रस्तुत किया है । उपनिषदो मे माया के स्वरूप के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये गये है, जिससे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि माया का अन्तिम स्वरूप अभी निर्माण की स्थिति मे था ।

उपनिषदो मे सृष्टि की रचना के उल्लेख ब्रह्म-स्वरूप-वर्णन के प्रसग मे ही हुए है—स्वतन्त्र रूप मे नही । तैत्तिरीय एव छान्दोग्य उपनिषदो के अनुसार 'सत्' को परमसत्ता की निराकार अवस्था माना गया है और 'असत्' का प्रयोग नामरूपात्मक ब्रह्माण्ड की अनभिव्यक्त अवस्था के अर्थ मे हुआ है । मैत्रायण्युपनिषद् के अनुसार सृष्टि की रचना से पहले की अवस्था अन्धकार की स्थिति है ।[१] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार परमात्मा (ब्रह्म) ऊर्णनाभ की भाँति अपने भीतर से ही सृष्टि करता है और इच्छा करने पर उसे पुन. स्वय अपने भीतर समेट भी लेता है ।[२] यही मान्यता तैत्तिरीयोपनिषद् मे 'सत् सत्ता' द्वारा स्वय अपने आपको जगत के रूप मे साकार करने के रूप मे दुहरायी गयी है ।

उपनिषदो में ब्रह्म को अनादि चैतन्य मानकर पुन उसी से देव एव देवेतर सृष्टि के साकार होने की चर्चा भी मिल जाती है ।[3] उपनिषदो के विचार प्रायः 'नासदीय सूक्त' के सृष्टि-सिद्धान्त का ही उपबृंहण है । श्वेताश्वतरोपनिषद् मे

---

[१] तैत्ति० उप० १-७-१, छान्दो० उप० ६-३-१, वही० १-८-१, मैत्रायणु० प्रपाठक ४, ५,

[२] छा० उप० ७-२४-१, मुण्ड० उप० खड १, मत्र ७,

[3] श्वे० उप० ५-१८, तैत्ति० उप० २-७, छा० उप० ६-२, बृ० उप० ४-१०-१,

मायिन् (ब्रह्म) की माया के द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना स्वीकार कर ली गयी है। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ब्रह्म द्वारा अपनी शक्ति के माध्यम से जगत की रचना करने के रूप में माया को सैद्धान्तिक रूप प्राप्त करने मे पर्याप्त समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी है। भगवद्गीता मे जगत-विचार के प्रसग मे महद्योनि के रूप मे माया के उल्लेख हुए है। उपनिषदो मे यदि माया को साख्यों की प्रकृति मे स्वतन्त्र ब्रह्म की शक्ति के रूप मे अन्तिम मान्यता प्राप्त हो गयी होती तो गीता का जगत-सिद्धान्त प्रस्तुत रूप मे न होकर किसी दूसरे रूप मे होता। गीता मे क्षर और अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम की सत्ता को स्वीकार कर लेने के बाद उसकी शक्ति के द्वारा जगत की रचना के सिद्धान्त का निरूपण हुआ है। तदनुसार पुरुष और प्रकृति को क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र के रूप मे वर्णित किया गया है।[1] गीता की उक्त विचारणा को दृष्टि मे रखकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वेदो के इन्द्र की शक्ति या उसके चातुर्य ने ही कालान्तर मे उपनिषदों और गीता मे ब्रह्म की शक्ति का रूप प्राप्त किया है। शकराचार्य एव वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के साक्ष्य पर अपने-अपने माया-सिद्धान्त की प्रस्थापना की है।

[1] गीता, अध्या० १५-१६ से १८, १३-२७, ६-१०.

३ | अद्वैतवेदांत काश्मीर शैव एवं तंत्रदर्शनों में स्वीकृत माया का स्वरूप

● अद्वैतवेदान्त में माया का स्वरूप

अद्वैतवेदान्तियो के अनुसार माया के प्रभाव या आवरण के कारण ब्रह्म पहले ईश्वर, उसके बाद जीव तथा अन्त मे जगत के रूप मे भासित होता है। यही कारण है कि वे 'ईश्वर' 'जीव' और 'जगत'—तीनो के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार नही करते। वे इन्हे केवल उपाधि, आभास अथवा प्रतीति-अस्तित्व मात्र मानते है। वे यह भी मानते है कि माया और अविद्या के कारण होने वाली प्रतीति भ्रम है, और वास्तविकना की जानकारी के उपरान्त यह भ्रम दूर हो जाता है। शांकर अद्वैत सिद्धान्त का सक्षेप मे यही स्वरूप है।

ऋग्वेद मे ऐसे कई मत्र पाये जाते है, जिनमे इन्द्र को अपनी माया के द्वारा अनेक रूप धारण करता हुआ वतलाया गया है।[1] सहिताओ के अन्तिम भाग होने के कारण ही उपनिषदो को वेदान्त कहा गया है। शकराचार्य का मत है कि उपनिषदों की विचारधारा पूर्वमीमांसा के नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों मे सम्बन्धित सिद्धान्तो का विरोध करती है। उनके अनुसार पराविद्या ही उपनिषत्साहित्य का प्रधान प्रतिपाद्य है। वे यह भी मानते है कि उपनिषदो मे केवल परब्रह्म अथवा निर्गुण ब्रह्म को ही शाश्वत सत्ता स्वीकार किया गया है। शकराचार्य ने इसी आधार पर शून्यवादी माध्यमिको के शून्य-सिद्धान्त का खण्डन कर, 'ब्रह्म' की सच्चिदानन्द सत्ता सिद्ध की है।

शकराचार्य केवल ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता मानते है और जीव तथा जगत के आभास या प्रतीति को अन्त करण तथा इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत मिथ्याज्ञान का नाम देते हैं। उनका कहना है कि उपर्युक्त कोटि के मिथ्याज्ञान के कारण होने वाली प्रतीति (मायावरण) के हटते ही पुन सत्य तत्व अपने वास्तविक रूप मे प्रकाशित

---

[1] ऋ० वे० ४।७।३३।३, रूप रूप प्रतिरूपो वभूव तदस्य रूप प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभि. पुरुरूप ईयते ह्यस्य हरय शतादश ·· ··· ॥

होने लगता है। श्री एम० के० वेंकट राय आय्यर ने प्रो० एडिंगटन की चित्त-सम्बन्धी धारणा और शंकराचार्य के इन्द्रिय-मिथ्याज्ञान में पर्याप्त साम्य स्वीकार किया है।[१] दार्शनिक काण्ट के विचार में भी प्रारम्भिक अनुभूतियाँ निर्विशेष एवं स्वलक्षणा ही होती हैं। उन्हें जाति, क्रिया एवं गुणों से सम्बद्ध कर उपस्थित करना चित्त का धर्म है। काण्ट की यह धारणा शंकराचार्य के मिथ्याज्ञान की धारणा से पर्याप्त साम्य रखती है।

शंकराचार्य के अनुसार माया ही ज्ञाता और ज्ञेय को अवास्तविक या विकृत रूप में उपस्थित करती है।[२] वह माया की आवरण और विक्षेप दो शक्तियाँ मानते है। उनके अनुसार माया इन्हीं शक्तियों द्वारा अपना कार्य सम्पन्न करती है। अत. बुद्धि अथवा अन्त करण के द्वारा सत्य तत्त्व की प्रतीति हमें जिन रूपों में होती है, उसका शुद्ध स्वरूप वही नहीं होता, जैसा हम मान लेते है। शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त का स्पष्ट तौर पर उल्लेख किया है कि अद्वैत सत्ता (ब्रह्म) इन्द्रियों के सीमित ज्ञान के कारण ही ईश्वर, जीव और जगत के रूप में प्रतीत होती है। उन के मत में इन्द्रियों की सीमा ही उपाधि है और यह कार्य माया और अविद्या की आवरण-शक्तियों द्वारा सम्पन्न होता है।[३] वे उपाधि को सत्य स्वीकार नहीं करते। तदनुसार उपाधि ही अपने व्यापक रूप में 'सगुण ब्रह्म' की प्रतीति का कारण है और उसी का सीमित रूप जीव और जगत के रूप में भासित होता है।[४] जगत के सन्दर्भ में ज्ञाता का ससीम रूप अर्थात् अज्ञान या अविद्या ही माया है। माया ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का तिरोधान करती है। ब्रह्म की ईश्वर के रूप में प्रतीति के उपरान्त जीव के रूप में

---

१ अद्वैतवेदान्त, पृ० ६७ (१९६४) पर उद्धृत--"The mind weaves an impression out of stimuli travelling along the nerves to the brain. The notion of the substance possessing the attributes of colour and sound is a pure mental concept"

२ उपदेश सहस्री (शंकराचार्य की रचनाएँ, मैमोरियल संस्करण) (Vol XVI, p 128) --अविद्याकृत एतद् यदिदं दृश्यते श्रूयते वा साधन साधकश्चेति परमार्थतस्त्वेक एवात्मा अविद्या दृष्ट अनेकवत् आभासते।

३ वही० वाल्यू० १६, पृ० २०९ (माया पचरत्नम्) १, निरुपमनित्ये निरंशकेऽप्यखण्डे मयि चिति सर्वविकल्पनादिशून्ये घटयति जगदीश जीव-भेदम् त्वघटित घटना पटीयसी माया॥

४ वही० वाल्यू० ५, २२८-२९, --"तद् एतत् प्रत्यस्तमित सर्वोपाधि विशेष सत् निरंजन निर्मल निष्क्रिय शांत एक अद्वयम् ....तदत्यन्त विशुद्ध प्रज्ञोपाधि सम्बन्धेन सर्वज्ञ ईश्वरो भवति॥ वही० वाल्यू १, पृ० ८९,--"बुद्धिआदि उपाधि कृत विशेष आश्रित्य ब्रह्मैव सन् जीव कर्ताभोक्तारेत्युच्यते॥ वही० वाल्यू० १, पृ० १०१,--पर एव आत्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धिउपाधिभि परिच्छिद्यमानो बाले. शारीत्युपचर्यते.... ॥"

प्रतीति का हेतु अविद्या माना गया है। परन्तु उपाधियो का पूर्णरूपेण तिरोभाव हो जाने के उपरान्त सभी कुछ ब्रह्ममय है।[1]

● **काश्मीर शैव दर्शन में शक्ति का स्वरूप**

भारत के आस्तिक दर्शनो के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव और जगत को अनादि एव स्वतन्त्र मानने वाले दर्शनो की विचारधारा उन दर्शनो की विचारधारा से भिन्न है, जिनमे ब्रह्म को स्वतन्त्र एव जीव और जगत को ब्रह्म के अधीन माना गया है। शाक्त एवं शैव दर्शनों मे परमतत्व के अभिधान के अन्तर को छोडकर और कोई विशेष अन्तर नही है। शाक्तो ने शक्ति को परमतत्व माना है और शैवो ने शिव को। शाक्तों के सिद्धान्त की आगे चर्चा होगी। यहाँ पर काश्मीर शैव दर्शन के शक्ति-सिद्धान्त का परिचय दिया जा रहा है।

काश्मीर शैव दर्शन 'त्रिकदर्शन' भी कहलाता है और इसे शिवाद्वैत भी कहा गया है। काश्मीर शैव दर्शन के विचारको मे अभिनवगुप्ताचार्य का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होने काश्मीर शैव दर्शन की अन्तरात्मा को भली-भाँति स्पष्ट किया है। काश्मीर शैवाचार्यो के मतानुसार शिव और शक्ति परमशिव या अनुत्तर के कूटस्थ और गतिशील रूप माने गये है। इस सिद्धान्त के अनुसार समूचा ब्रह्माण्ड परमशिव का ही शक्ति रूप है।[2]

'शिवदृष्टि' मे शिव और शक्ति के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'परमशिव' असीम, शुद्धमवित् एव प्रकाश-विमर्श स्वरूप सत्ता है। उसके प्रकाश पक्ष को शिव और विमर्श पक्ष को शक्ति का नाम दिया जाता है।[3] परमशिव के प्रकाश-पक्ष के उपासक उसे 'शिव' कहते है और विमर्श पक्ष के उपासकों द्वारा उसे शक्ति का अभिधान दिया गया है।[4] इस प्रकार शाक्त, शिव को शक्ति की अवस्था विशेष मानते है। परमशिव के दोनो पक्षो मे से किसी एक पक्ष को उपास्य मान लेना उपासक की इच्छा और उसकी रुचि पर निर्भर करता है। आचार्य सोमानन्द ने भी शिव और शक्ति मे कोई भेद या अन्तर नही माना है। परन्तु स्वय उन्होने उसे शिव रूप मे ही स्वीकार किया है।

---

[1] वही वाल्यू० १६, पृ० ८६, अद्वैत पचरत्नम्, २,—रज्जवज्ञानाद् भाति रज्जौ यथाहिः स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः॥ वही० वाल्यू० १२, पृ० ३६८,—"अविद्या परिकल्पितदोषेण तद्विय वस्तुपारमार्थिक न दुष्यति॥ वही० वाल्यू० १६, पृ० ६७, आरोपित नाश्रय दूषित भवेत्कदापि मुधैर्मति-दोष-दूषितै॥"

[2] स० मग० शा० शक्तयोऽस्य जगत्सर्व शक्तिमांस्तु महेश्वर ......॥

[3] शिवदृष्टि, ७।१२ से १४,

[4] शिवदृष्टि, ७।१२ से १४ तक, शिवदृष्टि, ७।१४-१६,—सा शक्ति परमेशस्य संस्थिता द्रव्यकर्मवत्। न द्रव्यव्यतिरिक्तास्ति क्रिया न च न विद्यते॥ न तयापि विना कार्य किञ्चनापि हि जायते। न चापि केवलाद् द्रव्यात् किञ्चनापि प्रवर्तते। तस्मादित्थमिह ज्ञेय शाक्त रूपमभेदवत् ......॥

काश्मीर शैवों ने परमशिव की शक्ति को 'शक्ति' न कहकर 'महाशक्ति' कहा है। उनके अनुसार सारा जगत ही शिव-शक्ति रूप है। वे दोनों की समरसता में ही परमशिव की परिपूर्णता को स्वीकार करते है।[1] परमशिव का अपरिवर्तित रूप या पक्ष 'शिव' है। उसके ब्रह्माण्ड रूप को शैवों ने 'शक्ति' माना है। इस प्रकार शिव और शक्ति परमशिव के प्रकाश और विमर्श पक्ष है। परन्तु स्पन्द इन दोनों मे विद्यमान रहता है। स्पन्द के भी दो प्रकार माने गये है। तदनुसार आन्तरिक स्पन्द शिव है तथा बाह्य स्पन्द शक्ति। शिव तत्त्व ही परमतत्व है जो उत्तरोत्तर अवरोहण कर अकल-दशा से सकल-अवस्था मे अवतरित होता है। इसलिए शैव दर्शन में शिव को शक्ति की आत्मा और शक्ति को शिव का स्वभाव माना गया है।

सृष्टि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उन्मेष और निमेष दोनो ही परमशिव की शक्ति के कार्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार परमशिव की शक्ति ही ब्रह्माण्ड-रचना की लीला करती है। शक्ति के द्वारा सृष्टि की रचना करते समय परमशिव 'अकल' से 'सकल' रूप धारण कर लेता है। शैवमतानुसार 'शक्ति' परमशिव द्वारा ब्रह्माण्ड रूप धारण करने का मार्ग अथवा उपकरण है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की रचना, पालन और सहार शिव की इच्छा रूपी पूर्ण स्वातन्त्र्यशक्ति के ही विभिन्न रूप है। 'विज्ञान भैरव' मे शक्ति का वर्णन शिव के रूप मे करना मानो इसी आशय की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।[2]

अद्वैत शिव तत्त्व की शक्ति भी असीम एव अद्वैत सत्ता है। उसकी अनेक-रूपता स्पन्द के कारण मानी गयी है। स्पन्द की प्रथमावस्था को परमशिव की महा-शक्ति कहा जाता है। महाशक्ति के चित् और अचित् दो पक्ष मान लिए गये हैं। चित् पक्ष शाश्वत स्पन्द रूप अथाह सागर है। आनन्द को उसकी तरग माना गया है।[3] महाशक्ति की अनुत्तरता ही परमशिवता है। महाशक्ति रूप स्पन्द के कारण परमशिव सतत स्पन्दायित रहते है। इस प्रकार परमशिव का अद्वैत और द्वैत के रूप मे निमीलन-उन्मीलन होता रहता है। चित् और आनन्द का आन्तरिक निस्तरग-भाव ही 'अनुत्तर' है एव उसकी बाह्य निस्तरगता, बाद मे जिसका रूपायन होता है, 'इच्छा

---

१ वही० ३।३; शक्ति शक्तिमतोर्भेद शैवे जातु न गण्यते ॥ वही० ३।७; न हिमस्य पृथक् शैत्य नाग्नेरौष्ण्य पृथग् भवेत्··· ॥

२ विज्ञानभैरव, २०-२२; शक्तिअवस्था प्रतिष्ठस्य निर्विभागेन भावना। तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते ॥ यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्यच। ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिव प्रिये···· ॥

3 त० सा० पृ० ६; स्वतन्त्र एक प्रकाश। स्वतन्त्र्यादेव च देशकालाकारावच्छेद-विरहाद् व्यापको नित्य सर्वाकारनिराकारस्वभाव. तस्य च स्वातन्त्र्यमानन्द-शक्ति, तच्चमत्कार इच्छाशक्ति, प्रकाशरूपता चिच्छक्ति., आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति, सर्वाकारयोगित्व क्रियाशक्ति.···· ॥

शक्ति' कहलाती है। इसे ही शक्तितत्त्व का पूर्ण विकसित रूप माना गया है।[१] शैव दर्शन मे परमशिव की इच्छा को परमशिव की कामना न मानकर उसका अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करना स्वीकार किया गया है, जो उसका स्वभाव है। प्रत्याभिज्ञावादियो के अनुसार परमशिव की इच्छा-शक्ति ही अपने स्पन्द स्वभाव से उत्तरोत्तर उच्छलन की प्रक्रिया मे ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का रूप धारण करती है। शैव दर्शन मे इसे क्रमश. 'सदाशिव तत्त्व' और 'ईश्वर तत्त्व' कहा गया है।[२]

● **तंत्र दर्शन में शक्ति का स्वरूप**

तान्त्रिक माया को शक्ति मानते है। समाजशास्त्रियो का विचार है कि समाज मे आर्थिक दृष्टि से जिस सेक्स की प्रधानता होती है, उसी लिंग के देवताओ की पूजा का अधिक प्रचलन हो जाता है। दुर्खेम ने धार्मिक विश्वासो के आरम्भिक स्वरूप के निर्माण मे इस तथ्य को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है।[3] देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने भी गणेश-चतुर्थी व्रत में स्त्री के महत्त्व का उल्लेख करते हुए इसी धारणा की पुष्टि की है।[४] वैदिक समाज 'पितृसत्तात्मक समाज' माना जाता है। सम्भवत· इसीलिए मैत्रायणी सहिता मे स्त्री को असत्य का पर्याय माना गया है।[५] तैत्तिरीय सहिता मे भी सच्चरित्र स्त्री की अपेक्षा असच्चरित्र पुरुष को सम्मानित घोषित किया गया है।[६] कठ सहिता मे कहा गया है कि स्त्रियाँ पुरुषो को यौन-लोभ दिखला कर उनसे अभिलषित पदार्थ प्राप्त करती है।[७] इन उद्धरणो से यही सिद्ध होता है कि वैदिक समाज मे स्त्री की अपेक्षा पुरुष का महत्त्व अधिक था। इसीलिए उसमे हमे पुरुष देवता की प्रमुखता मिलती है। ऊपर समाजशास्त्रियो की जिस मान्यता का उल्लेख किया गया है, उनकी दृष्टि मे समाज की ऐसी स्थिति पुरुष अथवा स्त्री द्वारा धनोपार्जन करने से सम्बन्धित है। समाजशास्त्रियो का अनुमान है कि देवी और देवताओ की पूजा समाज द्वारा अतिमानवी शक्तियों में विश्वास का परिणाम है। वे यह भी मानते है कि युग विशेष का समाज अपने मे से ही किसी स्त्री या पुरुष

---

१ शिवदृष्टि, १-१६, २०, तदेवं प्रसृतो देव कदाचिच्छक्तिमात्रके। बिभर्ति रूपमिच्छात ······ ॥

२ प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, १-१ से ३, ज्ञानक्रियाशक्ती एव स्वभाविकयावप्ररूढ भेदोन्मेषे सदाशिवेश्वरौ······ ॥ शिवदृष्टि, २-१, ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः उद्रिक्तक्रियाशक्तिरीश्वर ··· ॥

3 धार्मिक विश्वासो के प्रारूप, (अगरेजी)

४ लोकायत, पृ० २२२, (१६५६) वही० पृ० २४२,

५ मैत्रायणी सहिता, १।१०।६।८, वही० २।६।३,

६ तैत्तिरीय सहिता, ६।५।८।२,

७ कठ सहिता, ३१।१,

को अतिमानवी शक्ति के स्वरूप मे कल्पित कर लिया करता है। समाज मे स्त्री जाति की प्रधानता होने पर स्त्री देवता की कल्पना की जाती है और पुरुष की प्रधानता की स्थिति मे पुरुष देवता की।

तात्रिक दर्शनो मे प्राय परमसत्ता को शक्ति के रूप मे ही स्वीकार किया गया है। उनके यहाँ शक्ति परमतत्व है और वही ब्रह्माण्ड के कार्य-व्यापार की प्रेरिका शक्ति है। तात्रिको ने साख्यो की 'मूल प्रकृति' (गुणो की साम्यवस्था) की स्थिति को ही एक प्रकार से कर्तृत्व शक्ति के रूप मे स्वीकार कर लिया है। उपनिषदो तथा अन्य दार्शनिक ग्रन्थो मे ब्रह्म का जो स्वरूप है, प्राय वही तात्रिको की शक्ति का भी है। तत्रो मे मूलप्रकृति अर्थात् शक्ति और शिव के अलग-अलग उल्लेख तो मिलते है, परन्तु दोनो मे परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध पर ही अधिक बल दिया गया है। वस्तुत 'शिव और शक्ति' उनके यहाँ एक ही परमतत्व की दो स्थितियाँ है। वे शिव को 'अकुल' और शक्ति को 'कुल' मानते है। इसका अर्थ यह है कि शक्ति शिव के बिना और शिव शक्ति के बिना ससार की रचना करने मे असमर्थ है। साख्य दर्शनानुसार तीनो गुणो की साम्यावस्था ही प्रकृति है। वेदान्तियो ने इसे ब्रह्म की शक्ति (माया) मान लिया है। ब्रह्म की निष्कल दशा मे भी उसकी कलाएँ अव्यक्त रूप से उसमे समाहित रहती है। ऐसी स्थिति मे उसे गुणातीत या निर्गुण माना गया है और जब वह अपनी कलाओ को व्यक्त कर सकल-दशा मे हो जाता है, तब उसे सगुण मान लिया जाता है। ठीक इसी प्रकार तात्रिक विचारधारानुसार शिव निर्गुण भी है और सगुण भी। अपनी निष्कल स्थिति मे वह 'परमतत्व शिव' होता है और सकल-दशा (सगुणावस्था) मे वही शक्ति का अभिधान प्राप्त कर लेता है।

'षट्चक्रनिरूपण' मे जीव को ही परमात्मा बतलाया गया है। अर्थात् जब दशम द्वार मे कुण्डलिनी रूप प्राणशक्ति (जीव) ब्रह्म से सामरस्य प्राप्त करती है, तब जीव और ब्रह्म दो अलग-अलग चैतन्य नही रह जाते। कुण्डलिनी के रूप मे शक्ति के भी सगुण और निर्गुण दो पक्ष माने गये है। शक्ति के इन दो पक्षो मे से एक को निमित्त कारण (चिच्छक्ति) एव दूसरे को निमित्तोपादान कारण (सगुण शक्ति) कहा गया है। वही कार्य-विभाविनी अर्थात् सृष्टि की रचनहार सत्ता है। 'महानिर्वाणतत्र' के अनुसार वह परमात्मा की 'पराप्रकृति' है।[१] तात्रिको की यह विचारधारा माया को मूल प्रकृति के रूप मे स्वीकार करती प्रतीत होती है। उनके अनुसार माया अथवा मूलप्रकृति अयथार्थ या अवास्तविक सत्ता नही है। वह तो ब्रह्म का ही सक्रिय पक्ष है। 'महानिर्वाण तत्र' के टीकाकार भारती ने यह स्वीकार किया है कि महानिर्वाण तत्र का दार्शनिक चिन्तन ब्रह्म के स्वगत भेद के सिद्धान्त को भी स्वीकार करता है।[२]

---

१ महानिर्वाण तत्र, अध्या० ४।५।१०,

२ वही० अध्या० २।५।३४,

तांत्रिक माया को अनादि एवं सत्य तत्व मानते हैं। इस सम्बन्ध में महानिर्वाणतंत्रकार का मत है कि अवस्तु या अयथार्थ केवल नाम और रूप है।[1] परिवर्तन धर्मा होने के कारण ही उसे असत् मान लिया जाता है। नामरूपाकार मे हम जिस ब्रह्माण्ड को देखते हैं, वह उसका वास्तविक स्वरूप नही है। केवल इसीलिए उसे असत् कह दिया जाता है। तान्त्रिको के अनुसार माया ईश्वर का अनादि शरीर है। इसलिए वे ब्रह्माण्ड को भी शिव की भाँति ही सत्य मानते हैं। 'कुलार्णवतन्त्र' मे यथार्थ और मिथ्या के विवाद को ही व्यर्थ का झगड़ा बतला कर ब्रह्म को द्वैत और अद्वैत से परे माना गया है। तदनुसार दोनो ही शिव के इस द्वैताद्वैतविवर्जित स्वरूप को पहचानते ही नही हैं।[2]

अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मण सेन की रचना 'शारदातिलक' मे सृष्टि-सिद्धान्त का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से हुआ है :

सृष्टि की रचना महामाया की लीला है। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए जीवों के कर्म ही उत्तरदायी हैं। कर्म और सस्कार परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। दोनो एक दूसरे के परिणाम हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलय महामाया की प्रकृति-लीला है। 'ललित सहस्रनाम' मे महामाया के नेत्रो का उन्मीलन और निमीलन ब्रह्माण्ड की सृष्टि और लय का प्रतीक माना गया है। तदनुसार कर्मो का आरम्भ या उदय महामाया की इच्छा से होता है। महामाया के रूप मे ब्रह्म, जीवो के प्रति अनुकम्पा के भाव मे ही विश्व का रूप धारण करता है। ईक्षणा, काम, विचिकीर्षा आदि महामाया की इच्छा के कई नाम है।

तान्त्रिको के उपर्युक्त सृष्टि-सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म का स्पन्द ही उसकी इच्छा के आकार मे 'सदृश परिणाम-दशा' है। वही से शक्ति द्वारा विश्व के निर्माण का कार्य आरम्भ होता है। सांख्यो के प्रकृति-परिणाम के सिद्धान्त को तान्त्रिको ने सदृश परिणाम-सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया है। 'सदृश परिणाम' के

---

[1] महानिर्वाणतन्त्र अध्या० ३।५।७,

[2] कुलार्णवतन्त्र, अध्या० १/११०; उडरफ एवेलॉ, Creation As Explained in the Tantras; pp. 11-12;—"The tantra, it has been said, takes into its arms as if they were two children, both Dualism and Monism affering by its practical method—Sadhana and the spiritual knowledge generated there, by the means by which there antimonies are resolved and harmonized. Its' purpose is to give liberation to the Jiva by the method according to which monistic truth is reached through the dualistic world; immersing its Sadhakas in the current of divine Bliss by changing duality into unity and then evolving from the latter a dualistic play, thus proclaiming the wonderful glory of the spouse of Paramshiva in the love embrace of matter (जड़) and spirit (चैतन्य) ।"

अन्तर्गत मूलतत्व अर्थात् शक्ति अथवा शिव मे किसी भी अवस्था में, किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव ही नही है। अत वे ब्रह्म के साथ ही माया में भी किसी प्रकार के परिणाम या परिवर्तन को नही मानते। क्योकि उनकी दृष्टि मे माया ईश्वर का शरीर है। 'शारदातिलक' में यह भी कहा गया है कि सच्चिदानन्द, सकल परमेश्वर से शक्ति का उद्भव होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमेश्वर ही शक्ति के रूप मे सृष्टि का रूप धारण करता है। किन्तु शक्ति का रूप धारण कर लेने पर भी परमेश्वर के ऐश्वर्य मे किसी प्रकार की कोई न्यूनता नहीं आती।

शाक्तो ने शक्ति द्वारा सृष्टि की रचना की एक और प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है। तदनुसार शक्ति से 'नाद' की, और नाद से 'बिन्दु' की उत्पत्ति मानी गयी है। कुछ तन्त्रो मे शक्ति के छः प्रधान पक्ष स्वीकार किये गये हैं। शैवतन्त्र परमशिव की पाँच शक्तियो के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं। शारदातिलककार ने शक्तियों की इस सख्या को बढा कर सात कर दिया है। शक्ति द्वारा सृष्टि के क्रम का वर्णन 'प्रपचतन्त्रसार' का मुख्य प्रतिपाद्य है। उडरफ एवेला ने उसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—"शक्ति सर्वप्रथम तत्त्व है। वह चित् के प्रभाव के कारण क्रियाशील होती है और धीरे-धीरे स्थूल शरीरिणी बन जाती है। उसकी यह अवस्था बिन्दु रूप है। यही उसका घनीभूत रूप अथवा उसकी प्रथम स्थूल अवस्था है।"[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि बिन्दु रूप शिव ने ही ब्रह्माण्ड-रूप (सगुण रूप) धारण किया हुआ है। अत 'अव्यक्त बिन्दु' ही विश्व का बीज है और शक्ति 'कार्य बिन्दु' है। इस प्रकार शिव और शक्ति का बिन्दु रूप ही विश्व-सर्जना का प्रथमोन्मेष है। इसे 'ब्रह्माण्ड' 'प्राण की अपूर्ण कामना' 'विश्व का परिणाम, या 'प्रकटीकृत रूप' आदि विभिन्न अभिधान दिये गये हैं।

तान्त्रिकों के शक्ति-सिद्धान्त के अनुसार 'जो ब्रह्माण्ड मे है वही पिण्ड में' है। उनके विचार मे माया शक्ति का रूप है। तदनुसार जीव का साध्य यही है कि वह कुण्डलिनी रूप माया को शिव के साथ एकाकार करे। इस साधना में सफलता प्राप्त करना ही जीव की मुक्ति है। कालिदास द्वारा 'वागार्थाविव सम्पृक्तौ' का उल्लेख शिव के गतिशील पक्ष अर्थात् उसकी शक्ति की ओर संकेत करता है। शक्ति और जगत के सम्बन्ध मे तान्त्रिको की धारणा के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जगत को मिथ्या अथवा भ्रम नही मानते।

---

१ Creation As Explained in the Tantras, P. 17,—"She who is in the first place tattva (Mere thatness) quickens under the influence of 'Cit' which she reflects, then she longs to create and become massive and appears as Bindu. Ganibhuta means that which was not dense or GHAN but which has become so ....this is the first gross condition. The Brahman associates with Maya in the form of Karama assures the aspect in which it is regarded as the primal cause of the subtle and gross bodies"

शाक्तों ने शक्ति की स्तुतियाँ विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से की हैं। देवी की प्रतीकात्मक स्तुति के स्पष्टीकरण के लिए निम्न उदाहरण पर्याप्त होगा :

"कृष्णा देवी के खुले केश जलप्लावित मेघ हैं। वह मुण्डों की माला पहनती है। उसके हाथों में तलवारें हैं। उसके एक हाथ मे राक्षस-मुण्ड है तथा वह चारों ओर से भूत-प्रेतों से घिरी हुई है। उसके मुख से रुधिर की धारा प्रवाहित हो रही है। अपने एक हाथ को उठाकर वह विश्व को अभय-दान दे रही है। उसके चरणों में महाकाल धराशायी हुआ पड़ा है।"

शक्ति का उपर्युक्त रूप ब्रह्म की शक्तियों का प्रतीक है, जिसमें काला रंग ब्रह्म के विस्तार का, केश-जाल मेघो की व्यापकता का और तलवार संहार का सूचक है। काली का अधोमुखी हाथ विश्व को अभयदान दे रहा है। महाकाल यहाँ समय का प्रतीक है। मुण्डो की माला पापियो का सहार करने की शक्ति अथवा प्रलयंकर सामर्थ्य का सूचक है। तीसरा नेत्र ज्ञान का नेत्र है। शंकरचार्य ने भी 'सौन्दर्य लहरी' मे देवी की स्तुति की है। गीता मे भगवान के विराट रूप का वर्णन और तान्त्रिकों द्वारा की गयी शक्ति की प्रतीकात्मक स्तुतियाँ एक ही सिद्धान्त की विभिन्न व्याख्याएँ प्रतीत होती हैं। इन सभी उदाहरणो तथा उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही परिणाम निकाला जा सकता है कि तान्त्रिक, शक्ति के अर्थ मे ही माया के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनके विचार मे वह परमसत्ता की शक्ति है तथा परमसत्ता के रूप में ही उपासक द्वारा उपासना का विषय भी। इसलिए शाक्त, शक्ति को ही उपास्या मानते है। उनकी दृष्टि मे शक्ति और शक्तिमान मे परस्पर अभेद है। शिव का सक्रिय पक्ष होने के कारण उनके लिए शक्ति की ही उपासना अधिक स्वाभाविक है।

४ | अवतारवादी वैष्णव दर्शनों में माया

● विशिष्टाद्वैत में माया का स्वरूप

शंकराचार्य के मायावाद के प्रभाव के कारण वैष्णव भक्ति के मार्ग में बाधा अनुभव करते हुए वैष्णवाचार्यों को उसका खण्डन करना पडा। रामानुजाचार्य ने शांकर अद्वैतवाद के विरोध मे जिस सिद्धान्त का निर्माण किया, वह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। उनके सम्प्रदाय को 'श्री वैष्णवमत' कहा जाता है। विशिष्टाद्वैत की व्याख्या करते हुए उन्होने बतलाया है कि परमतत्त्व सत्ता चिदचिद्विशिष्ट है। वे परमतत्त्व को विष्णु, वासुदेव या नारायण किसी भी नाम से सम्बोधित करने मे सकोच नही करते।[1] रामानुजाचार्य का कहना है कि जीव माया-सवलित बुद्धि—'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है'—के कारण शरीर के धर्मों और व्यापारो मे अहंभाव का अनुभव करने लगता है। इसलिए वह मिथ्या बन्धनों में फंस जाता है। वही जीव जब इस प्रकार की भ्रात धाराओं से ऊपर उठकर प्रभु की शरण मे अपने आप को समर्पित कर देता है तो भव-सागर का सतरण कर जाता है।

भगवान कृष्ण ने गीता मे प्रकृति को अपनी योनि बतलाया है। तदनुसार प्रकृति और भगवान का संयोग ही ब्रह्माण्ड की रचना का प्रधान कारण है। प्रकृति परमात्मा की अधीनता मे कर्मों के अनुरूप सचराचर जगत की रचना करती है। उसके मतानुसार परमात्मा स्वय प्रकृति में प्रवेश किए हुए है।[2] परमात्मा की 'प्रकृति' उसकी शक्ति है अथवा परमात्मा प्रकृति मे प्रवेश करता है—गीता के अनुसार ये दोनो बातें एक है। क्योकि दोनो विचार परमात्मा द्वारा विश्व की रचना के सिद्धान्त

---

[1] यतीन्द्रमत दीपिका; "वस्तुतस्तु वेदान्ताना चिदचिद्विशिष्टाद्वैतं एकमेव ब्रह्म इति तात्पर्यम्। अत एव चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म एकमेवेति मत्वा भगवान् बादरायण." अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इति उपक्रम्य तदेव सप्रकारं निरूपितवान्। अतः चिदचिद्विशिष्टः ब्रह्मशब्दवाच्यः विष्णवाख्यः परवासुदेवो नारायण एवैकम् इति विशिष्टाद्वैतवादिना दर्शनमिति प्रसिद्धम् ॥

[2] भगवद्गीता, रा० भाष्य अध्या० ६।१०; मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ वही० अध्या० १४।६; ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूताना ततो.भवति भारत ॥

से सम्बन्धित है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सृष्टि की रचना करते समय परमात्मा अपने चित् और अचित् अंशो को ही विश्व का रूप प्रदान करता है।

भागवत पुराण में समूचे सृष्टि विधान को ही भगवान वासुदेव की माया बतलाया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य दर्शन का प्रकृति-सिद्धान्त भागवत पुराण में मान्य नही है। रामानुजाचार्य भागवत पुराण को अपने सिद्धान्त के लिए प्रमाण ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने भी प्रकृति को स्वतन्त्र नही माना है। उन्होंने पुरुषोत्तम की प्रकृति के 'परा' और 'अपरा' रूप में दो पक्ष माने है। यह भी कहा गया है कि अपरा प्रकृति 'परा प्रकृति' मे एकीभूत रहती है।[1] प्रकृति अथवा माया के सम्बन्ध में 'वैष्णव मताब्जभास्कर' में व्यक्त विचार भी इसी धारणा का अनुमोदन करते है। तदनुसार माया या भगवान की शक्ति के स्वरूप की चर्चा इस प्रकार की गयी है .

"प्रकृति तत्वविद्, विकार रहित, सकल विश्व का कारण, एक होकर भी अनेक प्रकार से शोभित, शुक्लादि अनेक वर्णो से युक्त, सत्य, रज एवं तम आदि गुणों की आश्रय, अव्यक्त एव प्रधान स्वरूपा, सदा ईश्वराधीन एवं महत्त्व और अहकारादि की भी कारण सत्ता है।"[2]

'वैष्णवमताब्ज भास्कर' में दिये गये प्रकृति के उक्त स्वरूप तथा साख्य दर्शन के अनुसार स्वीकृत प्रकृति के स्वरूप मे मुख्य अन्तर यही है कि वैष्णवाचार्य रामानुज के विचारानुसार प्रकृति, परमेश्वर की अधीनस्थ माया है। परन्तु साख्यो ने प्रकृति के स्वरूप और उसके कार्यो का जिस रीति से वर्णन किया है, वह केवल पुरुष के सामीप्य की ही आवश्यकता अनुभव करती है। अन्यथा वह जड़ होते हुए भी सृष्टि का विकास करने मे पूर्ण सक्षम मानी गयी है।

विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायो मे लक्ष्मी, सीता और राधा आदि के रूप मे हमें माया-शक्ति के वर्णन प्राप्त होते हैं। 'आदि ग्रन्थ' मे भी ये नाम कहीं-कहीं आये हैं, परन्तु उनके पीछे दूसरे प्रकार की चिन्तन-धारा है। पौराणिक धर्म-मतों में इन नामों को वास्तविक एवं वासुदेव नारायण आदि की शक्तियो के रूप मे ही स्वीकार किया गया है। पचरात्र साहित्य में भगवान की माया-शक्ति द्वारा तीन प्रकार की सृष्टि का उल्लेख मिलता है—शुद्ध, अशुद्ध और निम्न सृष्टि। पहले प्रकार की सृष्टि शुद्ध सृष्टि है। शुद्ध सृष्टि करने वाले स्वय वासुदेव हैं। वैष्णव ग्रन्थों मे नारायण के कौस्तुभ आदि आभूषणों और शस्त्रो आदि के भी वर्णन मिलते है। ये आभूषण और

---

1. भागवत पुराण, ११-३-३, वही० ११-३-८, गीता, अध्या० ८।७-८, वही० अध्या० १५।७ से ६, वही० अध्या० ७।४ से ७, छाँ० उप० ६-३-२, यथोर्ण-नाभि· सृजते गृह्णते च।
2. वैष्णवमताब्ज भास्कर, दास, पृ० २,

शस्त्र भगवान् नारायण की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। इस प्रकार माया-शक्ति के रूप में भगवान् नारायण को ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादानकारण मान लिया गया है।

अशुद्ध सृष्टि को 'कूटस्थ पुरुष' और 'माया शक्ति' का सम्मिलित रूप माना जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए 'लक्ष्मी तन्त्र' मे कूटस्थ पुरुष को बद्ध जीवो का उत्स और अन्तिम शरण—दोनों ही माना गया है। तदनुसार सभी बद्धजीव कूटस्थ पुरुष से उत्पन्न होते है और अन्त मे उसी मे लौट जाते हैं।[1] वही पर यह भी बतलाया गया है कि कूटस्थ पुरुष और जीवो का जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध सम्पूर्ण तत्त्वो और माया शक्ति का भी है। गीता मे भी इस प्रकार के सकेत मिल जाते है।[2]

निम्न सृष्टि के लिए कहा जाता है कि वह तीनो गुणो के क्षोभ का परिणाम है। तदनुसार तीनो गुण जिस समय तक अक्षोभावस्था मे रहते है, निम्न सृष्टि की रचना नही होती। परन्तु जब उनमे क्षोभ होता है, निम्न सृष्टि साकार होने लगती है। यह भी स्वीकार किया गया है कि आदि पुरुष की इच्छा से सभी तत्त्व एकत्रित होकर पद्मनाभ की नाभि से एक अण्डे का आकार ग्रहण कर प्रकट होते है। यही ब्रह्म की सृष्टि है। प्रकृति या माया द्वारा सृष्टि की रचना की यही सक्षिप्त प्रक्रिया है। वैष्णव दर्शनो के अनुसार जगत सत्य है क्योकि ब्रह्माण्ड का सारा प्रसार परमात्मा से भिन्न नही है। वह उसी की शक्तियो द्वारा धारण किये हुए भिन्न रूप है।[3] परमात्मा सत्य सत्ता है। इसलिए उससे उद्भूत होने वाला जगत असत् नही हो सकता। उपादान सामग्री यदि सत् होगी तो उससे बनी हुई वस्तु भी नाम-रूप को छोडकर सत्य ही मानी जायगी। यह भगवान का गुणैश्वर्य है कि जगत का रूप धारण करने पर भी वह पूर्ण ही बना रहता है। उनके अनुसार माया मिथ्या या आभास नही है। उनका विचार है कि कण-कण मे ब्रह्म समाया हुआ है। इसलिए जगत को असत्य मानना उचित नही।[4] जगत परमसत्ता की शक्ति की रचना है।

● द्वैत एवं द्वैताद्वैत में माया का स्वरूप

मध्वाचार्य की दार्शनिक प्रणाली (द्वैत) के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के बीच यथार्थ भेद है। मध्व जगत को भी जीवात्मा और ब्रह्म की भाँति शाश्वत यथार्थ ही स्वीकार करते हैं। अतः द्वैत-सिद्धान्त के अनुसार उक्त तीनो का अलग-

---

[1] लक्ष्मीतन्त्र, ७।१ से २,

[2] गीता, अध्या० १०-६, महर्षय सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषा लोक इमा. प्रजा।

[3] लक्ष्मीतन्त्र १६-२ से ४, पद्मतंत्र, १-५-१६ से २१,

[4] श्रीनिवासाचारी, पृ० ८२-८३, वही० पृ० ४६, वही० पृ० २८४,

अलग स्वतन्त्र अस्तित्व है। मध्व ज्ञान के हेतु ज्ञाता और ज्ञेय का स्वतन्त्र एवं अलग होना आवश्यक मानते है तथा परिमित, अपूर्ण एवं अज्ञानमय जीवात्मा की तुलना में परमात्मा को अपरिमित, पूर्ण एवं सर्वज्ञ स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उन्होंने जीवात्मा को पूर्ण स्वतन्त्र परमात्मा के अधीन एवं उस पर निर्भर ही स्वीकार किया है। तत्त्वोद्योत मे मानव-मस्तिष्क के बाहर जगत का अस्तित्व स्वीकार कर माया के कारण जगत की मात्र प्रतीति सत्ता का खण्डन किया गया है। शाकर मायावाद के विरुद्ध मध्व इसी प्रधान युक्ति का सहारा लेते है। उनका मत है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्षण के द्वारा प्राप्त साक्ष्य को आद्योपान्त अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

मध्वाचार्य ने जगत के सभी पदार्थों को प्रकृति मे होने वाले उत्तरोत्तर परिणाम एव परिवर्तन स्वीकार किया है। वे प्रकृति को सत्व, रजस् और तमस् गुणों का आधार एव मूल स्रोत मानते तो है, लेकिन सांख्यो की भाँति उसे पूर्ण स्वतन्त्र स्वीकार नही करते। अत उनके अनुसार जगत का प्रथम कारण प्रकृति न होकर परमात्मा (विष्णु) है। विष्णु (ब्रह्म) को उन्होने सर्वशक्तिमान, दोषो एव सीमाओ से अतीत माना है। विष्णु की कृपा से प्राप्त मुक्ति ही उनके अनुसार जीव का ब्रह्म-साक्षात्कार है, जिसे वे पूर्ण आनन्द की अवस्था मानते हैं। अत द्वैतवाद के अनुसार माया प्रभु की शक्ति है, जिसने जगत के मूल कारण की आज्ञा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जन्म देकर उसे आधार प्रदान किया हुआ है।

द्वैताद्वैत मे आचार्य निम्बार्क ने ब्रह्म की अवधारणा राधा के शाश्वत प्रेमी भगवान कृष्ण के रूप मे की है। इसके अनुसार ब्रह्म, चित् और अचित् तीनो शाश्वत सत्ताएँ है। निम्बार्क का मत है कि ब्रह्माण्ड का उद्भव त्रिगुणात्मिका प्रकृति से हुआ है। तदनुसार प्रकृति ब्रह्म पर निर्भर है—साख्यो की भाँति स्वनिर्भर नही। मानव-आत्मा का आधार उन्होने 'चेतना' माना है, जिसे वे अ-भौतिक एव शरीर से भिन्न मानते है। आत्माओ को वे शाश्वत एव अनन्त स्वीकार करते है। जीव और जगत मे ईश्वर से भेद और अभेद, दोनो स्वीकार करते हुए निम्बार्क ने दोनो (जीव-जगत) की विशिष्ट यथार्थता भी मानी है। यह विशिष्टता जीव और जगत के अलग-अलग अस्तित्व परन्तु उनके द्वारा परमात्माश्रित होने मे है। द्वैताद्वैत मे भेदाभेद की समस्या शकर की भाँति व्यावहारिक एव पारमार्थिक दृष्टि से नही सुलझायी गयी। निम्बार्क सूर्य एवं सूर्य की किरण का उदाहरण देते हुए कहते है कि जीव और जगत का भेद उसी प्रकार यथार्थ है जिस प्रकार सूर्य के साथ ही सूर्य-किरण का। जिस प्रकार सूर्य-किरण सूर्य पर निर्भर है, उसी प्रकार जीव और जगत ब्रह्म-निर्भर है। प्रकृति या ब्रह्म की आल्हादिनी शक्ति के द्वारा जगत की रचना करना ब्रह्म-लीला माना गया है। अत- यह कहा जा सकता है कि द्वैताद्वैत के अनुसार ब्रह्माण्ड का

---

[1] एन० आर० शर्मा द्वारा अनूदित-मध्वाज टीचिंग्स इन हिज ओन वर्ड्स, पृ० ५७।

उद्भव करने वाली प्रकृति है, जो ब्रह्म पर निर्भर होने के कारण उसकी इच्छा के अधीन है और वही जगत की रचना करती है।

● शुद्धाद्वैत में माया का स्वरूप

'माया' शब्द ऋग्वेद में भी मिलता है लेकिन उसका प्रयोग देवताओं के चातुर्य एवं उनकी बुद्धि के अर्थ में ही हुआ है। तदनन्तर माया के अर्थ मे परिवर्तन के कारण उपनिषदों मे उसे ब्रह्म की शक्ति मान लिया गया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप की निर्विशेषता की सिद्धि के लिए माया-सिद्धान्त का निरूपण किया, जो कालान्तर में शांकर मायावाद कहलाया। वैष्णव आचार्यों ने शकराचार्य के जगन्मिथ्या की धारणा का खण्डन एव जीव की प्रतीति सत्ता की मान्यता के निरसन के हेतु ब्रह्म के स्वरूप को फिर से व्याख्यात किया और उसे माया-पति सिद्ध कर माया द्वारा उसे अपने आवरण में लेने की शांकर मान्यता का विरोध किया। इसी प्रसग मे उन्होंने जीव-सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। वल्लभाचार्य ने जीव को ब्रह्म का ही चिदश माना और आनन्दाश के तिरोभाव की स्थिति में ब्रह्म को ही जीव स्वीकार किया है। उनके अनुसार ब्रह्म स्वयं जीव और जगत का रूप धारण करता है ताकि वह अपनी इच्छा के अनुसार रमण कर सके। माया ब्रह्म की शक्ति मानी गयी है। उसी के द्वारा वह (ब्रह्म) जीव और जगत का रूप धारण करता है। उपनिषदो मे आता है कि परमसत्ता अकेले रमण नही कर सकती थी। इसलिए उसने एक से अनेक होने की कामना की और अपनी शक्ति द्वारा जीव और जगत का रूप धारण किया। परब्रह्म की शक्ति के उल्लेख ब्रह्मसूत्रों एव गीता मे भी प्राप्त होते हैं। भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध के जन्म-प्रकाश प्रकरण की टीका मे महाप्रभु वल्लभाचार्य भगवान की बारह शक्तियों का उल्लेख कर, माया को उसकी प्रधान शक्ति मानते हैं। गीता के साक्ष्य पर उन्होंने माया के विद्या और अविद्या—दो भेद भी स्वीकार किए हैं।[1]

भागवत पुराण के अनुसार शक्ति, विद्या और अविद्या के रूप में भगवान की माया क्रमश: जीव को भगवत्साक्षात्कार करवाने एव उसे बन्धन में डालने का कार्य करती है। सुबोधिनी की व्याख्या में आचार्य बल्लभ ने भगवान की शक्ति विद्या माया को जगत का कारण माना है। इसे उन्होंने भगवान की योगमाया भी कहा है। माया के दूसरे अर्थात् अविद्या रूप को वे व्यामोहिका बतलाते हैं, जो जीव को आवागमन के बन्धन-भँवर मे भटकाती रहती है।[2] भागवतपुराण मे जीव की ब्रह्म-भावरूपा बुद्धि को आच्छादित करने वाली शक्ति के रूप में अविद्या माया का वर्णन

---

[1] गीता, अध्या० ७-१४,

[2] गीता, ७-१४, दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतांतरन्ति ते ।।

किया गया है।[1] अतः जो जीव व्यामोह के वशीभूत हो जाते हैं, वे असत्य को सत्य और सत्य को असत्य मानने लगते हैं। लेकिन जो व्यामोहिका अविद्यामाया से पीछा छुड़ा कर भगवान की योगमाया की शरण ग्रहण करते है, वे सर्वात्मभाव के बोध को प्राप्त कर लेते हैं। योगमाया भगवान की लीलोपयोगिनी बतलायी गयी है, जिसकी शरण से जीव को भगवान के साक्षात्कार की प्राप्ति होती है। गीता मे बतलाया गया है कि भगवान स्वय अविद्यामाया के द्वारा जीवो को आसुरीभाव की ओर नियोजित करता है। अर्जुन को सम्बोधित कर भगवान ने कहा है कि यह अविद्या माया ही जीवों की विवेक बुद्धि का अपहरण करती है।[2] भागवतपुराण में एक कथा आती है, जिसमे वृत्रासुर भगवान से प्रार्थना करता है कि वे उसे उन ससारी जीवो की संगति से बचा लें जिन्हे उनकी अविद्यामाया ने उन (भगवान) से विमुख बनाकर सांसारिक आसक्तियो मे भटका रखा है।[3] शुद्धाद्वैत के अनुसार अविद्यामाया से बचने का एकमात्र उपाय भगवत-शरण है। माया भगवान की अधीनस्थ शक्ति है। अतः जो भगवान की शरण ग्रहण करना है, वह उसकी दासी अविद्यामाया के अधीन नही हो सकता। शुद्धाद्वैत का माया-सिद्धान्त सक्षेप मे यही है कि भगवान (परब्रह्म) की योगमाया शक्ति के दो रूप हैं—एक विद्यामाया और दूसरी अविद्यामाया। विद्या-माया जगत की रचना का कारण है और अविद्यामाया जीव को ससारी बनाकर उसे व्यामोहित करती है। अविद्यामाया की व्यामोहिका शक्ति के कारण जीव भगवान से विमुख हो जाते हैं और जागतिक आसक्तियो मे भटककर आवागमन के जाल में उलझे रहते हैं। इसके विपरीत जिन्होंने भगवान की विद्यारूपा योगमाया की शरण ग्रहण की है वे भगवत-शरण प्राप्ति और उसके अनुग्रह से पुन. अपने आनदाश का लाभ कर लेते है।

---

[1] भा० पुरा० २-९-३३, ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयते च न प्रतीयतेचात्मनि। अविद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥

[2] गीता, माययापहृतज्ञाना: आसुरं भावमाश्रिता. ॥

[3] भा० पु० ६-११-५७, ममोत्तम श्लोक जनेषु सख्यम्। संसार-चक्रे भ्रमतः स्वकर्म-भिस्त्वन्माययात्मजदारगेहेऽप्यासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥

५ | आदिग्रन्थ में वर्णित माया का स्वरूप

● 'कुदरति', 'माया'

आदिग्रन्थ के अनुसार माया की रचना भी वाहगुरु ने ही की है। वह उससे भिन्न एव स्वतन्त्र नही और न ही वह अनिर्वचनीय सत्ता के रूप मे ब्रह्म की ईश्वर के रूप मे प्रतीति करवाती है। उसे वाहगुरु की रचित शक्ति मानकर ही जीव को मनमुखता की ओर ले जाने वाली कहा गया है। भक्तो की वह दासी है, और केवल मनमुखो को ही अपने आकर्षण के जाल मे बाँधती है। जो जीव गुरु की शरण प्राप्त कर अपनी इन्द्रियो को वाहगुरु-उन्मुख नहीं बनाते, वे ही माया की 'ठगमूरि' का शिकार बनते है। ऐसे मनमुख जीव मन के धर्मों को ही अपना सर्वस्व मान लेते है और माया उन्हे इस प्रकार भटकाती है, जिस प्रकार खा जाने से पूर्व बिल्ली चूहे को। जीवो को सासारिक आसक्तियो मे भटकाने वाली शक्ति को गुरुओं ने माया बतलाया है और ब्रह्माण्ड की रचना करने वाली शक्ति को वाहगुरु की कुदरत। कुदरत मे उनका आशय वाहगुरु के विमर्श पक्ष से है, जैसा कि काश्मीर शैवदर्शन मे शक्ति को शिव का सक्रिय अथवा विमर्श पक्ष स्वीकार किया गया है। वाहगुरु को ब्रह्माण्ड का रचयिता मानने से गुरुओ का आशय यही है कि भेदाभेद की स्थिति के उपरान्त वाहगुरु शक्ति और शक्तिमान के रूप में अपने प्रकाश और विमर्श रूपो को अलग-अलग अनुभव करने लगता है। स्वय वह त्रिगुणातीत सत्ता ही बना रहता है जबकि उसका विमर्श-रूप ब्रह्माण्ड की रचना का कार्य सम्पन्न करता है। जगत की रचना के सम्बन्ध मे भी गुरुओ की स्वतन्त्र मान्यताएँ है। तदनुसार वाहगुरु का विमर्श स्वरूप (कुदरति) स्वयं नामरूपात्मक सृष्टि के रूप मे परिणत हो जाता है। यही उनका 'हुकम-सिद्धान्त' है।

गुरुओं के अनुसार माया जीव का जागतिक व्यामोह है। जब वे यह कहते हैं कि वाहगुरु की इच्छा से माया जीव को बन्धन में डालती है, तब उनका आशय जीव की सासारिक आसक्तियो वाली प्रवृत्ति होता है। गुरुओं की धारणा है कि यह वाहगुरु की इच्छा का स्वातन्त्र्य है कि उसने किसी को गुरु-भक्ति एवं नाम-सिमरन की

ओर लगाया हुआ है और किसी को धन-दौलत, घर-बाहर, पुत्र-कलत्र एवं उसी प्रकार की अन्य जागतिक एषणाओ मे भटका रखा है। जीव की यह मनोवृत्ति ही माया है। देवी-देवताओं, सिद्ध-योगियों, काजी-मुल्लाओ को प्रभु से विमुख बनाने वाली माया भी वाहगुरु ने ही रची हुई है। दार्शनिक दृष्टि से माया नामक कोई ऐसी ईश्वरीय सत्ता नही है। गुरमत के अनुसार वाहगुरु की 'कुदरत' उसकी इच्छा या 'हुकम' के सिवाय कोई ऐसी दूसरी अनादि एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, जो सृष्टि करती हो या जगत के पालन एव सहार में जिसका हाथ हो। तदनुसार त्रिगुणातीत सत्ता केवल वाहगुरु है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओ को वे प्रधानात्मिका सृष्टि के ही भीतर शामिल करते हैं। इन्द्र, राम और कृष्ण को भी वे केवल महा-पुरुष ही मानते है। उन्हे वे माया के प्रभाव से अतीत सत्ताएँ स्वीकार नही करते।

आदिग्रन्थ के रचना-काल मे भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएँ एव साधना-विधियाँ प्रचलित थी। देवी-देवताओ की पूजा का अत्यधिक प्रचलन था और सम्प्रदायों के अनुयायी अपने-अपने उपास्यों को परमसत्ता (परब्रह्म) मान कर इतर देवी-देवताओं को या तो अपने उपास्य की विभिन्न शक्तियो के रूप मे स्वीकार करते थे अथवा उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे। निर्गुण सन्तो ने हिन्दुओ के बहुदेववाद एवं मुसलमानो के पैगम्बरवाद—दोनो का खण्डन किया। अत वे सृष्टि की रचना, पालन एव उसके सहार के लिए प्रचलित विश्वासो को मान्यता नही देते। इस धारणा के कारण ही उन्होने वाहगुरु को ही चेतन एव जड सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एव संहार करने वाला मान लिया है। अपने इस मूल उद्देश्य के प्रति वे सदैव सावधान रहे हैं और जहाँ कही अवसर मिला है, इतर सम्प्रदायो की रूढ मान्यताओ का खण्डन कर केवल वाहगुरु पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। यही कारण है कि जगत की रचना के बारे मे उन्होने उस ढग से विचार ही नही किया है, जिस ढग से उस युग के अन्य दार्शनिक एव धार्मिक सम्प्रदाय इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर रहे थे। उनका अधिकाधिक बल वाहगुरु को सर्वोपरि सत्ता सिद्ध करना ही रहा है और गुरु की शरण एव वाहगुरु के नाम-सिमरन की साधना ही इनकी धार्मिक मान्यताओ का केन्द्र रही है।

अद्वैत विचारकों के सामने यह समस्या रही है कि वे यह किस प्रकार सिद्ध करें कि अनादि, अनन्त एव परमसत्ता केवल एक ही है। जीव एव जगत (जड सृष्टि) के प्रत्यक्ष ज्ञान ने उनकी इस समस्या को और अधिक पेचीदा बनाया है। इसके समाधान मे उन्होने प्राय. एक ही उत्तर दिया है। वह उत्तर यह है कि शक्तिमान और उसकी शक्ति मे मूलत अद्वैत है। परन्तु इस अद्वैत मे भी परमसत्ता को अस्मिता का ज्ञान बना रहता है। इस अनुभवावस्था को भिन्न-भिन्न दर्शनो मे निजी साम्प्र-दायिक विश्वासों के अनुरूप शब्दावली मे अभिव्यक्ति दी गयी है। कोई इसे नारायण और लक्ष्मी के द्वारा प्रतिपादित करता है, कोई शिव और शक्ति द्वारा तथा कोई वासुदेव एव उसकी अ.ह्लादिनी शक्ति राधा द्वारा। देववाद के सन्दर्भ मे ये युगल रूप

में प्रस्तुत किये गये हैं। निर्गुण सन्त इस प्रकार से शक्तिमान और उसकी शक्ति का उल्लेख नहीं करते। उनके द्वारा स्वीकृत परमसत्ता का स्वरूप नारायण एवं वासुदेव जैसा नहीं है। अतः वे लक्ष्मी, महामाया, सीता एवं राधा आदि के रूप में सृष्टि करने वाली शक्ति की मान्यता का समर्थन नहीं करते। आदिग्रन्थ में वाहगुरु द्वारा जगत की रचना सम्बन्धी स्वतन्त्र धारणा का यही कारण है। वाहगुरु का स्वरूप उपनिषद् की उस मान्यता जैसा है, जिसमें पूर्ण से पूर्ण को लेकर भी उसकी पूर्णता बनी रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि अद्वैत विचार के अनुसार परमसत्ता में ही ऐसी शक्ति विद्यमान है जो उसकी इच्छारूपा है और वही अपने आप को सूक्ष्म से स्थूल रूप में ले आती है। नामरूपात्मक सृष्टि वास्तव मे उसी की सूक्ष्मरूपता का स्थूल आकार है। इस प्रकार परमसत्ता के इस क्रियाशील पक्ष को कोई न कोई अभिधान भी दिया गया है। केवल शाकर अद्वैत वेदान्त मे ही माया को अनिर्वचनीय सत्ता बतला कर उसके द्वारा ब्रह्म की ईश्वर के रूप में प्रतीति करवाने की मान्यता को स्वीकार किया गया है। शाकर मायावाद का खण्डन करने वाले, परन्तु परमसत्ता को अद्वैत मानने वाले, प्राय सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में परमतत्त्व के क्रियाशील (विमर्श) स्वरूप को ही जगत की रचनहार शक्ति माना गया है। आदिग्रन्थ मे वह वाहगुरु की कुदरत, उसकी इच्छा, एवं उसके 'हुकम' के रूप मे वर्णित की गयी है। इसी मान्यता के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि जगत वाहगुरु का शरीर है अथवा जगत के आकार मे उसने अपने आप को प्रगट किया हुआ है। वस्तुतः यही उसका सगुण रूप है।

माया को इस अर्थ में वाहगुरु की शक्ति (कुदरत) स्वीकार नही किया जा सकता कि वह उसी के स्वरूप का विमर्श (सक्रिय) पक्ष है। यदि ऐसा माना जाय तो वाहगुरु को भी ब्रह्म, विष्णु, शिव, नारायण एवं वासुदेव जैसा ही स्वीकार करना पड़ता। आदिग्रन्थ में इन सभी को माया के अधीन बतला कर केवल वाहगुरु को ही मायातीत माना गया है। अतः गुरुओ के मत मे माया जीव की वह प्रवृत्ति है, जिसे मन द्वारा पोषण मिलता है। वे किसी जीव का गुरुमुख या मनमुख होना उसकी अपनी इच्छा या प्रयत्न का फल नही मानते। उनकी मान्यता के अनुसार वाहगुरु के अनुग्रह से ही किसी को गुरु की शरण प्राप्त होती है। उसकी शरण मे रहकर वाहगुरु के नाम का सिमरन करने वाला ही गुरुमुख है। भक्ति की साधना के अन्तर्गत जीव को निरुपाय एवं परमसत्ता की इच्छा के अधीन माना जाता है। अतः इस प्रसग मे ही यह माना गया है कि माया परमसत्ता की रचना है। माया को ठगिनी, सर्पिणी, कमला, ठगमूरि, विष, ठगनीरा और कुसुम्भी रग आदि अभिधान देकर इस आशय का प्रतिपादन हुआ है कि जीव को परमात्मा मे विमुख बनाने वाले सभी सम्बन्ध एव पदार्थ माया हैं। गुरुओं ने तो वैदिक कर्मकाण्ड एवं अन्य बाहरी पूजा-विधान की गणना भी माया के अन्तर्गत ही की है। अतः उनकी दृष्टि में माया और कुदरत (परमसत्ता का विमर्श स्वरूप) दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। यहाँ इसी अर्थ

में माया का वर्णन किया गया है। गुरु नानक के अनुसार माया वाहगुरु की इच्छा या कुदरत (क्रियाशील पक्ष) न होकर जीव की मनोवृत्ति विशेष है। यह त्रिगुणात्मिका शक्ति है जो जीवो को आवागमन मे भटकाये रखती है। वाहगुरु की कुदरत (क्रियाशील पक्ष) एवं उसकी माया (जीव की वह प्रवृत्ति, जिसे मन द्वारा पोषण मिलता है) के अन्तर को जान लेने के उपरान्त ही गुरुनानक के माया-सिद्धान्त को समझा जा सकता है।

● **'कुदरति'—वाहगुरु की सृजन-शक्ति**

आदिग्रन्थ के अनुसार माया और वाहगुरु की सृजन-शक्ति (कुदरति) एक ही नहीं हैं। वाहगुरु की 'कुदरत' उसकी 'इच्छा' एवं 'हुकम' के द्वारा उन्होने परमात्मा की सृजन-शक्ति का उल्लेख किया है और माया द्वारा उस शक्ति का, जो जीवों को आवागमन के बन्धन में भटकाती रहती है। माया का वर्णन करते हुए उन सभी सम्बन्धों और पदार्थों का उल्लेख भी कर दिया गया है, जो जीव को अपने आकर्षण के चुम्बक द्वारा अपनी ओर खीच कर वाहगुरु की ओर से विमुख बनाते है। गुरुनानक के अनुसार जगत की रचना माया का कार्य नही। उन्होने वाहगुरु को ही जगत का स्रष्टा बतलाया है। तदनुसार वाहगुरु सत्य स्वरूप महाचैतन्य है और उसकी रचना होने के कारण जगत भी सत्य ही है—मिथ्या नही। मिथ्यात्व संसार का है, क्योंकि ससार से गुरुओ का आशय नाम-रूप से है, उसकी आधार-सत्ता से नही। जगत की आधार-सत्ता वाहगुरु है। जगत की सृष्टि, अतिरिक्त उपादान कारण से न मान कर यह स्वीकार किया गया है कि वाहगुरु ने स्वय ही जगत का रूप धारण किया हुआ है। यदि जगत परमात्मा का शरीर है तो यह भी सिद्ध है कि ब्रह्माण्ड के रूप मे प्रभु की सगुणता के तत्त्व उसी मे सूक्ष्म रूप में पहले ही विद्यमान रहते है। गुरुनानक के विचार में वाहगुरु प्रकाश एव विमर्श स्वरूप सत्ता है। उसकी प्रकाशस्वरूपता उसकी निराकारता, निर्गुण एव त्रिगुणतीतता और विमर्श स्वरूपता उसका क्रिया-पक्ष है। वही पूर्ण भेद की स्थिति से भेदाभेद एव उसके उपरान्त पूर्ण भेद की अवस्था प्राप्त करता है। इसे शब्द ब्रह्म या परमसत्ता का शक्ति-पक्ष कह सकते हैं। आदि ग्रन्थ मे इसे 'कुदरत' 'हुकम' और 'इच्छा' का अभिधान देकर वाहगुरु द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। आदिग्रन्थ में हमे यत्र-तत्र इसी धारणा के उल्लेख मिलते है। इनके आधार पर वाहगुरु की सर्जन-शक्ति की मान्यताओ का भली भाँति निर्धारण किया जा सकता है।

गुरुनानक जगत को परमात्ममय मानते हैं। वे वाहगुरु द्वारा 'कुदरति' का रूप धारण करने की धारणा का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि वही निकट, दूर एव मध्यवर्ती सत्ता है। वही देख एव सुन रहा है और 'कुदरत' की रचना उसी ने की है। उसकी जैसी इच्छा होती है, वही होता है। अतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे उसी का 'हुकम' लागू हो रहा है।

आपे नेड़ै दूरि आपे ही आपे मंझि मिआनुो ॥
आपे वेखै सुणै आपे ही कुदरति करे जहानुो ॥
जो तिसु भावै नानका हुकमु सोई परवानुो ॥

(आ० ग्रं० पृ० २५)

गुरुनानक के मत में परमात्मा की कुदरत शशक-शृंग की भाँति अनिर्वचनीय असत्य सत्ता न होकर सत्य है। उस द्वारा ब्रह्माण्ड का रूप धारण करना मिथ्या या आभास नही। इससे यह स्पष्ट है कि 'कुदरति' सत्ता का रूप सत्य है। और उस द्वारा जगत का रूप धारण करना भी मिथ्या या आभास नही है।[1] ब्रह्माण्ड की हर वस्तु वाहगुरु के 'हुकम' से उपजती है और जीव का प्रत्येक आचरण भी उसी से निर्धारित एव नियन्त्रित होता है .

हुकमी सभे ऊपजहि हुकमि कार कमाहि ॥

(आ० ग्र० पृ० ५५)

गुरुनानक के मत मे वाहगुरु ने 'कुदरत' के द्वारा इस जगत की रचना की है और वह स्वय ही उसमें बस भी गया है। अतः उसकी कुदरत (सृजनशक्ति) का स्वरूप भी उसी तरह अनिर्वचनीय है, जिस तरह स्वय वह।[2] अपनी कुदरत (विमर्श स्वरूप) द्वारा उस (वाहगुरु) ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक धागे मे पिरो कर नियम-नियमन के भीतर रखा हुआ है·

सभ परोई इकतु धागै ॥ (आ० ग्र० पृ० १०८)

गुरुनानक ने कुदरत को शब्द ब्रह्म भी कहा है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि गुरुओ के अनुसार शब्द ब्रह्म एव कुदरत के रूप मे वाहगुरु ही जगत का रूप धारण करता है।

उतपति परलु सबदे होवै ॥ सबदे ही फिरि ओपति होवै ॥

(आ० ग्र० पृ० ११७)

उक्त मान्यता के अनुसार परमात्मा स्वयं कुदरत के रूप मे जगत का रचयिता है और स्वय ही उसके बारे मे हर प्रकार से सोचता एव स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के अनुसार सभी कार्य करता रहता है।[3] हुकमी सगल करे आकार॥ (ग्रं० पृ० १५०) कहकर भी गुरुनानक ने इसी मान्यता को दुहराया है। तदनुसार सारे ब्रह्माण्ड मे एक एवं एक (अद्वैत परमात्मा) का ही हुकम चल रहा है एव उसी से जगत की रचना का समूचा कार्य सम्पन्न होता है :

---

[1] ग्र० पृ० ४८, सची कुदरति धारीअनु सचि सिरजिओनु जहानु।

[2] आ० ग्रं० पृ० ८३, कुदरति करि कै वसिआ सोइ। वखतु वीचारे सुबंदा होइ। कुदरति कै कीमति नही पाइ। जा कीमति पाइ त कही न जाइ॥ वही० पृ० १०७, कुदरति करमु न कहणा जाई॥

[3] ग्रं० पृ० १४२, आपे कुदरति साजि कै आपे करे बीचारु।

एकु हुकमु वरतै सभ लोई ॥ एकसु ते सभ ओपति होई ॥

(आ० ग्रं० पृ० २२३)

आदिग्रन्थ में 'कुदरति' का उल्लेख भिन्न-भिन्न शब्द-प्रतीकों द्वारा हुआ है। एक प्रसंग में 'कुदरति' के लिए 'अखर' का प्रयोग कर इस मान्यता का उल्लेख किया गया है कि अक्षर से ही परमात्मा ने तीनों भुवनो की रचना की है। वेदों की रचना भी उसके अखर (हुकम) से हुई है एव सभी शास्त्र एवं पुराण आदि प्रभु के हुकम के साकार रूप हैं·

अखर महि त्रिभवन प्रभि धारे ॥ अखर करि-करि बेद बीचारे ॥

अखर सासत्र सिम्रिति पुराना ॥ × × × (आ० ग्रं० पृ० २६१)

प्रभु की इच्छा-तरंग को गुरुओं ने उसकी 'मौज' कहा है। मौज ही कुदरत अथवा वाहगुरु की सर्जन-शक्ति है। आदिग्रन्थ के अनुसार परमात्मा ने ब्रह्माण्ड की रचना अपनी मौज के रूप मे की है। उसे जीवो में एव उनसे अतीत दोनो ही माना गया है। वह एक भी है एव अनेक भी। फिर भी वह अजर, अमर एव अजन्मा है। उसकी सत्ता अपनी ही सत्ता से है।[1] स्वयभु (वाहगुरु) ने ही कुदरत (ब्रह्माण्ड) की रचना की है एव रचना के उपरान्त उसी ने उसमे अपना आसन जमाया हुआ है। जीवो का रचयिता और दाता वही है। कुदरत मे समाया हुआ वही ब्रह्माण्ड का खेल देखता और प्रसन्न होता रहता है

आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ ॥

दूजी कुदरति साजीऐ करि आसणु डिठो चाउ ॥

(आ० ग्र० पृ० ४६३)

गुरुनानक के अनुसार परमात्मा अद्वैत है। वह स्वय सत्य स्वरूप है। जगत की रचना भी उसी ने की है, जो सत्य है। वाहगुरु (ब्रह्म) स्वयं अपरिणामी (अडोल) सत्ता है जो कुदरत (सगुण) के रूप मे विकसित एवं प्रफुल्लित हो रहा है। अपनी रचना में चैतन्य बनकर वही बैठा हुआ है। परमात्मा द्वारा स्वयं ही सृजन-शक्ति का रूप धारण करने की मान्यता के समर्थन मे वे लिखते है .

आपे साजे करे आपि जाई भि रखै आपि ॥

तिसु विचि जंत उपाइ कै वेखै थापि उथापि ॥

किसनो कहीऐ नानका सभु किछु आपे आपि ॥

(आ० ग्रं० पृ० ४७५)

संयोग एवं वियोग द्वारा जगत की रचना के कार्य एवं हुकम के द्वारा सृष्टि की रचना की धारणा का उल्लेख कर गुरुओ ने इस ओर संकेत किया है कि परम

---

[1] आ० ग्रं० पृ० २७६, जो किछु कीनो सु अपनै रगि। सभ ते दूरि सभहू कै संगि। बूझै देखै करै बिबेक। आपहि एक आपहि अनेक। मरै न बिनसै आवै न जाइ। नानक सद ही रहिआ समाइ।

सत्ता जब सर्जन-शक्ति के साथ भेदातीत अवस्था में होती है, वह उसकी संयोगावस्था है। जिस समय वह सृष्टि रूप होना चाहती है, तब उसकी सर्जन-शक्ति उससे अलग हो जाती है। यही उसकी वियोग रूपता है। ब्रह्माण्ड भर का चैतन्य उसी के चैतन्य की ज्योति है। उसी ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव की रचना कर, उन्हें तीन गुणों के धन्धे में लगाया हुआ है।[1]

वाहगुरु की त्रिगुणातीतावस्था एव सर्जन-शक्ति से पूर्ण-अभेद की स्थिति का वर्णन करते हुए गुरु नानक लिखते हैं कि परमात्मा सभी शरीरों में स्वयं समाया हुआ भी है और सभी से अलग भी। अलख प्रभु ही नामरूप में दृष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त है। युग-युगान्तर तक वही सुन अवस्था (शून्य स्वरूपता) मे था। गुरु नानक के अनुसार यह उसकी 'अफुर अवस्था' थी। उस स्थिति में भी जीवों का स्वामी वही था। जीव रूप धारण करने की योग्यता उस समय भी उसमे थी। वाहगुरु की यह स्थिति 'शब्द ब्रह्म' के पहले की है। अत. सर्जन-शक्ति के रूप में ब्रह्माण्ड की रचना कर वह सभी से अलग भी है। वह अगाध सागर है, जिसकी गहराई केवल वही जानता है।[2] गुरु नानक ने सर्वत्र परमतत्त्व के द्वारा ही ब्रह्माण्ड का रूप धारण करने का उल्लेख किया है। इस धारणा के अनुसार ब्रह्म अपने शुद्ध स्वरूप मे 'अफुर' अर्थात् भेदातीत होता है। तदनन्तर 'एकोऽहं बहुस्याम्' के अनुसार उसके द्वारा एक से अनेक होने का आशय उसके अपनी सर्जन-शक्ति के ज्ञान से है। इस स्थिति मे अफुर ब्रह्म और उसकी सर्जन-शक्ति भेदाभेद-अवस्था मे ही होते है। धीरे-धीरे भेदाभेद की यह स्थिति पूर्णभेदता प्राप्त कर लेती है, जिसके फलस्वरूप जड-चेतन सृष्टि नाम-रूप मे साकार हो जाती है। ऐसे ही प्रसंगो मे गुरु नानक ने वाहगुरु की शक्ति—हुकम-इच्छा-कुदरति—के उल्लेख किये है।

गुरमत के अनुसार वाहगुरु जगत का रचनहार है और ब्रह्माण्ड की रचना उसके क्रिया-पक्ष (विमर्श स्वरूप) का कार्य। वह इसलिए अद्वैत है क्योकि परम स्थिति में केवल उसी की सत्ता है। उस समय तक वह अकाम होता है। इसीलिए वह 'अफुर' है। आदिग्रन्थ में 'जगत का वसीला' कह कर परमात्मा की सर्जन-शक्ति तथा उस शक्ति द्वारा जगत का रूप धारण करने की ओर सकेत किया गया है।

---

1 आ० ग्र० पृ० ४।१००, सजोगु विजोगु उपाइओनु स्रिसटि का मूलु रचाइआ॥ हुकमी स्रिसटि साजीअनु जोती जोति मिलाइआ। जोती हूँ सभु चानणा सति गुरि सबदु सुणाइ आ। ब्रह्मा बिसनु महेसु त्रैगुण सिरि धधै लाइआ। माइआ का मूलु रचाइओनु तुरीआ सुखु पाइआ।

2 आ० ग्र० पृ० ५५५, आपे सभ घट अंदरे आपे ही बाहरि ।। आपे गुपतु आपे ही जाहरि ।। जुग छत्तीह गुबारु करि वरतिआ सुना हरि ।। ओथै वेद पुरान न सासता, आपे हरि नर हरि ।। बैठा ताड़ी लाइ आपि सबदु ही बाहरि ।। आपणी मिति आपि जाणदा आपे ही गउहरु ।।

'वह स्वयं ही जगत है' के कथन से उसकी शक्ति का जगत रूप होना ही सिद्ध होता है :

तू अचरजु कुदरति तेरी बिसमा ॥
सुधु आपे कारणु आपे करणा ॥३॥

(आ० ग्रं० पृ० ५६४)

उपर्युक्त आशय को एक और ढंग से अभिव्यक्ति देते हुए कहा गया है कि हरि ही करण-कारण एवं सर्वशक्तिमान सत्ता है। उसी ने सृष्टि बनायी है और वही उसे अपने भीतर समेट भी लेता है। वह योगी और योग की युक्ति दोनों है। भुवनों एवं द्वीपों का रूप उसी ने धारण किया हुआ है। द्वीपों और भुवनों का प्रकाश भी वही है। वह गुरु भी है और गुरु का शबद भी। वाणी रूपी सागर एवं उसका मंथन करने वाला स्वयं वही है। वाणी के सागर का मथन कर विचार का नवनीत भी वही निकालता है।[1] प्रस्तुत वर्णन मे वाहगुरु को ज्ञाता एवं ज्ञेय बतला कर उसकी कुदरत (सृजन-शक्ति) की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है।

गुरु नानक के अनुसार जिस प्रकार वाहगुरु अनिर्वचनीय सत्ता है, उसी प्रकार उसकी सृजन-शक्ति भी। जीव केवल उसकी बन्दगी कर सकता है। शेष रहस्य उसे गुरु की शरण एवं वाहगुरु की कृपा से ही प्राप्त होते हैं।[2] उसकी कुदरत द्वारा माया का रूप धारण करने के प्रसंग मे कहा गया है कि माया को सरूपता वाहगुरु से ही प्राप्त होती है—

माइआ का रूपु सभु तिस ते होइ ॥

(ग्रं० पृ० ७६७)

वह जब चाहता है तभी अपने स्वरूप को अदृश्य बना लेता है एवं इच्छा करते ही जगत के रूप में साकार भी हो जाता है। सृष्टि मे वही व्याप्त है और जगत का नाम-रूप (कौतुक) भी वही है।[3] काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार अनुत्तर (परमशिव) ही शिव और शक्ति है। इस दर्शन के अनुसार उत्पन्न होना न कहकर अपने आपको शिव और शक्ति के रूप में अभिव्यक्त करना माना गया है। आदिग्रन्थ मे भी वाह-

---

[1] आ० ग्रं० पृ० ६६६, आपे जोगी जुगति जुगाहा ॥ आपे निरभउ ताड़ी लाहा ॥ आपे ही आपि आपि वरतै आपे नामि उमाहा राम ॥ आपे दीप लोअ दीपाहा ॥ आपे सतिगुर समुंदु मथाहा ॥ आपे मथि मथि ततु कढाए जपि नामु रतनु उमाहा राम ॥

[2] आ० ग्रं० ७२४, कुदरति कीम न जाणीऐ वडा वेपरवाहु ॥ करि बंदे तू बंदगी जिचरु घट महि साहु ॥

[3] ग्रं० पृ० ८०३, आप ही गुपत आपि परगटना ॥ आप ही घटि घटि आपि अलिपना ॥ आपे अविगतु आप संगि रचना ॥ कहु नानक प्रभ के सभि जचना ॥

गुरु द्वारा शिव और शक्ति की रचना का उल्लेख हुआ है, जिसके अनुसार जीव एवं जड़ सृष्टि शिव और शक्ति के माध्यम से वाहगुरु के द्वारा धारण किये हुए रूप माने जा सकते हैं।[1]

गुरुनानक ने एक स्थान पर इस धारणा का उल्लेख भी किया है कि वाहगुरु ने अपने भीतर से शक्ति (कला) को पैदा कर उसके द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना की है। धरती और आकाश वाहगुरु के हुकम से ही उसकी शक्ति द्वारा ब्रह्माण्ड के दो 'पुड' (मूलाधार) बनाये गये हैं। उसी ने अग्नि को बनाया है और उसी ने उसे सूखे काठ के अन्दर बन्द भी कर दिया है। वह सृष्टि का मूल है।[2] इस प्रकार के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि गुरु नानक को वाहगुरु की सर्जन-शक्ति की मान्यता स्वीकार है।

---

[1] ग्रं० पृ० ९२०, सिव सकति आपि उपाइ कै, करता आपे हुकमु वरताए ।। हुकमु वरताए आपि वेखै, गुरमुखि किसै बुझाए ।।

[2] ग्रं० पृ० ८०२, कला उपाइ धरी जिनि धरणा ।। गगनु रहाइआ हुकमे चरणा ।। अगनि उपाइ ईधन महि बाधी सो प्रभु राखै भाई हे ।। वही० पृ० १०१२, सुंन कला अपरंपरि धारी ।। आपि निरालमु अपर अपारी ।।

६ | माया—वाहगुरु की रचना

आदिग्रन्थ मे माधउ (माधव) शब्द का प्रयोग वाहगुरु के लिए हुआ है लेकिन उसका तात्पर्य माया-पति से है। तदनुसार ससार तृष्णा की अग्नि का सागर है और उसमे सर्वत्र माया का प्रसार है। माया ने प्रायः सभी जीवो पर अपना प्रभाव डाल रखा है।[1] भव-तृष्णा की अग्नि से वे जीव ही बच सके हैं, जिन्हें सद्गुरु की शरण प्राप्त हुई है। गुरु की शरण का अर्थ है वाहगुरु के वरद हाथ की शीतल छाया। इस मान्यता का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है कि

जा कउ तुम भए समरथ अंगा ॥ ता कउ कछु नाही कालंगा ॥
माधउ जा कउ है आस तुमारी ॥ ता कउ कछु नाही संसारी ॥

(आ० ग्र० पृ० १८८)

माया गुरमत के अनुसार सत्व, रज एव तमोमयी सत्ता है। वाहगुरु द्वारा निर्मित होने के कारण ही वह जीव के लिए दुस्तर है। माया-सागर भँवर से निकलना अत्यन्त कठिन है। केवल गुरु का शब्द ही एक सहारा है, जिसको पाकर इसे पार किया जा सकता है

त्रैगुण माइआ ब्रह्म की कीन्हीं कहहु कवन बिधि तरीऐ रे ॥
घूमन घोर अगाह गाखरी गुर सबदि पार उतरीऐ रे ॥

(आ० ग्र० पृ० ४०३-४)

वाहगुरु को माया का कर्ता बतलाकर उसे माया के प्रभाव से अतीत कहा गया है। शेष सारी सृष्टि माया के अधीन है। चारो वेद माया की शक्ति की ही चर्चा करते हैं। केवल वे लोग ही माया से बचे हुए हैं, जिन्होने परमात्मा को अपने हृदय में बसा लिया है। वे माया के आक्रमण के प्रति सदा सावधान रहते हैं, अतः माया उन्हे अपने प्रभाव के भीतर समेटने में असमर्थ है। गुरओ के मत मे शरीर की इस नगरी मे पाँच चोरों (मनोविकारो) ने अपना निवास-स्थान बनाया हुआ है। वे प्रत्येक

---

[1] आ० ग्रं० पृ० १८८, अगनि सागरु महा विआपे माइआ ॥ से सीतल जिन सतिगुर पाइआ ॥

जीव की धन-सम्पत्ति लूटते रहते हैं। इन पाँच चोरों, माया के तीन गुणो एवं दस इन्द्रियों से वही अपने धन को बचा सकता है जिसकी वृत्ति परमात्मा-लीन है।[१] इस प्रकार से गुरुओं ने माया को वाहगुरु की रचना बतला कर उसके स्वरूप एव शक्तियों के उल्लेख द्वारा जीव के भव-सागर-सतरण का वास्तविक उपाय सकेतित किया है। अन्यत्र कहा गया है कि वह स्वय माया का सागर एव उससे पार करवाने वाला पोत (बोहिथ) दोनों है :

> आपे सागरु बोहिथा पिआरा गुरु खेवटु आपि चलाहु ॥
> आपे ही चड़ि लंघदा पिआरा करि चोज वेखै पातिसाहु ॥
> आपे आपि दइआलु है पिआरा जन नानक बखसि मिलाहु ॥
>
> (आ० ग्र० पृ० ६०४-५)

महामाया को ब्रह्म की छाया बतलाकर[२] गुरुओ ने उन मान्यताओं से असहमति प्रगट की है, जिनके अनुसार माया ब्रह्म की किसी दूसरे रूप में प्रतीत करवाने वाली अनिर्वचनीय शक्ति है। गुरमत के अनुसार वाहगुरु की दासी माया का इतना अधिक प्रभाव है कि उसने सभी को मोह मे डाल रखा है। जिसे परमात्मा से प्रेम है, वही इसके प्रभाव से मुक्त हो सकता है, परन्तु यह होता उसी समय है जब उसे वाहगुरु की इच्छा एव उसका अनुग्रह प्राप्त होता है।[3] ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कार्य वाहगुरु के सकेत से ही चल रहा है। यहाँ तक कि तीन गुणों का 'पसारा' (माया) भी वाहगुरु का ही फैलाया हुआ है। नरक एव स्वर्ग का खेल भी उसी का है। माया का फैलाया हुआ अन्धकार गुरु के बिना दूर नही होता, उसकी शरण से ही जीव इस अन्धेरे से मुक्ति प्राप्त कर सकता है—

> त्रैगुण कीआ पसारा ॥ नरक सुरंग अवतारा ॥
> हउमै आवै जाई ॥ मनु टिकणु न पावै राई ॥
> बाझु गुरु गुबारा ॥ मिलि सति गुरु निसतारा ॥
>
> (आ० ग्र० पृ० १००३)

माया के जाल में प्राय: सभी जीव रूपी पछी फँसे हुए है। तृष्णा या लोभ उन्हें उस जाल से निकलने नहीं देता। सासारिक आकर्षण एव आसक्तियो का चोगा

---

[१] आ० ग्रं० पृ० ५०३, एक नगरी पंचचोर बसीअले बरजत चोरी धावै ॥ त्रिह दस माल रखै जो नानक मोख मुकति सो पावै ॥ वही०, उरध मूल जिसु साख तलाहा चारि बेद जितु लागे ॥ सहज भाइ जाइ ते नानक पारब्रह्म लिव जागे ॥ पारजातु घरि अगनि मेरै पुहप पत्र ततु डाला ॥ सरब जोति निरजन संभु छोड़हु बहुतु जंजाला ॥

[२] ग्रं० पृ० ८६८, महा माइआ ताकी छाइआ।

[3] आ० ग्रं० इक दासी धारी सबल पसारी जीअ जंतलै मोहनिआ ॥ × × × कहु नानक जो प्रभु कउ भाणा तिस ही कउ प्रभु पिआरा ॥

डालकर ही माया सभी को अपने जाल में फँसाती रहती है।[1] गुरुओं का यह विचार अत्यन्त सटीक है कि माया वाहगुरु की छाया है।[2] गुरुओं ने माया के स्वरूप एवं उसके कार्यों का उल्लेख इसलिए किया है कि जीव यथार्थ स्थिति से अवगत होकर अपने लिए कल्याणकारी मार्ग का चुनाव कर सके। माया से मुक्ति के उपायों का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि जीव को चाहिए कि वह काम-क्रोध और निन्दा का परित्याग कर दे। माया के प्रलोभन से दूर रहकर अहं-भाव का विसर्जन करे। पर-स्त्री के गमन से दूर रहने वाला व्यक्ति माया की कालिमा मे रहता हुआ भी मायातीत वाहगुरु को प्राप्त कर सकता है। अहंकार को दूर कर जो जीव पुत्र-कलत्र की ममता से रहित है, आशा-तृष्णाओं से अतीत एव परमात्मानुरक्त है, वह गुरु के 'सबद' द्वारा परमात्मा के नाम मे लीन हो जाता है :[3]

परहरि कामु क्रोधु झूठु निंदा, तजि माइआ अहंकारु चुकावै ॥
तजि कामु कामिनी मोहु तजै, ता अंजन माहि निरंजन पावै ॥
तजि मानु अभिमानु प्रीति सुत दारा, तजि पिआस आस लिव लावै ॥
नानक साचा मनि वसै, साच सबदि हरि नामि समावै ॥

(आ० ग्रं० पृ० १४१)

आदिग्रन्थ मे वर्णित माया के स्वरूप सम्बन्धी निम्नलिखित धारणा भी द्रष्टव्य है

एका माई जुगति विआई तिनि चेले परवाणु ॥
इकु संसारी इकु भंडारी इकु लाए दीबाणु ॥

(आ० ग्रं० पृ० ७)

● **त्रिगुणात्मक माया के विविध रूप**

माया को इस दृष्टि से वाहगुरु की रचना माना गया है कि वह उसकी सृजन-शक्ति, हुकम या 'शब्द-ब्रह्म' का ही विकास है। जिस समय परमसत्ता एक से अनेक होने की इच्छा करती है, उस समय उसका विमर्श रूप अलग हो जाता है। इसे दार्शनिक शब्दावली मे वाहगुरु की भेदाभेद-अवस्था एव अन्त में पूर्ण भेद की स्थिति कह सकते हैं। सांख्यों के अनुसार यह प्रकृति की क्षोभावस्था है। इस स्थिति में उसका त्रिगुणात्मक रूप अलग-अलग पुरुष को अपने प्रभाव-जाल मे घेर लेता है। अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार यह जीव की भ्रमावस्था है, जिसका कारण अविद्या

---

[1] आ० ग्र० पृ० ५०, माइआ जालु पसारिआ भीतरि चोग बणाइ ॥ तृसना पंखी फासिआ निकसु न पाए माइ ॥

[2] आ० ग्र० पृ० १२५, आपे माइआ आपे छाइआ ॥

[3] ग्र० पृ० २३, काहे गरबसि मूड़े माइआ ॥ पित सुतो सगल कालत्र माता तेरे होहि न अंति सखाइआ ॥

बतलाया गया है। वैष्णव विचारको के मत मे यह जीव का अनादि संस्कार एवं वासुदेव या नारायण की लीला है। माया द्वारा जीव को आबद्ध करने की धारणा को प्रायः सभी आस्तिक दर्शन अपनी-अपनी दार्शनिक एव धार्मिक मान्यताओ के अनुसार स्वीकार कर लेते है। लेकिन निर्गुण सन्तो ने जीव की माया मे लिप्तता एवं माया द्वारा जीव को भटकाने की बात पर ही अधिक बल दिया है। आदिग्रन्थ में भी इसी धारणा को स्वीकार किया गया है। तदनुसार वाहगुरु एव सन्त ही माया के प्रभाव से मुक्त हैं; अन्यथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव तक को माया के अधीन बतलाया गया है। गुरमुख और मनमुख जीवो के बारे मे जो इतनी विशद चर्चा हुई है उसका उद्देश्य भी यही है। गुरुओ के अनुसार जो जीव गुरु की शरण प्राप्त कर वाहगुरु के नाम का सिमरन एव उसके गुणो का कीर्तन करते है, वे ही स्थितप्रज्ञ एव प्रभु के प्यारे बनते है। जिन जीवो की वृत्तियाँ मन के धर्मो से प्रेरित है, वे गुरु के अनुग्रह एव वाहगुरु की कृपा से वचित रह कर आवागमन मे भटकते रहते है। ऐसे ही जीवो को माया-ठगिनी छलती और भटकाती रहती है। इस प्रवचना से बचने के लिए ही गुरुओं ने .माया के स्वभाव और प्रभाव से परिचित करवाते हुए जीवो को उनके वास्तविक उद्देश्य की जानकारी दी है और उन्हे माया के आकर्षणो मे लिप्त होने से रोका है। आदिग्रन्थ मे माया के अनेक रूपो की चर्चा हुई है।

माया-ठगिनी—आदिग्रन्थ के अनुसार माया रूपी ठगिनी ने सारे जगत को 'भरमो' मे भटका रखा है। जीव के भीतर मोह की ठगमूरि डालने वाली यह माया ही है। जिन जीवो ने गुरु की शरण प्राप्त कर ली है केवल उन्ही के निकट वह नही आती, अन्यथा सारा ससार ही उसने अपने वश मे किया हुआ है

इहु जगु भरमि भुलाइआ मोह ठगउली पाइ ॥
जिना सतिगुर भेटिआ तिन नेड़ि न भिटै माइ ॥

(आ० ग्र० पृ० २३३-३४)

माया ने एक ओर जीव को 'ठगमूरि' के भ्रमो मे भटकाया हुआ है, दूसरी ओर वह आकर्षणो का जाल फैला कर उसमे मोह-ममता के दाने (चोगा) डालती रहती है। जीव उसकी इस चालाकी को पहचान नही पाता और लोभी पक्षियो की भाँति ममता-मोह के चोगे के लालच मे उसके फैलाए हुए जाल मे उलझ जाता है :

माइआ जालु पसारिआ भीतरि चोग बणाइ ॥
तृसना पंखी फासिआ निकसु न पाए माइ ॥

पुत्र, स्त्री, सगे-सम्बन्धी, घर-बार, धन-यौवन एव लोभ ये माया के प्रतीक हैं और जीव को वह इन्ही मे भरमाए रखती है। तृष्णा माया का सूक्ष्म शरीर है जिसका आकर्षण जीव-नारी को गुरु की शरण पाकर पति-परमेश्वर के पास जाने ही नही देता।

त्रिसना माइआ मोहणी सुत बंधप घर नारि ॥
धनि जोबनि जगु ठगिआ लबि लोभि अहंकारि ॥
मोह ठगउली हउ मुई सा वरतै संसारि ॥

(आ० ग्र० पृ० ६०)

माया के मोह के अन्धेरे मे भटका हुआ जीव भव-सागर से पार उतरने का अवसर कभी प्राप्त ही नही कर पाता। यह ऐसा अन्धेरा है जिसका कोई आदि एवं अन्त ही नहीं है।[1] माया को गुरुओ ने राम द्वारा उत्पन्न की हुई विचित्र प्रकार की नारी के रूप मे वर्णित किया है। इस मोहिनी के विषदश मे सारा ब्रह्माण्ड सन्त्रस्त है।

ऐसी इसत्री इक राम उपाई ॥
तिनी सभु जगु खाइआ हम गुरि राखे मेरे भाई ॥
पाइ ठगउली सभु जगु जोहिआ ॥
ब्रह्मा, बिसनु महादेउ मोहिआ ॥ (ग्र० पृ० ३६४)

गुरुओ का विचार है अगर माया ठगिनी न होती तो जिस ससार में वह जीव को लिप्त रखती है, वह उसके लिए दुख का कारण न होकर सुख का हेतु बनता। परन्तु यथार्थ मे ऐसा नही है। जीव का यह भ्रम उस समय दूर होता है, जब वह इस दुनिया को छोड़ कर चलने लगता है और देखता है कि उसके सभी अपने सगे सम्बन्धी साथ छोड देते है। उसे उस समय इस तथ्य का पता चलता है कि वह आजीवन ठगमूरि का ही विष खाता रहा है, क्योकि उसे धन-दौलत एव घर-बार सभी कुछ यही छोड कर जाना पड रहा है।[2] गुरमत के अनुसार माया ने अण्डज, जेरज, सेनज एव उद्भिजात्मक सृष्टि का खेल रचा रखा है। काम एव क्रोध आदि पाँचो इसी की सन्ताने है। सभी जीव इसी के तीनों गुणो के विभिन्न रसो मे लीन है। माया की सारी सृष्टि ही जीव को धोखे मे डालने वाली है।

पंच पूत जने इक माइ ॥ उतभुज खेलु करि जगत विआइ ॥
तीनि गुणा कै संगि रचि रसे ॥ इनको छोडि ऊपरिजन बसे ॥

(आ० ग्र० पृ० ८६५)

यही कारण है कि माया को नीचकुला बतला कर जीव को उसका परित्याग कर देने का उपदेश दिया गया है और धरणीधर (वाहगुरु) की शरण मे जाने के लिए प्रेरित किया गया है।[3]

---

[1] आ० ग्र० पृ० ८६, माइआ मोह गुबारु है तिसका न दिसै उरवारु न पारु ॥
मनमुख अगिआनी महादुखु पाइदे डूबे हरिनामु विसारि ॥

[2] आ० ग्र० पृ० ६००, पूतु कलत्र लखिमी दीसै इन महि किछु न संगि लीआ ॥
बिखै ठगउरी खाइ भुलाना माइआ मंदरु तिआगि गइआ ॥

[3] ग्र० पृ० १००१ धरणीधरु तिआगि नीच कुल सेवहि हउ हउ करत बिहावथ ॥
फोकट करम करहि अगिआनी मनमुख अतु कहावथ ॥

माया की सबसे बुरी करतूत गुरुओं के अनुसार वाहगुरु और जीव के बीच दीवार का काम करना है। इसके पर्दे के कारण ही जीव परमात्म-साक्षात्कार से वंचित हो जाता है। अन्य कई पदार्थ भी नशीले होते हैं, परन्तु जितनी तीव्रता से माया की मदिरा का असर जीव पर होता है उतना और किसी का नहीं। यह ऐसा नशा है जो उसके समूचे जीवन को ही सन्मार्ग की ओर से भटका देता है। संसार के व्यापक एवं घने जंगल में जीव को सच्ची राह नहीं मिल पाती। उसके शरीर में बैठा हुआ मन रूपी चोर उसे लूटता रहता है। समय के सूर्य की गति रुकती नहीं और मनमुख की जीवन-यात्रा व्यर्थ में ही समाप्त हो जाती है। वह वाहगुरु की ओर अपनी वृत्तियाँ नियोजित कर ही नहीं पाता और यह सभी कुछ कमला (माया) के ही प्रभाव का फल है

कमला भ्रम भीति कमला भ्रम भीति है तीखण मद
बिपरीति है अवध अकारथ जात ॥
गहबर बन घोर गहबर बन घोर है ग्रिह मूसत
मन चोर है—दिन करो अनदिनु खात ॥
दिन खात जात बिहात प्रभ बिनु कछु न गते ॥
कुल रूप धूप गिआन हीनी तुम्ह बिना मोहि कवन मात ॥
कर जोड़ि नानकु सरणि आइओ प्रिय नर हर करहु गात ॥
(आ० ग्र० पृ० ४६१-६२)

माया-सर्पिणी—आदिग्रन्थ मे माया को जिन विनाशकारी एव भयावह प्रतीको के द्वारा वर्णित किया गया है, उनमे उसका सर्पिणी रूप अत्यधिक सटीक एव सार्थक है। तदनुसार वह नागिन का रूप धारण कर सारे ससार को अपने कुण्डल-वलय मे घेरे हुए है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जो इसकी पूरी लगन के साथ सेवा करता है, यह उसी को डस लेती है। संसारी जीव इससे डसे जाकर अन्त मे हाय-हाय करते है और कोई विरला संत गारुडी ही इसे दल-मल कर पाँवो मे गिरने वाली बनाता है। इसी कारण नानक द्वारा जीव को सचेत किया गया है कि जिनकी प्रीति सत्यस्वरूप वाहगुरु से है, वे ही भव-सागर से पार उतर सकते हैं।[1]

माया-चुड़ैल—माया को चुड़ैल के प्रतीक के रूप मे वर्णित कर उसके भयावह रूप द्वारा जीव को सम्बोधित किया गया है कि वह सावधान रहे और इस चुड़ैल के चंगुल मे न फँसे। इसके साथ ही गुरु के 'सबद' से उसे जला डालने का उल्लेख भी हुआ है। माया-चुड़ैल को वही भस्म कर सकता है जिसका तन एवं मन दोनों ही

---

[1] आ० ग्र० पृ० ५०६, माइआ होइ नागनी जगति रही लपटाइ। इसकी सेवा जो करे तिस ही कउ फिरि खाइ। गुरमुखि कोई गारड़ तिनि मलि दलि लाइ पाइ। नानक सोई उबरे जि सचि रहे लिव लाइ।

पवित्र हैं। माया-चुड़ैल को समाप्त करने का मात्र उपाय हरि का नाम है, जो गुरु की शरण में जाकर ही पाया जा सकता है।

> **हउमै ममता मोहणी मनमुखा नो गई खाइ ॥**
> **जो मोहि दूजै चितु लाइ वे तिन्हा विआपि रही लपटाइ ॥**
> **गुर कै सबदि परजालीऐ ता एह विचहु जाइ ॥**
> **तनु मनु होवै ऊजला नामु वसै मनि आइ ॥ नानक माइआ**
> **का मारणु हरि नामु है गुरमुखि पाइआ जाइ ॥**

(आ० ग्रं० पृ० ५०६)

माया-विष—माया को सिक्ख गुरु विष मानते है। इसलिए उन्होने इसका वर्णन विष-रूप में भी किया है। तदनुसार गुरमुख जीव आनन्द मनाते हैं और मनमुख माया-विष खाकर आवागमन मे भटकते रहते है। मनमुखो को वाहगुरु का स्तवन अच्छा नही लगता। अत उनका सम्पूर्ण जीवन दु:ख उठाते हुए ही व्यतीत हो जाता है।

> **वाहु-वाहु मुख सदा करहि मनमुख मरहि बिखु खाइ ॥**
> **ओना वाहु-वाहु न भावई दुखे दुखि विहाइ ॥**

ग्रं० पृ० वही०

माया-सागर—भक्त जीव अपने आप को निर्बल एवं भगवदाश्रित मानता है। इसलिए अपनी शक्ति एवं गुणो के सहारे का उसका अह विगलित हो जाता है। अह का पर्दा हटते ही उसकी विनम्रता द्विगुणित हो जाती है और वह भगवान से विनय करता हुआ कहता है कि उसमे न कोई गुण है और न कोई साधन। अतः वह माया के सागर को स्वय पार करने मे असमर्थ है। वह प्रभु के चरणों की शरण का सहारा लेकर विनय करता है कि उसको माया के विष से वही मुक्त कर सकता है।[1]

---

[1] आ० ग्रं० पृ० ४३३, जुगति न जाना गुन नही कोई महा दुतरु माइ आछै। आइ पइओ नानक गुर चरनी तउ उतरी सगल दुराछै।

७

आदिग्रन्थ में वर्णित माया के स्वरूप का वैशिष्ट्य

आदर्शवादी विचारको के अनुसार जड़ तत्त्व मे कर्तृत्व-शक्ति का अभाव है। उनके मत में वे जगत की रचना के हेतु केवल उपादान सामग्री ही बन सकते है। इस मान्यता के कारण उनके द्वारा परमसत्ता की स्वीकृति के उपरान्त यह स्वीकार कर लिया गया है कि सम्पूर्ण चिदचिद् जगत साकाररूपता प्राप्त करने से पूर्व परमसत्ता मे ही अनभिव्यक्त अवस्था मे विद्यमान रहता है। कई विचारको ने इसे इस प्रकार भी व्याख्यात किया है कि परमसत्ता पराद्वैत है, इसलिए जगत की रचना स्थिति एवं सहार उसके उन्मीलन एवं निमीलन के स्वभाव से भिन्न एव स्वतन्त्र नही है। इस प्रकार वे परमसत्ता को ही जगत के रूप में मूर्तिमान (Manifested) मानते हैं। भारतीय दर्शन-परम्परा मे कुछ चिन्तक ऐसे भी है, जो जीव और जगत (जड़ तत्त्व) का अनादि अस्तित्व तो स्वीकार करते है, लेकिन उनका पूर्ण स्वातन्त्र्य न मानकर उन्हे परमात्म-निर्भर बतलाते है। द्वैत वेदान्ती मध्वाचार्य का मत इसी कोटि का है। विशिष्टाद्वैतवादी चित् और अचित् के रूप मे जीव और जड तत्त्व को परम तत्त्व (ब्रह्म) का ही सजातीय भेद स्वीकार करते हैं। शुद्धाद्वैत वेदान्तियों की मान्यता इससे भिन्न है। उनके अनुसार परमात्मा शुद्ध अद्वैत सत्ता है और उसकी योगमाया माया और अविद्या के रूप में जगत की रचना करती है। अद्वैतवेदान्तियो के अनुसार जीव और जगत का वास्तविक अस्तित्त्व ही नही है। उन्हे वे माया एव अविद्या के कारण मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न प्रतीति सत्ताएँ मानते हैं। इसके विपरीत भारतीय दर्शन-परम्परा मे कुछ एक ऐसे दर्शन भी है, जो प्रकृति और परमाणुओ द्वारा जगत की रचना की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते है। उनके अनुसार अनादि सत्ता परमाणुओ की है, जिनमे स्वय गति और क्रिया विद्यमान रहती है, जिसके फलस्वरूप जगत का निर्माण होता है। सांख्य-योग, न्याय और वैशेषिक इसी कोटि के दर्शन हैं। यह ईश्वरवाद का परवर्ती प्रभाव है कि इनमे भी कालान्तर मे ईश्वर के कर्तृत्व का समावेश हो गया है। गुरु नानक परमसत्ता के अस्तित्त्व मे विश्वास रखते हैं। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। अत भारतीय दर्शन-परम्परा और गुरु नानक से हमारा आशय ऐसी मान्यताओं से है, जिनमें जगत की रचना परमात्मा (ब्रह्म) द्वारा

स्वीकार की गयी है। ईश्वरवादियो के माया सम्बन्धी विचारो की परम्परा को गुरु नानक ने किन-किन रूपो मे स्वीकार किया है और कहाँ पर वे स्वतन्त्र विचारक का रूप धारण कर लेते है, निष्कर्ष के तौर पर इसी विषय पर विचार किया जा रहा है।

सृष्टि की रचना का प्रश्न सर्वप्रथम सम्भवत. 'नासदीय सूक्त' मे ही उठाया गया है। तदनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यको मे भी जगत की रचना पर विचार प्रकट किये गये है। वैदिक ऋचाओ मे इन्द्र, वरुण एव अन्य देवताओ द्वारा जगत की रचना के जो उल्लेख प्राप्त होते है, उनमे इन देवताओं की शक्ति या रचना-चातुर्य के रूप मे ब्रह्म की शक्ति के सकेत प्राप्त हो जाते है।[१] ब्राह्मण ग्रन्थो मे सृष्टि की रचना के प्रसग को पहले भिन्न-भिन्न दृष्टियो से प्रस्तुत कर तदनन्तर उसके उत्तर भी दिये गये है। इनके अनुसार प्रजापति की मात्र इच्छा से ब्रह्माण्ड साकार होता है।[२]

तैत्तिरीयोपनिषद मे सृष्टि की रचना से पहले सत् और असत् तत्वो की विद्यमानता स्वीकार की गयी है और छान्दोग्योपनिषद मे एक स्थल पर यह कहा गया है कि नामरूपात्मक सृष्टि से पहले सभी कुछ शून्य तत्त्व से आच्छादित था।[३] उपनिषदो के उपरान्त साख्य दर्शन मे प्रकृति के परिणमन के द्वारा जगत की रचना का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। न्याय वैशेषिक दर्शनो मे परमाणुवाद को सृष्टि का मूलाधार स्वीकार किया गया है। भगवदगीता मे पूर्ववर्ती विचारधारा के समन्वय एवं सृष्टि की रचना के प्रसग मे क्षर और अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम की सर्वोपरि सत्ता मानकर प्रकृति को उसकी योनि बतलाया गया है। तदनुसार सृष्टि की रचना की सम्पूर्ण प्रक्रिया ब्रह्म की महद्योनि से ही सम्पन्न होती है। अन्तर यह कर दिया गया है कि वह यह कार्य स्वतन्त्र कर्तृत्व के रूप मे न कर परब्रह्म या पुरुषोत्तम की इच्छा से करती है। तदनुसार माया मायापति की अधीनस्थ शक्ति या भगवान की माया है।[४] वैष्णव आचार्यों का ब्रह्म की माया का सिद्धान्त गीता की उक्त मान्यता का ही अनुसरण है। शैवो की शक्तिमान की शक्ति द्वारा जगत की रचना सम्बन्धी मान्यताएँ भी आशिक रूप मे गीता की माया सम्बन्धी उक्त धारणाओ मे किसी न किसी रूप में प्रभावित प्रतीत होती हैं।

शकराचार्य ने शून्यवादी एवं विज्ञानवादी बौद्धो के शून्य तथा विज्ञान-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए ब्रह्म को सच्चिदानन्द परात्परसत्ता माना और इसी

---

१ ऋ० वे० १०-७५-६, वही० १०-१६०-१ से ३,

२ तैत्ति० ब्रा० १-१-३-५, तैत्ति० सहिता, ७-१-५,

३ तैत्ति० उप० २-७-१, छान्दो० उप० १-८-१,

४ गीता, आध्या० १५।१६-१८, वही० १३।२७, वही० ६।१०,

सन्दर्भ में अपने मायावाद का निरूपण भी किया। उनके अनुसार जीव और जगत का यथार्थ अस्तित्व नहीं है। यह माया का ही प्रभाव है कि हमे अयथार्थ भी यथार्थ की भाँति प्रतीत होने लगता है। काश्मीर शैवों ने शाकर मायावाद का खण्डन करते हुए जगत की रचना का कार्य परमशिव के विमर्श पक्ष अर्थात् शक्ति का स्वीकार किया। उनका शक्ति-सिद्धान्त अद्वैतवेदान्तियों एव वैष्णव आचार्यों के माया-सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न प्रकार का हो गया है। वैष्णव आचार्यों ने शांकर मायावाद का खण्डन कर माया के स्वरूप एवं उसके कार्यों आदि की भिन्न-भिन्न रीति से व्याख्याएँ की हैं और ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया-सिद्धान्त का फिर से निरूपण किया है। थोड़े बहुत अन्तर के साथ सभी वैष्णव आचार्य साख्य के प्रकृति-सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी ब्रह्म की शक्ति को ही जगत की रचना का कारण मानते है। अहिर्बुध्न्य और जयाख्य सहिताओं (पंचरात्र) विष्णुपुराण एव भागवत पुराण के आधार पर आचार्य रामानुज ने यह स्वीकार किया है कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म (नारायण) अपनी शक्ति द्वारा जगत की रचना करते है। गरुड पुराण, पद्मपुराण एव ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी सृष्टि की रचना के उल्लेख परमतत्त्व की शक्ति के कार्य के रूप मे प्राप्त होते हैं।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि कालान्तर मे माया या शक्ति के रूप मे जगत की रचना करने वाली सत्ता को प्राय: सभी ने स्वीकार कर लिया है, लेकिन साथ ही इस धारणा का प्रतिपादन भी हुआ है कि माया या शक्ति परमसत्ता के अधीन है और उसका सकेत पाकर ही वह जगत की रचना मे प्रवृत्त होती है।

गुरुनानक द्वारा ब्रह्म (वाहगुरु) की 'कुदरति' उसके हुकम या इच्छा से जगत की रचना के प्रसंग में शून्यपुराण मे वर्णित सृष्टि की रचना का उल्लेख भी आवश्यक है। तदनुसार आरम्भ में मात्र शून्य ही शून्य था। नामरूपात्मक सृष्टि उस समय नही थी। अत: शून्य के आधार पर स्थित परमसत्ता ने शून्य में ही सृष्टि की रचना का संकल्प किया और अपरब्रह्म की प्राणशक्ति से पहली बार श्वास-प्रश्वास का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार अपरब्रह्म द्वारा निरंजन की सृष्टि और तदनन्तर वासुकि एवं मिट्टी तक की साकारता की धारणाओं का प्रतिपादन भी शून्यपुराण में हुआ है। शून्यपुराणकार के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और शिव आद्याशक्ति की सन्तान हैं। तदनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कार्य इन उक्त तीनो देवताओं के द्वारा सम्पन्न माना गया है।[2] पुराणो में तात्रिक

---

[1] ग० पु० पूर्वखण्ड, अध्या० ४, पद्मपुराण, सृष्टि-खण्ड, अध्या० २, ब्र० वै० पु० अध्या० ३,

[2] शून्य पुराण, सृष्टि पट्टन, पृ० १ से ४२,

विश्वासों का पर्याप्त प्रभाव होने के कारण तान्त्रिकों की सृष्टि सम्बन्धी मान्यताएँ भी तनिक अन्तर के साथ स्वीकार कर ली गयी है।[१]

हिन्दू तांत्रिक एवं बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदायों मे कालान्तर मे पर्याप्त साम्य आ गया। हीनयानी बौद्ध धर्म के द्वारा महायानी रूप प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसमें भी देवतावाद का प्रवेश हो गया, जिसके फलस्वरूप सृष्टि की रचना से सम्बन्धित मान्यताओ का आदान-प्रदान होता रहा। करण्डव्यूह के अनुसार यह स्वीकार किया गया है कि विश्व के सृजन से प्रेरित होकर आदिबुद्ध की इच्छा से अविलोकितश्वर ही महेश्वर को सृष्टि की रचना का आदेश देते हैं।[2] शिव और शक्ति का स्थान बौद्ध तन्त्रों में प्रज्ञा एव उपाय को मिला है। उनमे शून्यता और करुणा की मान्यताओं द्वारा भी सृष्टि की समस्या पर विचार किया गया है।

गुरुनानक जिस मध्यकालीन निर्गुण आन्दोलन की प्रधान कड़ी है, उसमें भी जगत की रचना करने वाली शक्ति के बारे में पर्याप्त विचार हुआ है। कबीर के अनुसार (बीजक के आधार पर) शुद्धस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब चेतनाश्रित माया मे पड़ते ही, उसमे क्षोभ होता है। यही क्षोभ हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति का कारण बनता है। हिरण्य गर्भ निरजन है, जिसका माया के साथ सयोग होते ही ब्रह्माण्ड के तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न हो जाते है तथा सृष्टि का कार्य आरम्भ हो जाता है। बीजक के ये विचार अद्वैतवेदान्तियो की मान्यताओ का ही स्वतन्त्र मुहावरा प्रतीत होते है।[3] बिहार वाले सत दरिया ने जगत की रचना से पहले पूर्ण शून्य की स्थिति स्वीकार की है। उन्होने भी ईश्वर से निरजन की उत्पत्ति एव निरजन के लिए माया नारी की सर्जना का उल्लेख किया है। सुन्दरदास और भीखा जगत की रचना को परमात्मा का कार्य स्वीकार करते हैं।[४] कबीर ने 'नूर' से जगत की उत्पत्ति का भी उल्लेख किया है।[५] निर्गुण सन्तो के उक्त विश्वासो से पता चलता है कि इन्हें देवतावाद स्वीकार्य नही है तथा नाथपथियो के प्रभाव के कारण वे शब्दब्रह्म के सिद्धान्त के प्रति ही अधिक आकृष्ट हुए है। निर्गुण आन्दोलन सारग्राही भावना से प्रेरित है, अत सभी निर्गुण सन्तो की दार्शनिक मान्यताओ मे पर्याप्त मेल-जोल दिखायी देता है।

---

१ भाग० पु० ३-५-१३ से १८, गरुड़ पुराण, पूर्वखण्ड, अध्या० ४, पद्म पुराण, सृष्टि-खण्ड, अध्या० २, ब्रह्म वैवर्तपुराण, अध्या० ३, वायवी संहिता, अध्या० ८, खिल हरिवंशपुराण, अध्या० १, श्लो० २२ से आगे ॥

२ कारण्ड व्यूह, पृ० -१४-१५, (जैन ग्रन्थ माला-सस्करण १८७३)

3 बीजक, रमैनी संख्या, ७४, वही० संख्या २,

४ ज्ञानरत्न, ७।१, ज्ञानदीप, ६०, वही० २६।१०, संतसुधार, पृ० ६१६ भीखाबानी, पृ० ५५,

५ क० ग्रं० (श्या०) पृ० २६८,

गुरुनानक जगत की रचना-शक्ति (माया) के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट दिखाई देते हैं। उन्होंने कबीर आदि दूसरे निर्गुण सन्तों की भाँति इधर-उधर भटकने के स्थान पर अपनी दृष्टि को निश्चित मान्यताओं के लक्ष्य पर ही स्थिर रखा है। गुरुनानक की बानी भक्त की बानी है, जिसका प्रधान स्वर प्रभु-स्तवन है। उन्होंने दर्शन की सरणि का अनुसरण न कर केवल यही माना है कि वाहगुरु (ब्रह्म) अद्वैत सत्ता है। उसे अपने स्वरूप का ज्ञान है। वही अपनी 'कुदरत' या 'इच्छा' या 'हुकम' के रूप मे जगत का रूप धारण किये हुए है। सत्यस्वरूप परम सत्य होने के कारण उसकी रचना (जगत) भी सत्य ही है—मिथ्या नहीं। गुरुनानक ने जीव के प्रसंग में माया का और जगत की रचना के सन्दर्भ में वाहगुरु की 'कुदरति' 'हुकम' अथवा इच्छा का उल्लेख किया है।

माया को गुरुओ ने वाहगुरु की रचना माना है। अद्वैतवेदान्तियो की भाँति वे ब्रह्म की ईश्वर के रूप मे और ईश्वर की जीव के रूप मे प्रतीति को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार माया जीव का जागतिक व्यामोह है। जब वे यह कहते है कि वाहगुरु की इच्छा से माया जीव को बन्धन मे डालती है, तब उनका आशय जीव की सासारिक आसक्तियो वाली प्रवृत्ति मे होता है। गुरुनानक की धारणा है कि यह वाहगुरु की इच्छा का स्वातन्त्र्य है कि उसने किसी को गुरु-भक्ति एव नाम-सिमरन की ओर लगाया हुआ है और किसी को धन-दौलत, घर-बाहर, पुत्र-कलत्र एव इसी प्रकार की अन्य जागतिक एषणाओ मे भटका रखा है। जीव की अज्ञानमयी मनोवृत्ति ही माया है। अत. गुरुनानक के मत में माया जगत की रचना करने वाली वाहगुरु की शक्ति (उसका क्रियाशील पक्ष) नही। उनके अनुसार वाहगुरु की 'कुदरति' उसकी 'इच्छा' या 'हुकम' के सिवाय कोई ऐसी दूसरी सत्ता नही है, जो सृष्टि करती हो या जगत के पालन एव सहार मे जिसका हाथ हो। अत माया और जगत की रचना करने वाली 'कुदरति' दोनो भिन्न-भिन्न हैं।

गुरुनानक के युग मे भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएँ प्रचलित थी, जिनमे जगत की रचना करने वाली शक्ति (माया) का स्वरूप एव कार्य भी भिन्न ढग से ही निरूपित हुआ था। इस प्रकार के माया-जाल से मुक्ति के हेतु उन्होने वाहगुरु को ही चेतन एव जड सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एव सहार करने वाला मान लिया। यही कारण है कि जगत की रचना के बारे मे उन्होंने इस ढग से विचार ही नही किया है, जिस ढग से उस युग के अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदाय इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर रहे थे। गुरुनानक पूर्ववर्ती धर्म-मतो की भाँति शक्तिमान और उसकी शक्ति का उल्लेख नही करना चाहते थे, क्योकि इससे बहुदेववाद को ही पोषण मिल सकता था। इसलिए उनके द्वारा स्वीकृत परमसत्ता का स्वरूप शिव, नारायण और वासुदेव जैसा नही है। उन्होने लक्ष्मी, महामाया, सीता और राधा आदि की तरह वाहगुरु की शक्ति को किसी स्वरूप की सीमा में भी नही बाँधा है। जगत की रचना के सम्बन्ध में उन्होंने वाहगुरु के स्वरूप की चर्चा उसी ढग से की है, जिस

तरह उपनिषदों में यह कहा गया है कि पूर्ण से पूर्ण को लेकर भी उसकी पूर्णता बनी रहती है। यहीं से हम इस मान्यता को प्राप्त करते है कि गुरुनानक के अनुसार वाहगुरु में ऐसी शक्ति है (अथवा वह वाहगुरु का शक्ति-पक्ष है) जो उसी की इच्छा रूपा है। वही अपने आपको सूक्ष्म रूप से स्थूल जगत के रूप में ले आती है। परम-सत्ता को अद्वैत मानने वाले प्रायः सभी दर्शनों मे किसी-न-किसी रूप मे परमतत्त्व के क्रियाशील (विमर्श) स्वरूप को जगत की रचनहार शक्ति माना गया है। आदिग्रन्थ में वही वाहगुरु की कुदरत (इच्छा या हुकम) है। इसी मान्यता के आधार पर ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि गुरुनानक के अनुसार जगत वाहगुरु का शरीर है।

गुरुनानक द्वारा स्वीकृत माया का स्वरूप उन द्वारा मान्य वाहगुरु की शक्ति (कुदरत) जैसा नही है। वह तो जीव की वह प्रवृत्ति विशेष है, जिसका पोषण जीव के मन मे होना है। माया को वाहगुरु की रचना के रूप मे केवल ऐसे प्रसगो मे ही वर्णित किया गया है, जहाँ सभी जीवों को उससे प्रभावित बतलाया गया है। इस अर्थ में उन्हे उसे ठगिनी, सर्पिणी, कमला, ठगनीरा, ठगमूरि एव कुसुम्भी रग आदि अभिधानो द्वारा जीव को भटकाने वाली शक्ति बतलाना ही अभीष्ठ था। गुरुनानक के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड एव अन्य बाहरी सभी पूजा-विधान माया के अन्त-र्गत हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि मे माया और 'कुदरति' (परमसत्ता का विमर्श स्वरूप) दोनो एक दूसरे से भिन्न धारणाएँ है। उनके विचार मे माया त्रिगु-णात्मिका शक्ति है, जो जीवों की आवागमन के बन्धन मे भटकाए रखती है। उन द्वारा वर्णित वाहगुरु की कुदरत (क्रियाशील पक्ष) एव उसकी माया (जीव की वह प्रवृत्ति, जिसे मन द्वारा पोषण मिलता है) में पर्याप्त भिन्नता है। परमात्मा की कुदरत ही गुरुनानक का माया-सिद्धान्त है, जिसे कुदरति-सिद्धान्त का स्वतन्त्र अभि-धान भी दिया जा सकता है। उनके इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि वह (कुद-रति) वाहगुरु का अभिन्न अग है। शब्दब्रह्म (ओंकार) की स्थिति ब्रह्म (वाहगुरु) की भेदाभेद अवस्था है, जिसके उपरान्त उसकी इच्छा (कुदरति) से जगत की लीला आरम्भ हो जाती है।

गुरुनानक साख्य-योग और न्याय-वैशेषिक के प्रकृति एव परमाणु-सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। वे शकराचार्य की भाँति माया द्वारा ब्रह्म (वाहगुरु) के संवलित हो जाने के उपरान्त उसकी ईश्वर और जीव के रूप मे प्रतीति भी नही मानते। विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद की भाँति भी उन्होने जगत की रचना करने वाली शक्ति के स्वरूप की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। तान्त्रिको की शक्ति की मान्यता उनकी कुदरति-सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है। शाक्तो को शक्ति के उपासक कह कर आदिग्रन्थ मे उनके आचारशास्त्र का घोर विरोध किया गया है। उनका कुदरति-सिद्धान्त काश्मीर शैवों के शक्ति एवं शुद्धाद्वैतवादियों के माया और अविद्या-सिद्धान्त से ही पर्याप्त साम्य रखता तो है, लेकिन इनके कुदरति-सिद्धान्त को उनका सीधा

अनुसरण नहीं माना जा सकता। इन्होंने उनकी भक्ति को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया है। उनकी देवतावाद सम्बन्धी धारणाएँ भी इनकी तत्सम्बन्धी मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न एवं अद्वैत-सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। परमसत्ता के सक्रिय पक्ष को इन्होंने देवत्व के आरोपण से पूर्णतया मुक्त रखा है, जबकि शैवों और शुद्धाद्वैतवादियों ने परमशिव और वासुदेव की सर्जनशील शक्ति का अवतारी रूप भी स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार गुरुनानक द्वारा स्वीकृत माया (वाहगुरु की सर्जनशील शक्ति) का रूप स्वतन्त्र एवं भिन्न प्रकार का है। वे जगत की रचना के रूप में वाहगुरु की 'कुदरत' उसकी इच्छा या हुकम को शक्ति मानते हैं और जीव को व्यामोह में डालने वाली शक्ति की चर्चा मे माया का उल्लेख करते है।

चतुर्थ खण्ड

भारतीय दर्शन-परम्परा और जगत

१ | उपनिषत्पूर्व जगत-रचना सम्बन्धी विचार

● **जगत सम्बन्धी आरम्भिक धारणाएं**

भारतीय चिन्तन-परम्परा मे जगत की रचना के सम्बन्ध मे दो दृष्टियों से सोचा-विचारा गया है। एक दृष्टि के अनुसार जगत परम चैतन्य अलौकिक सत्ता की रचना है। इसे आत्मवादी, अध्यात्मवादी या आदर्शवादी दृष्टि कह सकते हैं। दूसरा दृष्टिकोण पदार्थ को जगत का मूल कारण मानता है और पदार्थ मे ही उत्तरोत्तर विकास की स्वाभाविक शक्ति स्वीकार करता है। यह चिन्तन-पद्धति स्वभाव, यदृच्छा अथवा भौतिकवादी दृष्टि है। उपनिषदों में जगत की रचना के सम्बन्ध मे आत्मवादी (आदर्शवादी) दृष्टिकोण अपनाया गया है एव पूर्ववर्ती संहिता-ऋचाओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों मे भी उपनिषदों की विचारधारा के प्रारूप प्राप्त होते हैं। लेकिन इसके साथ-साथ इन रचनाओं मे उस विचारधारा के सकेत भी उपलब्ध हैं, जो परवर्ती समय मे जगत की रचना के सम्बन्ध में भौतिकवादी चिन्तकों की धारणाओं के आधार बने है। उदाहरण के तौर पर ऋग्वेदकालीन चिन्तक बृहस्पति ने यह मत व्यक्त किया है कि परम सत्य केवल पदार्थ है। उन्ही के शिष्य धिषण का यह विचार है कि पदार्थ से भिन्न कोई दूसरी सत्ता जगत का मूल कारण स्वीकार नही की जा सकती। विद्वानो का यह भी मत है कि वैदिक विचारक परमेष्ठिन् भी पदार्थ को ही मूल सत्य स्वीकार करते थे। भृगु ने जगत के मूल कारण की चर्चा करते हुए पदार्थ की ही शाश्वत सत्ता स्वीकार की है। उपर्युक्त तथ्यो से संकेतित होता है कि आदर्शवादी एव भौतिकवादी विचारधाराओं का आधार पहले से ही विद्यमान था तथा अनुकूल परिस्थितियो एवं वातावरण मे भौतिकवादी चिन्तकों ने उन्हें आधार बना कर अपने-अपने मतों का प्रतिपादन किया।

जगत सम्बन्धी आरम्भिक धारणाओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसकी (जगत की) रचना के मूल कारण के सम्बन्ध में कोई सर्वसम्मत विचार आरम्भ में नहीं बन पाया था। जहाँ हमें ईसा पूर्व आठवी शताब्दी में पार्श्वनाथ जैसे भौतिकवादी विचारकों का उल्लेख मिलता है, वहीं वैदिक ऋचाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में आदर्शवादी विचारधारा की बलवती स्थापना के चिन्ह भी देखने

को मिलते हैं। अत. तथ्य यही है कि आरम्भ से ही जगत की रचना के बारे में भौतिकवादी एवं आदर्शवादी—दोनों ही दृष्टियाँ प्राप्त होने लगी थी। ये भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ भी परिस्थितिजन्य रही है एव इनमे पाया जाने वाला विरोध भी उन परिस्थितियों का ही फल है। एम० एन० राय और एम० हिरियन्ना ने 'श्वसनवेद उपनिषद्' तथा निरुक्तकार 'यास्क' के द्वारा उल्लिखित ऋषि कौत्स का हवाला देते हुए यह स्वीकार किया है कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रभावकाल मे ही उसका विरोधी स्वर भी मुखर था।[1] बौद्ध एव जैन ग्रन्थो मे भौतिकवादी विचारको के नामोल्लेख भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि आरम्भ से ही भौतिकवादी एव आदर्शवादी विचारधाराएँ वर्तमान रही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक जगत की रचना के सम्बन्ध मे दार्शनिक चिन्तन आरम्भ नही हुआ था, तब तक मानव-चिन्तन किसी एक दिशा मे प्रवाहित न होकर उक्त दोनो ही धाराओ मे प्रवाहित होता रहा है। एक ने अनुकूल परिस्थितियो मे आदर्शवाद का रूप प्राप्त किया और दूसरी ऐहिक चिन्तन प्रधान धारा ने कालान्तर मे भौतिकवादी चिन्तन प्रणाली के रूप मे आदर्शवादी चिन्तन-विधि के प्रति असन्तोष प्रकट किया। प्रस्तुत रचना के प्रथम खण्ड मे जगत के मूलकारण ब्रह्म या पदार्थ के विषय मे विचार करते समय बहुत कुछ विस्तार के साथ लिख दिया गया है। अत यहाँ इसके पुनर्विवेचन की आवश्यकता नही है। सक्षेप मे केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि जगत सम्बन्धी आरम्भिक धारणाएँ मात्र जिज्ञासा थी। व्यक्ति भिन्न-भिन्न दृष्टियो से मानव-जीवन की समस्याओ पर विचार कर रहा था। उसके ज्ञान का क्षितिज सीमित था, जिसके कारण वह एक ओर सीमित रूप मे ही जगत के सम्बन्ध मे विचार कर सकता था और दूसरी ओर वह जिस प्रकार के धार्मिक विश्वास बना पाया था, उन्ही के अनुरूप उसकी जगत सम्बन्धी धारणाएँ बन सकती थी। धीरे-धीरे आर्थिक परिवर्तन हुए। इस आर्थिक ढाँचे मे परिवर्तन के कारण सामाजिक व्यवस्था बदली और आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितियो मे परिवर्तन के कारण जो दर्शन-प्रणालियाँ अथवा दार्शनिक चिन्तन की पद्धतियाँ बनी; उनमे भी अन्तर आ गया। आदर्शवादी मान्यताओ के प्रति विरोधी दृष्टि रखने वाले चिन्तको ने पदार्थ को ही जगत का मूल कारण माना और प्रकृति द्वारा स्वयमेव (यदृच्छया) जगत के रूप मे परिणमित होना स्वीकार किया। आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार जगत की रचना-शक्ति ब्रह्म को स्वीकार किया गया।

संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों का सृष्टि-सिद्धान्त—वेदो एवं ब्राह्मण ग्रन्थो से ही रूपात्मक सृष्टि के सम्बन्ध में सहज जिज्ञासा एव उसके समाधान के प्रयास हमें उपलब्ध होने लगते हैं। परवर्ती भारतीय चिन्तन इन आरम्भिक विचारधाराओ से

---

[1] मैटिरियलिज्म, (कलकत्ता) १९५१, पृ० ७७-७८, आउट लाइन्स ऑव इण्डियन फिलासफी, पृ० ४३-४४,

पर्याप्त रूप में प्रभावित हुआ है। 'नासदीय सूक्त' मे जगत की रचना के विषय में विचार किया गया है। इस प्रसंग मे अनुभव और तर्क-शक्ति के आधार पर उठी हुई जिज्ञासा का समाधान सूक्तकार ने प्रस्तुत किया है। विभिन्न प्रकार से जगत की रचना के बारे में ऊहापोह के उपरान्त वह अन्त मे यह स्वीकार कर लेता है कि सृष्टि के आरम्भ-बिन्दु के विषय मे निश्चित रूप में कुछ कहना सम्भव नहीं है।[1] इस सूक्त मे सृष्टि और सृष्टि की रचना करने वाली सत्ता के सम्बन्ध में जिस ढग से विचार हुआ है, उससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि नामरूपात्मक जगत परम सत्ता मे ही अव्यक्त रूप मे विद्यमान था और सत्ता स्वय निराकार अवस्था मे ही विद्यमान थी। उस समय तक उसने कोई विशेष आकार धारण नही किया था। ऋग्वेद के बाद की रचनाओ के अध्ययन से यह तथ्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि की रचना के बारे में उठाये गये प्रश्न फिर से बार-बार चर्चा के विषय बनते रहे है और समय-समय पर विभिन्न उत्तर भी दिये गये है। तभी से जगत की रचना और उसके निर्मायक तत्त्वो के बारे मे विचारको मे पर्याप्त मत-भेद भी रहा है। हम यह देखते हैं कि सहिताओ और ब्राह्मण ग्रन्थो मे सृष्टि की रचना की किसी निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख नही मिलता। एतत्सम्बन्धी विचार पर्याप्त बिखरे हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक विचारक जगत की रचना के विषय मे किसी निश्चित निर्णय अथवा निष्कर्ष पर नही पहुँच पाये थे।

शतपथ ब्राह्मण मे अणु अर्थात् सूक्ष्म तत्त्व से विराट् या ब्रह्माण्ड की रचना का उल्लेख हुआ है।[2] इससे ऐसा लगता है कि सहिताओ मे वर्णित 'हिरण्यगर्भ-सिद्धान्त' ही ब्राह्मण ग्रन्थो मे विभिन्न रूपो में वर्णित हुआ है और कथात्मक शैली मे उसी का अनुसरण पुराणो मे भी किया गया है। मत्स्यपुराण मे आगे चल कर सृष्टि-रचना सम्बन्धी जो कथा वर्णित हुई है, उसका आधार शतपथ ब्राह्मण मे वर्णित सृष्टि की रचना से सम्बन्धित विचारधारा ही प्रतीत होती है। मनुष्य जरायुज प्राणी है, इसके सम्बन्ध मे शतपथ ब्राह्मण की एक कथा पर्याप्त आधार प्रस्तुत करती है।[3] प्राण तत्त्व से सृष्टि की रचना के सकेत भी हमे ब्राह्मण ग्रन्थों मे ही मिल जाते

---

१ ऋ० वे० नासदीयसूक्त, नासदासीन्नो सदासीत्तादानी नासीद्रजो नो व्योम परो यत्। × × × न मृत्युरासीद् × × × तम आसीत्तमसा × × ॥ योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन सो अग वेद यदि वान वेद ॥

२ श० प० ब्रा० १-२-५-५, वामनोह विष्णुरास × × × वही० ५-२-५-४, विष्णवो यद् वामन × × × ॥

३ श० प० ब्रा०, ५-२-५-४, आपो हि वा इदमग्रेसलिलमेवास। ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेय हीति। ता आश्राम्यँ-स्तपोऽतप्यन्त, तासु तपस्तप्यमानातु हिरण्यमय माण्डं सं बभूवा जातो ह तर्हि संवत्सरा आस तदिद हिरण्यमयमण्ड यावत् संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यन्त प्लवत ॥

हैं।[1] वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि की रचना के प्रसंग मे प्राणतत्त्व की चर्चा प्रतीकों के माध्यम से प्राप्त होती है। अग्नि के प्रतीक के द्वारा प्राण को सबसे पहली सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया है। आदित्य को भी प्राणतत्त्व का अभिधान देकर एवं प्रथम सृष्टि मानकर प्राणतत्त्व के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है।[2]

ऋग्वेद में इस विश्वास को कई प्रसगों में दुहराया गया है कि स्रष्टा शक्ति सारी सृष्टि मे प्रवेश कर उसकी रचना के कार्य को सम्पन्न करती है।[3] इससे ज्ञात होता है कि परवर्ती ईश्वरवादी दर्शनों में मान्य शक्तिमान की शक्ति के द्वारा सृष्टि की रचना की मान्यताओ का मूल बीज ऋग्वेद मे ही विद्यमान है। इसी भाँति ब्राह्मण ग्रन्थो एव उनके बाद पुराणो आदि मे भी उपर्युक्त प्रवेश-सिद्धान्त को किसी न किसी रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। इतना ही नही प्राणतत्त्व को अण्डे के प्रतीक के रूप में सृष्टि का आधार बतलाना भी वैदिक एवं ब्राह्मण ग्रन्थो की विचार-धारा का ही उपबृँहण प्रतीत होता है।[4] पुराणो मे वर्णित सृष्टि सम्बन्धी विश्वास ऋग्वेद के नासदीयसूक्त तथा अन्य मन्त्रों मे प्रतिपादित धारणाओ से ही ग्रहण किये गये प्रतीत होते है।[5] विद्वानो की खोज के अनुसार ऋग्वेद मे पुरुष को प्राण और प्रकृति, को जड तत्त्व कहा गया है। भारतीय धार्मिक ग्रन्थो मे यह विचार 'हिरण्यगर्भ-विद्या, के नाम से पर्याप्त प्रसिद्ध एव प्रचारित रहा है।[6] यजुर्वेद मे सूर्य को (आदित्य) अनादि प्राणतत्त्व बतलाया गया है। यह विश्वास ब्रह्मा की परवर्ती धारणा का आधार भी हो सकता है।[7] एक पौराणिक कथा के अनुसार ब्रह्मा अपनी पुत्री को

---

१ श० प० ब्रा० ६-१-१-१, असद् वा इदमग्रमासीत् तदाहु कि तदसदासीदिति। ऋषयो वाव ते अग्रे असदिति। तदाहु. के ते ऋषय इति। × × × श्रमेण तपसा अरिवंस्तस्माद् ऋषय.॥

२ सामवेद, ५।१।६, अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य॥ ऋ० वे० १०।५।७, अग्निर्नः प्रथमजा ऋतस्य॥ वही० १०।५।७, पूर्वं आयु नि बृषभश्च धेनु.॥ मत्स्यपुराण, २।३१, वायुपुराण, ५।४०।४६, भागवतपुराण, २।४।१६,

३ ऋ० वे० १०।६०।६, वही० १०।१३५।२, वही० १०।८१।१, प्रथमच्छद अवरॉ आविवेश॥

४ ऋ० वे० द्यौ पिता पृथिवी माता॥ वही० १-१६६-१७ से १६, श० प० ब्रा० ७-५-१-१०, पृथिव्यो हि कूर्मः, वही० ७-५-१-७, प्राणो वै कूर्मः प्राणो होमाः सर्वाः प्रजाः करोति। मत्स्यपुराण, २-३२, सचाकरोद् दिश सर्वमध्ये व्योम च शाश्वतम्॥

५ ऋ० वे० १।१६४।५१, समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभि. भूमिं पर्जन्या 'जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय.॥ मत्स्य पु० २-३४, अण्ड नाड्ये नद्य॥

६ ऋ० वे० १०-७२-७८, मत्स्य पु० २-३६, भूते-अण्डे जायते यस्मात् मार्तण्डस्तेन सस्मृत.॥

७ यजुर्वेद, १३-४८, ब्रह्म सूर्य-समं ज्योतिः॥

गर्भवती बनाते हुए वर्णित किये गये हैं। इस कथन की मूल चेतना अथवा प्रतीक की खोज करने पर पता चलता है कि इस प्रकार के कथन वेदों में वर्णित सृष्टि सम्बन्धी विश्वासों की मात्र प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। हम देखते हैं कि यही सन्दर्भ ऋग्वेद में दूसरे ही ढंग से वर्णित हुआ है। तदनुसार पिता के द्वारा पुत्री को गर्भवती बनाने के साथ ही दक्ष का पुत्र और आदिति का माँ के रूप में उल्लेख हुआ है,[1] जिसमे एक सृष्टि को मानसी और दूसरी सृष्टि को मैथुनी सृष्टि कहा गया है।[2]

ऊपर दिये गये विवेचन से स्पष्ट है कि सृष्टि की रचना के बारे मे प्रस्तुत किये गये विचारो के बीज संहिताओ और ब्राह्मणग्रन्थों में मिल जाते है। सृष्टि की रचना के परवर्ती सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि यहीं से आरम्भ होती है। हम देखते हैं कि पंचरात्र संहिताओ मे क्षोभ को सृष्टि का आरम्भ माना गया है। वैष्णव आचार्यों ने संहिताओं की मान्यता को जगत की रचना के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया है। क्षोभ का सिद्धान्त बाद में आगे चल कर लम्बी प्रतीक-परम्परा का रूप धारण करता दिखलायी देता है। पुराणों मे संरंमण, वीरण, परिस्फुरण, समिधन और प्रसरण आदि न जाने कितने शब्द क्षोभ के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। विद्वानों के अनुसार साख्य दर्शन तत्त्व-विचार प्रधान दर्शन है। इसका प्रकृति-सिद्धान्त यद्यपि ईश्वर को विशेष मान्यता नही देता, लेकिन विचार करने पर ऐसा लगता है कि वह सृष्टि-सम्बन्धी वैदिक विश्वासो एव मान्यताओ से अधिक भिन्न भी नही है। नासदीय सूक्त मे ही मन या मनस् के द्वारा सृष्टि की रचना का साकेतिक उल्लेख विद्यमान है। ऋग्वेद का पंचजन और पंचवेद ही कालान्तर मे पंच महाभूतो के रूप में हमारे सामने आता है। वेदों मे दो पुरुषो की चर्चा भी हमे मिलती है, जिसे सांख्य दर्शन मे सम्भवत. बद्ध एव मुक्त जीवो के रूप मे प्रतिपादित किया गया है।[3] साख्य विचारधारा लोकायत विचारधारा है अथवा यह दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शन ही है, यह विचार विद्वानो मे चर्चा का विषय बना हुआ है, लेकिन इसमे कोई सन्देह नही कि एक ओर भौतिकवादी विचारको ने यदि साख्य दर्शन की व्याख्याएँ भौतिकवादी दृष्टिकोण से की है तो दूसरी ओर इसे सेश्वर सांख्य के रूप मे भी स्वीकार किया गया है। ऐसा लगता है कि वैदिक विचारधारा से ही परवर्ती विचारकों ने ईश्वरवादी एव भौतिकवादी विचारो के सूत्र प्राप्त किये है।

इसी प्रसग मे प्रत्यभिज्ञा या काश्मीर शैव दर्शन की मान्यताओं का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। तदनुसार परमशिव के दो पक्ष माने गये है—एक पक्ष शिव है और दूसरा शक्ति। इस विश्वास का मूल बीज भी हमें ऋग्वेद के उस प्रसंग

---

[1] ऋ० वे० १-१६४-३३, मात्रा पिता दुहितुर्गर्भमधात् ॥ वही० अदितेर्दक्षोऽजायत् दक्षात् वा अदितिः ॥

[2] गो० प० ब्रा० १-५-१५ से २० पर्यन्त ॥

[3] ऋ० वे० १-१६४-२०, वही० १२९।४,

में मिलता है, जहाँ यह बतलाया गया है कि एक ही अण्ड द्विधा होकर सृष्टि या ब्रह्माण्ड के रूप में साकार हुआ है। संहिताओं मे वर्णित विश्वासों के अनुसार 'अनादि अण्ड' अज एवं अमर अर्थात् अजन्मा एवं अविनाशी तत्त्व है। अतः इसी प्रकार के विश्वासों से ही बाद में सृष्टि की रचना करने वाली शक्ति का सिद्धान्त बनाया गया है।[1] यह विश्वास प्रायः उन सभी दर्शनों में स्वीकृत कर लिया गया है जो एक ही परमसत्ता के शक्तिमान और शक्ति दो स्वरूप स्वीकार करते हैं।

---

[1] ऋ० वे० १-१६४-६, मत्स्य पु० ३-३१, स्त्री रूपमर्धमकरोत् ऊर्ध्वं पुरुरूपवत् ॥ वही० ३-३१, शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते ॥ देवीमाहात्म्य, ११-५, स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु ॥

२ | जगत-रचना सम्बन्धी आदर्शवादी परम्परा

● उपनिषदों का सृष्टि-सिद्धान्त

औपनिषदिक विचारधारा के सम्बन्ध मे भी विद्वान परस्पर एकमत नही है। भौतिकवादी विचारक इनमे अपनी मान्यताओ के अनुकूल एकत्व की अवधारणा प्राप्त करते है। ब्रह्म को सविशेष एव निर्विशेष सत्ता मानने वाले विचारको ने भी अपने विचारो के लिए उपनिषदो की ही शरण ली है। अध्यात्मवादियो का मत है कि उपनिषदें पराविद्या है। उपनिषत्-ज्ञान को उन्होने 'परासविन्-ज्ञान' कहा है। उपनिषदो मे स्वतन्त्र रूप मे सृष्टि की रचना का उल्लेख प्राप्त नही होता। इनमें ब्रह्म के स्वरूप-निरूपण के प्रसग मे ही जगत के उल्लेख हुए है। तैत्तिरीय एव छान्दोग्य उपनिषदो मे सृष्टि की रचना से पहले सत् और असत् तत्त्वो की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि असत् से ऋषि का आशय नामरूपात्मक ब्रह्माण्ड की अनभिव्यक्त अवस्था ही हो सकता है। इसी तरह सत् का अर्थ परमात्मा की निराकार अवस्था (Unmanifested Condition) ही है। छान्दोग्य उपनिषद मे अन्यत्र एक स्थान पर कहा गया है कि सृष्टि से पूर्व 'जो कुछ' भी था, वह मृत्यु से आच्छादित था।[१] यहाँ पर भी मृत्यु से ऋषि का आशय परमतत्त्व की उस अवस्था से है, जिसे 'शून्य अवस्था' कह सकते है। वस्तुत: यह जड और चेतन सृष्टि की पूर्वावस्था ही है। मैत्रायण्युपनिषद मे भी सृष्टि की रचना से पहले की अवस्था को पूर्ण अन्धकार की स्थिति बतलाया गया है।[२] इसी विचार का उपबृंहण हमे मनुस्मृति में भी प्राप्त होता है और स्मृतिकार की यह धारणा औपनिषदिक विचारधारा से प्रभावित लगती है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय मे सृष्टि से पूर्व की अवस्था का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि अनारम्भावस्था मे चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा था। उसी अन्धकार रूप शून्य मे प्रवेश कर परमतत्त्व

---

१ तैत्ति० उप० २-७-१, छान्दो० उप० ६-३-१, वही० १-८-१,

२ मैत्रा० उप० प्रपाठक ४-५,

ने जल तत्त्व की सृष्टि की।[1] हम यह कह सकते हैं कि स्मृतिकार को यह प्रेरणा पूर्ववर्ती सृष्टि-रचना सम्बन्धी विश्वासो से ही मिली है। उपनिषदों में वर्णित एक प्रसंग में यह बतलाया गया है कि सृष्टि की रचना से पहले परमसत्ता अपनी महिमा के द्वारा सर्वत्र समायी हुई थी। उस समय अपना आधार वह स्वयं ही थी। इसी तरह के एक दूसरे प्रसंग मे ब्रह्म को जगत का निमित्त एवं उपादान कारण के रूप में वर्णित किया गया है। मुण्डकोपनिषद के अनुसार परमात्मा ऊर्णनाभ की भाँति अपने भीतर से ही सृष्टि की रचना करता है और इच्छा करने पर उसे पुनः स्वय ही अपने भीतर समेट भी लेता है।[2]

तैत्तिरीय उपनिषद में यह बतलाया गया है कि 'सत् सत्ता' ने स्वय अपने आपको जगत के रूप मे साकार किया है। कई स्थलो पर शून्य से सृष्टि की रचना की बात भी कही गयी है। अद्वैत सत्ता के द्वारा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सृष्टि रूप हो जाने के उल्लेख भी उपनिषदो मे मिलते है। असत् तत्त्व से सत्तत्त्व की साकारता की स्वीकृति के द्वारा एक से अनेक रूप धारण करने वाला मत भी उपनिषदो में स्वीकार्य प्रतीत होता है। ब्रह्म को अनादि चैतन्य मान कर पुनः उसी से देव एवं देवेतर सृष्टि के साकार होने की चर्चा भी उपनिषदो मे की गयी है।[3]

उपनिषदो के उपर्युक्त उद्धरणो एव उल्लेखो से प्रमाणित होता है कि नासदीयसूक्त का सृष्टि की रचना से सम्बन्धित यह प्रश्न कई माध्यमो मे समाधान प्राप्त करता रहा है। धार्मिक विश्वासों के विकास की यात्रा मे सृष्टि की रचना का सिद्धान्त भी निरन्तर विकसित होता रहा है। उपनिषदो के प्रमुख अध्येता ड्यूसन ने भी विद्वानो का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि उपनिषदो मे प्रत्यक्ष रूप से जगत की रचना के सिद्धान्त का प्रतिपादन न कर केवल ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन और जीव तथा जगत के सम्बन्धो के प्रसग मे ही एतत्सम्बन्धी सकेत प्राप्त होते हैं। उपनिषदो का तत्त्व-विचार किसी रूढि का अनुसरण नही है और न ही उनमे किसी एक विशिष्ट विश्वास ही को केन्द्र बनाया गया है। चिन्तन के समय जिस तरह के अनुभव उपनिषत्कारो को प्राप्त हुए हैं, उन्हे शिष्यों के सम्मुख केवल प्रस्तुत कर दिया गया है। सम्भवत यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों ने औपनिषदिक विचारधारा को अपने-अपने ढग से प्रतिपादित किया है।

---

1. मनुस्मृ० अध्या० १, श्लो० ५,
2. छां० उप० ७-२४-१, मुण्डक उप० ख० १, मत्र ७,
3. तैत्ति० उप० २-७, श्वे० उप० ५-१८, छा० उप० ६-२, बृ० उप० ४-१०-१, नारायणोपनिषद, १-१,

● **भगवद्गीता का सृष्टि-सिद्धान्त**

सांख्य और गीता मे वर्णित सृष्टि-सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि दोनो में परस्पर पर्याप्त साम्य है। गीता में क्षर और अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम की मान्यता का जो उल्लेख हुआ है, वह हमे गीताकार के निज के मौलिक चिन्तन के रूप मे प्राप्त हुआ है। यही पर सांख्यो का प्रकृति-सिद्धान्त और गीता मे स्वीकृत सृष्टि-रचना-विचार भिन्न-भिन्न दिखलायी देने लगते हैं, अन्यथा गीता मे सांख्यो के प्रकृति-सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। सांख्य दर्शन मे सृष्टि की रचना प्रकृति का कार्य या प्रकृति का परिणाम माना गया है। तदनुसार पुरुष चैतन्य तो है परन्तु सृष्टि की रचना के प्रसग मे वह निष्क्रिय ही रहता है। पुरुषोत्तम सिद्धान्त मे प्रकृति को उसकी योनि एवं अधीनस्थ शक्ति बतलाया गया है। इस प्रकार सृष्टि की रचना को प्रकृति का परिणाम स्वीकार न कर पुरुषोत्तम की रचना मानना गीता के सृष्टि-सिद्धान्त की मुख्य विशेषता है। पुरुष और प्रकृति का स्थान गीता मे क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र ने ले लिया है।[1]

शैव एव वैष्णव हिन्दू तान्त्रिक सम्प्रदायो में भी अपने-अपने उपास्यो के द्वारा सृष्टि की रचना का उल्लेख हुआ है। हमारा विचार है कि इस प्रकार की प्रेरणा उन्हे गीता के पुरुषोत्तम-सिद्धान्त से ही प्राप्त हुई है। डा० दास गुप्ता भी तनिक अन्तर के साथ इसी मान्यता की पुष्टि करते हैं।[2] गीता में सृष्टि की रचना और सहार के बारे मे जो विचार प्रस्तुत किये गये है, उन्हे अधिक स्पष्टता से समझने के लिए सांख्यो के सृष्टि-सिद्धान्त को तनिक विस्तार से समझना आवश्यक है। सांख्य दर्शन के मत के अनुसार जब प्रकृति मे पुरुष का बिम्ब पडता है, तब उसमे स्वयंमेव विक्षोभ की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। तदनन्तर, एक बार, गुणो मे विक्षोभ हो जाने पर प्रकृति (मूल-प्रधान) विकृतियो मे परिणमित होने लगती है। इस तरह अन्ततोगत्वा जगत नामरूपात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेता है। जिस समय तक प्रकृति मे गुणो का विक्षोभ नही होता, उसकी गर्भ-स्थित शक्तियाँ या तत्त्व अव्यक्तावस्था मे ही रहते है। परन्तु विक्षोभ के होते ही सबसे पहले ये तत्व एव तदुपरान्त अहकार एव बाद मे क्रमश पाँच तन्मात्राएं और ग्यारह इन्द्रिया एव पच महाभूत, कुल मिलाकर पच्चीस तत्त्व साकार रूप प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकृति-विकृति की विकास प्रक्रिया के पूर्ण होते ही नाम-रूप जगत अस्तित्त्व मे आ जाता है। लेकिन गीता में प्रतिपादित सृष्टि की रचना की प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति अनादि एव स्वतन्त्र मूल तत्त्व नही है। गीता के सृष्टि-सिद्धान्त की मौलिक विशेषता भी यही स्वीकार की जा सकती है। सांख्य के सृष्टि-सिद्धान्त और गीता के सृष्टि-सिद्धान्त मे यह स्वतत्र धारणा ही व्यापक अन्तर का कारण है। सांख्य 'पुरुष' को स्वतन्त्र कर्ता के रूप मे स्वीकार

---

१ गीता, अध्या० १५-१६ से १८, वही० १३-२७, ६-१०,

२ दि हिस्ट्री ऑव पतजलि, पृ० ५१,

नहीं करते, बल्कि वे इसे कर्ता ही नही मानते । गीता मे क्षर और अक्षर के निरूपण के द्वारा इसे इस ढंग से प्रतिपादित किया गया है कि पुरुष और प्रकृति दोनो ही पुरुषोत्तम (वासुदेव) की अधीनस्थ सत्ताएँ हैं । गीताकार ने पुरुषोत्तम को क्षर और अक्षर से अतीत कहकर केवल उसी की सर्वोपरि सत्ता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है । अतः पुरुषोत्तम के पूर्ण स्वातन्त्र्य की मान्यता की स्थापना के द्वारा गीताकार ने परम्परागत दर्शन के क्षेत्र मे एक नये अध्याय का सूत्रपात करने का कार्य भी किया है ।

पुराणों का सृष्टि-सिद्धान्त—भारतीय विचारको ने पुराणो को पाँचवाँ वेद मान कर उनके महत्त्व को स्वीकार किया है । पुराणो की रचना काफी पहले से आरम्भ होकर पन्द्रहवी शताब्दी तक होती रही है । पुराणो का वर्ण्य विषय यद्यपि एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न है तथापि सभी पुराणो मे सृष्टि की रचना के सम्बन्ध मे चर्चा हुई है । मत्स्यपुराण मे वर्णित सृष्टि की रचना की प्रक्रिया के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमे सहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थो की मान्यताओ का ही उपबृंहण किसी न किसी रूप मे हुआ है । इसमे मत्स्यावतार की कथा अत्यन्त सशक्त प्रतीको के माध्यम से वर्णित की गई है । इसकी प्रधान कथा का सम्बन्ध आदि मानव (मनु) से है । घोर तपस्या मे लगे हुए मनु को आकाशवाणी के द्वारा यह वरदान प्राप्त होता है कि प्रलयोपरान्त केवल वे ही जीवित रहेंगे । अत प्रलय के उपरान्त अपने पितरो का तर्पण करते हुए मनु के हाथ मे एक मत्स्य आ गया, जिसे उन्होंने अपने कमण्डलु मे रख लिया । अपने कमण्डलु मे रखे हुए मत्स्य को बढता हुआ देखकर मनु ने उसे सागर मे डाल दिया । परन्तु यह देखकर उन्हे आश्चर्य हुआ कि मत्स्य ने सारे समुद्र को ही घेर लिया है । इससे उनके सामने यह भेद खुल जाता है कि स्वय नारायण ने ही मत्स्य का अवतार धारण किया है । प्रलय के उपरान्त केवल उन्ही के बच जाने की बात भी नारायण ने ही कही थी ।

मत्स्यपुराण की उपर्युक्त कथा से हम यह अनुमान लगा सकते है कि यह कथा प्रतीको के द्वारा सृष्टि की रचना का ही प्रतिपादन है । कथा मे वर्णित नौका वेद हैं और मत्स्य स्वय परमतत्त्व या ब्रह्म (नारायण) है । मत्स्याण्ड, ब्रह्माण्ड का प्रतीक है । ऐसा विदित होता है कि इस कथा का मूलस्रोत ऋग्वेद का 'हिरण्यगर्भ-सिद्धान्त' ही है । मनु के कमण्डलु को गर्भ और मत्स्य को गर्भ का भ्रूण समझा जा सकता है । जिस प्रकार माँ के गर्भ मे भ्रूण धीरे-धीरे वृद्धि प्राप्त करता है, उसी प्रकार कमण्डलु मे मत्स्य के आकार को बढता हुआ दिखलाया गया है । पुन सागर के समान उसके विस्तार का उल्लेख कर, उसकी सर्वव्यापकता की ओर सकेत किया गया है । इस कथा के अन्तर्वर्ती दार्शनिक विचार की ओर ध्यान दें तो पता चलता है कि अण्डे का बढना मनस् (Mind) प्राण (Life) एवं द्रव्य (Matter) के क्रमिक विकास की ही चर्चा है । एकार्णव अर्थात् जलाशय को यहाँ सृष्टि की रचना का मूलाधार बतलाया गया है ।

हरिवंशपुराण मे भी एकार्णव के अर्थ से परिचित करवाते हुए, उसे महार्णव, एकार्णव एवं 'अगाघ स्तब्ध सलिल' आदि कई अभिधानो से अभिहित किया गया है।[1] भागवतपुराण मे अगाध स्तब्ध सलिल के स्थान पर युगान्ततोय (Water which remains after the dessolution of the world) का उल्लेख है। हरिवंश पुराण मे प्रलय के जल को वाष्प से निकला हुआ बतलाया गया है।[2] इस तरह के सभी वर्णन इस धारणा की ओर सकेत करते है कि नामरूपात्मक विश्व के पहले अगाघ एवं अथाह सागर की स्थिति मे यह सृष्टि प्रकाश-विमर्श-चैतन्य स्वरूप परम-सत्ता मे ही अव्यक्त रूप मे अवस्थित थी। सृष्टि की रचना से पहले पूर्ण अन्धकार की स्थिति के वर्णनो से भी इसी अव्यक्तावस्था की ओर सकेत किया गया है। अथाह जल का अर्थ भी असीम एव अनादि सत्ता की अनभिव्यक्तस्वरूपता ही माना जा सकता है। प्रलय का अर्थ धार्मिक विश्वासो के सदर्भ मे सृष्टि के लय से है और आध्यात्मिकता के स्तर पर यही ब्रह्म की त्रिगुणातीतरूपता है। भगवान के द्वारा एक से अनेक होने की इच्छा की अभिव्यक्ति ही ब्रह्माण्ड की रचना है। विष्णुपुराण मे भी 'एकार्णव-सिद्धान्त' का उल्लेख कुछ इसी ढग से हुआ है।[3]

पुराणो मे हमे सृष्टि की रचना के सदर्भ मे सागर-विक्षोभ के उल्लेख भी मिलते है। नारायण को शेप-शय्या पर नेत्रो को मूंद कर लेटे हुए वर्णित करना परमतत्त्व की प्रशान्त अवस्था का सूचक है। उसे अनन्त की शेषदशा (Infinite Remainder) कह सकते है। इस प्रसग मे 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति विश् (to enter) धातु से मानी गयी है। विष्णु के द्वारा शेपशय्या मे शान्त भाव मे आसीन रहने वाली कथा का अर्थ भगवान (परमसत्ता) के द्वारा सृष्टि का रूप धारण कर लेने पर भी उसकी शेषता की ओर सकेत है। इससे परमतत्त्व की सर्वव्यापकता भी ध्वनित होती है। जिस प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा वलय के रूप मे स्थित होने पर भी, उसका अन्तिम भाग ऊपर उठा हुआ दिखलाया जाता है, उसी प्रकार 'शेष' से परमतत्त्व की शेषता की ओर सकेत किया गया है। शेषनाग के द्वारा विष्णु को धारण करने की कथा के माध्यम से यह बतलाया गया है कि ब्रह्माण्ड का रूप धारण करने पर भी जो कुछ शेष रह जाता है, वास्तव मे वही विष्णु इस सारे साकार ब्रह्माण्ड का आधार है।[4] मनु की कथा के सभी प्रसगो को यदि ध्यानपूर्वक देखे तो उसका अभीप्सित अर्थ ब्रह्माण्ड की परिपूर्ण चेतना ही प्रतीत होता है। मनुस्मृति में

---

१ हरिवंशपुराण, ३-१०-३४, वही० ३-१०-१,

२ वही० ३०-१०-३१, धुन्धुकारा चैकार्णवजले नीहारेण वृतान्तरे। अव्यक्त भीषणे लोके सर्वभूत-विवर्जितः॥

३ विष्णुपुराण, १-२-२२,

४ विष्णुपुराण, ३-२४, एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मक.। भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रास बृंहित॥ तुलनार्थ देखिए : ऋ० वे० १०-८१-१,

इस तथ्य की ओर स्पष्ट रूप से संकेत भी कर दिया गया है। स्मृतिकार लिखते हैं कि मनु शाश्वत अस्तित्व अर्थात् ब्रह्म का प्रतीक है, जिसके लिए प्रजापति, इन्द्र एवं अग्नि आदि नामों का प्रयोग होता आया है।[१]

परमतत्त्व का आस्मिता-भाव (The feeling of His own Existance) उसकी इच्छा है। इसी को उसका मन भी मान सकते है क्योंकि संकल्प-विकल्प करना मन का धर्म है और बिना सकल्प-विकल्पात्मिका शक्ति के ब्रह्माण्ड की रचना या ब्रह्माण्ड रूप होना सम्भव नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे कई प्रकार से परमतत्त्व की इच्छा या क्रियाशक्ति को सृष्टि-प्रसार का कारण बतलाया गया है। पुराणों में ब्रह्मा और नारायण को लेकर सृष्टि की रचना से सम्बन्धित जो कथाएँ वर्णित हुई हैं, वे परम्परया प्राप्त है। उपनिषदों का अश्वत्थ एव वेदो का सहस्रवल्श-सिद्धान्त इस तथ्य के प्रमाण है। इन्ही को भिन्न-भिन्न प्रतीको के माध्यम से पुराणो मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।[२]

पौराणिक सृष्टि-रचना की चर्चा के प्रसंग मे नर, नार और नारायण की धारणा के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए। नारायण का अर्थ मातृतत्त्व को जन्म देने वाला किया गया है। नर को पिता नार को माँ एवं नारायण को इन दोनों की संतान मानने की धारणा किसी समय प्रचलित रही है। नारायण को हिरण्यगर्भ एवं अण्ड से उत्पन्न प्राणतत्त्व मानने के सकेत भी मिलते है। सृष्टि की रचना के बारे में भारतीय दर्शनों, स्मृतियो एव पुराणों मे हमे इस प्रकार के पर्याप्त उल्लेख मिलते है।[३] मत्स्य एव भागवतपुराण मे ब्रह्मा के विष्णु रूप हो जाने की कथा आयी है।[४] अन्य पुराणो मे भी सृष्टि की रचना के सम्बन्ध मे पर्याप्त चर्चा हुई है। किन्तु जिन पुराणो को यहाँ विशेष आधार बनाया गया है, इस दृष्टि से उन्ही का विशेष महत्त्व है।

---

१ मनुस्मृति, १०२,

२ श० प० ब्रा० ६-१-१-१, विष्णुपुराण, १-३-२४, ब्रह्मा नारायणात्मक ॥ वही० भावयन् ब्रह्मरूपेण विद्वद्भि. परिपठ्यते ॥ मत्स्यपुराण, २८४-१, जगदण्डमिद पूर्वमासीत् दिव्यं हिरण्मयम्। प्रजापतेरियं मूर्तिरितीयं वैदिकी श्रुति ॥

३ मनुस्मृति, १।१०; आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै.नर सूनवः। ता यदस्यायनं प्रोक्तं तस्मान्नारायण· स्मृत· ॥ महाभारत (शान्ति पर्व) ३३८।३५, मत्स्य पुराण, २४८।४६; भागवत पुराण, २।५।३४; वर्षा पूग सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्। काल कर्म स्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत् ॥ वही० २।२।१।२३, भगवतः स्थूल रूप······ ॥

लिंग पुराण, १।३।१८; वही० १।७०।५१; वही० १।८७।१६; भागवत पुराण, ३।६।४; लिंग पुराण, २।१६।२६-२७;

४ मत्स्यपुराण, २-३०, भागवतपुराण, २-४-१६,

पंचरात्र का सृष्टि-सिद्धान्त—आरम्भ में आगम और निगम की विचार-धारा परस्पर विरोधी थी, लेकिन धीरे-धीरे यह विरोध कम होता गया और अन्त में वे परस्पर विरोधी विचारधाराओं एवं अवधारणाओ वाले न रह कर एक दूसरे के पूरक बन गये। आगमों में वैखानस, शाक्त एवं वैष्णव आगम प्रसिद्ध आगम माने गये हैं। पंचरात्र साहित्य और वैष्णव आगम-साहित्य एक ही अर्थ को द्योतित करने वाले हैं। महाभारत का 'नारायणीयोपाख्यान' पंचरात्र साहित्य का प्रेरणा-स्रोत है। महाभारत में हमें तांत्रिक तत्त्वो के विशेष उल्लेख नही मिलते। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आरम्भ में पाचरात्र के विश्वास तांत्रिक नही रहे होगे। परन्तु श्रेडर के द्वारा सम्पादित संहिताओ के वर्ण्य-विषय के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि बाद मे उनमें तान्त्रिक प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे प्रवेश कर गये थे। सम्भवत: यह बौद्धों का प्रभाव है अथवा तान्त्रिक विश्वासो की स्वीकृति के उपरान्त बौद्ध एवं हिन्दू धर्म की साधना-विधियों मे समानता के कारण ऐसा हुआ है।

तान्त्रिक धारणाओं के बारे मे विद्वानों का विचार है कि विशेष सामाजिक स्थिति मे इनका होना स्वाभाविक है। इसके सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा न कर, हम केवल इतना ही कहेगे कि किन्ही विशेष ऐतिहासिक कारणों से बौद्ध धर्म को तांत्रिक प्रभावों ने अपने घेरे में ले लिया था। इसके फलस्वरूप शाक्त, शैव एव वैष्णव साधनाओ ने बौद्ध धर्म के साधना-पक्ष एवं उसकी विचारधारा को काफी प्रभावित किया है। तान्त्रिक विश्वासों के प्रचार के लिए हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के प्रतिनिधियो के द्वारा अपने-अपने धर्म के प्रचार का अभियान भी उत्तरदायी माना जा सकता है।

पचरात्र सहिताओ में वासुदेव को परब्रह्म स्वीकार किया गया है। जयाख्य संहिता में वासुदेव स्वयभू एव आनन्द स्वरूप परमसत्ता के रूप में वर्णित हुए है। उसमें सृष्टि को वासुदेव से उत्पन्न बतलाकर प्रलय के समय पुन उसी मे समा जाने का उल्लेख भी हुआ है।[1] प्रस्तुत सहिता मे सृष्टि के तीन भेद स्वीकार किए गये है, जिनके नाम क्रमश· शुद्ध, प्राधानिक एवं ब्राह्मी सृष्टि है। शुद्ध सृष्टि की स्वरूप-चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि सबसे पहले वासुदेव अच्युत् रूप धारण करते है। अच्युत् के उपरान्त 'सत्य' और सत्य के बाद पुरुष-रूप शुद्ध सृष्टि का यही संक्षिप्त विकास-क्रम है।[2] प्राधानिक सृष्टि से सम्बन्धित विचारधारा सांख्य दर्शन के प्रकृति-सिद्धान्त के अनुरूप है। अन्तर केवल यह है कि वैष्णव संहिताओं के अनुसार प्राधानिक सृष्टि में प्रकृति को स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार कर उसे भगवान् की शक्ति माना गया है। वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सृष्टि की रचना का सिद्धान्त मुख्यत· पंचरात्र संहिताओ और भागवत पुराण की विचारधारा का ही अनुसरण है। जयाख्यसहिता में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका बतलाया गया है और उसे जड़

---

[1] जयाख्य संहिता, पृ० ३५,

[2] जयाख्य संहिता, पृ० २८,

मानकर उसकी विकृतियों अर्थात् महत् आदि को भी जड़तत्त्व ही स्वीकार किया गया है।[१]

पंचरात्र सहिता में वासुदेव की सर्वव्यापकता स्वीकार करते हुए उसकी शक्ति या इच्छा के द्वारा जडतत्त्वो की क्रियाशीलता का प्रतिपादन हुआ है।[२] सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति स्वयमेव परिणमित होती है। यह परिणाम दूध-दही की भाँति है। साख्य दर्शनकार सृष्टि की रचना के लिए किसी अतिरिक्त चेतन सत्ता की आवश्यकता नही मानते। सहिताओ मे स्वीकृत ब्राह्मी सृष्टि के प्रसग मे नारायण (वासुदेव) की नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति का उल्लेख है। तदनुसार वासुदेव ही ब्रह्मा को सृष्टि-रचना का ज्ञान प्रदान करते है। तदनन्तर ब्रह्मा द्वारा रजोगुण की सहायता से देवताओ तथा सम्पूर्ण जड-चेतन की रचना सम्पन्न होती है। इसके बारे में कई प्रकार की कथाएँ पचरात्र सहिताओ एवं पुराणो मे वर्णित है।

नारद पंचरात्र का सृष्टि-सिद्धान्त—पौराणिक धारणा के अनुसार मानवीय लोक के कई युगो से ब्रह्मा का एक दिन बनता है। इसका आशय यह है कि पौराणिको की दृष्टि मे जो जीव देवत्व प्राप्त कर लेते हैं, उनकी काल-धारणा भी बदल जाती है। खण्ड प्रलय और पूर्ण प्रलय की धारणाएँ इसी मान्यता पर आधारित है। अहिर्बुध्न्यसहिता के अनुसार स्वय ब्रह्म (वासुदेव) ही अपनी इच्छा से शक्ति का रूप धारण करता है। नारदपचरात्र मे भी पूर्ण प्रलय के समय विष्णु और लक्ष्मी की अद्वैत स्वरूपता को स्वीकार किया गया है। प्रलय के उपरान्त नयी सृष्टि की इच्छा के समय लक्ष्मी, नारायण से अलग हो जाती है। इस प्रकार नारायण की इच्छा के अधीन परन्तु अलग स्वरूप प्राप्त कर लेने के उपरात सृष्टि की रचना का कार्य लक्ष्मी के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इससे इस दार्शनिक धारणा का निर्माण हुआ है कि लक्ष्मी (शक्ति या प्रकृति) भगवान नारायण (परमतत्त्व) का क्रियाशील पक्ष है। इसी मान्यता के आधार पर 'लक्ष्मीसारतन्त्र' एव 'लक्ष्मीतन्त्र' में सृष्टि की रचना का अत्यन्त विस्तृत उल्लेख हुआ है।

---

१ वही० पृ० २५-२७,

२ जया० सं० पृ० २५, श्लो० २ से ८, वही० पृ० २५, श्लो० २१ से २४ पर्यन्त।

३ | जगत-रचना सम्बन्धी भौतिकवादी परम्परा

● **सांख्य-योग दर्शन का जगत-सिद्धान्त आरम्भिक**

सांख्य विचारधारा के सम्बन्ध मे अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि उसके आरम्भिक रूप का मूल स्वर भौतिकवादी ही था। यही कारण है कि आदर्शवादी दर्शन-साहित्य मे साख्यो की उन मान्यताओ का खण्डन किया गया है, जो उसके ब्रह्मवादी दृष्टिकोण के विपरीत पडती है। उपलब्ध साख्य दर्शन की रचनाओं मे विद्यमान परस्पर विरोधी विचारो के आधार पर ये अनुमान भी लगाये गये हैं कि ये रचनाएँ बाद में आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हो गयी थी। लेकिन विशेष ध्यान से देखने के बाद उनमे अब भी वे तत्त्व उपलब्ध हो जाते है, जो भौतिकवादी अवधारणा के ही अधिक निकट है। जहाँ तक जगत की रचना के मूल कारण की मान्यता का सम्बन्ध है, साख्यकारिका एव सांख्यप्रवचनसूत्र—दोनों ही रचनाओ मे जगत को प्रकृति का ही परिणाम माना गया है और उसका स्वत. परिणमित होना स्वीकार किया है। बी० चट्टोपाध्याय के अनुसार आरम्भिक साख्य एव तान्त्रिक विचारधारा मे पर्याप्त साम्य है। वे तो यह भी मानते है कि तन्त्र ही साख्य विचारधारा का मूलाधार है। जगत के सम्बन्ध में साख्यों ने द्रव्य-सिद्धान्त, सत्कार्यवाद (कार्यकारण-वाद) ज्ञान एव प्रकृति-विकृति की धारणाओ पर ही जगत सम्बन्धी मान्यताओ का निर्माण किया है। आरम्भिक साख्य मे एक ओर पुरुष (शरीरी चैतन्य) को 'स्वतन्त्र अनादि चैतन्य' स्वीकार करने का विरोध किया गया है और दूसरी ओर द्रव्य को जगत का आदि या मूलकारण माना गया है।

आरम्भिक साख्य विचारधारा के अनुसार जगत की रचना का अनादि पदार्थ प्रकृति (द्रव्य) है। प्रकृति का उत्तरोत्तर परिणमन उसका स्वभाव माना गया है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अभिकरण (Agent) के रूप में ईश्वर की सत्ता की मान्यता आरम्भिक साख्य धारणा नही है। तदनुसार प्रकृति ही यदृच्छया परिणमित होती हुई अन्त में नामरूपात्मक जगत का रूप धारण कर लेती है। अतः आरम्भिक साख्य विचारको के मत में अन्तिम सत्य प्रकृति (द्रव्य) है—आत्मा या ब्रह्म नही। भौतिकवादी दृष्टि को आधार बना कर किसी युग की दार्शनिक

मान्यताओं पर विचार करने वाले चिन्तकों का मत है कि कोई भी दार्शनिक मान्यता अथवा सिद्धान्त स्वतः पूर्ण एवं शाश्वत नहीं होता। वह युग विशेष की सामाजिक परिस्थितियों पर ही आधारित होता। सामाजिक परिस्थितियों से उनका आशय युगीन आर्थिक एवं धार्मिक आदि सभी परिस्थितियो से है। यही कारण है कि उन्होंने सांख्य विचारधारा के निर्माण का युग मातृसत्तात्मक समाज माना है; क्योंकि इस समाज में पुरुष की स्थिति अकर्ता एवं मात्र द्रष्टा की ही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सांख्यों के पुरुष और प्रकृति सम्बन्धी आरम्भिक विश्वासों के अनुसार पुरुष को नगण्य स्थान प्राप्त हुआ है। पुरुष के हेतु परिणमन की मान्यता परवर्ती प्रतीत होती है। आरम्भ मे तो केवल यही स्वीकार किया जाता था कि सम्पूर्ण जागतिक व्यापार प्रकृति का है और पुरुष की स्थिति मात्र द्रष्टा की है। पुरुष का मात्र द्रष्टा वाला रूप परवर्ती साख्य विचारधारा मे भी तद्वत् बना रहा है।

आरम्भिक साख्य विचारधारा की उक्त मान्यताओं के प्रसंग में यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि पदार्थ की गति एव क्रिया स्वभावत. उसी मे अन्तर्निहित है। द्रव्य-समवाय स्वयमेव विभिन्न प्रकार की गति एवं क्रिया-व्यापार को करने लगता है। यही कारण है कि साख्य विचारक आदर्शवादियो की भाँति जगत को विवर्त न मान कर परिणाम मानते है। इसके सम्बन्ध मे साख्य एवं ब्रह्मवादी विचारधाराओ के निर्माण एव दोनो मे पारस्परिक विरोध के कारण को जान लेना भी प्रासंगिक होगा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि 'सिद्धान्त अन्वेषण की उपलब्धि' हुआ करता है। 'उसे शाश्वत सत्य' स्वीकार करना ठीक नही है। भौतिकवादी एवं आदर्शवादी विचारक यही पर एक-दूसरे से पूर्णत भिन्न हो जाते हैं। आदर्शवादियों की जगत सम्बन्धी सम्पूर्ण अवधारणाएँ इस मान्यता से आरम्भ होती हैं कि वे पहले सिद्धान्त को शाश्वत सत्य के रूप मे स्वीकार कर पुनः आगे बढते हैं। लेकिन भौतिकवादी विचारक तथ्यो के अन्वेषण एव विश्लेषण के उपरान्त 'उपलब्ध निष्कर्षों' को ही सिद्धान्त का नाम देते है। पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों ने एकमत होकर यह स्वीकार कर लिया है कि जैन एवं बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी होने पर भी आदर्शवादी ही हैं—भौतिकवादी नही। दोनों में कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणाओं का जो रूप स्वीकार किया गया है, वह उन्हें आदर्शवादी ही सिद्ध करता है। इन दोनों धर्म-मतो की दार्शनिक मान्यताओ को आरम्भिक सांख्य विचारधारा ने भी प्रभावित किया है और इसी प्रभाव का यह फल है कि आरम्भिक जैन आत्म-सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नही रखते। आरम्भिक बौद्ध विचारक एक ओर शून्य या 'विज्ञान' के रूप में जीव के स्वरूप की चर्चा करते हैं तथा ईश्वर के अस्तित्व को मौन के बहाने से अस्वीकार करते हैं। इसका दूसरा कारण यह भी है कि जिन सामाजिक मान्यताओ ने साख्यो की विचारधारा का निर्माण किया था, उन्ही को पुनरुज्जीवित करने अथवा उन्हीं के प्रति आस्था रखने वाले समाज मे आरम्भिक बौद्ध एवं जैन विचारधारा का जन्म हुआ था। जगत के सम्बन्ध

में आरम्भिक सांख्य दृष्टिकोण एवं आरम्भिक जैनों की विचारणा मे पर्याप्त साम्य है। बल्कि कुछ विद्वानों ने तो जैनों की जगत सम्बन्धी अवधारणाओं के सम्बन्ध में परमाणु-सिद्धान्त के प्रभाव को भी स्वीकार किया है। जिस सामाजिक परिवेश ने आरम्भ में देवाधिदेव और उसके उपरान्त ईश्वर या ब्रह्म की अवधारणा को जन्म दिया था वह उस परिवेश से भिन्न था, जिसमे आरम्भिक सांख्य विचारधारा का निर्माण हुआ था—एक दृष्टि भौतिकवादी थी और दूसरी आदर्शवादी। इन दोनो दृष्टियो को जन्म देने वाला एक समाज, वर्ग और वर्ण-व्यवस्था वाला था जबकि दूसरा वर्ग-हीन समाज था, जिसमें व्यक्ति कुलो और कबीलों वाली व्यवस्था में जीवन व्यतीत करता था।

'आरम्भिक सांख्य विचारधारा का मूलस्वर भौतिकवादी था'—इसकी पुष्टि एक अन्य दृष्टिकोण से भी होती है। उपनिषदो मे—जो कि आदर्शवादी रचनाएँ हैं—प्रतिपक्षी के रूप में अथवा शका उठाने वाले व्यक्तियो के प्रश्नों के रूप मे जो समस्याएँ उठायी गयी है, उनसे भी यही ध्वनित होता है कि जगत के मूलकारण की मान्यता के सम्बन्ध मे तब ऐसा दृष्टिकोण अवश्य विद्यमान था, जिसका खण्डन करना आवश्यक था। जगत की रचना और उसके मूलकारण के सम्बन्ध मे उपनिषदों में बार-बार भिन्न-भिन्न प्रसगो मे प्रश्न उठाये गये हैं और ऋषियो ने ब्रह्मवादी दृष्टिकोण के अनुसार उन प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत किया है। उसके बाद जिस समय ब्रह्मसूत्रों के रूप मे औपनिषदिक विचारधारा को क्रमबद्ध किया गया तब भी बादरायण को जगत की रचना के सम्बन्ध मे मूलकारण का प्रश्न उद्वेलित करता रहा। ब्रह्मसूत्रो के अध्ययन से पता चलता है कि बादरायण ने स्वयं कई बार प्रकृति के द्वारा जगत की रचना के सिद्धान्त का विरोध किया है। तदनन्तर आचार्य शंकर ने सांख्यो के जगत-सिद्धान्त की चर्चा करते हुए उसका पर्याप्त विरोध ही नहीं किया अपितु प्रतिपक्षी विचारधारा के रूप में उसका खण्डन भी किया है। उनके इस खण्डन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सांख्य जगत को सत्य मानते थे—भ्रम या विवर्त नही।[१]

सांख्यो के 'सत्कार्यवाद' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। क्योंकि अनस्तित्व से अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा

---

[१] Sacred Books of the East (ed.) F. Max Muller, p. 300, the vedantic opinion that the intelligent Brahman is the material cause of this world is untenable because the effect would in the case be of an altogether different character form the cause. For this world, which the vedantin consideres as the effect of the Brahman, is percieved to be non-intelligent and impure, consequently different in character from the BRAHMAN, the Brahman again is declared by the sacred texts to of a character differents from the world, names intelligent and pure."

सकती। किसी भी यथार्थ अस्तित्त्व के लिए उसका यथार्थ कारण होना आवश्यक है। उनके अनुसार जगत का मूल कारण प्रकृति (पदार्थ) है जो स्वयमेव अपने भीतर से प्रभावों को उत्पन्न करती रहती है। उनकी इस अवधारणा का आशय यह है कि कोई भी नयी वस्तु निर्मित नही होती, बल्कि वह प्रत्येक पदार्थ के अन्तर्निहित प्रभाव का ही प्रकटीकरण है। साख्यों की प्रकृति के रूपान्तरण के रूप मे पचभूतात्मक जगत की रचना की मान्यता वस्तुत शुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण हमे साख्य दर्शन की उन परवर्ती रचनाओ मे भी प्राप्त होता है, जिसे अब आदर्शवादी प्रभाव से युक्त बतलाया जाता है। 'सांख्यकारिका' मे मूल प्रकृति और उसके अभिव्यक्त स्वरूप (नामरूपात्मक जगत) की चर्चा करते हुए स्वीकार किया गया है कि विकसित पदार्थ (प्रकृति का परिणमन) युग्मता मे पूर्ण, विषमता से युक्त, चल एव बहुरूपी होता है। वह जिसका अभिव्यक्त या परिणमित रूप है वही मूल पदार्थ या मूल प्रकृति है।[१] यह मान्यता इस धारणा का भी आधार है कि जगत की रचना के लिए ईश्वर (अभिकरण) की कोई आवश्यकता ही नही। प्रकृति के परिणमन के लिए 'पुरुष' के सान्निध्य की अवधारणा भी ईश्वरवादी प्रभाव है क्योकि इन परवर्ती उपलब्ध रचनाओ का स्वर धीरे-धीरे आदर्शवादी बनता गया है।[२] जगत की रचना के सम्बन्ध मे यदि पुरुष के सान्निध्य की बात साख्यकारिका से निकाल दी जाय तो जो कुछ शेष रह जाता है, उसके अनुसार जगत के रूप मे परिणमित होने के लिए मूल पदार्थ क किसी बाह्य शक्ति की प्रेरणा की आवश्यकता नही रह जाती। इस प्रकार की मान्यताएँ और अवधारणाएं यही सिद्ध करती है कि साख्य विचारधारा मूलत. भौतिकवादी है।

जगत की रचना के सम्बन्ध मे आदर्शवादी और भौतिकवादी मान्यताएँ पर्याप्त भिन्न है। आदर्शवादियो के अनुसार वस्तुगत यथार्थ एव उसके सम्बन्धो का ज्ञान उससे भिन्न किसी स्वतन्त्र चेतन शक्ति का ही हो सकता है। लेकिन इसके विपरीत भौतिकवादियो का कहना है कि वस्तुगत जगत यथार्थ है और वह प्रकृति का विकास है। वे आत्मा (शरीरी चैतन्य) की उत्पत्ति पदार्थ से मानते है तथा उसके अनादि अस्तित्व को नही स्वीकार करते। आरम्भिक साख्यो की मान्यताएँ भी ऐसी ही थी।

● **परवर्ती**

भारतीय षड्दर्शन-परम्परा मे साख्य और योग दोनो ही दर्शनो को परिणामवादी दर्शन स्वीकार किया गया है। 'भौतिकवादी दर्शन-परम्परा मे परमतत्त्व' शीर्षक अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भौतिकवादी विचारको एवं अध्यात्म-चिन्तको की एकत्व की अवधारणाएँ स्वतन्त्र मान्यताओ पर आधारित होने के कारण

---

१ सांख्यकारिका, सख्या, १०,

२ वही० सख्या १५,

एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। भौतिकवादी एकत्व की अवधारणा में ईश्वर (परम-तत्त्व) की मान्यता को अस्वीकार किया गया है। भौतिकवादियो का मत है कि जगत का मूलाधार प्रकृति (मूल पदार्थ) है। अतः जब वे एकत्व की चर्चा करते हैं, तब मूल कारण से उनका आशय प्रकृति ही होता है। तदनुसार सम्पूर्ण जागतिक व्यापार एव दृष्ट जागतिक वैविध्य प्रकृति का ही विलास है। प्रकृति ईश्वर (स्वतन्त्र चैतन्य) की तुलना मे जडतत्त्व है। भौतिकवादी विचारक ईश्वर (ब्रह्म) को जगत का मूल-कारण (प्राथमिक तत्त्व) स्वीकार करने का विरोध करते है। तदनुसार ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु मूल पदार्थ अर्थात् प्रकृति का परिणाम अथवा विकास है। वे ब्रह्माण्ड को समवाय के रूप मे स्वीकार करते है, और यह मानते है कि समवाय जिस समय टूटता है, उस समय वह पुन अपने मूल कारण (प्रकृति) मे समा जाता है। इसलिए ब्रह्माण्ड की रचना के लिए ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति अनावश्यक है। उनके मत मे आदिकारण (प्रकृति) का परिणमन ही जगत की रचना है।

भारतीय दर्शन-साहित्य का पुनर्विवेचन करने वाले कतिपय विद्वानो का मत है कि आरम्भ मे साख्य और योग दर्शन की अवधारणाएँ (विशेषकर जगत की रचना के सदर्भ मे) भौतिकवादी विचारधारा के ही अनुरूप थी। कालान्तर मे ईश्वरवाद के प्रभाव के कारण लोकायत दर्शन को छोडकर, जिस प्रकार अन्य भारतीय दर्शनो (विशेषकर ब्राह्मण धर्म के) पर ईश्वरवाद का आत्यन्तिक प्रभाव पडा, उसी प्रकार साख्य और योग-दर्शन मे भी ईश्वरवादी मान्यताओ का प्रवेश हो गया। आरम्भ मे जीव के स्वतन्त्र चैतन्य को भी विशेष महत्त्व प्राप्त नही था। यह विश्वास किया जाता था कि व्यक्ति चैतन्य भी समवाय-जन्य चैतन्य है—स्वतन्त्र, अनादि तथा प्राकृतिक धर्मों से अतीत चेतना नही। साख्य का पुरुष-सिद्धान्त भी ईश्वरवादी विचार-धारा का ही प्रभाव प्रतीत होता है यद्यपि ईश्वर की स्वीकृति के अभाव के कारण उसके स्वरूप की चर्चा उस रूप मे नही हो सकी है, जिस रूप मे हमे जीव के स्वरूप की चर्चा अन्य शुद्ध ईश्वरवादी दर्शनो मे उपलब्ध होती है। फिर भी साख्य दर्शन मे ब्रह्माण्ड का कर्ता ईश्वर को न मानकर प्रकृति (स्वरूप और स्वभाव मे जडतत्त्व) को ही माना गया है और उसके गुण-विक्षोभ के लिए केवल पुरुष का मात्र सान्निध्य ही पर्याप्त स्वीकार किया गया है। साख्य-योग दर्शन आत्मा या पुरुष को चेतन तो मानते है, परन्तु उसे ब्रह्माण्ड का कर्ता नही स्वीकार करते।

उक्त दर्शन-द्वय के अनुसार (विशेष कर साख्य दर्शन के मत मे) जगत की रचना प्रकृति के परिणाम का फल है। तदनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मकधर्मा है। उसमे सत्त्व, रज एवं तम तीनों गुण आरम्भ मे अक्षुब्ध अवस्था मे विद्यमान रहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि अस्तित्व मे आने से पूर्व जगत प्रकृति में ही सूक्ष्म रूप मे अवस्थित होता है। प्रकृति मे जिस समय गुण-विक्षोभ होने लगता है, उस समय उसमे स्वयमेव गतिशीलता आ जाती है। पुरुष को चेतन मान कर भी साख्य दार्शनिक उसे इन्द्रियों के धर्मों से अलिप्त बतलाते है। उसकी बद्धता इसी मे है कि वह प्रकृति के धर्मों का

अपने ऊपर आरोप कर लेता है। सांख्य-योग दर्शन के अनुसार परमाणु, सृष्टि की रचना के अनादि तत्त्व नही है, बल्कि प्रकृति का गुण-परिणाम ही जगत की रचना का हेतु है। सांख्यो ने दो अनादितत्त्व—पुरुष और प्रकृति माने है।

सांख्यो के अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति का पहला गुण सत्त्व, दूसरा रज एवं तीसरा तम है। रजोगुण का धर्म क्रियाशीलता है, जबकि तमोगुण आलस्य, प्रमाद और अज्ञान है[१] तदनुसार पदार्थ न तो समूल नष्ट ही होता है, न ही सर्वथा नवीन पदार्थ अस्तित्व मे आता है।[२] साख्य प्रकृति को जड़ बतलाते हुए यह मानते है कि तमोगुण के कारण सारा ब्रह्माण्ड अपने आप एक नियमित ढंग से प्रवाहमान रहता है।[३] साख्य दर्शन मे जगत की रचना के क्रम का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि मूल प्रकृति मे विक्षोभ होते ही, वह उत्तरोत्तर अनेक तत्त्वो के रूप मे परिणमित होने लगती है। यही सांख्यो का प्रकृति-विकृति सिद्धान्त है। स्थूल महाभूतो की रचना पूर्ण होने तक यह प्रक्रिया चलती रहती है। पुरुष की स्वीकृति प्रकृति के परिणाम के लिए ही मानी गयी है। क्योकि परिणमित होने के लिए प्रकृति को पुरुष का सामीप्य चाहिए। प्रकृति परिणाम-सिद्धान्त मे यह कहा गया है कि जिस समय बुद्धि मे पुरुष की चेतनता का प्रतिबिम्ब पडता है, उस समय प्रकृति मे विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है और सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। प्रकृति का यह प्रसार पुरुष के हेतु माना गया है। जिस समय तक पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान नही होता, प्रकृति का दॉव उसी समय तक चलता है, अन्यथा वह अपना प्रपच समेट लेती है। प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्नता को देखते हुए साख्य पुरुषो की सख्या अनत मानते है। उनका कहना है कि यदि सभी व्यक्तियो का अन्त करण एव सस्कार आदि भिन्न न हो तभी यह माना जा सकता है कि पुरुष एक है—अनेक नही।[४]

---

१ सा० का० ११, त्रिगुणमविवेकिविषय सामान्यमचेतन प्रसवधर्मी व्यक्त तथा प्रधानम् × × ×।। वही संख्या १३, सत्त्व लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रज. ।। गुरुवर्णकमेव तम प्रदीप वाच्यार्थतो वृत्ति ।।

२ सा० का० ६, असदकारणादुपादान ग्रहणात् सर्व सम्भवाभावात् शक्तस्य शक्त-करणात् कारणभावाच्च सत्कार्य्‌ ।।

३ वही० १३, गुरुवर्णकमेवतम × × ×।। तथा साख्यतत्त्वकौमुदी, १३, रजस्तु-चलतया परितस्त्रैगुण्य × × ×।।

४ सांख्यकारिका, १७; सघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विषयाधिष्ठानात् पुरुषोऽपि मोक्तृ अभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। वही० संख्या १८, जननमरणकारणानां प्रति नियमादयुगपद् प्रवृत्तेश्च। पुरुष बहुत्व सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव ।। वही० सं० ६२; तस्मान्नबध्यतेऽद्धां न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ।। सांख्यतत्त्वकौमुदी, २१; भोग्येन प्राधान्येन सभिन्न पुरुषस्तद् गत दु खमय स्वात्मन्यभिमन्यमान कैवल्यं प्रार्थयते ।। सां० का० २०; तस्मात्तत्सयोगादचेतनं चेतनावदिव लिगम् ।।

सांख्य दर्शन की यह मान्यता भी इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करती है कि आरम्भ में यह विचारधारा भौतिकवादी एकता की अवधारणा (मूल पदार्थ या प्रकृति) के अनुकूल थी। तदनुसार जगत को मूल पदार्थ,का ही विकास एवं ब्रह्माण्ड को पदार्थ का समवाय स्वीकार किया गया था। इस मान्यता का संकेत परवर्ती सांख्य दर्शन में भी प्राप्त होता है।

सांख्य दर्शन आगे चलकर दो वर्गों मे विभाजित हो गया—एक सेश्वर और दूसरा निरीश्वर। सेश्वर सांख्यवादी मानते हैं कि ईश्वर जीवो के प्रति अनुकम्पा के भाव से प्रेरित होकर, प्रकृति के माध्यम से जगत की रचना करता है, लेकिन निरीश्वरवादी साख्य ईश्वर की सत्ता स्वीकार नही करते। वे जगत के हेतु जीव के प्रति प्रकृति का अनुकम्पा-भाव स्वीकार करते हैं। प्रकृति का यह अनुग्रह किसी अन्य चेतन सत्ता के द्वारा किया गया एव उसके अपने विवेक मे परिचालित नही है। निरीश्वर वादियों के मत मे प्रकृति स्वय जड होने के कारण विवेक आदि चेतन धर्मों से विहीन है।[1] योग साघना प्रधान दर्शन है। साख्य और योग दोनो मिलकर ही सिद्धान्त और साधना के दोनो पक्षो की पूर्ति करते है। इस प्रसंग मे यह जान लेना जरूरी है कि वैष्णव आचार्य भी जगत की रचना के हेतु आगे चलकर साख्यों के प्रकृति-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते है।

न्याय-वैशेषिक का जगत-सिद्धान्त

● आरम्भिक

कणाद के सूत्रो एवं उनके ऊपर लिखे गये शकरमिश्र के भाष्य से यह स्पष्ट है कि जगत की रचना के सम्बन्ध में वैशेषिक दर्शन मे पदार्थ को ही अनादि तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है। तदनुसार नामरूपात्मक जगत पदार्थों का समवाय है। कणाद के अनुसार जगत की सत्ता पदार्थात्मक (वस्तुगत) है। मानव-चेतना का उसके निर्माण मे कोई हाथ नही। कणाद ने वैशेषिक सूत्रो का आरम्भ ही इस विश्वास को आधार बनाकर किया है कि यह जगत ईश्वर नामक किसी दैवी और शाश्वत शक्ति के द्वारा नियमित नही है। वैशेषिक दर्शन मे इस धारणा का भी प्रतिपादन हुआ है कि जगत इस अर्थ मे यथार्थ है क्योकि वह विभिन्न वस्तुओ (पदार्थों) का समवाय है। द्रव्य को वैशेषिक आचार्य जगत का मूलकारण मानते है। द्रव्य ही मूल पदार्थ सत्ता है। तदनुसार पदार्थ गुण-क्रिया-सम्पन्न तत्त्व है और वही प्रभावो का अन्तर्निहित भौतिक कारण भी है। द्रव्य जिस समय भौतिक वस्तुओ का

---

१ सा० का० संख्या ५६; इत्येष प्रकृति कृतो महदादि विशेषभूत पर्यन्तः। प्रति-पुरुष विक्षोभार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरंभः॥ सा० का० सख्या ५७; वत्सविवृद्धि निमित्त क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुष विक्षोभ निमित्तं तथा प्रवृति. प्रधानस्य॥ वही पृ० सख्या १६; करणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदा-याच्च। परिणामत. सलिलवत् प्रति-प्रति गुणाश्रय विशेषात्।

रूप धारण करते हैं तब जगत (नामरूपात्मक) साकार हो जाता है। तदनुसार सम्पूर्ण और अंश अर्थात् अंश (पदार्थ या परमाणु) और अंश-समूह (वस्तुजगत) मे यह अन्तर है कि पहले को घटकों मे बदला जा सकता है, जबकि दूसरा (अंश) अविभाज्य है।

वैशेषिको के अनुसार, जगत के निर्मायक तत्त्व परमाणु शाश्वत एवं अविनाशी हैं। ब्रह्माण्ड की विविधरूपता के सम्बन्ध मे उनका कहना है कि समानधर्मी परमाणुओं के समवाय से विशिष्ट पदार्थ बनते हैं। परस्पर एक दूसरे से मिलने की प्रवृत्ति इन परमाणुओ का स्वभाव—अन्तर्निहित धर्म है। परमाणुओं मे गति रहती है, अतः वे निष्क्रिय एव स्थैतिक नही है। इस सम्बन्ध मे वैशेषिको की यह निश्चित धारणा है कि जगत की रचना मे परमाणु समवाय से भिन्न किसी अन्य अभिकरण (Agent) की आवश्यकता नही है। परमाणुओं को वे अस्तित्त्वमयी निरन्तर प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। समवाय से पूर्व परमाणु की स्थिति निराकार मानी गयी है, क्योकि वह देखा नही जा सकता। कणाद की इस विशिष्ट अवधारणा को मैक्समूलर ने मौलिक चिन्तन स्वीकार किया है।[1] अन्यथा जगत-रचना की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे परमाणु-सिद्धान्त जैन विचारको की तत्सम्बन्धी मान्यता का ही दार्शनिक प्रतिपादन है।

ब्रह्मसूत्रों के आदर्शवादी व्याख्याकार आचार्य शकर वैशेषिक दर्शन की इस मान्यता का खण्डन करते है कि पदार्थ का न तो नाश किया जा सकता है और न निर्माण ही।[2] यदि गहराई से विचार किया जाए तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि मे भी वैशेषिको की विचारधारा भौतिकवादी ही थी। उनका साख्यो की भाँति ही वैशेषिको का खण्डन भी इसी दृष्टि का परिचायक है। अनुमान एवं प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही जगत की रचना के विषय मे वैशेषिको ने विचार किया है। जगत के वैविध्य को देखकर उन्होने परमाणुओ मे भिन्न-भिन्न विशेषताएँ स्वीकार की और उनके आधार पर परमाणुओं (पदार्थों) को वर्गीकृत किया। द्रव्यो मे वे कई प्रकार के गुणो एव धर्मों की स्थिति स्वीकार करते है।[3] इससे यह स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन की मूलभूत दृष्टि भौतिकवादी है और यह विचारधारा पर्याप्त समय तक आदर्शवादी दृष्टिकोण से जगत की रचना के सम्बन्ध मे चेतनासत्ता को मूल कारण मानने वालो का विरोध करती रही है। इसी विचारधारा ने आगे चलकर लोकायत दर्शन का रूप प्राप्त किया है। लेकिन कालान्तर मे इस भौतिकवादी दृष्टिकोण को ईश्वरवादी मान्यताओ के द्वारा रंजित कर दिया गया। अत. यह

---

[1] दि सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासोफी, वैशेषिक प्रकरण।

[2] ब्रह्म सू० शा० भा० १-१२,

[3] वैशेषिक सूत्र २-१, वही० १-१, एक द्रव्यमगुण सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम् ॥

मानना पड़ता है कि जो स्थिति, भारतीय दर्शन-परम्परा में, सांख्यों की आरम्भिक विचारधारा की हुई, वही स्थिति वैशेषिक दर्शन की भी। भारतीय विद्वान हिरियन्ना के विचार इस सम्बन्ध में ध्यातव्य हैं। वे लिखते हैं कि कणाद के सूत्रों पर लिखा गया सबसे पहला भाष्य प्रशस्तिपाद का है। वे इस भाष्य का रचना-काल पाँचवीं शती के आस-पास मानते हैं। उनका यह भी मत है कि भाष्यकार ने भाष्य लिखते समय अपनी मौलिक दृष्टि से काम लिया है। सम्भवतः यही पहला भाष्य है, जिसमे पदार्थ (परमाणु) के स्वतन्त्र कर्तृत्व को अमान्य ठहरा कर ईश्वर को जगत का रचयिता माना गया है।[1] हिरियन्ना महोदय के इस कथन से भी यह बात प्रमाणित हो जाती है कि वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत कर्म के सिद्धान्त को बाद मे आदर्शवादी विचारको ने भिन्न अवधारणा के रूप मे ग्रहण किया और ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा एव केवल उसी मे कर्तृत्व की शक्ति को स्वीकार किया है। धीरे-धीरे यह विश्वास प्रचलित होता गया कि ईश्वर के बिना स्वयं पदार्थ मे ब्रह्माण्ड जैसी सुव्यवस्थित रचना सम्भव नही हो सकती। इस प्रकार आरम्भिक वैशेषिक धारणाएँ बाद मे अधिकाशतः आदर्शवादी प्रभाव के अन्तर्गत आ गयी।

वैचारिक दृष्टि मे न्याय एव वैशेषिक दर्शन का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनो दर्शनो की मूलभूत धारणाओ से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। 'भारतीय दर्शन-परम्परा मे ब्रह्म के स्वरूप' की चर्चा के प्रसग मे यह बतला दिया गया है कि लगभग ई० पूर्व चौथी शताब्दी तक न्याय-विचारधारा एक व्यवस्थित दर्शन का रूप प्राप्त कर चुकी थी, जिसे गौतम ने सूत्रबद्ध किया। न्याय दर्शन की आरम्भिक मान्यताओ के अनुसार प्रत्येक वास्तविकता वस्तुगत क्रम के रूप मे हमारे सम्मुख प्रस्तुत होती है और परमाणु जगत के मूल कारण है। यह विचार ब्रह्मवादी दृष्टि-कोण से पर्याप्त भिन्न है और यह सकेतित करता है कि इस दर्शन की मूलभूत मान्यताएँ आरम्भ मे भौतिकवादी ही रही है। इस दर्शन के परमाणु-सिद्धान्त के अनुसार परमाणुओ मे ही क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ अन्तर्निहित है। परमाणु-समवाय के रूप मे ब्रह्माण्ड की विविधरूपता स्वयमेव निर्मित होती रहती है। न्याय दर्शन के अनुसार जीव का साध्य मुक्ति माना गया है, लेकिन मुक्ति का अर्थ 'सही ज्ञान' ही स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन की आरम्भिक अवधारणा यही है। जगत के सम्बन्ध मे आरम्भिक न्याय-विचारधारा इस अवधारणा से प्रेरित लगती है कि चेतन की सत्ता का ज्ञान अचेतनतत्त्व मे क्रियाशीलता की मान्यता के उपरान्त ही हो सकता है।

न्याय दर्शन के अनुसार पारमाणविक तत्त्व ही अनादि सत्ता है। उन्ही से जगत की रचना होती है। सृष्टि की रचना मे ईश्वर की कोई भूमिका नही है। वैशेषिक दर्शन की भाँति नैय्यायिक भी परमाणुओ के सम्मिश्रण से ही जैव-अजैव

---

[1] ए० एम० हिरियन्ना, आउट लाइन्स ऑव इण्डियन फिलासफी, पृ० २२६,

जगत की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इसके सम्बन्ध में रिचार्ड गार्बे के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं कि न्याय और वैशेषिक दर्शन की मूलभूत मान्यताओं में यह स्वीकार नहीं किया गया है कि पदार्थ की रचना कोई अन्य शक्ति (ईश्वर आदि) करती है। बल्कि दोनों ही दर्शनों मे ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के स्पष्ट लक्षण प्राप्त होते हैं। वे यह भी मानते हैं कि वैशेषिक दर्शन में जिस तरह ईश्वर के कर्तृत्व का प्रवेश परवर्ती है, उसी तरह न्याय दर्शन में भी।[१] न्यायसूत्रों के अनुसार आत्मा भी जगत की अन्य भौतिक (विषयगत) वस्तुओं के ही अन्तर्गत आती है।[२]

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के महत्त्व पर बहुत अधिक बल दिया गया है। यह विचार मूलतः भौतिकवादी है एव ब्रह्मवादी आदर्शमूलक दृष्टि से पर्याप्त भिन्न है। इसी आधार पर नैय्यायिक जगत को यथार्थ एव उसका मूल कारण परमाणुओं को स्वीकार करते हैं। परमाणु रूपी घटको की सहायता से ईश्वर के द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना करने की अवधारणा इस विचारधारा मे बाद में जोड़ी गयी प्रतीत होती है। लेकिन मूलत. भौतिकवादी दृष्टि रखते हुए भी कालान्तर मे न्याय दर्शन के परवर्ती प्रस्तोता एवं व्याख्याता आदर्श मूलक प्रवृत्तियो से अपने आपको पूर्णतया मुक्त नही रख सके। आरम्भ मे न्याय दर्शन में 'आत्मा' का अर्थ आदर्शवादी धारणाओ से भिन्न केवल चेतना ही रहा है। लेकिन बाद में आत्मा के सम्बन्ध मे उनकी धारणा मे अन्तर आ गया और उसे शुद्ध एव स्वतन्त्र चेतनसत्ता स्वीकार कर लिया गया।

● परवर्ती

ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानते हुए, उपादान सामग्री के रूप में परमाणुओ की अनादि सत्ता को भी स्वीकार किया गया है। ईश्वर को सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान सत्ता मान कर उसमे ब्रह्माण्ड की रचना करने की अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य को स्वीकार किया गया। यह भी बतलाया गया है कि सर्वज्ञ होने के कारण ब्रह्माण्ड की रचना के लिए आवश्यक उपादान सामग्री का उसे पूरा ज्ञान रहता है। परमाणु अन्तिम एव अभेद्य इकाई स्वीकार किये गये है और उन्हे ब्रह्माण्ड की रचना का मूलाधार स्वीकार किया गया है।[3]

उपर्युक्त दर्शनों में सृष्टि की रचना एव उसके विस्तार आदि की विशेष चर्चा नही की गयी है। इन दर्शनों की तुलना मे हमे साख्य दर्शन में प्रकृति-परिणाम के आधार पर जगत की रचना की सुसम्बद्ध व्याख्या प्राप्त होती है।

---

१ रिचार्ड गार्बे, फिलासफी आफ एन्शियेण्ट इण्डिया, पृ० ३३,

२ गौतम-न्यायसूत्र, १-२३,

3 न्यायमंजरी, ख० १, पृ० १७६, कर्त्रबिनाभावतया यथाविधस्य सन्नि-वेशस्य ××××।। वही० ख० १, पृ० १८६, अथवानुकम्पयैव सर्गसंहारावरभतामीश्वर. ।। न्या० मुक्ता० १-३६,

न्याय एव वैशेषिक दर्शन का मुख्य स्वर आरम्भ में भौतिकवादी अवधारणाओं वाला था, जिसमें सृष्टि के अनादितत्त्व के बारे में ईश्वर नामक सत्ता की अवधारणा का विशेष दखल नही था। कालान्तर मे ईश्वरवाद के प्रभावाधिक्य के कारण इन दर्शनों की मान्यताओ में परिवर्तन हो गया और अनीश्वरवाद के विरोध के फलस्वरूप ये दोनों दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शनों की कोटि में गिने जाने लगे। न्याय और वैशेषिक दर्शनों के परवर्ती स्वरूप के अनुसार ईश्वर को सृष्टि की रचना करने वाली शक्ति स्वीकार करने के साथ ही, उसे उसका पालक एव संहारक भी मान लिया गया है। सृष्टि की रचना ईश्वर ने क्यो की ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि जीवों को आवागमन के बन्धन से मुक्त करवाने के लिए ईश्वर ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है। जगत को जीवो की कर्म भूमि मान कर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है कि वे जैसा कर्म करते है, उसी के अनुसार उन्हे फल की प्राप्ति होती है। अन्त मे जीव जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। अत. जगत की रचना का अन्तिम उद्देश्य जीव की मुक्ति के लिए आधार प्रस्तुत करना है।

४ | पूर्ववेदान्तिक चिन्तन-परम्परा और जगत

विज्ञानवादी बौद्धों का सृष्टि-सिद्धान्त - विज्ञानवादी बौद्ध जगत को आभास सत्ता (Visionary Appearance) मानते है। इस प्रसग मे हमे यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि अद्वैतवेदान्तियों एव शून्यवादी बौद्धो ने भी जगत की प्रतीत सत्ता ही स्वीकार की है। परन्तु उपर्युक्त एक जैसी लगने वाली तीनो मान्यताएँ आभास सत्ता की सिद्धि का प्रतिपादन करते समय परस्पर पर्याप्त भिन्न हो जाती है। जगत को मिथ्या या आभास सत्ता मानते हुए भी अद्वैतवेदान्तियों के 'ब्रह्म' का स्वरूप विज्ञानवादी बौद्धो के द्वारा स्वीकृत एव प्रतिपादित 'विज्ञान' के स्वरूप से पर्याप्त भिन्न है। ईश्वरवादी (अध्यात्मवादी) वेदान्ती ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता या तत्त्व को सृष्टि का निमित्तोपादान कारण नही मानते। परन्तु उनकी इस मान्यता के विपरीत विज्ञानवादी बौद्ध ब्रह्म जैसी किसी अनादि एव स्वतन्त्र चेतन शक्ति के सिद्धान्त का समर्थन नही करते। उनके मत मे सृष्टि की रचना न तो प्रकृति की परिणाम है और न ही गीता के पुरुषोत्तम-सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति परब्रह्म की महद् योनि ही स्वीकार की गयी है।[1]

विज्ञानवादी बौद्ध जगत को परिवर्तनशील सत्ता स्वीकार करते है। उनकी मान्यताओ के अनुसार पहला विज्ञान दूसरे विज्ञान को जन्म देता है और इस प्रकार विज्ञानों का नैरन्तर्य बना रहता है। परवर्ती विज्ञान को पूर्ववर्ती विज्ञान की सहायता प्राप्त होती रहती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विज्ञानवादी विज्ञान को ही स्वप्रकाशित चैतन्य-प्रतीति ही स्वीकार करते है। विज्ञान के स्वरूप की चर्चा करते हुए वे उसकी उपमा 'आलात चक्र' या 'जल-प्रवाह' से देते है।

[1] गौ० पा० का० ४।७१; न कश्चिज्जायते जीव सभवोऽस्य न विद्यते। एतदुत्तम सत्य यत्र कश्चिन्न जायते ॥ वही० ४।२८, यस्मान्न जायते चित्त चित्तदृश्य न जायते। तस्य पश्यन्ति ये जाति खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥ वही० ३।२८, असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते। बन्ध्या पुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥ म० पा० वि० २, परमार्थेन नोत्पादो निरोधोऽपि न तत्त्वतः। बुद्ध आकाशवत् तद्वत् सत्त्वा-अप्येक लक्षणा. ॥ भा० शा० १७; क्लेशाः कर्माणि देहाश्च कर्तारश्च फलानि च। गन्धर्व नगराकाराः मरीचि स्वप्न संनिभा. ॥

से देते हैं। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार जल-प्रवाह शाश्वत एवं निरन्तर भाव से गतिमान है और नदी की सत्ता उससे अलग एव स्वतन्त्र नही होती, उसी प्रकार जगत एवं विज्ञान दो अलग-अलग सत्ताएँ स्वीकार नही की जा सकती। विज्ञानवादियो की शब्दावली मे इसे 'सद्वृत्तिसत्य' कहा गया है।[1] तदनुसार ज्ञाता और ज्ञेय से सम्बन्धित सभी विचारो (Ideas) का आधार आलयविज्ञान है। यही विज्ञानवादियो का प्रमुख सिद्धान्त एव अवधारणा है,[2] जिसके अनुसार जीव के द्वारा उसे अपने होने अर्थात् 'मै हूँ' का एहसास भी अस्थायी ही है।[3]

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञानवादी चित्त के अतिरिक्त किसी भी दूसरे विषय (object) के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। यही नही, उन्होने चित्त की शाश्वत सत्ता की मान्यता को भी अस्वीकार कर दिया है। वे यह मानते है कि चित्त मे अध्युषित वासनाओ के कारण ही एक चित्त दूसरे चित्त मे भिन्न प्रकार का होता है। उसके अनुसार जगत चित्त की वासनाओं की प्रतीति से भिन्न कुछ नही है। उनका यह भी कहना है कि जिस तरह स्वप्न के पदार्थ वास्तविक नही हुआ करते, उसी प्रकार समार या जगत की सत्ता शाश्वत एव सत्य नही है।[4] उनके अनुसार कि प्रतीति की अवस्था का विज्ञान ही 'आलयविज्ञान' है। 'मै हूँ', 'मेरे सामने जगत है' इस प्रकार की प्रतीति को वे आलयविज्ञान की सज्ञा देते है। विज्ञानवाद को योगाचार भी कहा गया है। क्योकि इस सम्प्रदाय मे योग की साधना का विशेष महत्त्व है।

शून्यवादी बौद्धों का सृष्टि-सिद्धान्त—माध्यमिक बौद्ध ही शून्यवादी बौद्ध है। हीनयानी शून्यवादियो के सिद्धान्तो के अनुसार विद्वानो ने उन्हे दो भिन्न वर्गो मे विभाजित किया है—एक वर्ग वैभाषिको का है और दूसरे वर्ग को सौत्रान्तिक बौद्ध कहा गया है। जगत के स्वरूप के सम्बन्ध मे इन दोनो की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं। वैभाषिको का मत है कि जगत को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, लेकिन सौत्रांतिक जगत को अनुमान-ग्राह्य बतलाते है। योगाचार मत मे ज्ञाता और ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया गया है। तदनुसार सत्ता केवल विज्ञान की ही है।

१ स० द० स, प्रकरण २, पृ० १३; नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्य नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वय सैव प्रकाशते ।। वही० अविभागोऽपि बुध्यात्मा विपर्यासित दर्शनै', ग्राह्य-ग्राहक सवित्ति भेदवानिव लक्ष्यते ।।

२ म० वी० सू० टी० १-४, कुशलाकुशला व्याकृत धर्मवासनाभूतोऽस्ति कश्चिद्विशेषः आलयविज्ञानस्य पदाधिपत्येन परस्परभिन्नाभास विज्ञान प्रजायते ।।

३ स० द० स० प्र० २, पं० १५, तस्य स्यादालय विज्ञानं यद् भवेदहमास्मकम् ।।

४ म० वि० सू० टी० १-२, अभूतप रिकल्पो हि ग्राह्य-ग्राहक-रहितः शून्य इति न सर्वथा स्वाभावतो नास्ति'' '''इयमेव हि शून्यता या ग्राह्य-ग्राहक-रहितता ।। वही० द्वयं (ग्राह्य-ग्राहक-रूप) शशविषाणवन्नास्ति। वही० १।१४; द्वयाभावो ह्यभावस्य भावश्च शून्य लक्षणम् ।।

इसके विपरीत माध्यमिक विज्ञान की भी शाश्वत सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि उन्होंने विज्ञान को भी वासनाओं पर आधारित बतलाया है। अतः वासना को शाश्वत न मानने के कारण विज्ञान की भी शाश्वत नहीं माना गया है। यहाँ पर आकर विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध विचारकों मे पर्याप्त अन्तर आ गया है। शून्यवादी शून्य को परमतत्त्व मानते है।[१] उनका विचार है कि प्रतीत होने वाली सत्ताओं में केवल शून्य ही पूर्ण, स्वतन्त्र एवं भावात्मक सत्ता है। इसीलिए असंग एवं मैत्रेय ने शून्य को 'अभूतपरिकल्प' माना है।[२]

अभूतपरिकल्प की अवधारणा के अनुसार विज्ञान को रूप सत्ता नही स्वीकार किया गया है। क्योकि इससे ज्ञाता और ज्ञेय की केवल कल्पना ही की जा सकती है, उसका कोई स्वरूप हमारे सामने समुपस्थित नही होता। विज्ञान कल्पना का मात्र आधार प्रस्तुत करता है। शून्यवाद को अभूतपरिकल्प इसलिए माना गया है, क्योंकि इसके द्वारा हम ज्ञाता और ज्ञेय की परिकल्पना किया करते है।[3] असग और वसुबन्धु दोनो आचार्यों के मत मे ज्ञाता और ज्ञेय रूपी जगत की प्रतीति का कारण केवल 'अभूत परिकल्प' ही है।[४] उपर्युक्त दोनो आचार्यों के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने 'शून्य' को परमसत्ता या परमतत्व स्वीकार कर लिया है। परन्तु 'शून्य' का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध मे नागार्जुन स्वयं मौन रहे है या उनके पास इसका कोई उत्तर ही नही है। जबकि अद्वैतवेदान्ती इसके विपरीत ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। नागार्जुन एवं गौड़पादाचार्य के शून्य एवं ब्रह्म-सिद्धान्त मे यही सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर है। भेद में पाये जाने वाले अभेद के कारण ही अद्वैतवेदान्ती आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कह देते है। अद्वैतवेदान्ती और शून्यवादी बौद्धों के कई विचार परस्पर मिलते हैं। परन्तु पायी जाने वाली इस प्रकार की समानताओ मे भी पर्याप्त भेद एवं एक दूसरे के अन्तर की सीमा अमिट है। क्योंकि दोनो मतो के 'शून्य' और 'ब्रह्म' के स्वरूप में एक बिन्दु पर पहुँच कर बहुत बडा अन्तर आ गया है।

---

१ तत्रालोक, खं० १, पृ० ९५; त्र्याभाववादिनो माध्यमिकाः ज्ञातृज्ञेज्ञाभाववादिनो योगाचारः ॥ ज्ञात्रभाववादिनो वैभाषिका ॥

२ मा० वि० सू० टी० १-२; अभूतपरिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते। शून्यता विद्यते तु अत्र तस्यामपि स विद्यते ॥

3 मा० वि० सू० टी० १-२, अभूतमस्मिन् द्वयं परिकल्प्यतेऽनेन वेति अभूत-परिकल्प; × × × अनादि कालिका निर्वाण पर्यवसानाः संसारानुरूपाश्चित्त चैतसिका निर्विशेषेणाभूतपरिकल्पः × × × अभूतपरिकल्पो हि ग्राह्यग्राहकरहितः शून्य इति सर्वथा स्वभावतो नास्ति ॥

४ वही० अभूतपरिकल्पोऽस्ति × × × अभूतमस्मिन् द्वय परिकल्प्यतेऽनेन वेति ॥

५ शांकर अद्वैतवेदान्त का जगत-सिद्धान्त

अद्वैतवेदान्त का सृष्टि-सिद्धान्त—अद्वैतवेदान्त की विचारधारा के मूलस्रोत मुख्यत उपनिषदें हैं। डा० आर० के० मुकर्जी के मतानुसार ऋग्वेद के प्रतिपाद्य को दो मार्गों—ज्ञान का मार्ग और कर्मकाण्ड—मे विभक्त किया जाना चाहिए। उनके विचार मे कर्मकाण्ड का विस्तार ब्राह्मण साहित्य में यज्ञ सम्बन्धी विवेचन आदि के माध्यम से हुआ है और ज्ञानकाण्ड उपनिषदों का प्रधान विषय है।[१] परन्तु वहाँ जहाँ तक ब्रह्म, माया, जीव एवं जगत आदि की दार्शनिक स्तर पर चर्चा करने का सम्बन्ध है, उसे औपनिषदिक विचारधारा मानना ही ठीक होगा। उपनिषदो में मुख्य रूपेण परा-विद्या और अपराविद्या की चर्चा के द्वारा कर्मकाण्ड को मात्र स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण मार्ग ही बतलाया गया है।[२] भगवद्गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति, इन तीनो के समन्वय का सफल प्रयास है। अन्त मे आचार्य शंकर ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, गीता) की प्रामाणिकता के आधार पर स्वतन्त्र दर्शन के रूप मे अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की। इसलिए उन्हें अद्वैतवेदान्त का प्रथम आचार्य माना गया है। जीव और जगत के सन्दर्भ मे उन्होंने ब्रह्म को सत्यसत्ता और जगत को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास किया है। आचार्य गौडपाद ने लिखा है कि नामरूपात्मक जगत की सत्य सत्ता को स्वीकार नही किया जा सकता। उनके मत मे जगत केवल प्रतीत सत्ता है और प्रतीति का कारण जीव की अविद्या है। आचार्य शंकर ने भी इसी रूप में अद्वैतवेदान्त की स्थापना के प्रसग में गौड़पादाचार्य के मत का उल्लेख किया है।[3] शंकराचार्य को मुख्य रूप से

---

१ Hindu Civilization, P. I, p. 118,—Thus we find that in this age were enunciated the leading doctrine of Hinduism, those of transmigration, Karama, Maya and Mukti or final release by absorption in Brahman.

२ मुं० उप० १-१-२, ३, वही० ३-२-६,

३ गौड़पादकारिका, (गौ० पा० का०) ४।५८—धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते तेन तत्त्वतः। जन्म मायोपमं तेषां साच माया न विद्यते ॥ वही० १।१८—प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः ॥ तथा पंचदशी, २-४०—तदास्तिमित गम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥ वही० १-१५—चिदानन्दमय ब्रह्म प्रतिबिम्ब समन्वित ॥

बौद्धों के 'शून्य' के सिद्धान्त का खण्डन करना था । अत. उन्होंने योगाचार के क्षणिक विज्ञान और माध्यमिकों के शून्य-सिद्धान्त के विरोध में ही अपने मत का प्रतिपादन किया है ।

आचार्य शंकर पहले तो यह कहते है कि जगत की प्रतीति माया के कारण होती है, परन्तु आगे चलकर वे माया को मिथ्या या असत् भी मान लेते हैं । इस प्रकार से वे माया की केवल व्यावहारिक सत्ता ही मानते हैं और उसे अनिर्वचनीय कह कर ही चुप हो जाते हैं । उनके परवर्ती अद्वैतवेदान्तियों ने अपना मत तनिक अन्तर के साथ भी प्रस्तुत किया है । वे ब्रह्म को ईश्वर और जीव के रूप मे प्रतीति करवाने वाली शक्ति को 'प्रकृति' बतलाते है और उसके माया और अविद्या दो अलग-अलग रूप मान लेते है । माया और अविद्या से उनका आशय प्रकृति के शुद्ध एवं अशुद्ध रूपो से है ।[१] प्रकृति के माया और अविद्या नामक दो भेदों का उल्लेख भी उन्होने सम्भवत. ईश्वर एव जीव की स्वरूप-चर्चा के हेतु किया है । इस प्रकार उन्होने माया मे प्रतिबिम्बित ब्रह्म को ही 'ईश्वर', और अविद्या मे प्रतिबिम्बित ईश्वर को 'जीव' मान लिया है ।[२] बौद्धो के व्यक्तिचित्त-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए वेदान्तियो ने ब्रह्म की स्वतन्त्र इच्छा या लीला के द्वारा ईश्वर, जीव एव जगत का स्वरूप धारण करने के मत का प्रतिपादन भी किया है ।[३]

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अद्वैतवेदान्तियो के अनुसार ईश्वर, जीव और जगत के रूप मे ब्रह्म की ही प्रतीति होती है और केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और जगत मिथ्या है । ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप के साक्षात्कार के उपरान्त जीव को जगत के मिथ्यात्व का अनुभव होने लगता है । उस अवस्था मे वह आवागमन के बन्धन से पूर्णतया मुक्त हो जाता है । उस समय उसे सभी कुछ ब्रह्ममय अनुभव होने लगता है या वह स्वय ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ।[४] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धो के 'शून्य' एव अद्वैतवेदान्तियो के 'ब्रह्म' के स्वरूप मे किसी प्रकार का विशेष एव अधिक अन्तर नही है ।[५]

---

१ पचदशी, १-१६, सत्व शुद्धयवशुद्धिम्या मायाविद्ये च ते मते ॥

२ वही० १-१७, माया-बिम्बोवशीकृत्य ता स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः । अविद्यावशग-स्त्वन्य तद् वैचित्र्यादनेकधा ॥

३ गौ० पा० का० २-१३, विकरोऽप्यपरान् भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान । नियतांश्च बहिश्चित्ते एव कल्पयते प्रभु ॥ वही० १-१६, जीव कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान् । बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथा विद्यस्तथा स्मृतिः ॥

४ गौ० पा० का० २-१२, कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मदेव स्वमायया । स एव बुद्धयते भेदानिति वेदान्त निश्चय ॥ वही० १-१६, अनादिमाययासुप्तो यदा जीवः प्रबुद्धयते । अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैत बुद्धयते तदा ॥

५ प्र० त्री० वी० प० २२२, अन्तर्गतविश्ववीर्यसमुच्छलतात्मक-विसर्गविश्लेषानन्द-शक्त्यैकघनं ब्रह्म बृहद्व्यापकं बृहितच । न तु वेदान्त पाठकांगीकृत केवल शून्यवाद्यविदूर वर्ति ब्रह्म दर्शन इव ॥

६ शैव-शाक्त दर्शनों का जगत-सिद्धान्त

प्रत्यभिज्ञादर्शन का सृष्टि-सिद्धान्त—इस दर्शन के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि प्रकाश एवं विमर्श-सम्पन्न अगाध चैतन्यस्वरूप परमतत्त्व को नाम की सीमा में बाँध कर उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त नही हो सकती। 'विज्ञानभैरव' नामक रचना में भी इसी विचार का प्रतिपादन हुआ है।[1] उत्पलदेव तथा दूसरे आचार्यों का विश्वास है कि सारा ब्रह्माण्ड अनुत्तर अर्थात् परमतत्त्व मे समाया हुआ है। भाव यह है कि ब्रह्माण्ड का कोई भी रूप परमतत्त्व से रहित नही है। इसलिए अनुत्तर तत्त्व को किसी विशेष नाम विशेष और रूप आदि की सीमाओ मे बाँधा नहीं जा सकता। काश्मीर शैव 'अनुत्तर' को सर्वव्यापक प्रकाशसत्ता मानते हैं।'साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उसे अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान भी है। स्पंदकारिकार के मत मे सारा जगत अनुत्तर की शक्ति का साकार रूप है।[2] 'शिवदृष्टि' के अनुसार अनुत्तर स्वयं ही अपने शक्ति-स्वातन्त्र्य के कारण जगत का रूप धारण कर लेता है।[3] प्रकाश और विमर्श परमशिव का स्वरूप या स्वभाव है, जिसे इस दर्शन में शिव और शक्ति—दो भिन्न रूपो में वर्णित किया गया है। तदनुसार शक्ति अनुत्तर

---

[1] तंत्रालोक, २-२४ से २८, नैष शक्तिर्महादेवी न परत्राश्रितो यतः। न चैष शक्तिमान् देवो न च कस्याप्याश्रयो यतः॥ नैष ध्येयो ध्यातृभावान्न ध्याता-ध्येय विवर्जनात्॥ न पूज्यो पूजकाभावात् पूज्याभावान्न पूजकः॥ न च मन्त्रो न च मंत्र्योऽसौ न च मंत्रयिता प्रभुः। न दीक्षा न दीक्षको वापि न च दीक्षावान् महेश्वरः।:·········न सन्नचासत् सदसन्न तत्रोभयोज्झितम्। दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येदमनुत्तरम्॥ विज्ञान भैरव, १५, व्यपदेष्टुमशक्या सावकथ्यः परमार्थतः॥

[2] स्पं० का० २, यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्॥

[3] शिव दृष्टि, १-४४ से ४५, योगिनामिच्छया यद्वन्नानारूपोपपत्तिता। नचास्ति साधनं किंचिन्मृदादीच्छां विना प्रभोः॥ तथा भगवदिच्छैव तथात्वेन प्रजायते। दृश्यन्तोऽत्र तदिच्छातो भावाः कामादियोगतः॥

का सृष्टिरूप है और शिव उसका परमरूप । एक अनुत्तर का प्रकृति (Phenominal) रूप और दूसरा तात्त्विक रूप माना गया ।[१]

इस दर्शन में शाकर सिद्धान्त की भाँति जगत को मिथ्या, आभास या प्रतीति नही माना गया । शंकराचार्य का माया-सिद्धान्त एवं शैव दर्शन का शक्ति-सिद्धान्त भी एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न एवं स्वतन्त्र हैं । शैव दर्शन के अनुसार परमशिव का क्रियाशील पक्ष होने के कारण शक्ति असत् न होकर सृष्टि का रूप धारण करने वाली सत्यसत्ता है ।[२] इसलिए इसमें जगत अनुत्तर के स्पद का विलास माना गया है । उन्मीलन एवं निमीलन परमशिव के स्वभाव के निरन्तर गतिमान दो छोर हैं । वह कभी ब्रह्माण्ड रूप हो जाता है और कभी, सभी कुछ अपने भीतर समेट लेता है । शैव दर्शन में अनुत्तर की तीन अवस्थाएँ—शक्ति, माया और अविद्या—स्वीकार की गयी हैं । अनुत्तर दशा मे शिव स्पद नही हैं । उस समय वह परिपूर्ण सवित्सागर स्वरूप होता है । परमशिव का इच्छा के रूप मे तरगायित होना ही स्पंद है, जिसे उसकी स्वतन्त्र इच्छा की रूपायित अवस्था मान सकते हैं । अनुत्तर को सृष्टि की रचना के लिए अपने से भिन्न किसी तरह के उपादान कारण की आवश्यकता नहीं होती ।[३]

ऊपर हम अनुत्तर के जिस स्वरूप की चर्चा कर आये है, वह न तो बौद्धों के शून्य जैसा है एव न ही अद्वैतवेदान्तियो के ब्रह्म जैसा ही । उसे शैव आचार्यों ने शक्ति का पुज बतलाया है । विभिन्न शक्ति-रूपों द्वारा रूपायित होते रहना अनुत्तर का स्वभाव माना गया है ।[४] अनुत्तर की भाँति ही उसकी इच्छा (शक्ति) भी हर दृष्टि से सर्व-सामर्थ्य-सम्पन्न है । उसे भी सृष्टि की रचना करने के लिए किसी प्रकार के अतिरिक्त उपादान की आवश्यकता नही होती है ।[५] विद्या-दशा की अनुभूति शिव को द्वैत की स्थिति में ले आती है । इस प्रकार माया-दशा में पहुँच कर शिव ही जीव (पशु) रूप

---

१ पर० च०, ३,—इत्थ स्वय विद्धि न एक एव, शिव. स विश्वस्य पर:प्रकाश: ।। सं० मं०—शक्तिश्च शक्तिमाँश्चैव पदार्थद्वयमिष्यते । शक्त्योऽस्य जगत्कृत्स्न शक्तिमाँश्च महेश्वर: । बौ० पं० दं० २, स एव सर्वभावाना स्वभाव. परमेश्वर: । भाव-जातं हितस्यैव शक्तिरीश्वरतामयी ।।

२ प्रत्य० हृ० पृ० १८, विश्वोत्तीर्णं विश्वमयमिति त्रिकादि दर्शनविद: ।। विज्ञान भैरव, ३०, पृ० १२७, स्वतंत्रं परिपूर्णञ्च, शिवाख्यं शून्यधाम तत् । तत्त्वानि यत्र लीयन्ते यस्मात् समुदयन्ति च ।। तत्त्वेश्वरास्ततो जातास्तत्रैव निवसन्ति च । क्षीयन्ते किल तत्रैव शिवाख्ये शून्य धामनि ।। दर्शनान्तर दृष्टानि यानि शून्या-न्तरान्यपि । तेषामुत्पत्तिविलयौ शिव-शून्ये सदोदिते ।। न तदस्ति न यत्तत्र न तदस्ति न तत्र यत् । अन्तर्बहिरूरतया ततोऽन्यन्नोपपद्यते ।।

३ ई० प्रत्य० १-५-७, योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।।

४ शिवदृष्टि, १-१७, औन्मुख्यस्य च आभोग: स्थूला सेच्छा व्यवस्थिता ।।

५ वही० १-२, अनिरुद्धेच्छा प्रसर: प्रसरत् दृक् क्रिय. शिव: ।।

प्राप्त कर लेता है।[1] जीव के स्वरूप को प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन्द्रियों की आसक्तियों के कारण वह मोक्ष की प्राप्ति तक कर्म-जाल के चक्कर में फँसा रहता है।[2] अनुत्तर शक्ति-रूप धारण करने के बाद जड़ एवं चेतन सृष्टि के सूक्ष्म एवं स्थूल रूपों में अपने आपको अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार शिव की इच्छा अथवा उसका स्वद-स्वभाव ही ब्रह्माण्ड के निर्माण एवं विस्तार का मूलकारण है। यही उसकी शक्ति के स्वातन्त्र्य की लीला है।

नाथसम्प्रदाय-दर्शन के अनुसार सृष्टि की रचना—नाथ सम्प्रदाय की प्रधान कृति 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' मे यह कहा गया है कि स्वयं शिव ही 'आदिपिण्ड' या 'ब्रह्माण्डपुरुष' का रूप धारण करता है। वही अपने भीतर से शक्ति का विस्तार कर, जगत का अभिधान ग्रहण कर लेता है। इससे यह स्पष्ट है कि इस दर्शन मे ब्रह्माण्ड को केवल शिव का अभिव्यक्त (Manifested) रूप स्वीकार किया गया है। अभिव्यक्त होने से पहले ब्रह्माण्ड सूक्ष्म रूप में शिव के गर्भ में विद्यमान रहता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार शिव ही शक्ति के साथ सारे विश्व मे समायी हुई चेतनता है।[3]

नाथ सम्प्रदाय की उक्त प्रसिद्ध रचना 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के अनुसार सबसे पहले पाँच सूक्ष्म महाभूतो के रूप मे महापिण्ड साकार होता है। इसके बाद ही स्थूल ब्रह्माण्ड नाम और रूप मे आता है। भौतिक सृष्टि, शिव और शक्ति का स्थूल पिण्ड मानी गयी है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनो मे तनिक अन्तर के साथ भौतिक सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में इसी प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है। लोकायत या चार्वाक ही ऐसे विचारक है, जो जड-चेतन सृष्टि की प्रक्रिया (Process) को प्रकृति-विधान (Law of Nature) मानते हैं। उनका विश्वास है कि सृष्टि की रचना के लिए ईश्वर नामक किसी स्वतन्त्र सर्वशक्तिमान चेतनसत्ता की आवश्यकता नहीं है। वे चिदचित् सृष्टि के अतिरिक्त किसी स्वतन्त्र चेतन शक्ति के अस्तित्त्व को भी स्वीकार नही करते।

गोरखनाथ ने योग के क्षेत्र में कुण्डलिनी-साधना को अपनाया है। लेकिन दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने बहुत कुछ काश्मीर शैवदर्शन की विचारधारा को स्वीकार कर लिया है। सिद्धसिद्धान्त पद्धति पूर्णत. काश्मीर (प्रत्यभिज्ञा) दर्शन से प्रभावित है। शैव दर्शन

---

[1] प० सा० १६, माया-परिग्रह-वशात् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति। काल-कलानियति-वशाद् रागाविद्या-वशेन सम्बद्ध.॥ ई० प्र० वि० ३-१-९, मायापहृतैश्वर्य सर्वस्वः सन् पुनरपि प्रतिवितीर्ण तत्सर्वस्वराशिमध्यगतभागमात्र एवं भूतोऽयं मितः प्रमाता भाति॥

[2] ई० प्र० वि० ३-२-१०, तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसार कारणम्॥

[3] सि० सि० प० १-३१, आद्यान्महाकाशे, महाकाशान्महावायुः, महावायोर्महातेजो, महातेजसो महासलिलं, महासलिलान्महापृथ्वी॥

की भाँति ही इसमें भी पाँचों महाभूतों की उत्पत्ति शिव से मानी गयी है। वैसे इसे औपनिषदिक विचारधारा की स्वतन्त्र व्याख्या भी माना जा सकता है। गीता में भी महायोनि के रूप में इसी प्रकार की धारणा व्यक्त हुई है। लेकिन गोरखनाथ पर काश्मीर शैवदर्शन का ही सीधा प्रभाव है या इन दोनों ही विचारधाराओं का कोई एक ही मूलस्रोत है। प्रसिद्ध शैवाचार्य सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त की रचनाओं एवं सिद्धसिद्धान्तपद्धति के तुलनात्मक अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उपनिषदों मे भी ब्रह्म की तीन शक्तियो—ज्ञान, इच्छा और क्रिया—के उल्लेख मिलते है। इससे यह पता चलता है कि 'सारी सृष्टि में ब्रह्म के समाये रहने' वाले विचार को ही भारतीय दर्शनो मे भिन्न-भिन्न रीतियो से व्याख्यात किया गया है। सक्षेप मे नाथसम्प्रदाय के दर्शन मे ब्रह्माण्ड को शिव से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न कर शिव को ही ब्रह्माण्ड का रूप बतलाया गया है।[1]

---

[1] सि० सि० प० १-३७, स एवं शिवः ××× ॥

७ | अवतारवादी वैष्णव दर्शनों का जगत सिद्धान्त

● **विशिष्टाद्वैत की जगत सम्बन्धी मान्यता**

रामानुजाचार्य शाश्वत एवं आनन्दमय ब्रह्म को ही सर्वोपरि सत्य सत्ता मानते हैं, लेकिन उनका परमतत्त्व-सिद्धान्त शाकर अद्वैत से भिन्न प्रकार का है। उनके अनुसार यह जगत भ्रम मात्र नहीं है। वे एक प्रकार से ब्रह्म, और जीव के साथ-साथ भौतिक जगत को भी यथार्थ ही मानते है। उन्होने जीव की भाँति ब्रह्म को ही जगत की आत्मा स्वीकार किया है। चित् और अचित ब्रह्म से भिन्न तो है, लेकिन विशिष्टाद्वैत के अनुसार वे ब्रह्म से स्वतन्त्र नही है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ ही अपरिमित ब्रह्म (अद्वैत) का अपने भिन्न और परिमित (विशिष्ट) अंगो से एकाकार होना है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा और जगत की एकता मे भी भेद निहित है। शंकराचार्य का निर्गुण ब्रह्म इसी कारण विशिष्टाद्वैत मे सगुण हो गया है। रामानुजाचार्य ने जगत को मिथ्या मानने के स्थान पर यह स्वीकार किया है कि सर्वशक्तिमान ईश्वरनारायण अपने भीतर से ही जगत की रचना करता है।

रामानुज ने शाकर मायावाद का खण्डन करते हुए जगत को मिथ्या मानने से इन्कार किया है। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड ब्रह्म के प्रकाश से दीप्त है। स्वर्ण के आभूषणों मे मूल तत्त्व स्वर्ण की भाँति ब्रह्म ही जगत का आधार या मूल तत्त्व है। जगत के कण-कण मे उन्होने ब्रह्म के अस्तित्त्व या उसकी सत्ता को स्वीकार किया है। जगत की विविधरूपता उतनी ही सत्य मानी गयी है, जितना स्वयं ब्रह्म को। अन्तर केवल ससीमता एव असीमता, सर्वज्ञता एवं सीमित ज्ञान और सर्व शक्तिमता एवं सीमित शक्ति का माना गया है। रामानुज हर प्रकार के ज्ञान को वास्तविक ज्ञान के रूप मे स्वीकार कर लेते है। उन्होंने जगत की यथार्थता मे यह युक्ति दी है कि यथार्थ सत्ता ब्रह्म पर आधारित होने के कारण जगत भी यथार्थ है। युक्ति और तर्क का प्रयोग करते हुए भी उन्होने जगत की सत्यता सिद्ध की है। उनका इस सम्बन्ध मे यह तर्क है कि जो उपस्थित है, वह वास्तविक है। जगत दिखायी देता है, वह उपस्थित है—अतः वास्तविक है।[१] रामानुज ने तो विषय-वस्तु, चेतन-अचेतन के साथ-साथ उनके सम्बन्धों को भी स्थायी ही स्वीकार किया है। केवल सम्पूर्ण जगत को ब्रह्म द्वारा नियन्त्रित माना गया है। चेतन और अचेतन दोनों विशिष्टाद्वैत

---

[१] वेदान्तसूत्र १-१, श्री भाष्य (जार्ज थीबौट-अनुवाद),

के अनुसार परिवर्तनशील है, केवल परमसत्ता ही अपरिवर्तनशील है। तदनुसार ज्ञाता-ज्ञात एवं यथार्थ में अन्तर्विरोध नही है। चेतन (जीवात्मा) के सीमित होने के कारण उसे केवल यथार्थ का पूर्ण ज्ञान नही होता। जगत की सत्यता और भक्ति का आधार प्राप्त हो जाने के बाद इस विचार से समाज को पर्याप्त बल मिला है। राधाकृष्णन के शब्दो में : 'शकराचार्य का अद्वैत बौद्धिक प्रतिभा-रत्न होने पर भी पवित्र धार्मिक भावनाओ को उद्बुद्ध करने मे समर्थ नही'। रामानुज ने धार्मिक भावनाओ की आवश्यकता का तर्क-संगत विचार के व्याख्यान के साथ पूरा-पूरा तारतम्य बिठला दिया है।[1]

● **शुद्धाद्वैत की जगत सम्बन्धी मान्यता**

शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा भी शाकर मायावाद के खण्डन के लिए हुई है। इसके आदि आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत परब्रह्म की रचना है। इसलिए वह मिथ्या या प्रतीति सत्ता न होकर सत्य है। जगत की रचना करते समय परमसत्ता स्वय ही उपादान भी है और निमित्तकारण भी। वल्लभाचार्य ने स्पष्ट कहा है कि यदि जगत असत् या मिथ्या होता तो उसकी भावात्मक सत्ता भी नही होती।[2] जगत की रचना के सम्बन्ध मे उनका विचार है कि जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि से उत्पन्न होते है, उसी प्रकार जगत भी परब्रह्म के सदश से आविर्भूत होता है।[3] जगत का निमाण जिन तत्त्वो से होता है, वे भी भगवान से ही आविर्भूत माने गये है।[4] ब्रह्म सूत्रो के भाष्य (अणुभाष्य) मे व्यक्त आचार्य वल्लभ की मान्यताओ के अनुसार ब्रह्म, जगत का कारण है और जगत ब्रह्म का कार्य है। उन्होने भी ऊर्णनाभ का उदाहरण देकर ब्रह्म से जगत की रचना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि ऊर्णनाभ जिस तरह अपने भीतर से ही तन्तु को बाहर निकाल कर पुन. उसे अपनी इच्छा से भीतर समेट लेता है, इसी तरह ब्रह्म भी लीला या रमण करने की इच्छा करते ही अपने सदश को नामरूप प्रदान करता है और जब चाहता है, उसे पुन. अपने में समेट लेता है।

शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत उत्पन्न नही होता, बल्कि उसका आविर्भाव होता है। इसलिए यह न तो परिणाम है और न विकार ही। इसीलिए शुद्धाद्वैत को अविकृतपरिणामवाद भी कहा जाता है। आचार्य वल्लभ रामानुज की भाँति यह भी स्वीकार नही करते कि जीव और जगत की सत्ता ब्रह्म मे पहले से ही सजातीय अश के रूप मे बनी रहती है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत के जगत सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर आ गया है।

---

[1] हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी (विशिष्टाद्वैत प्रकरण),

[2] गीता, १२।१६, नासतो विद्यते भावो नाभावे विद्यते सत. ॥

[3] तत्त्व निर्णय २८, विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जड़ा अपि ॥

[4] तत्त्व दी० निर्णय, २७, तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांश चेतनाः ॥

शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत और संसार दोनों भिन्न हैं। जगत ब्रह्म की योगमाया की रचना है, लेकिन संसार अविद्यामाया के कारण जीव के अहन्ताभाव का कार्य है। जिस समय विद्यामाया की शरण ग्रहण कर जीव भगवान की भक्ति में लीन हो जाता है, उस समय उसका संसार समाप्त हो जाता है। ससार ब्रह्म के चिदंश का आविर्भाव नहीं है, इसीलिए जगत की भाँति उसका ब्रह्म मे तिरोभाव भी नहीं होता। यद्यपि विद्यामाया की भाँति अविद्यामाया भी ब्रह्म की योगमाया की ही शक्ति है लेकिन वह जीव को संसारी बनाती है।[1] शुद्धाद्वैतवादी अविद्या के निरसन के लिए भक्ति के साथ ही ज्ञान को भी आवश्यक मानते हैं। उनका मत है कि भक्ति और ज्ञान के द्वारा जीव अपने संसार का नाश कर सकता है। वल्लभाचार्य की जगत और ब्रह्म तथा जीव और संसार की द्वैत सम्बन्धी मान्यता मौलिक एवं मध्वाचार्य से भिन्न है। ये संसार को मिथ्या मानते हैं, इसीलिए ज्ञान के उपरान्त उसका परिहार भी स्वीकार कर लेते है। ब्रह्म और जगत के द्वैत को भी वे मानते हैं, लेकिन उसे मिथ्या नही स्वीकार करते। उनके अनुसार जगत ब्रह्म के सदंश का आविर्भाव है। इसीलिए उसका नाश न होकर तिरोभाव होता है। वे जीव की भाँति ही जगत का तिरोभाव (लय) भी ब्रह्म मे ही मानते हैं। जीव और जगत का ब्रह्म में पुनर्लय मानने के कारण इसे शुद्धाद्वैत का लय-सिद्धान्त भी माना जा सकता है। तदनुसार संसार अविद्या का परिणाम होने के कारण विनाशी है और जगत ब्रह्म का सदश होने के कारण उसी की भाँति अविनाशी। जिस समय जीव के भीतर के राग-द्वेष आदि दूर हो जाते हैं, उस समय ससार का अस्तित्व भी उसके लिए नही रहता।[2]

वल्लभाचार्य की जगत सम्बन्धी मान्यताओ का आधार यह है कि वे आत्मा के साथ ही पदार्थ को भी ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति स्वीकार करते है। उनका मत है कि चित् और आनन्द तत्त्व के साथ ही परमतत्त्व (ब्रह्म) मे सत् तत्त्व भी है और वही स्वयं अपरिवर्तित बना रह कर जीव और जगत के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। वल्लभाचार्य जगत और ससार को एक ही अवधारणा के समानार्थक शब्द स्वीकार नही करते। उन्होने ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में ही जगत की अवधारणा को स्वीकार किया है और अज्ञान के (जीव के) कारण जन्म और मृत्यु का प्रवाह ही उनके अनुसार ससार है। वे बार-बार इस तथ्य का उल्लेख करते हैं कि ससार का नाश होता है—जगत का नही। किसी जीव के लिए संसार की सत्ता उसी समय तक है, जब तक उसका अज्ञानान्धकार दूर नही हो जाता। ज्यों ही किसी जीव का अज्ञान मिट जाता है, उसके लिए संसार भी समाप्त हो जाता है।

---

१ तत्त्वदीपनिर्णय, ३१, विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते। ते जीवस्यैव नान्यस्य दु:खित्वं चाप्यनीशता॥

२ तत्त्वदीपनिर्णय, ३३, पंचपर्वात्वविद्येयं यं यद् बद्धो याति संसृतिम्। विद्या विद्यानाशेतु जीवन्मुक्तो भविष्यति॥

८

आदिग्रन्थ में स्वीकृत जगत का स्वरूप
जगत | संसार

● **सृष्टि से पूर्व की स्थिति**

सिक्ख मत के अनुसार गुरुनानक एवं परवर्ती सिक्ख गुरुओ मे कोई अन्तर नही है। तदनुसार सभी गुरु एक ही ज्योति (गुरुनानक) के भिन्न-भिन्न शरीर है। गुरुनानक की जन्मसाखियो से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि वे देश-देशान्तर मे घूम-घूम कर अपने धार्मिक एवं सामाजिक विश्वासों का प्रचार करते रहे हैं। भारत एव भारत से बाहर उनका दूसरे सम्प्रदाय वालों से परस्पर वार्तालाप होता रहा है। उनका अधिकाश साहित्य ऐसे अवसरों पर एव विस्मादावस्था की स्थिति मे व्यक्त एवं अनुभव-प्राप्त विचार है। मैकालिफ महोदय ने अपनी रचना 'सिक्ख रिलिजन' में काजी-मुल्ला, पण्डित और सिद्धों तथा योगियो आदि को सम्बोधित की गयी बानियों के सम्बन्ध मे किसी न किसी कथा-सन्दर्भ का उल्लेख किया है। गुरुनानक की उदासियो (यात्राओ) के बारे मे किसी को सन्देह नहीं है। अपने भक्त अनुयायी 'मरदाना' को साथ लेकर अपने धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रचार करने के लिए वे स्थान-स्थान पर घूमते रहे हैं। अत. इस सुधारक भक्त के नये विचारो को सुनने एवं उनसे विचार-विनिमय करने के हेतु भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के आचार्य एवं अनुयायी अवश्य उसके पास एकत्रित होते रहे होंगे।

गुरुनानक बाल्यकाल से ही अन्तर्मुखी वृत्ति वाले थे। परन्तु जनेऊ पहनाते समय एवं पहली बार मदरसे तथा पाठशाला जाकर मुल्लां, काजी और पाण्डे को दिए गए उनके उपदेशो को ध्यान मे रखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार की अधिकाश कथाएँ परवर्ती (अनुयाइयों द्वारा निर्मित) उद्भावनाएँ हो सकती है। महापुरुषो के जीवन मे अलौकिकता के समावेश की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। मध्यकालीन साहित्य मे धार्मिक विश्वासो के प्रचारार्थ विभिन्न प्रकार की कथाओं की परिकल्पना की जाती रही है। पुराणों मे इस शैली को विशेष रूप से अपनाया गया है। 'भक्तमाल' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तक हमें यह परम्परा उपलब्ध होती है। कबीरपंथियो ने भी कबीर की जीवन-घटनाओं के सम्बन्ध में

इसी प्रकार की बहुत सी कथाएँ गढ़ ली हैं। प्राय: सभी सन्तों और भक्तों के बारे में यही हुआ है। साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से मुक्त होकर तटस्थ भाव से देखें तो गुरुनानक की जन्म साखियों के कई प्रसंग हमें बाद के जोड़े हुए ही प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं ये प्रसंग ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत भी पड़ते हैं। फिर भी गुरुनानक के नाम से प्राप्त साहित्य में ही उनकी मान्यताओं एव विश्वासों का संधान पाया जा सकता है एवं परवर्ती गुरुओं ने भी उन्ही विचारों का पल्लवन किया है।

गुरुनानक ने सिद्धों, योगियो, काजी-मुल्लाओं, पंण्डितों, कर्मकाण्डी पुरोहितो और मन्दिरों के पुजारियों, से कही प्रश्नोत्तर के रूप में और कही उपदेश की शैली मे योगियों और सिद्धों की विशेष चर्चा की है। योगियों से उनका मुख्य तात्पर्य हठयोगियों से है एवं सिद्धो तथा अवधूतों के रूप मे उन्होने तान्त्रिको और शाक्तों को सम्बोधित किया है। आदिग्रन्थ मे बार-बार शाक्तों, तान्त्रिकों और योगियों को माया-लिप्त और विपथगामी बतलाया गया है। साथ ही उन्हे नाम-सिमरन, वाहगुरु के इच्छा-स्वातन्त्र्य तथा भक्ति के मार्ग का उपदेश दिया गया है। जगत की रचना के बारे मे उनके विचार सिध गोसट (सिद्धगोष्ठी) के प्रसग मे मिलते है। उनका मत है कि सृष्टि के आरम्भ के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। उनकी यह धारणा ऋग्वेद मे नासदीयसूक्त से पर्याप्त मेल खाती है। नासदीयसूक्त मे कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ की स्थिति या सृष्टि से पूर्व की अवस्था के बारे मे हिरण्यगर्भ ही जानता है। परन्तु इस प्रश्न को सूक्तकार ने इतना अनिर्वचनीय माना है कि अन्त में उसने यहाँ तक कह दिया है कि सम्भवत. हिरण्य-गर्भ भी न जानता हो। गुरुनानक वाहगुरु को जगत का कर्ता मानने के कारण ऐसा तो नही कहते, लेकिन इस प्रश्न की गहनता को कहीं-कही स्वीकार अवश्य कर लेते हैं।

सिद्धों ने गुरु नानक से यह प्रश्न किया है कि सृष्टि के आरम्भ के बारे मे उनका क्या मत है। इसका उत्तर वे बिना किसी खण्डन-मण्डन की पद्धति के अपनाए स्वतन्त्र चितक के रूप मे देते हैं। उनके अनुसार पुराण, कुरान, अन्य धर्म-ग्रन्थ एवं सिद्ध-योगी सृष्टि के आरम्भ के बारे मे जो कुछ भी कहते हैं वह ठीक नही है। उनके मत में यह प्रश्न अत्यन्त गूढ़ है और इस रहस्य को केवल वाहगुरु ही जानता है। 'कुरान मे इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है'—उनके इस कथन का आशय यही है कि वे कुरान में वर्णित सृष्टि-सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। 'खुदा द्वारा 'कुन' का उच्चारण करते ही सारे ब्रह्माण्ड का एक दम निर्माण हो जाना' कुरान की मान्यता है, जो गुरुनानक को ग्राह्य नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि पुराणो एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी इस प्रश्न का उत्तर देने के यत्न हुए तो हैं लेकिन उनसे भी इस प्रश्न का पूर्ण समाधान नहीं होता। आदिग्रन्थ में इस प्रश्न को स्वतन्त्र रूप में किसी भी गुरु ने चर्चा का विषय नहीं बनाया। जो कुछ गुरुनानक ने इसके बारे में कहा है, उसी को उन्होंने स्वीकार कर लिया है। सिक्ख मत में वाहगुरु से भिन्न किसी स्वतन्त्र एवं अनादि सत्ता का अस्तित्व न मानने के कारण सृष्टि से पूर्व की अवस्था

को अनिर्वचनीय बतलाया गया है। गुरुनानक का यदि सृष्टि की रचना से सम्बन्धित प्रश्नों के बारे में अपना कोई मत न होता तो वे दूसरों की मान्यताओं को अस्वीकार न करते।

जगत को वे उस रूप में अनादि नहीं मानते जैसा कि साख्य एवं दूसरे दर्शनों में स्वीकार किया गया है। जगत को अनादि तो निरीश्वर साख्य-विचारक भी मानते हैं परन्तु ईश्वर को जगत का रचयिता न मान कर वे पुरुष के सान्निध्य के कारण प्रकृति मे क्षोभ उत्पन्न होने के सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं। यह आरम्भ कब से हुआ, उसके पहले क्या स्थिति रही है, इन प्रश्नों का समुचित समाधान सांख्य विचारकों ने प्रस्तुत ही नही किया है। गुरुओं के अनुसार वाहगुरु निरंजन (मायातीत) चैतन्य है। आदिग्रन्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग भी मिलता है, लेकिन उसका वही अर्थ नही है जो सिद्धों ने स्वीकार किया है। उन्होने निरजन और 'खसम' के अर्थ ही बदल दिए हैं। कबीर के अनुसार निरंजन समूचे जगत-प्रपच का कारण है। 'खसम' का अर्थ सिद्धो एवं योगियो के मत मे स्वामी, पति एव मालिक नही है। आदिग्रन्थ मे बतलाया गया है कि 'आदि निरंजन' 'खसम' युगयुगान्तर तक शून्यावस्था (अन्धकार) मे समाधिस्थ रहता है। यह परम तत्त्व की वह अवस्था है, जिसमें वह अपनी ही महिमा में स्थित रहता है।[1] गुरुओ के जगत-विचार की यही कुंजी है, जिसे उन्होने विभिन्न रूपो मे प्रतिपादित किया है।

आदिग्रन्थ में एक दार्शनिक के रूप में नही, वरन् अनन्य भक्त के रूप मे ब्रह्म, माया और जीव के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत किये गये हैं। जगत सम्बन्धी विचार भी हमे प्रभु-स्तवन के रूप मे ही प्राप्त होते है। सृष्टि से पूर्व की स्थिति के सम्बन्ध मे उठाये गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए गुरुनानक ने कहा है कि सृष्टि से पहले जो कुछ भी था, वह नाम-रूप से पूर्णरूपेण भिन्न एवं बिल्कुल विलक्षण था।[2] उनके 'जो कुछ' का तात्पर्य निराकार वाहगुरु से ही है। अन्यत्र भी एक स्थान पर उन्होने लिखा है कि जिस समय नाम-रूप सृष्टि नही थी, उस समय सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था। उस समय पृथ्वी आदि पंच महाभूतों मे से किसी एक की भी दृश्य सत्ता नहीं थी। उस समय न दिन थे, न रातें, न चन्द्रमा और न ही सूर्य। सर्वत्र शून्य ही शून्य था, जिसकी सत्ता भी वाहगुरु के हुकम के कारण ही अस्तित्व मे थी :

---

[1] आ० ग्रं० १०९६, तुधु रूपु न रेखिआ जाति तू बरना बाहरा ॥ वही० ॥ ३०, नानक निहचलु साचा एको न ओहु मरै न जाइआ ॥ वही० पृ० ११४८, पुरख निरजन सिरजनहार......॥ वही० ११७७, जिउ पसारी सूरज किरणि जोति ॥ ....एको हरि रविआ स्रब थाई ॥ वही० १३१३, सब जोति तेरी जगजीवना ..॥ वही० १३८५-८७ सति-सति हरि सति जाणीऐ ॥

[2] आ० ग्र० पृ० २९१, जब अकारु इहु कछु न द्रिसटेता ॥ पाप पुन तब कह ते होता। जब धारी आपन सुन समाधि ॥ तब बैर विरोध किसु संगि कमाती ॥

केते जुग वरते गुबारै ॥ ताड़ी लाई अपर अपारै ॥ धुंधूंकारि निरालमु बैठा ना तदि धुंधु पसारा हे ॥ जुग छतीह तिनै वरताए ॥ जिउ तिसु भाणा तिवै चलाए ⋯⋯ जुगु जुगु एक एकी वरतै कोई बूझै गुरवीचारा हे ॥

(आ० ग्रं० पृ० १०२६-२७)

उपर्युक्त वर्णनों में 'शून्य' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है। इस 'शून्य' का स्वरूप शून्यवादी बौद्धों के शून्य जैसा नहीं है। आदिग्रन्थ के अनुसार शून्य (अनभिव्यक्त) परमसत्ता अभावात्मक न होकर भावात्मक सत्ता है। शून्य से गुरुनानक का आशय परमात्मा के उस स्वरूप से है, जिसमें सृष्टिरूप होने की सम्पूर्ण शक्तियाँ विद्यमान हैं। उन्होंने परमतत्त्व के जिस स्वरूप की ओर सकेत किया है, वह अनिर्वचनीय प्रकाश-विमर्श-सम्पन्न चैतन्य है। अनिर्वचनीय चैतन्य से उनका आशय उस सत्ता से है, जिसे वाहगुरु की पूर्ण अभेदावस्था कहा जा सकता है। इसके सम्बन्ध मे गुरुनानक ने अपनी बानियों में यह स्पष्ट कर दिया है कि वाहगुरु शून्य से ही जगत की रचना करता है। वह स्वयं पराद्वैत सत्ता है, जो सृष्टि के आरम्भ मे भी पूर्णाद्वैत की स्थिति मे रहती है और सृष्टि का रूप धारण कर लेने के उपरान्त भी जिसकी पूर्णाद्वैतता मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता। अनभिव्यक्तावस्था मे भी वाहगुरु को सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ सत्ता ही माना गया है। वाहगुरु निष्काम सत्ता है, अतः उसकी अपनी कोई कामना नही। अतः सृष्टि की रचना, स्थिति और संहार उसका स्वभाव है। कहीं-कहीं इस विचार का प्रतिपादन भी हुआ है कि वाहगुरु जीवो की अनुकम्पा के हेतु जगत की रचना करता है ताकि वे सत्कर्मों के बीज बोकर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके। आदिग्रन्थ की मान्यता के अनुसार वाहगुरु को अपने कर्तृत्व के लिए किसी अतिरिक्त उपादान कारण की कोई आवश्यकता नहीं है।

आदिग्रन्थ मे वाहगुरु के शून्य स्वरूप से ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति के भी उल्लेख हुए हैं। इस सम्बन्ध में गुरुनानक ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से लिखा है कि सूर्य, चन्द्र, आकाश और वायु आदि प्राकृतिक शक्तियो एव तत्त्वो का निर्माण 'शून्य' अर्थात् पराद्वैत वाहगुरु से ही हुआ है। यहाँ 'शून्य' वाहगुरु के उस स्वरूप का अभिधान है, जिसमें भेदाभेदावस्था की प्रतीति का भी पूर्णाभाव है। परन्तु उसका शक्तिपक्ष जब उसकी इच्छा से साकार रूप धारण करता है, तभी सृष्टि की लीला आरम्भ होती है। वाहगुरु अ-कल सत्ता है। अ-कल वाहगुरु अपनी इच्छा या स्पन्द स्वभाव के कारण स-कल रूप धारण करता है। जब उसकी निमीलन की इच्छा होती है, उसी क्षण सारी नाम-रूप सृष्टि पुनः उसी मूलाधार (शून्य) में समा जाती है :

हुकमे आइआ हुकमे समाइआ ॥ हुकमे दीसै जगतु उपाइआ ॥ हुकमे सुरगु मछु पइआला हुकमे कला रहाइदा ॥⋯⋯हुकमे सिव सकती घरि वासा।

(आ० ग्रं० पृ० १०३७)

अद्वैत विचारक होने के कारण सिक्ख गुरु सांख्य, न्याय, योग और वैशेषिक दर्शनों की भाँति जगत का न प्रकृति-परिणाम स्वीकार करते हैं और न ही पदार्थ को जगत का मूलकारण मानते हैं। उनके अनुसार परमात्मा केवल निमित्त कारण नहीं, जिसके लिए अतिरिक्त एवं अनादिकाल से विद्यमान उपादान सामग्री की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़े। उनकी दृष्टि में जगत सत्य है क्योंकि उसे वे सत्यस्वरूप वाहु-गुरु की रचना के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि जगत और संसार दोनों ही शब्दों का प्रयोग आदिग्रन्थ में जगत के लिए किया गया है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि इन दोनों के अन्तर्गत पडने वाली मान्यताएँ एक ही अवधारणा की सूचक हैं। आदिग्रन्थ मे इस मान्यता का बारम्बार प्रतिपादन हुआ है कि परमात्मा ने तीनों भुवनों को नाम और रूप देकर जगत की रचना की है।[1] इसके साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि संसार (जगत) की रचना वाहगुरु ने की है .

तुधु संसारु उपाइआ

(वही० पृ० ७२)

आदिग्रन्थ के अनुसार जगत का अर्थ चित् (जीव) एव अचित् (जड सृष्टि) है। परमात्मा ने ही (अपने आपको सर्वव्यापक रूप मे साकार होने के लिए) निर्गुण से सगुण रूप धारण किया है। परमात्मा का निर्गुण स्वरूप त्रिगुणातीत है और उसके द्वारा ब्रह्माण्ड का रूप धारण करना ही उसका सगुण होना है। इसी अर्थ मे जगत को वाहगुरु की रचना स्वीकार किया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में आदिग्रन्थ की निम्नलिखित मान्यता ध्यातव्य है—

सभ आपे तुधु उपाइकै आपे कारै लाई ॥
तूं आपे वेखि विगसदा आपणी वडिआई ॥
हरि, तुधहु बाहरि किछु नाही तूं सचा साई ॥
तूं आपे आपि वरतदा सभनी ही थाई ॥

(आ० ग्र० पृ० ८३)

एक अन्य प्रसग मे इसी विचार का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना भगवान (वाहगुरु) ने ही की है।[2] वही सृष्टि का कर्ता है और सभी प्राणियों का पालक-पोषक भी वही है।[3] परमात्मा को अद्वैत (एक) तरु मान कर जगत को इस तरु की शाखाएँ बतलाना भी गुरुओ के उपर्युक्त आशय को

---

[1] आ० ग्रं० पृ० २०, जिनि एहु जगतु उपाइआ त्रिभवणु करि आकारु…… ॥

[2] आ० ग्रं० पृ० ८३, तुधु आपे धरती साजीअै, चंदु सूरजु दुइ दीवे ॥ दस चारि हट तुधु साजिआ, वापारु करीवे ॥

[3] आ० ग्रं० पृ० ८५, सिसटि उपाई सभ तुधु आपे रिजकु संबाहिआ ॥ इकि वलु छलु करि कै खावदे, मुहहु कूड़ु कुसतु तिनि ढाहिआ ॥ तुधु आपे भावै सो करहि……॥

ही प्रकट करता है। यहीं पर वाहगुरु को अलख-निरंजन (मायातीत चैतन्य) बतला कर इस मान्यता का प्रतिपादन भी कर दिया गया है कि वह अपने मूल रूप में स्वयं अदृश्य सत्ता है परन्तु इसी अदृश्यरूप के द्वारा उसने दृश्य (नाम-रूप) जगत की रचना की है। विवर्तवाद की भाँति आदिग्रन्थ में इसी आशय को एक और ढंग से अभिव्यक्ति देते हुए कहा गया है कि वह (वाहगुरु) अद्वैत सागर है और जगत उसकी झाग तथा बुलबुले हैं। परन्तु साथ ही शंकर के मिथ्यावाद से भिन्न जगत को परमात्मा का रूप मान कर उसे सत्य स्वीकार किया गया है—

> **तूं पेडु साख तेरी फूली ॥ तूं सूखमु होआ असथूली ॥ तूं जलनिधि तूं फेनु बुदबुदा तुधु बिनु अवरु न भालीऐ जीउ ॥ तूं सूतु मणीए भी तूं है ॥ तूं गंठि मेरु सिरि तूं है ॥ आदि मधि अंतु प्रभु सोइ ॥ अवरु न कोइ दिखा लीऐजीउ ॥ तूं निरगुणु सरगुणु सुखदाता तूं निरबाणु रसिआ रंगि राता ॥ आपणे करतब आपे जाणहि आपे तुधु समलीऐ जीउ ॥ तूं ठाकुरु सेवकु फुनि आपे ॥ तूं गुपतु परगटु प्रभु आपे ॥**
>
> (आ० ग्र० पृ० १०२)

उक्त उद्धरण आदिग्रन्थ की जगत सम्बन्धी धारणाओ और मान्यताओं का विशद प्रतिपादन है। तदनुसार वाहगुरु को सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही बतलाया गया है। सिक्ख गुरुओ के द्वारा स्वीकृत सगुण-निर्गुण-सिद्धान्त की व्याख्या भी इसी कथन मे अन्तर्निहित है। यहाँ पर सूक्ष्म से उनका आशय वाहगुरु के उस रूप से है, जब तक वह ब्रह्माण्ड का रूप धारण नही करता। इसी तरह स्थूल से उसके ब्रह्माण्ड रूप होने की ओर संकेत किया गया है। जगत को फेन और बुदबुदा कहना उसे परमात्मा का सगुण रूप स्वीकार करना है। परन्तु, 'तुधु बिनु अवरु न भालीऐ' के द्वारा इस मत का प्रतिपादन भी हुआ है कि मात्र वाहगुरु की सत्ता ही अनादि और अनन्त है, जबकि नाम-रूप जगत उसकी तुलना मे आदि और सात-दोनों—है। जिस प्रकार माला के मनके धागे के कारण ही माला का अभिधान प्राप्त करते है, उसी तरह सारी सृष्टि का अस्तित्त्व वाहगुरु की सत्ता के ही कारण है। वाहगुरु को आदि, मध्य और अन्तिम सत्ता बतलाना उसके अद्वैत स्वरूप की ही स्वीकृति है। 'वह निर्गुण भी है और सगुण भी' इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि सिक्ख गुरु परमात्मा के अवतार को न मान कर उसके द्वारा जगत का रूप धारण करना ही उसका सगुण रूप स्वीकार करते है। प्रभु को स्वामी और सेवक—दोनों रूपो मे वर्णित कर इस मान्यता की ओर भी संकेत कर दिया गया है कि लीला-भाव से वही शिव और पशु (जीव) बनता है परन्तु एक बार जीवत्व में आ जाने के बाद वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। आदिग्रन्थ के अनुसार इसे 'भुला देना' मान सकते हैं, भूल जाना नहीं।

परमात्मा के गुणैश्वर्य का उल्लेख जिस प्रकार से सगुण भक्तो ने किया है, प्राय: उसी प्रकार निर्गुण सन्तों ने भी। आदिग्रन्थ मे वाहगुरु के गुणैश्वर्य का प्रति-

चावक करते हुए कहा गया है कि वन-प्रान्त, अर्थात् तीनों भुवनों को उसी ने हरा-भरा किया हुआ है। उसी ने समूचे ब्रह्माण्ड की रचना एक क्षण के भीतर कर दी है। यही उसका गुणैश्वर्य है।[१] परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता की चर्चा करते हुए उसके द्वारा जगत की रचना के उल्लेख भी हुए हैं। जगत को परमात्मा का खेल बतलाया गया है और इस खेल को अनेक रूप देने वाला वाहगुरु ही माना गया है।[२] परमात्मा की कर्तृत्व-शक्ति की चर्चा इस प्रकार से हुई है :

सभ किछु तेरा तूं करणै हारु ॥
अंतु नाही किछु पारावारु ॥

(वही० पृ० १७८)

गुरमत के अनुसार परमात्मा निर्गुण और सगुण तो है ही, लेकिन सारी सृष्टि को विविधरूपता प्रदान कर कोतवाल की भाँति उसके कण-कण का नियामक भी वही है। वह ऐसा कोतवाल है जो न बूढा होता है और न ही मरता है।[३] गुरुओ के के अनुसार जगत परमात्मा की क्रीड़ा भी है और उसकी क्रीडा-भूमि भी। परमात्मा की यह क्रीडा इतनी विचित्र है कि उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता।[४] जीवों के माया-मोह-लिप्त होने एव वाहगुरु को 'आदिपुरुष' और उसके द्वारा जगत की रचना करने के उल्लेख भी आदिग्रन्थ मे हुए है।

जगत की अवधारणा

जगत परमात्मा की रचना—द्वैतवादी दर्शन (आदर्शवादी) जगत एवं जीव के सम्बन्ध मे एक से अधिक अनादि सत्ताएँ स्वीकार करते है। उनके अनुसार ईश्वर जगत की रचना करता है, अतः रचना की सामग्री के लिए यह स्वीकार किया गया है कि वह भी अनादि है और उसका संयोजन ईश्वर इस नैपुण्य एवं चातुर्य के साथ करता है कि जिसके कारण ब्रह्माण्ड जैसी यह सुन्दर रचना साकार हो उठती है। लेकिन अद्वैत विचारकों की मान्यताएँ उक्त धारणा से बिल्कुल भिन्न हैं। उनका मत है कि परमात्मा स्वयं ही सृष्टि का रूप धारण करता है। जगत को परमात्मा की रचना मानने का उनका यही आशय है। जिस समय आदर्शवादी चिन्तको एवं भौतिकवादी विचारको का भेद स्पष्ट हुआ, उस समय जगत की रचना

---

१ आ० ग्रं० पृ० १०३, वणु त्रिणु त्रिभवणु कीतोनु हरिआ ॥ करणहारि खिन भीतरि करिआ''''''॥

२ आ० ग्रं० पृ० १०३, जीअ जंत सभि तुधु उपाए ॥ जितु जितु भाणा तितु तितु लाए ॥ वही० पृ० ३८, सभु आप उपाए आपे वेखै''''''॥

३ वही० पृ० ७४६, निरगुन हरीआ सरगुन धरीआ अनिक कोठरीआ ॥ भिन-भिन-भिन करीआ विचि मन कोटवरीआ ॥ निज मंदरि पिरीआ ॥ तहा आनद करीआ न मरीआ न जरीआ × × × ॥

४ वही० पृ० ४७६, रासि मंडलु कीनो आखारा ॥ सगलो साजि रखिओ पासारा ॥ × × × × कहनु न जाई खेलु तम हारा × × × ॥

के विषय में दो भिन्न एवं स्वतन्त्र अवधारणाएँ सामने आईं। आदर्शवादियों ने जगत की रचना अर्थात् कर्तव्य के लिए किसी चैतन्य सत्ता की धारणा से काम लिया, लेकिन भौतिकवादी विचारक यही स्वीकार करते रहे कि जगत की रचना के लिए किसी अतिरिक्त दैवीय शक्ति (ईश्वर आदि) की मान्यता की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने बार-बार यही माना है कि जगत का मूल कारण पदार्थ (प्रकृति) है और यदृच्छया या स्वभाववाद के अनुसार पदार्थ समवायित एवं विघटित होते रहते हैं। जिस समय पदार्थों का समवाय या संघात होता है, उस समय ब्रह्माण्ड रचना की स्थिति में आ जाता है और इस समवाय के विघटित होते ही पदार्थ बिखर कर अपनी मूलावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार की भौतिकवादी अवधारणाओं के आधार पर जगत की रचना स्वीकार करने वाले विचारक उपनिषत्काल मे ही वर्तमान थे, क्योंकि उपनिषदों में हमे जगत की रचना से सम्बन्धित भौतिकवादी दृष्टिकोण भी प्राप्त होते है। उपनिषदों मे यद्यपि प्राधान्य आदर्शवादी दृष्टिकोण का ही है तथापि खण्डन के हेतु जिन प्रतिपक्षी विचारों की चर्चा की गयी है, उससे स्पष्ट अनुमित होता है कि उस समय भौतिकवादी अवधारणाओं के अनुसार जगत की रचना के विषय मे विचारों का प्रचलन अवश्य था। वह परम्परा वही नहीं समाप्त हो जाती। हम देखते हैं कि सांख्य और वैशेषिक दर्शनों की जगत सम्बन्धी मान्यता किसी समय अवश्य भौतिकवादी ही रही है। कालान्तर में आदर्शवाद के अत्यधिक प्रभाव के कारण ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के जो समझौते हुए भी है, उनके कारण उक्त दर्शनों की मौलिक दृष्टि पूर्ण रूपेण समाप्त एवं खण्डित नही हो सकी हैं। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों के साक्ष्य तथा रामायण और महाभारत के कुछ एक प्रसंग यह प्रमाणित करते हैं कि इन रचनाओं मे व्यक्त विचारधारा के प्रचार-काल मे भी पदार्थ को मूलकारण मानकर जगत की रचना के सम्बन्ध में विचार करने वाले चिन्तक विद्यमान थे। साख्य और वैशेषिक दर्शन बाद में द्वैतवादी दर्शनो जैसे बन गये और उनको जगत की रचना के हेतु निमित्त कारण के रूप मे ईश्वर की सत्ता के अस्तित्त्व को स्वीकार कर लिया गया। बाद में शांकर अद्वैत वेदान्त के मायावाद एवं जगत को मिथ्या स्वीकार करने के विरोध में वैष्णव आचार्यों ने नये-नये वादों की स्थापना की और जीव और जगत के सम्बन्ध में कहीं पर परमसत्ता में ही चित् और अचित् की स्थिति स्वीकार की और कहीं पर जीव और जगत (जड़ तत्त्व) की भी अनादि सत्ता मान ली। इस प्रकार भारतीय चिन्तन परम्परा में भौतिकवादी अद्वैतवादी एवं द्वैतवादी दृष्टियों के माध्यम से जगत की रचना के सम्बन्ध में विचार किया जाता रहा है। आदिग्रन्थ की जगत सम्बन्धी मान्यताएँ इससे कुछ भिन्न हैं। उनके अनुसार न तो जगत को मिथ्या माना गया है और न ही जीव और जगत (जड़) की अनादि सत्ता ही स्वीकार की गयी है। सिक्ख गुरुओं की जगत सम्बन्धी अवधारणा बिल्कुल काश्मीर शैव दर्शन (प्रत्याभिज्ञादर्शन) की जगत सम्बन्धी अवधारणाओं जैसी तो नहीं है, लेकिन यह अवश्य

स्वीकार किया गया है कि जगत परमात्मा की रचना होते हुए भी उस प्रकार की रचना नहीं जिसके लिए परमात्मा से अतिरिक्त किसी अन्य अनादि तत्त्व या पदार्थ की स्थिति को स्वीकार किया जाए।

आदिग्रन्थ के अनुसार जगत परमात्मा की रचना है। गुरुओं ने जगत को सत्य स्वरूप परमतत्त्व का शरीर बतला कर उसे सत्य माना है—मिथ्या नहीं। अतः उनका जगत-सिद्धान्त, जगन्मिथ्या वाली मान्यता से पर्याप्त भिन्न है। जगत और संसार का प्रयोग आदिग्रन्थ में एक ही अर्थ मे नही हुआ है। जब कभी नाम-रूप की नश्वरता का उल्लेख करना अभीष्ट रहा है, गुरुओ ने जगत के स्थान पर संसार शब्द का ही प्रयोग किया है और जगत को सत्य बतलाने के प्रसंग में वे उसे वाहगुरु की रचना मानते है। गुरमत मे वाहगुरु को अलख एवं निरंजन बतलाया गया है। बार-बार अजन्मा और निराकार कहकर जगत के शरीर के रूप मे उसकी सत्ता स्वीकार की गयी है। तदनुसार वाहगुरु सर्वव्यापक चैतन्य है। कण-कण में व्याप्त होने के कारण वह अन्तर्यामी भी है। 'एकोह बहुस्याम्' के अनुसार जगत का रूप धारण करना वाहगुरु का खेल बतलाया गया है। आदिग्रन्थ के अनुसार एकत्व मे बहुत्व का यही आशय है। भारतीय दर्शन भी एकत्व मे बहुत्व को स्वीकार करते हैं, लेकिन उनमे इसकी व्याख्याएँ अलग-अलग ढग से की गयी है। इन भिन्न व्याख्याओं के कारण उनकी जगत सम्बन्धी मान्यताएँ भी भिन्न-भिन्न हो गयी है।

द्वैतवादी दर्शन एक से अधिक अनादि सत्ताओ को मानते है। तदनुसार ईश्वर जगत का कर्ता है, लेकिन अद्वैत विचारक स्वय परमात्मा द्वारा सृष्टि का रूप धारण करना स्वीकार करते है। इसलिए ये दोनो मान्यताएँ परस्पर भिन्न हैं। आदिग्रन्थ मे साख्य और योग दर्शनो की भाँति जगत को न तो प्रकृति का परिणमन माना गया है और न ही परमाणुओ का अनादि अस्तित्व स्वीकार कर, ईश्वर के द्वारा जगत के कर्तृत्व का प्रतिपादन हुआ है। गुरुओ ने बार-बार इस विश्वास को दुहराया है कि परमात्मा की रचना होने के कारण जगत भी उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार स्वयं परमात्मा। गुरमत के अनुसार जगत और ससार एक ही अवधारणा के दो भिन्न नाम नही है। जगत को परमात्मा का शरीर या उसके द्वारा व्यक्त उसी का अपना रूप माना गया है और ससार को नाम और रूप के अर्थ में स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि सिक्ख गुरु जगत को तो सत्य मानते हैं, लेकिन नामरूपात्मक संसार के सम्बन्ध मे उनका वही मत है जैसा कि शंकरया दूसरों का। आदिग्रन्थ में स्वीकृत अद्वैतवादी विचारधारा की यह मौलिकता है, जो उसे एक ओर अद्वैतवेदान्तियो से और दूसरी ओर अन्य निर्गुण सन्तों से विशिष्ट बनाती है।

आदिग्रन्थ में संसार की बात उसी समय चलाई गयी है, जब नाम और रूप की आसक्तियों मे भटक रहे जीव को उपदेश देना अभीष्ट होता है। तदनुसार मायिक पदार्थ एवं लौकिक सम्बन्ध ही संसार हैं। सिक्ख गुरु कोरे दार्शनिक न होकर भक्त हैं तथा उनकी भक्ति गलदश्रु भावुकता से परिपूर्ण, प्रेमरूपा या भावरूपा है।

भक्ति के विभिन्न प्रकारों एवं अंगों की चर्चा करते हुए उनका ध्येय जीव को उसकी बहिर्मुखता से हटा कर प्रभु की ओर उन्मुख करना रहा है। उनका यह विश्वास है कि जीव संसार रूपी पीहर में मोहासक्त होकर अपने प्रिय के वास्तविक घर की सुधी खो बैठा है। अतः उसे अपने प्रिय के वियोग की अनुभूति उसी समय हो सकती है, जब गुरु उसके हृदय में प्रेम की चिनगी फेंकता है। परन्तु गुरु के उपदेश का प्रभाव केवल उसी के हृदय पर पड़ता है, जिसका मन सासारिक आसक्तियों से विरक्त हो चुका है। संसार को, आदिग्रन्थ में, संसरणशील बतला कर जीव को उसके प्रति निरासक्त बने रहने का उपदेश, इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर दिया गया है। इस प्रकार गुरुओं की दृष्टि में जगत और संसार दोनो भिन्न है और समूचे आदिग्रन्थ में इनकी चर्चा स्वतन्त्र अवधारणाओं के रूप में ही की गयी है।

परमात्मा के कर्तृत्व के स्वातन्त्र्य, उसके सर्व व्यापकत्व तथा जगत की रचना एवं उसकी स्थिति तथा संहार (प्रलय) की चर्चा के प्रसंग में भी यही बतलाया गया है कि धरती और आकाश (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड) उसी के बनाये हुए है। यहाँ पर 'बनाये हुए' से गुरुओं का आशय उसके 'अपने ही व्यक्त रूप' से है क्योंकि आदिग्रन्थ में निमित्तोपादान कारण की चर्चा करते हुए वाहगुरु को ही जगत का निमित्त एवं उपादान कारण—दोनों ही—स्वीकार किया गया है। जैसे :

जिनि धर साजी गगनु अकासु ॥
जिनि सभ थापि, थापि उथापि ॥
सरब निरंतर आपे आपि ॥

(आ० ग्रं० पृ० ४१२)

गुरमत के अनुसार यह सारी सृष्टि उसी (वाहगुरु) की है और उसमें वही सर्वव्यापक बन कर समाया हुआ है। वही जगत का रचयिता है और उसी ने सभी जीवों को विभिन्न प्रकार के कार्य-कलापों में नियोजित कर रखा है। कहा गया है कि अद्वैत प्रभुरूपी सूत ही सारे ब्रह्माण्ड के भीतर व्याप्त है। अपनी सत्ता (सूत्र) को समेट कर वही स्वयं 'निरंकार' रूप से अवस्थित हो जाता है। गुरुओं की ये मान्यताएँ इस तथ्य की प्रमाण हैं कि जगत की रचना प्रकृति (सांख्यों की प्रधान) का स्वातन्त्र्य (जिसे सांख्य विचारक प्रकृति-स्वभाव स्वीकार करते हैं) न होकर प्रभु का कार्य है और उसके अपने ही सूक्ष्म रूप का स्थूल विस्तार है। यह वाहगुरु का स्वभाव या उसकी 'इच्छा' है कि कभी वह सृष्टि का रूप धारण करता है और कभी पुनः सारी सृष्टि को अपने भीतर समेट कर अनभिव्यक्तता (सूक्ष्मरूपता) की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उसी के अधीन स्वीकार किया गया है। गुरमत के अनुसार जो शक्ति अपने रूप का इच्छा-स्वातन्त्र्य के बल पर विस्तार कर सकती है, वह उसे अपने भीतर समेट सकने में भी पूर्ण समर्थ हो सकती है। गुरुओं की उपर्युक्त मान्यताओं के अनुसार ही जगत को वाहगुरु की रचना कहा है। वाहगुरु सत्य सत्ता है, अतः गुरमत की दृष्टि में उसके सूक्ष्म रूप का विस्तार (जगत) भी सत्य

है। उसे मिथ्या नहीं माना जा सकता। केवल नाम और रूप ही विनाशी हैं क्योंकि वे संसार की अवधारणा के अन्तर्गत आते हैं।

● जगत : वाहगुरु (परमात्मा) का शरीर

आदिग्रन्थ में जगत को वाहगुरु का शरीर स्वीकार करते हुए, उसे 'परमात्मा का खेत' कहा गया है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जगत मात्र प्रतीति या भ्रमसत्ता नहीं बल्कि सत्यस्वरूप वाहगुरु (प्रभु) की सच्ची रचना है। जिस समय वह इच्छा करता है, सृष्टि के रूप में अपने आप को व्यक्त कर लेता है :

आपुन खेतु आप ही कीनो। (आ० ग्र० पृ० २५३)
एवं—आपि सति कीआ सभु सति ॥ (वही०पृ० २५३)

उक्त आशय को एक और ढंग से व्यक्त करते हुए कहा गया है कि सम्पूर्ण जागतिक पदार्थ एवं प्राणी परमात्मा से भिन्न नहीं है क्योंकि वे उसी (वाहगुरु) के सूत में पिरोए हुए मनके है :

जा तिसु भावै ता स्रिसटि उपाए ॥
आपणै भाणै लए सभाए ॥
तुम ते भिंन न ही किछु होइ ॥
आपन सूति सभु जगतु परोई ॥

(वही० पृ० २९२)

इसी आशय को इस प्रकार भी व्यक्त किया गया है : 'तूं करता सचिआरु मैंडा सांई' तथा सारी कायनात (ब्रह्माण्ड) को वाहगुरु से उत्पन्न स्वीकार करते हुए कहा गया है कि :

आपे सति कीआ सभु सति ॥ तिसु प्रभ ते सगली उतपति ॥
तिसु भावै ता करे बिसथारु ॥ तिसु भावै ता एकंकारु ॥
अनिक कला लखी नह जाइ'' ''.....॥ (आ० ग्रं० पृ० २९४)

उक्त सन्दर्भों मे यह स्पष्ट है कि गुरमत के अनुसार नश्वरता नाम और रूप की है, जबकि उनका मूलाधार (परमात्मा) जो उन्हें नामरूपता देता है, मात्र नाम और रूप का ही त्याग करता है। लेकिन इस त्याग के उपरान्त उसका मूल अस्तित्व वैसे का वैसा ही बना रहता है। आदिग्रन्थ में इस धारणा के समर्थन मे कहा गया है कि :

आपे खाणी आपे बाणी आपे खण्ड वरभंड करे ॥
आपु समुंदु आपि है सागरु आपे ही विचि रतन धरे ॥

(आ० ग्रं० पृ० ५५१-५२)

एवं—सभु किछु तेरा तूं अंतरजामी।
तूं सभना का प्रभु सोई ॥

आदिग्रंथ के अनुसार वाहगुरु पुर-पुर (प्रत्येक प्राणी) एवं सम्पूर्ण ब्राण्डण में परिव्याप्त चेतन सत्ता है। गुरुओ के मत में परमसत्ता अजन्मा है—अरूप और स्वयम्भू है। वे अवतार के सिद्धान्त को मान्यता नही देते। यद्यपि उनके वाहगुरु का स्वरूप गीता के पुरुषोत्तम जैसा है, जिसे क्षर एवं अक्षर से अतीत एवं इन दोनों की सर्वोपरि शक्ति बतलाया गया है, तथापि गीता में जिस प्रकार पुरुषोत्तम द्वारा अवतार धारण करना स्वीकार किया गया है, इस प्रकार से गुरुओं की दृष्टि मे वाहगुरु माता-पिता से जन्म धारण नही करता। जगत को वे सत्य मानते हैं—मिथ्या नही। उनके अनुसार वाहगुरु अवतार की तुलना में अदृश्य एवं अशरीरी सत्ता होते हुए भी सगुण है। वाहगुरु को सगुण एव निर्गुण—दोनो मानकर सिक्ख गुरु अन्य निर्गुण सन्तों की भाँति जगत के रूप मे वाहगुरु की स्वाभिव्यक्ति (Manifestation) को ही उसका सगुण होना स्वीकार करते है। अतः उनकी दृष्टि मे वाहगुरु द्वारा ब्रह्माण्ड का रूप धारण करना ही उसे सगुण स्वीकार करना है। उसे निर्गुण केवल इसी अर्थ में स्वीकार किया गया है, क्योकि वह प्रकृति के धर्मों (रज, सत्य तथा तम) वाला न होकर त्रिगुणातीत सत्ता है। पुरुष (जीव) और प्रकृति उसी के धारण किये हुए रूप है। उनकी स्वतन्त्र एव अनादि सत्ता नही है। उक्त मान्यताओ के आधार पर कहा जा सकता है कि जगत वाहगुरु का शरीर है और वही कण-कण मे परिव्याप्त एकमात्र चैतन्य सत्ता है।

आदिग्रथ के अनुसार जगत को वाहगुरु का रूप एव उसका शरीर मानने का प्रधान आधार यह है कि सभी गुरु वाहगुरु को ही ब्रह्माण्ड का मूलाधार स्वीकार करते है। तदनुसार सृष्टि परम सत्ता का प्रसाद है, जिसमे वह निवास कर रहा है। चारो दिशाएँ उस महल की चार दीवारे है। आकाश उसका छत और धरती उसका फर्श है। ब्रह्माण्ड भर का नाम-रूप वाहगुरु की टकसाल मे ढाल कर बनाया गया है। जिधर देखे उधर वाहगुरु का ही रूप दिखाई देता है लेकिन उसे किसी निश्चित आकार के रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता। अण्डज, सेतज, जेरज एव उद्भिज—सभी प्राणी उसी के बनाये हुए है। जैसे :

> **पुड़ धरती पुड़ पाणी आसणु चारि कुंट चउबारा ॥ सगल भवण की मूरति एका, मुखि तेरै टकसाला ॥ मेरे साहिबा तेरे चोज विडाणा ॥ जलि थलि महीअलि भरपूरि लीणा आपे सरब समाणा ॥ जह जह देखा तह जोति तुमारी तेरा रूपु किनेहा ॥ इकतु रूपि फिरहि परछंना कोइ न किस ही जेहा ॥ अंडज जेरज उतभुज सेतज तेरे कीते जंता ॥ एकु पुरबु मैं तेरा देखिआ तू सभना माहि रवंता ॥**
>
> (आ० ग्र० ४—५००)

जगत के नाम और रूप को वाहगुरु का शरीर बतला कर इस मान्यता की ही ओर संकेत किया गया है कि वह जगत का आधार है और जगत को शरीर का

रूप देकर वह स्वयं ही उसके प्रत्येक कण में समाया हुआ है।[1] जगत के रूप में अपने आपको प्रकाशित करने एवं असंख्य जीवों को विभिन्नरूपता प्रदान करने के कारण गुरुनानक ने वाहगुरु के गुणो से चकित होकर कहा है कि अग्नि, धरती, पवन और पानी सभी उसी की शक्ति का गुण-गान कर रहे हैं। धर्मराज उसके द्वार पर उसका बिरद गाता रहता है। चित्रगुप्त सदा उसी के गुणों का लेखा लिखा करता है :

गावनि तुधनो पवणु पाणी बैसंतरु गावै तुधनो धरमु दुआरे ॥ गावनि
तुधनो चितु गुपतु लिखि जाणनि लिखि लिखि धरमु बीचारे ॥

(आ० ग्रं० पृ० ८)

आदिग्रंथ के अनुसार सृष्टि का रूप धारण करना परम तत्त्व की अपार महिमा है। गुरुनानक वाहगुरु के इस महान कार्य का स्तवन करते हुए लिखते हैं कि वाहगुरु ने ही सारी सृष्टि रची है, और वही इसका संहार करता है। वही सबके हृदयों एवं ब्रह्माण्ड के रहस्य को जानता है।[2] इस प्रकार के उदाहरणो से यही सिद्ध होता है कि जगत परमसत्ता द्वारा धारण किया हुआ उसका शरीर है। 'केते तेरे रूप रग केते जाति अजाति' (पृ० १८) द्वारा भी इसी आशय का प्रतिपादन किया गया है। वाहगुरु द्वारा जगत का रूप धारण करने अथवा जगत को उसका शरीर कहने का प्रधान कारण यही है कि वे केवल उसी (वाहगुरु) को परमसत्ता मानते हैं। वही अनादि एव अनन्त है; उसे छोडकर अन्य सभी जन्म लेते है और उनका विनाश भी होता है। मछली पकडने वाला एव मछली, पानी, जाल तथा उस जाल के मणके एवं मास का टुकडा आदि सभी कुछ वही है। स्वय वही रस-परिपूर्ण पदार्थ भी है उसका रस भी। वही स्त्री है, सेज भी वही है और रमण करने वाला भर्ता भी वही है।[3] गुरमत अनुसार परमात्मा को निमित्तोपादान कारण मानने का अर्थ यही हो सकता है कि जगत परमात्मा का शरीर है अन्यथा ब्रह्माण्ड के आधार के सिद्धान्त की सार्थकता ही कोई नही रहती। इस सम्बन्ध में गुरु नानक लिखते हैं कि :

करण कारण एक ओही जिनि कीआ आकारु ॥
तिसहि धिआवहु मन मेरे, सरब को आधारु ॥

(आ० ग्रं० पृ० ५०)

इसी आशय को प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हुए वे पुन. कहते है :

---

1. आ० ग्रं० पृ० ८३४,—इहु जगु वरनु रूपु सभु तेरा जितु लावहि से करम कमाईआ ॥ नानक जंत वजाए वाजहि भावै तितु रहि चलईआ ॥
2. आ० ग्रं० पृ० १०-११, तुधु आपे सिसटि सभ उपाई जी, तुधु आपे सिरजि सभ गाई ॥ जनु नानक गुण गावै करते के जी, जो सभसै का जाणोई ॥
3. आ० ग्रं० पृ० २३, आपे रसिआ आपे रसु आपे रावणहारु ॥ आपे होवै चोलड़ा आपे सेज भतारु ॥ आपे माछी मछुली आपे पाणी जालु ॥ आपे जाल मणकड़ा आपे अंदरि लालु ॥

जो दीसै सो सगल तूं है पसरिआ पासारु ॥
कहु नानक गुरि भरमु काटिआ सगल ब्रहम बीचारु ॥

(ग्रं० पृ० ५१)

वाहगुरु को सागर और 'बोहिथ', सागर के दोनों किनारे तथा दोनों किनारों का मध्यवर्ती अन्तराल बतलाकर भी उपर्युक्त दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन हुआ है।[1] वाहगुरु के सम्बन्ध में जो यह कथन है कि 'असथिरु करता देखीअै होर केती आवै जाई' से भी यही प्रमाणित होता है कि आदिग्रंथ के अनुसार नाम और रूप ही परिवर्तनशील एव विनाशी हैं जबकि जगत का मूलाधार वाहगुरु शाश्वत सत्य सत्ता है। मूल सामग्री होने के कारण जगत को उसका शरीर मानना ही गुरुओं की जगत सम्बन्धी मूल धारणा है। यही उनका अभीष्ट मत है।

वाहगुरु ने स्वयं अपने आपको जगत के आकार में प्रकट किया है। दिखाई देने वाला द्वैत तो उसका खेल है। भीतर एवं बाहर उसी के 'ओंकार स्वरूप' का प्रसार है। शब्द-ब्रह्म भी उसी का धारण किया हुआ रूप है। अत. जगत की विभिन्नताएँ उसकी लीला है, अन्यथा आदि, मध्य एवं अन्त में केवल उसी की सत्ता है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी स्वतन्त्र अनादि तत्त्व नही है।[2] आदिग्रंथ मे परमात्मा को गीता के अश्वत्थ वृक्ष की भाँति विश्व-तरु बतला कर नाना-विध सृष्टि को उसकी फूली हुई शाखाएँ कहा गया है। इस प्रकार जगत को उस सूक्ष्म का ही स्थूल रूप स्वीकार किया गया है। वाहगुरु को जलनिधि और ब्रह्माण्ड की अनेकता को उस जलनिधि का बुद-बुद कहना भी इसी तथ्य की ओर संकेत है कि जगत उसका शरीर है :

तूं पेडु साख तेरी फूली ॥ तूं सूखमु होआ असथूली ॥
तूं जलनिधि तूं फेनु बुदबुदा तुधु बिनु अवरु न भालीअै जीउ ॥

(आ० ग्र० पृ० १०२)

वाहगुरु को निराकार के साथ ही साकार मान कर गुरुओं ने जगत को उसका शरीर सिद्ध किया है। वे अवतार का खण्डन करते हैं—मात्र इसी कारण वे और सगुणोपासकों से भिन्न हैं। आदिग्रन्थ के अनुसार परम सत्ता का कोई अन्त नही। वह निरजन है और ब्रह्माण्ड के रूप मे वही सर्वत्र व्याप्त है। वह स्वयं ही साकार भी है और निराकार भी :

जा का अंतु न जाणै कोइ ॥ आपि आपे निरंजन सोइ ॥
आपि अकारु आपि निरंकारु ॥ घट-घट-घट सभ घट आधारु ॥

(आ० ग्रं० पृ० ८६३)

---

[1] आ० ग्र० पृ० ५४, आपे सागरु बोहिथा आपे पारु अपारु ॥ वही० पृ० ५४, आपे हीरा निरमला आपे रंग मजीठ ॥ आपे मोती ऊजलो आपे भगत बसीठु ॥

[2] आ० ग्र० पृ० ७२, तुधु आपो आपु उपाइआ ॥ दूजा खेलु करि दिखलाइआ ॥ वही० पृ० २।५३, एकसु ते सभि रूप हरि रंगा ॥

एक स्थान पर तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि जगत परमात्मा का शरीर है :

हरि का सभु सरीरु है हरि रवि रहिआ सभु आपै ॥

(ग्रं० पृ ६५३)

गुरुओं ने जगत को वाहगुरु का शरीर सिद्ध करने के लिए विभिन्न प्रतीकों, उदाहरणों, तर्कों आदि का सहारा लेकर अपनी मान्यता को ग्राह्य बनाने का भरसक यत्न किया है। उनके अनुसार धरती और आकाश का रूप स्वय वाहगुरु ने ही धारण किया हुआ है। सत्यस्वरूप परमात्मा ने जगत के रूप मे अपनी शक्तियों का प्रकाश किया हुआ है। वह स्वय ही जती, सती, सन्तोषी आदि सब कुछ है।[1]

संसार की अवधारणा

● संसार : जीव का मायका

ससार गुरुओ की दृष्टि मे जीव का मायका है। जीव-नारी मायके (ससार) मे ही अपने आपको पति-परमेश्वर को प्राप्त कर सकने के योग्य बनाती है। यदि वह अपने भीतर उन गुणो को सचित नही कर लेती, जिन्हे उसका पति पसद करता है, तो वह यथार्थ मे सौभाग्यवती नही कहला सकती। ससार का नाम-रूप विनाशी है, परन्तु जीव की यही कर्म-भूमि भी है। ससरणशीलता ससार का स्वभाव है। उसमे कुछ भी स्थिर नही है। अत जो जीव सासारिक पदार्थों मे आसक्त रहते हैं, उन्हे अन्त मे पछताना पड़ता है। जिसे वे सर्वाधिक प्रिय मानकर तदर्थ सभी प्रकार के उचित एव अनुचित उपायो का सहारा लेते है, वह भी अन्त समय उसका साथ छोड देता है। धन-दौलत, पुत्र-कलत्र आदि कोई भी उसका साथ नही देता। इस प्रकार पति-परमेश्वर को अच्छे लगने वाले गुणो को धारण किये बिना जो जीव-नारी उस लोक से जाती है, उसे वह स्वीकार नही करता और उसे पुन भव के बन्धन मे भटकना पडता है। ऐसी ही जीव-नारी को सावधान करते हुए कहा गया है कि जो जीव-स्त्री ससार रूपी मायके मे ही पति-परमेश्वर के प्रणय-सूत्र मे अपने को नही बाँध लेती, वह उससे किसी प्रकार का मानसिक सम्बन्ध स्थापित नही कर पाती। वह मिथ्या मोह के कारण प्रभु-चरणो से परित्यक्ता ही रह जाती है। अन्त मे उसे फूट-फूट कर रोना पडता है। पाप उसके जीवन को लूट लेते है और वह पति-परमेश्वर के महल मे प्रवेश प्राप्त नही कर पाती।

पेईअड़ै पिर जातो नाही ॥ झूठि विछुंनी रोवै धाही ॥
अवगणि मुठी महलु न पाए अवगण गुणि बखसावणिआ ॥

(आ० ग्रं० पृ० १०९)

---

[1] आ० ग्रं० १०२१ आपे धरती धउल अकास ॥ आपे साचे गुण परगास जती ॥ सती संतोखी आपे, आपे कार कमाई हे ॥ जिसु करणा सो करि-करि वेखै ॥ कोई न मेटै साचे लेखै ॥ आपे करे कराए आपे-आपे दे वडिआई हे ॥

वही जीव-नारी अनन्त गुणों के स्वामी पति-परमेश्वर से परिचय प्राप्त कर सकती है, जिसने गुरु की शरण में उसकी भक्ति की है। ऐसी जीव-नारी सत्य स्वरूप वाहगुरु का स्मरण करती रहती है। वह प्रभु के गुणैश्वर्य पर मोहित होकर, उसी के आगे अपने हृदय के कपाट खोलती एवं उससे अनुनय-विनय करती है। यही अपने प्रिय से उसके द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना है। गुरु की शरण मे रहकर वह मूल सत्ता (पति-परमेश्वर) के गुणो को पहचानती एवं उसका चिन्तन करती है। इसके फलस्वरूप उसका आवागमन मिट जाता है :

पेईअड़ै जिनि जाता पिआरा ॥ गुरमुखि बूझै ततु बीचारा ॥
आवणु जाणा ठाकि रहाए सचै नामि समावणिआ ॥
(आ०ग्रं० पृ० १०६)

संसार को जीव-नारी का मायका बतला कर उसके द्वारा पति-परमेश्वर से प्रेम का नाता जोडने एवं सासारिक विषयो मे लीन रहने के अच्छे एव बुरे परिणामों की चर्चा करते हुए अन्यत्र भी इसी भाव एवं विचार का प्रतिपादन किया गया है। तदनुसार ससार-मायके मे ही पति-परमेश्वर को याद न करने वाली जीव-नारी को अकुलीना एव कुरूपा बतलाया गया है। परन्तु जो ससार मे ही पति-परमेश्वर को अपने मन में बसा लेती है और अपने हृदय मे उसी को रमता हुआ अनुभव करती है, उसे वाहगुरु अपने गले से लगा लेता है। केवल वही प्रिय के मिलन के सुख का अनुभव करती है .

पेईअड़ै पिरु चेतै नाही ॥ दूजै मुठि रोवै धाही ॥
खरी कुआलिओ कुरूपि कुलखणी सुपनै पिरु नही पावणिआ ॥
पेईअड़ै पिरु मंनि वसाइआ ॥ पूरै गुरि हदूरि दिखाइआ ॥
कामणि पिरु राखिआ कंठि लाइ, सबदे पिरु रावै सेज सुहावणिआ ॥
(आ० ग्रं० पृ० १२६)

जीव-नारी ससार रूपी मायके मे मात्र अतिथि है क्योकि अन्त मे उसे यहाँ से विदा होना है। इसलिए उसके यौवन की सार्थकता इसी मे है कि उसका परिणय हो। उसका परिणय तभी हो सकता है जब उसका मायके मे ही पति-परमेश्वर से लगाव हो जाय। क्योकि परमेश्वर उसी जीव-नारी को अपनी सगिनी बनाता है जो पहले से ही उसके प्रेम मे लीन रही है। अत. ससार रूपी मायके मे अपने यौवन मे मस्त रहकर उसे वाहगुरु को भुला नही देना चाहिए। इसके लिए उसे गुरु की शरण मे अर्पित होना पडता है और तभी उसमे वे गुण आते है, जिन्हे वाहगुरु पसंद करता है। जो प्रभु के गुणों की महिमा से अनभिज्ञ है और दूसरे 'भरमों' मे भटकती रहती है, वह व्यर्थ मे ही अपने यौवन को गँवा बैठती है। उसे प्रिय का दर्शन प्राप्त नही होता और न उसका घर ही। वह जीवन की रात सोते-सोते बिता देती है। इस तरह उसे बाल विधवा बनना पड़ता है और बिना प्रिय के सग को प्राप्त किये वह कुम्हला जाती है। यही कारण है कि समझदार जीव-नारी पिता (गुरु) से विनय

करती है कि वह उसे हरि-वर से मिला दे। इसी तरह वह सौभाग्यवती बन सकती है। अवगुणकारि जीव-नारी से प्रभु सदा दूर रहता है, लेकिन जो अनन्यासक्ति वाली है, उसी की सेज पर वह सोता है। सत्यस्वरूप वाहगुरु भक्त जीव-नारीको ही अच्छा लगता है। उसकी सुरति सदा अपने प्रिय से लगी रहती है। वह मायके में अधिक देर रहना पसंद नही करती। इसलिए वह अपने बाबा (गुरु) से विनय कर कहती है कि वह उसे ससुराल में भेज दे।[1]

● **संसार : 'सुपना'**

आदिग्रन्थ के अनुसार संसार की सत्ता स्वप्न जैसी है। जिस प्रकार 'सुपना' यथार्थ नहीं होता, उसी तरह संसार का अस्तित्व भी यथार्थ नही। जगत को केवल इसी अर्थ में सत्य बतलाया गया है कि वह वाहगुरु का धारण किया हुआ रूप है। परन्तु वाहगुरु की सत्ता की धरती पर जिस नाम-रूप का तरु अपनी शाखाओ एवं फूल-पत्तो का विस्तार किये हुए है, वह परिणामी है, और अन्ततः नाशवान भी। आदिग्रन्थ मे जब 'जगन्मिथ्या' वाली धारणा का खण्डन करना अभीष्ट रहा है, उस समय जगत को सत्यस्वरूप वाहगुरु की सच्ची रचना माना गया है, परन्तु जिस समय नाम-रूप की आसक्तियो में लीन जीव को सम्बोधित किया गया है, तब संसार के रूप में जगत को विनाशी बतलाया गया है। विनाशी, सराय, 'सुपना' आदि का गुरमत अनुसार यही अर्थ है कि जीव जिन सम्बन्धो के लिए पाप-कर्म करता है, वे अन्त मे नष्ट हो जाने वाले हैं। वह जिस धन-दौलत के पीछे भटक रहा है, वह अन्त समय यहीं रह जाती है—उसका साथ नही देती। इसलिए इस सुपने को यथार्थ मानने की उसकी आसक्ति भ्रम है; और ये भ्रम ही उसे आवागमन मे भटकाने के कारण है **'रे नर, इह साची जीअ धारि॥ सगल जगतु है जैसे सुपना बिनसत लगत न बार॥'**

आदिग्रन्थ के अनुसार जो योगी, मुल्ला, पण्डित, सुर, सिद्ध, गंधर्व, मुनिजन, सेख और पीर अपने-अपने लक्ष्यों से गिर गये है, वे इस भ्रम मे भटके हुए हैं कि सभी कुछ स्थिर है और वे स्वयं स्थिर ही बने रह कर इसका मन चाहा भोग कर सकेंगे। वे दूसरों को इस संसार रूपी सराय से कूच करते हुए देखते भी हैं, परन्तु मोहासक्तियों मे डूबे हुए होने के कारण सावधान नहीं हो पाते। इस प्रकार के पथ-भ्रष्ट लोगों को सम्बोधित करते हुए यह कहा गया है कि संसार के सभी जीवों में

---

[1] आ० ग्र० पृ० १२६ (मं०) भरी जोबनि मै मत पेईअड़ै पाहुणी बलि राम जीउ॥ मैली अवगणि चिति बिनु गुरु गुण न समावणी॥ × × × सतिगुर पूछि न मारगि चाली सूती रैणि विहाणी॥ नानक बाल तणि राडेपा बिनु पिर धन कुमलानी॥ बाबा मै वरु देहि मै हरि वरु भावै × × × हरि की नारि सु सरब सोहागणि अवगणवंती झूरे × × × बाबा लगनु गणाइ हंभी वंभा साहुरै × × ×॥

से कुछ तो विदा हो रहे हैं और कुछ की जल्दी ही बारी आने वाली है। यह मान्यता संसार को अयथार्थ, स्वप्न एवं सराय सिद्ध करती है।[1]

जीव को संसार की नश्वरता एवं उसे सराय तथा स्वप्न जैसा बतला कर समझाया गया है कि वह यात्री की भाँति इस संसार रूपी सराय में कुछ देर ठहरने के लिए आया हुआ है लेकिन आश्चर्य यह है कि वह इस अल्पकालिक 'गुजरान' को इस तरह समझ रहा है कि वह कई युगों तक यहीं बना रहेगा। वह यह नहीं जानता कि उसका घर-महल एवं धन-पदार्थ तरु की छाया से अधिक स्थिर नहीं हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह 'मैं' और 'मेरी' की ममता में भटक जाता है। वह यह मान बैठता है कि शरीर उसका है, धन एवं पदार्थ सभी कुछ उसका अपना है। उद्यान, शस्यश्यामल खेत सभी सदा के लिए उसी के हैं। उसे इन पदार्थों और सम्बन्धों को देने वाला वाहगुरु भूल जाता है :

इक रैन के पाहुन तुम आए बहु जुग आस बधाए ॥
गिह मंदर संपै जो दीसै जिउ तरवर की छाए ॥
तनु मेरा संपै सभ मेरी बाग मिलख सभ जाए ॥
देवनहारा बिसरिओ ठाकुर, खिन महि होत पराए ॥
पहिरै बागा करि इसनाना, चोआ चन्दन लाए ॥
निरभउ निरंकार नही चीनिआ जिउ हसती नवाए ॥
(आ० ग्रं० पृ० २१२-१३)

जीव यह भूल जाता है कि वह इस ससार में उसी प्रकार है जिस प्रकार किसी तरु की डाली पर रैन-बसेरा करने वाला पंछी। वह 'भरमों' के जुए मे, अपना सभी कुछ हार जाता है; और हारे हुए जुआरी की भाँति हाथ मलता हुआ, संसार के स्वप्न की अयथार्थता पर पछताता है। उसे सम्बोन्धित कर आदिग्रन्थ मे कहा गया है कि :

टटै टंचु (टंटा) करहु किआ प्राणी घड़ि की मुहति कि उठि चलणा ॥
जूऐ जनम न हारहु अपणा भाजि पड़हु तुम हरि सरणा ॥
(आ० ग्रं० पृ० ४३३)

जीव यह देखता है कि साधक और सिद्ध, गृहस्थ और योगी सभी अपना-अपना घर-स्थान छोड़ कर चले जाते हैं। अत. उसे यह पता लग जाना चाहिए कि वाहगुरु ने इस संसार को बालू के भवन के समान बनाया है। इसे नष्ट होते देर नहीं लगती। यह तो उस कागद के समान है जो कुछ एक बूँदों से ही भीग कर नष्ट हो जाता है। अतः संसार की स्वप्नमयता एवं नश्वरता को देखकर उसे चेत जाना चाहिए :

---

[1] आ० ग्रं० पृ० ६४, जोगी त आसणु करि बहै, मुलां बहै मुकामि ॥ पंडित वखाणहि पोथीआ सिध बहहि देव सथानि ॥ सुर सिध गण गंधरब मुनिजन सेख पीर सलार ॥ दरि कूचा-कूचा करि गए, अवरे भि चलणहार ॥

मित्र मंडल जगु साजिआ, जिउ बालु घर-बार ॥
बिनसत बार न लागई जिउ कागद बूंदार ॥
सुनि मेरी मनसा मनै माहि, मति देखु बीचारि ॥
सिध साधिक गिरही जोगी तजि गए घर बार ॥
(आ० ग्रं० पृ० ८०८)·

ससार तो रात का 'सुपना' है और नाम रूपात्मक दृश्य जगत को नष्ट होते हुए क्षण भर की देर भी नही लगती। कुछ इस सुपने से दूर चले जा रहे हैं और जो बाकी बचे हैं[1] उन्हे भी इसको छोड कर जाते हुए देर नहीं लगेगी।

जीव की बद्धता यही है कि वह ससार रूपी सराय को अपना शाश्वत मुकाम (स्थिर महल) समझ बैठता हैं। वह माया का उकसाया हुआ है और मस्त बन कर आचरण करता है।[2] सभी यह जानते है कि संसार कभी खण्ड प्रलय के और कभी महाप्रलय के रूप मे नष्ट होता एव पुन. बनता-बिगडता रहता है। लेकिन उसकी आँखो पर माया की पट्टी बँधी रहती है और वह इस संसार की अस्थिरता की पहचान मे वचित रहता है। इसीलिए उसे सम्बोन्धित कर आदिग्रन्थ में कहा गया है :

भनि भनि घड़ीअै घड़ि घड़ि भजै ॥ ढाहि उसारै उसरे ढाहै ॥
(आ० ग्र० पृ० ६१८२१)

अनावृष्टि के समय ग्वाले जिस तरह अपनी गउएँ लेकर नदियो-दरियाओ के किनारे वाली भूमि मे चले जाते है। वे स्थान उनके एव उनके पशुओ के लिए बिल्कुल अस्थायी होता है। इसी तरह जीव एव उनकी धन-सम्पत्ति इस ससार के 'गोइल' अर्थात् नदियो के किनारे वाली चरागाह जैसी है, जिसे छोड़ कर अन्त मे उसे जाना ही पडता है। अत ससार प्रभु द्वारा रची हुई जीव की क्रीड़ा-भूमि है। उसे कुछ देर तक ही वहाँ खेलने का हुकम है। जीव की यह अज्ञानता है कि वह ससार की वास्तविक स्थिति से अवगत नही हो पाता। वह बाजीगर की भाँति माया मे खेलता हुआ किसी भी समय यहाँ से प्रयाण कर सकता है। यहाँ से जीव के हाथ कुछ नही आता और वह उसी प्रकार वचित रह जाता है, जैसे रात को सुपने मे धन की गठरी पाने वाला आँख खुलने पर खाली हाथ ही रहता है। इस तरह के उपदेशो द्वारा जीव को समझाते हुए गुरुओ ने प्रकारान्तर से संसार को नश्वर, सराय एव सुपना ही बतलाया है।[3] जैसे :

---

१ आ० ग्र० पृ० ८०८, जैसा सुपना रैनि का तैसा संसार ॥ द्रिसटिमान सभु बिनसीअै किआ लागहि बार ॥ × × × × इक चाले इकि चालसहि सभि अपनी वार ॥

२ आ० ग्र० पृ० ८८६-६०, छाडि विडाणी ताति मूड़े ॥ ईहा बसना राति मूड़े ॥ माइआ के माते तै उठि चलना ॥ राचि रहिओ तू संगि सुपना ॥

३ आ० ग्र० पृ० ७१५३५, अैथै गइलडा दिन चारे ॥ खेलु तमासा धुधुकारे बाजी खेलि गए बाजीगर जीउ निसि सुपनै भखलाई हे ॥

इहु संसारु सगल है सुपनो देखि कहा लोभावै ॥
जो उपजै सो सगल बिनासै रहनु न कोऊ पावै ॥

(आ० ग्रं० पृ० १२३१)

संसार की स्वप्नमयता एक और ढग से भी प्रतिपादित की गयी है। गुरुओं के अनुसार, गुरु से हीन अथवा विमुख जीव, जिस की 'लिव' सत्य स्वरूप परमात्मा के नाम मे नही, वह बिल्कुल कच्चा (अधूरा) है। ऐसे जीव के लिए जगत सुपना है क्योकि आत्म साक्षात्कार के अभाव मे उसे सभी कुछ छोड कर चला जाना पडता है और उसे आवागमन से मुक्ति नही मिलती।[1] संसार को कागज का किला भी बतलाया गया है, जो परमात्मा की निर्माण-कला का चमत्कार है। रूप और नाम सभी कुछ वाहगुरु का ही दिया हुआ है, परन्तु यह नाम और रूप का दुर्ग उसी प्रकार ढह जाता है, जिस तरह कागज का किला पानी की छोटी-छोटी बूंदो से ही नष्ट हो जाता। ससार जन्म और मरण के रूप मे नाशवान एव सुपना है—वह स्थिर सत्ता नही। उसकी स्थिरता उतनी ही अल्पकालिक है जितनी नदी के किनारे वाले घर अथवा वृक्ष की। ससार का कब नाश हो जाये, इसका कुछ पता नही। वह उस घर के समान है, जिसमे सर्प का निवास हो और उसे मे अध्युषित व्यक्ति को किसी भी समय वह डस कर उसका अन्त कर दे। इस प्रकार के अन्य उदाहरणो द्वारा भी गुरुओ ने संसार की नश्वरता की व्याख्या की है—उसे सराय और स्वप्न बतलाया है :

कागद कोटु इहु जगु है, बपुरो रंगनि चिहन चतुराई ॥
नान्ही सी बूंद पवनु पति खोवै जनमु मरै खिनु तांइ ॥
नदी उपकंठि जैसे घरु तरवरु सरपनी घरु घर माही ॥
उलटि नदी कहाँ घरु तरवरु सरपनी डसै दूजा मन मांही ॥

(आ० ग्र० पृ० १२७४)

प्रपच कभी स्थिर नही होता। ससार भी प्रपंच है, अत. अस्थिर है। इसे कुसुम की सुगन्धि एव कच्चे परन्तु घने-गहरे रग से उपमित किया गया है। गुरमत अनुसार वह मिथ्या है, क्योकि उसका नाम-रूप नाशवान है। आदिग्रन्थ मे इसी आशय का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यह संसार मात्र प्रपंच और ठगी है। इसकी कोई भी वस्तु स्थिर एवं शाश्वत नही है।[2]

---

[1] आ० ग्रं० पृ० १२७३-७४, निरगुण देह साच बिनु काची मै पूछउ गुरु अपना ॥ नानक सो प्रभु प्रभू दिखावै बिनु साचे जगु सुपना ॥

[2] आ० ग्रं० पृ० २९७, पचमी पंच प्रधान ते जिहि जानिओ परपंचु ॥ कुसम बास बहु रंग घणो सम मिथिआ बलबंचु बलबंचु ॥ वही० पृ० ४१६, इहु सभु किछु आवणु जाणु है जेता है आकारु ॥

६ आदिग्रन्थ में वर्णित जगत-सिद्धान्त का वैशिष्ट्य

प्रस्तुत अध्ययन मे 'उपनिषत्पूर्व जगत-रचना सम्बन्धी विचार' के प्रसंग में जगत सम्बन्धी आरम्भिक धारणाओ की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया है कि जगत के बारे मे परवर्ती चिन्तन-पद्धतियो की विचारधारा का निर्माण कोई आकस्मिक घटना नही है। विभिन्न प्रसंगो मे हम इस धारणा को कई बार दुहरा चुके है कि जीवन और जगत के प्रति मानव का दृष्टिकोण आरोपित या बना-बनाया नहीं होता। जैसे-जैसे उसके ज्ञान का क्षितिज विस्तृत होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी चिन्तन-दिशा मे भी परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रक्रिया सक्रिय रहती है। जिस समय वह पारिवारिक जीवन का निर्माण कर पुन: सामाजिक बनता है, उस समय उसकी जीवन-यापन की विधि मे भी अन्तर आ जाता है। जीवन-यापन के तौर-तरीको के बदल जाने के कारण उसके धार्मिक विश्वासो मे भी परिवर्तन होता है। आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन के कारण धार्मिक चिन्तन की दिशा में भी निरन्तर परि-वर्तन होता रहता है।

मानव के धार्मिक विश्वास आरम्भ मे बहुधा 'गणचिह्न' के रूप मे बने एवं मानव की चेतना के द्वारा दूसरे शरीर में प्रवेश करने की धारणा ने जन्म लिया। कालान्तर मे प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की परिकल्पना की गयी जो धीरे-धीरे देवतावाद से अग्रसर होती हुई देवाधिदेव की अवधारणा तक पहुँची। लेकिन मानव की चिन्तन-जिज्ञासा तब भी शान्त न हुई। उसने देवताओं के भी देवता (देवाधिदेव) की अवधारणा के बाद निराकार परमचैतन्य की अवधारणा की। इसके साथ ही उसने यह विश्वास बनाया कि यही सर्वोपरि चैतन्य सत्ता अपने शक्ति-ऐश्वर्य के बल पर ब्रह्माण्ड (जो उसी की रचना है) को सुचारु रूप से चलाने के लिए समय-समय पर अवतार धारण करती है। इसके उपरान्त मानव-जीवन, उसके कर्म एवं कर्म-फल के हेतु जीव (मानव-चेतना) एवं जड़ जगत (प्रकृति) के सम्बन्ध में भी विभिन्न दृष्टियों से सोचा गया। इस प्रकार की समूची चिन्तन-परम्परा आदर्शवादी चिन्तन-प्रणाली के अन्तर्गत आती है।

जगत के सम्बन्ध में आदर्शवादी दृष्टिकोण के समानान्तर निरन्तर गतिशील एक और चिन्तन-धारा रही है, जिसे भौतिकवादी कहा जाता है। भौतिकवादी चिन्तन-पद्धति के प्रारम्भ के सम्बन्ध में विद्वान यद्यपि एक मत नहीं; फिर भी यह सभी मानते हैं कि पदार्थ को जगत का मूल कारण मानने वाले, जैन-बौद्ध एवं रामायण-महाभारत काल से काफी पहले से विद्यमान थे। अतः यह परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी आदर्शवादी। भारतीय चिन्तन-परम्परा में न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग अपने मूल रूप में भौतिकवादी दृष्टि प्रधान ही रहे हैं। भौतिकवादी दर्शन के अनुसार जगत का मूलकारण पदार्थ (प्रकृति) है। पदार्थ-समवाय से जगत का निर्माण स्वभावत. या यदृच्छया (स्वयमेव) होता है उसका निर्माण ईश्वर आदि किसी अलौकिक शक्ति के द्वारा सम्पन्न नहीं होता। कालान्तर में ईश्वरवादी प्रभाव के कारण उक्त भौतिकवादी दर्शन भी आदर्शवादी रगत मे रंग गये। भौतिकवादी चिन्तन-परम्परा के इसी पराभव-काल के अन्त में आदिग्रन्थ की रचना हुई। फलस्वरूप यह भी आदर्शवादी चिन्तन-परम्परा को ही आगे बढाता है।

आदिग्रन्थ की रचना उस समय हुई जिस समय भौतिकवादी विचारकों को अनीश्वरवादी एव ऐहिक सुखो में लिप्त बतला कर उपेक्षित कर दिया गया था। साधना-पद्धतियो में योग एव 'मैं ब्रह्म हूँ' की धारणा बलवती हो गयी थी। अवतारवादी वैष्णव दर्शनों के अन्तर्गत अवतारवाद एवं मूर्ति-पूजा का विशेष प्रचलन था। भगवान राम और कृष्ण के अवतारी रूप की भक्ति का प्रचार अपने पूरे जोर पर था। बहुदेववाद ने धार्मिक क्षेत्र को चारो ओर से आक्रान्त कर रखा था। जगत की रचना के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की अवधारणाएँ बन चुकी थी एव इस्लामी एकेश्वरवादी समाज के धार्मिक विश्वास नवागत प्रभावशाली विश्वासों के रूप में क्रियाशील थे। इस वातावरण मे आदर्शवादी चिन्तन-पद्धति के सहारे कबीरदास ने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया, जिसे आदर्शवादी चिन्तन-धारा का एक नया मोड़ कहा जा सकता है। इस धारा को अत्यन्त सुव्यवस्थित रूप से आगे बढाने में गुरुनानक एव अन्य सभी सिक्ख गुरुओ ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

आदिग्रन्थ के रचना-काल तक भारतीय चिन्तन-धारा दर्शन के क्षेत्र मे विभिन्न रूपों में विभक्त हो चुकी थी। इसके द्वारा जन-जीवन को एकता के सूत्र में पिरोया तो अवश्य गया, लेकिन साथ ही विभिन्न प्रकार के मत-सम्प्रदायो का इतना अधिक एवं पेचीदा जाल बिछ गया, जिसके कारण चिन्तन का स्वच्छन्द प्रवाह अवरुद्ध सा हो गया। फलस्वरूप धार्मिक जीवन मे चारों ओर अराजकता व्याप्त हो गयी। निर्गुण सन्तो (विशेष कर सन्त कबीर) के समय यह स्थिति और अधिक गम्भीर हो गयी थी। सच्चे धर्म की मूल भावना का लोप होने लगा था। इस्लामी एकेश्वरवाद के अन्तर्गत भी अनेक विकार प्रवेश पा चुके थे। कबीर ने क्रान्तिकारी दृष्टि से समूची समस्या को देखा एवं परम तत्त्व के निराकार स्वरूप की महत्ता पर बल दिया। गुरु नानक इसी परम्परा के दूसरे सशक्त व्यक्तित्त्व हैं, जिन्होंने इस युग के

धर्म-मतों के नेताओं एवं धार्मिक समाज को दर्शन और साधना का नया संदेश दिया। इसी प्रसंग में उन्होंने जगत-रचना के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। ये विचार मुख्यतः सिधगोसट (सिद्ध गोष्ठी) के अन्तर्गत आते है एवं वाहगुरु द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना के सन्दर्भ में भी इनका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। वस्तुतः उनके परवर्ती सिक्ख गुरुओ ने उन्ही के विचारो को समय-समय पर व्याख्यात किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में परम्परा का पूर्ण त्याग तो नही किया, लेकिन अपनी मूल मान्यताओं के सन्दर्भ में परम्परा के दाय से जो ग्राह्य हो सकता था, उसे ही स्वीकार किया।

जगत की रचना के सम्बन्ध मे गुरुओ का दृष्टिकोण दोनो—जगत को मिथ्या मानने वाले अद्वैतवेदान्तियो एव पदार्थ को जगत का मूल कारण स्वीकार करने वाले भौतिकवादी विचारको-मे भिन्न रहा है। वे प्रकृति के द्वारा जगत की रचना को स्पष्ट रूप से तो स्वीकार नही करते, लेकिन जगत की अवधारणा के सन्दर्भ मे प्रकृति के विकास (उत्तरोत्तर परिणमन) से जगत की उत्पत्ति स्वीकार करते दिखायी देते हैं, जैसा कि प्राय. सभी अद्वैत विचारको ने माना है यद्यपि एतत्सम्बन्धी उनकी मान्यताएँ विभिन्न धारणाओं पर आधारित है। आदिग्रन्थ के अनुसार प्रकृति उस रूप में 'परमात्म निर्भर' एव उस (वाहगुरु) की इच्छा के अधीन नहीं है, जिस प्रकार निम्बार्क, वल्लभाचार्य एवं रामानुज ने स्वीकार किया है। सिक्ख गुरुओं की जगत सम्बन्धी प्रधान मान्यताएँ परमाणुवादियों एव पदार्थवादियो की सृष्टि-रचना के मूल कारण से बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। जगत की रचना के प्रसंग मे आदिग्रन्थ में प्रयुक्त 'वाहगुरु की कुदरत' एव 'उसकी इच्छा' या 'हुकम' का ही प्रधान उल्लेख हुआ है। वाहगुरु के 'हुकम' या इच्छा-सिद्धान्त की व्याख्या परिणमन की अवधारणा के आधार पर की जा सकती है, लेकिन यह परिणाम (जगत) साख्यो की 'प्रकृति' का 'परिणमन' न होकर परमात्मा द्वारा स्वय ही जगत का रूप धारण करना है। इस प्रकार आदिग्रन्थ के अनुसार जगत मिथ्या न होकर सत्यस्वरूप परमात्मा का शरीर है, अत वह भी सत्य ही है। आदिग्रन्थ मे बारम्बार इस तथ्य पर बल दिया गया है कि जगत का आधार भी वही (वाहगुरु) है। ऐसे एक प्रसग मे हम पीछे बतला आये है कि जगत-निर्माण सम्बन्धी आदिग्रन्थ की उक्त मान्यता काश्मीर शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञावाद) की जगत-निर्माण सम्बन्धी मान्यता के अधिक निकट है। अत. आदिग्रन्थ की जगत-निर्माण या जगत की रचना से सम्बन्धित मान्यताओ की पूरी जानकारी के लिए भारतीय चिन्तन-परम्परा में स्वीकृत जगत-सिद्धान्त पर संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए।

'नासदीय सूक्त' के अनुसार जगत परमसत्ता की अभिव्यक्ति है। तदनुसार आरम्भ में परमसत्ता निराकार रूप में व्याप्त थी और जगत उसी में बीजरूप में स्थित था। नासदीय सूक्त की यह धारणा आदर्शवादी जगत-रचना सम्बन्धी अव-धारणा का मूलाधार है। परन्तु जगत की रचना के प्रश्न का यही समाधान

नहीं हुआ। भौतिकवादियों ने भी नासदीयसूक्त में प्रयुक्त 'सत्' और 'असत्' शब्दों की व्याख्याएँ अपने मत के अनुसार की हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी जिस रीति से जगत की रचना के उल्लेख हुए हैं, उनके आधार पर मूल पदार्थ से जगत की रचना के संकेत प्राप्त होते हैं। भारतीय चिन्तन की जगत सम्बन्धी परम्परा के अध्ययन से पता चलता है कि जगत की रचना के बारे में 'प्रकृति-सिद्धान्त' कालान्तर में जोर पकड़ने लगा था और आदर्शवादी चिन्तन के लिए पुन. अन्तर्विरोध उठ खड़ा हुआ था। तब तक वैदिक देवता (जो प्राकृतिक शक्तियों के रूप मे कल्पित हुए थे) स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व धारण करने लग गये थे और उनके द्वारा जगत की रचना का विश्वास बल पकडने लगा था। गीताकार ने अन्यान्य क्षेत्रों मे समन्वय के साथ ही जगत की रचना के सम्बन्ध में सांख्यों के 'प्रकृति-सिद्धान्त' में भी समन्वय लाने की चेष्टा की। तदनुसार प्रकृति जगत की रचना मे न स्वतन्त्र है और न ही उसे अनादि (स्वतन्त्र) सत्ता ही स्वीकार किया गया है। वासुदेव कृष्ण को परब्रह्म मानकर उसके अवतारी शरीर को भी उतना ही सत्य स्वीकार किया गया, जितना उसके निष्कल, निर्विशेष एवं निर्गुण रूप को। इस दृष्टि से जगत की रचना करने वाली महद्योनि (प्रकृति) उसकी इच्छा के अधीन स्वीकार कर ली गई। गीता का जगत-सिद्धान्त भौतिकवादी एव आदर्शवादी दृष्टिकोणो का समन्वय होने के बावजूद भी आदर्श-वादी दृष्टिकोण का ही प्रवक्ता है। जगत-रचना सम्बन्धी धारणाओ के निर्माण के उपरान्त पुराणों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। पुराण उस समय रचे जाने आरम्भ हुए, जिस समय आर्य एवं आर्येतर जातियाँ अन्तर्भुक्ति की प्रक्रिया के फलस्वरूप परस्पर बहुत कुछ घुल-मिल चुकी थी। अवतारवाद की धारणा पुष्ट हो चुकी थी एवं भारतीय धर्म-मतों का पर्याप्त प्रसार-प्रचार हो गया था। पुराणों में विभिन्न देवी-देवताओं को उपास्य परमसत्ता स्वीकार कर उनकी शक्तियों के द्वारा जगत की रचना के उल्लेख हुए हैं। प्रकृति-सिद्धान्त सभी पुराणों में वर्णित जगत-रचना का प्रधान आधार है। तदनुसार प्रकृति स्वतन्त्र नही, उसे परमसत्ता (विष्णु आदि) की इच्छा के अधीन स्वीकार किया गया है। पुराणो मे बहुधा प्रतीकों एव रूपकों के माध्यम से जगत की रचना का उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से मत्स्यपुराण महत्त्वपूर्ण है। हरिवंशपुराण का एकार्णव-सिद्धान्त भी जगत की रचना के सम्बन्ध में विशेष रूप से ध्यातव्य है। विष्णुपुराण और मनुस्मृति में भी सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होते हैं। धीरे-धीरे वासुदेव (नारायण) को धर्म के क्षेत्र में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। पंचरात्र सहिताओं के व्यूह-सिद्धान्त के आधार पर सृष्टि-रचना की समूची प्रक्रिया, उत्तरोत्तर विकास, उसकी स्थिति एवं संहार आदि के बारे मे विस्तार सहित विचार किया गया है।

सांख्य-योग, न्याय एवं वैशिक दर्शनों की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है एवं उनमें जगत और उसके मूलकारण पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इन दर्शनों का मूलस्वर भौतिकवादी है, जो उन्हें लोकायत विचारधारा की परम्परा

से जोड़ता है। सांख्य और योग प्रकृति (मूलतः त्रिगुणात्मक) को ही जगत् का मूल कारण मानते हैं एवं उसे स्वतः प्रसवधर्मा स्वीकार करते है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों में पदार्थ या परमाणु को जगत का मूलकारण माना गया है। तदनुसार परमाणु या पदार्थ स्वयमेव समवेत होकर जगत की रचना करते हैं। आरम्भ में चेतना (आत्मा) को भी इन दर्शनों मे पदार्थ-समवाय-जनित ही स्वीकार किया गया था। कालान्तर मे ईश्वरवादी प्रभाव से आच्छन्न हो जाने पर भी इनकी भौतिकवादी झलक बनी ही रही।

पूर्व वेदान्तिक (ब्रह्मसूत्रों एवं शांकर अद्वैतवेदान्त से पहले) चिन्तन-परम्परा के अन्तर्गत जैन एवं बौद्धो (प्राचीन) विचारधारा का उल्लेख किया जाता है। बौद्धों में विज्ञानवादी बौद्धाचार्यों एवं शून्यवादी बौद्ध चिन्तकों ने जगत के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया है। विज्ञानवादी जगत की आभाससत्ता (Visionary Appearance) स्वीकार करते है। अध्यात्मवादियों की भाँति वे ईश्वर या ब्रह्म (परमचेतन सत्ता) की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। तदनुसार विज्ञान ही परम सत्ता है। सृष्टि की रचना न तो प्रकृति (साख्यो के अनुसार) के द्वारा ही हुई है और नही गीता के पुरुषोत्तम द्वारा ही। उनके मतानुसार जगत परिवर्तनशील आभास अस्तित्त्व है। आलातचक्र की भाँति एक विज्ञान दूसरे को निरन्तर जगत का रूप देता रहता है। विज्ञानवादी आलयविज्ञान को सम्पूर्ण विचार-समवाय का मूलाधार स्वीकार करते हैं। सारांश यह कि विज्ञानवादियों के मत में चित्त के सिवाय किसी (विषय) का अस्तित्त्व ही नहीं।

शून्यवादी विचारक जगत को प्रत्यक्ष एव अनुमान-ग्राह्य मानते हैं। योगाचारवादी ज्ञाता और ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता न मान कर केवल विज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं और विज्ञान का आधार वासनाएँ बतलाते हैं। वासनाओं को शाश्वत न मानने के कारण अन्त में उन्होंने विज्ञान की शाश्वत सत्ता के आगे भी प्रश्न-चिन्ह लगा दिया है। शून्यवादी परमसत्ता को 'शून्य' किन्तु भावात्मक सत्ता बतलाते है। असंग एव मैत्रेय दोनो ने शून्य का उल्लेख 'अभूत परिकल्प' के रूप मे किया है। इनके अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय की परिकल्पना सम्भव है। शून्य के स्वरूप के सम्बन्ध में स्वयं अनिश्चय की स्थिति मे होने के कारण बौद्ध दार्शनिको का यह वर्ग जगत के मूल को मात्र 'शून्य' कहकर ही मौन धारण कर लेता है।

विज्ञानवादी एवं शून्यवादी दोनो के परमसत्ता सिद्धान्त का खण्डन करते हुए आचार्य शंकर ने ब्रह्म को चेतन परमसत्ता स्वीकार किया है। गौड़पादाचार्य एवं बादरायण ने जगत की मात्र प्रतीति ही मानी है। जगत की प्रतीति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्तियों का माया और अविद्या का सिद्धान्त विशेष कर विचारणीय है। यह मात्र ब्रह्म की प्रतीति है, जिसका विस्तार ईश्वर और उसके बाद जीव तक भी माना गया है। उक्त बौद्ध दर्शनों एव शांकर अद्वैतवेदान्त की जगत सम्बन्धी मान्यताओं के आगे प्रश्न-चिन्ह लगाते हुए काश्मीर शैवों (प्रत्यभिज्ञावादियों) का कहना है कि

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अन्तर (परमशिव) का साकार रूप है। 'स्पंदकारिका' एवं 'शिवदृष्टि' में इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन है कि परमशिव अपनी शक्ति से स्वयं जगत् का रूप धारण करते हैं। यह दर्शन शून्य एवं विज्ञानवादी बौद्ध दर्शनों तथा शांकर अद्वैतवेदान्त के विपरीत एक प्रकार से जगत की सत्यता मे विश्वास करता है। यही मत कुछ अन्तर के साथ गोरखनाथ के नाम से प्रचलित रचना 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में भी प्रतिपादित हुआ है।

अवतारवादी वैष्णव दर्शन ब्रह्म और जीव के साथ-साथ माया एवं जगत की व्याख्या भी भिन्न ढंग से करते हैं। आचार्य रामानुज के अनुसार परमसत्ता चिदचिन्मयी है—अतः जगत यथार्थ है मिथ्या नहीं। शुद्धाद्वैत की मान्यता है कि जगत परब्रह्म की रचना है। तदनुसार जगत का निमित्त एव उपादान कारण स्वयं ब्रह्म है। जगत का आविर्भाव परब्रह्म के सदंश से होता है। वे सभी तत्त्व जो जगत के निर्मायक हैं, शुद्धाद्वैत के अनुसार भगवान से ही आविर्भूत होते हैं। अतः स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य ब्रह्म को जगत का कारण एवं जगत को उसका कार्य स्वीकार करते हैं। यह ब्रह्म का लीला-भाव है कि वह अपने सदश को नामरूपात्मक जगत का रूप दे देता है। जब वह चाहता है, तब अपने सदश रूप को समेट भी लेता है। यही जगत का संहार है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वल्लभाचार्य के मत मे जगत का आविर्भाव होता है—उत्पत्ति नहीं। जगत एवं संसार को एक न स्वीकार कर, शुद्धाद्वैत में, इन्हें दो भिन्न अवधारणाओं के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जगत यदि ब्रह्म की योगमाया की रचना है तो संसार जीव के अहन्ताभाव का कार्य। जीव के द्वारा इस प्रकार की सृष्टि अविद्यामाया के कारण है। जगत की समाप्ति (तिरोभाव) ब्रह्म की इच्छा के अधीन है, जबकि संसार का विनाश जीव के द्वारा भक्ति का आश्रय ग्रहण कर किया जा सकता है। द्वैताद्वैत एव द्वैतदर्शन परमसत्ता के अतिरिक्त जीव और जगत का अलग-अलग अस्तित्व प्रतिपादित करते हैं, लेकिन द्वैताद्वैत के द्वारा यह द्वत अन्ततः अद्वैत स्वीकार कर लिया गया है। जगत सम्बन्धी उक्त अवधारणाएँ भारतीय दर्शन-परम्परा के वैविध्य एवं उसकी व्यापकता को प्रस्तुत करती हैं। हम पहले इस तथ्य की ओर संकेत कर आए हैं कि इस विशाल (भौगोलिक दृष्टि से वैविध्य-युक्त) उपमहाद्वीप में विभिन्न धर्म-मतों एवं दर्शन-प्रणालियो का होना स्वाभाविक है। लेकिन आदर्शवादी विचार-परम्परा के सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इस वैविध्य में भी ऐसी एकत्व-भावना निहित है कि विभिन्न आदर्शवादी चिन्तन-पद्धतियाँ अन्तिम बिन्दु पर प्राय. एक सा निष्कर्ष प्रस्तुत करती हैं।

आदिग्रन्थ में जगत और संसार को, दो भिन्न अवधारणाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये अवधारणाएँ एक ओर शुद्धाद्वैत की जगत और ससार की अवधारणाओं से मेल खाती हैं तो दूसरी ओर उनका स्वर प्रत्यभिज्ञावादियों के जगत-सिद्धान्त से भी मिलता है। आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत भगवान की योगमाया की रचना है तथा संसार अविद्यामाया के कारण जीव का अहन्ताभाव है। प्रत्यभिज्ञा-

वादी परमशिव (अनुत्तर) के दो पक्ष—शिव और शक्ति—मानते हैं तथा जगत को शक्ति का विलास स्वीकार करते है। आदिग्रन्थ में इस प्रकार के संकेत भी प्राप्त होते हैं, जिससे उसकी जगत सम्बन्धी विचारधारा विशिष्टाद्वैतवादी प्रतीत होती है। लेकिन ब्रह्म के चिदाचिद्विशिष्ट स्वरूप पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिग्रन्थ में वर्णित जगत-स्वरूप रामानुज के जगत-सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न है।

आदिग्रन्थ के अनुसार अनादि सत्ता केवल वाहगुरु की है, जीव और जगत उसी के धारण किये हुए रूप हैं। यद्यपि सिक्ख गुरु जीव के प्रसंग में जगत को सुपना, नश्वर, बाजीगर का चमत्कार, जीव का मायका एवं सराय आदि भी बतलाते है, लेकिन उनके ये विचार संसार से सम्बन्धित हैं—जगत से नहीं। क्योंकि संसार जीव के अहन्ताभाव का नाम है—जगत की भाँति वाहगुरु की रचना नही। जगत को मिथ्या मानकर, ब्रह्म को ही सत्य स्वीकार करने वाले अद्वैतवेदान्तियों की मान्यताओं से भी आदिग्रन्थ की जगत सम्बन्धी अवधारणा भिन्न है। सिक्ख मत के अनुसार जगत वाहगुरु का शरीर है। यह मान्यता शुद्धाद्वैत के अधिक निकट है, जिसके अनुसार जगत को 'परमात्मा के सदंश का आविर्भाव' माना जाता है।

सिक्ख गुरु परमात्मा को कण-कण में परिव्याप्त सत्ता मानते हैं। उनकी यह मान्यता प्रत्यभिज्ञावादियों के शक्ति-विलास से मिलती-जुलती है। तदनुसार पशु और शिव मे तत्त्वतः अभेद है। शिव के शक्ति रूप का ही विलास (विस्तार) होने के कारण जगत मिथ्या नही—सत्य सत्ता है। वह शक्ति का ही व्यक्त रूप है, जो अनभिव्यक्तावस्था मे उसी मे विद्यमान रहता है। परमसत्ता की 'एक से अनेक बनने' की इच्छा वाली औपनिषदिक मान्यता ही प्रायः सभी अद्वैतवादी दर्शनो की जगत सम्बन्धी धारणाओं का आधार है। अन्तर केवल यह है कि इन दर्शनों (अद्वैतवादी) मे इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न ढग से की गई है।

आदिग्रन्थ के अनुसार 'ओकार' वाहगुरु का शब्दरूप है। जगत का परवर्ती सम्पूर्ण विस्तार ओकार का ही विस्तार है। आदिग्रन्थ का मूलमत्र इस तथ्य की स्थापना करता है कि " 'एक'—१—" अर्थात् पूर्णाभेद रूप मे अवस्थित परमसत्ता ही पहले ओकार रूप धारण करती है और उसके बाद शब्दब्रह्म (ओकार) का विस्तार ही नामरूपात्मक जगत का अभिधान ग्रहण कर लेता है। जगत को प्रभु का रूप स्वीकार करना भी इसी तथ्य की ओर सकेत करता है कि आदिग्रन्थ में जगत को मिथ्या नही माना गया है। वस्तुतः कर्म एव जन्मान्तर की मान्यता के सन्दर्भ मे यह स्वीकार भी नही किया जा सकता कि जगत प्रतीति या आभास सत्ता है। परमात्मा अकाम है और कामना से अतीत सत्ता के प्रसग मे यही सम्भव है कि ब्रह या तो लीला-वश स्वयं को जगत के रूप में व्यक्त करता है अथवा जीव के प्रति अनुकम्पा-भाव से प्रेरित होकर कर्म-भूमि के रूप में उसके लिए जगत का आधार प्रस्तुत करता है। आदिग्रन्थ में वाहगुरु को तरु एवं सम्पूर्ण नाम-रूप जगतको उस तरुकी विकसित

शाखाएँ बतला कर गीता की अश्वत्थ-धारणा के अनुरूप परमसत्ता के निर्गुण और सगुण स्वरूप की चर्चा की गयी है। गीता में अवतारवाद की स्वीकृति के कारण वासुदेव के अवतारी शरीर को ब्रह्म से अभिन्न बतलाया गया है, लेकिन आदिग्रन्थ में व्यक्त सगुण की धारणा वाहगुरु द्वारा जगत का रूप धारण करना है। तदनुसार वह निराकार परम चैतन्य है। जगत का रूप धारण करना ही उसकी सगुणता है। जगत उसका स्थूल रूप है। जगत को वाहगुरु की क्रीडा एवं क्रीड़ा-भूमि बतला कर भी इसी ओर संकेत किया गया है कि 'एकत्व से बहुत्व' ही जगत है। अत. जगत सत्य एव वाहगुरु का शरीर है। वह उसके कण-कण मे अवस्थित है।

आदिग्रन्थ की जगत-रचना सम्बन्धी मान्यता द्वैतवादी दर्शनो से भिन्न है। द्वैतवादी दर्शन रचयिता (ईश्वर) के अस्तित्त्व के साथ-साथ उपादान-सामग्री और जीव चैतन्य (जीवात्मा) के अस्तित्त्व को भी प्राय· अनादि ही मानते हैं। आदिग्रन्थ का जगत-सिद्धान्त इससे भिन्न है कि पदार्थ-समवाय से स्वयमेव जगत की रचना, स्थिति एवं संहार का कार्य सम्पन्न होता रहता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँच सकते है

आदिग्रन्थ के अनुसार जगत और ससार भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ हैं। जगत परमात्मा का शरीर (स्थूल रूप) है। उसके निर्माण के हेतु उसे किसी सामग्री (अनादि तत्त्व) की आवश्यकता नही। यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के जगत-सिद्धान्त एव प्रत्यभिज्ञा-वादियो की विश्व-रचना सम्बन्धी मान्यताओ से पर्याप्त समानता रखता है। शुद्धाद्वैत के अनुसार जगत परब्रह्म (वासुदेव) के सदश का विस्तार है एवं प्रत्यभिज्ञावादियो के मत में शक्ति का विलास।

संसार माया (शुद्धाद्वैत के अनुसार अविद्यामाया) के प्रभाव के कारण जीव के अहन्ताभाव का फल है। आदिग्रन्थ मे मनमुख और गुरमुख जीवो की चर्चा इसी अहन्ताभाव के सन्दर्भ मे ही की गयी है। तदनुसार मनमुख जीव ससारी बतलाये गये है। उनका आवागमन उस समय तक नही मिट सकता जब तक वे अहन्ताभाव की स्थिति से ऊपर उठकर गुरु की कृपा द्वारा वाहगुरु के स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेते। यही कारण है कि गुरुओ ने ससार को सुपना, जीव का मायका, नश्वर एव वाहगुरु रूपी बाजीगर का चमत्कार बतलाया है। अतः आदिग्रन्थ का जगत-सिद्धान्त भारतीय दर्शन-परम्परा से बहुत कुछ स्वीकार करते हुए भी स्वतन्त्र चिन्तन (गुरुओ के) का परिणाम है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. अर्थशास्त्र एस० शास्त्री (अनुवाद) मैसूर १९२९
२. अहिर्बुध्न्यसंहिता
३. अग्नि पुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, १९००
४. अनिरुद्धाज कमेंटरी आन दि ओरिजनल पार्टस आव वेदांतिन मध्याज कमेंटरी, रिचार्ड गार्बे
५. अहिर्बुध्न्यसंहिता, सम्पादक—एम० डी० रामानुजाचार्य, आड्यार लायब्रेरी, मद्रास, १९१६
६. अथर्ववेदसंहिता सम्पादक—शंकर पांडुरंग, प्रकाशक-गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल बुकडिपो, बम्बई संस्क० १७९५
७. आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स एज बैकग्राउण्ड आव बेंगाली लिट्रेचर
८. आइडलिस्ट थाट आव इण्डिया, पी० टी० राजू पृ० ८५-८६
९. आदिग्रन्थ, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर (देवनागरी संस्करण)
१०. आदिग्रन्थभाष्य, भाई वीरसिंह, अमृतसर, १९५९, वाल्यू० १-१०
११. आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एनशियेण्ट इण्डिया आर० एस० शर्मा
१२. आन रिलिजन, मार्क्स एण्ड एंगेल्स
१३. आधुनिक बौद्ध धर्म, नगेन्द्रनाथ बसु
१४. आत्मविलस, अमृतवाग्भवाचार्य १९३६
१५. आन दि सांख्य सूत्राज, आर० गार्बे, कलकत्ता, १८९२
१६. इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी, एस० ए० डांगे, बम्बई १९४९
१७. इण्डियन विजडम, मोनियर विलियम्स, लंडन, १८७५
१८. इण्डियन फिलासफी, राधाकृष्णन, १९५६, वाल्यू० १-२
१९. ईस्टर्न रिलिजन एण्ड वेस्टर्न थॉट, एस० राधाकृष्णन
२०. इंट्रोडक्शन टु वेदान्त, नारायणराव,
२१. इण्डियन फिलासफी, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय
२२. इन्फ्लुयेन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, डा० ताराचन्द
२३. ऋग्वेदसंहिता, मैक्समूलर संस्करण (१८४९) लन्दन

२४. ऋग्वेद, स्वाध्यायमंडल, पारडी सूरत, १९५७
२५. ऋग्वेद एच० एच० विल्सन (अनुवाद), कलकत्ता
२६. ईशोपनिषद, अजमेर, १९५३
२७. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, अभिनवगुप्त, सन् १९३८-४१
२८. ईश्वर सिद्धि, उत्पलदेव, सन् १९२१
२९. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, काश्मीर सिरीज, १९१८-२१,
३०. ईशावास्योपनिषद्, कल्याण उपनिषद् अंक, संस्क० १९४९
३१. ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी, एस० एन० दास गुप्ता, केम्ब्रेज, १९२२-५५
३२. ए वियन आव इण्डियाज हिस्ट्री, पृ० ३४,
३३. ऐतरेय आरण्यक, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, संस्क० द्वि, १९४३
३४. एनसाइक्लोपीडिया आव रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, आर० गार्बे, खं० १२
३५. " " " " " आर० आर० फ्रेजर, ख० २
३६. एतरेय ब्राह्मण, आनन्द आश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, संस्क० द्वि०, १९३१
३७. ऐतरेयोपनिषद्, कल्याण उपनिषद् अंक, १९४९
३८. औट लाइन्ज आव इण्डियन फिलासफी, एम० हिरियन्ना
३९. कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासकी, आर० जी० रानाडे, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९२६
४०. काश्मीर शैविज्म, भा० १,१९१४, जे० सी० चैटर्जी, जम्मू-काश्मीर स्टेट
४१. कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया, विनयतोष भट्टाचार्य, ख० २, पृ० २१८
४२. कठोपनिषद्, अजमेर, १९५६
४३. कुलार्णव तन्त्र, नारायण प्रेस, कलकत्ता, १८९७
४४. केनोपनिषद्, कल्याण उपनिषद् अंक, संस्क० १९४९
४५. कठोपनिषद् " " " "
४६. गोरखबानी, डा० पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भा० १, संस्क० २, वि० २००३
४७. गौतम न्याय सूत्र
४८. गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद, निर्णय सागर बम्बई, १९३२
४९. छान्दोग्योपनिषद्, निर्णय सागर बम्बई, १९३२,
५०. जैनसूत्राज, एच० जैकोबी (भूमिका) पृ० ३४
५१. जैमिनी मीमांसा सूत्र अध्या० १
५२. त्रिपुरा रहस्य, सम्पादक—मुकुंदलाल शास्त्री, प्रकाशक—चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस, संस्क० द्वि० १९३२
५३. तंत्रालोक, अभिनवगुप्त, भा० १—७ तक सन् १९१८-२४ रिसर्च डिपार्टमेण्ट जम्मू-कश्मीर

५४. तंत्रसार, अभिनवगुप्त, १६१२
५५. तैत्तिरीयोपनिषद्, कल्याण, उपनिषद् अंक, १६४६
५६. दि मदर्स, आर० ब्रिफाल्ट, लंदन, १६५२
५७. दि गोल्डन बो, जे० सी० फ्रेजर, लंडन, १६५७
५८. दि डिस्कवरी आव इंडिया, जे०, नहरू, कलकत्ता, १६५६
५९. दि आइडिया आव गाड इन शैव सिद्धान्त, टी० एम० पी० महादेवन, अन्नामलायी यूनी० १६५५
६०. दि लाइफ आव बुद्ध, ई० जे० थामस, लंडन, १६३१
६१. दि शिवाद्वैत आव श्रीकंठ, एस० एस० शास्त्री, मद्रास यूनी० १६३०
६२. दि इडस सिविलीजेशन, एम० ह्वीलर, कैम्ब्रेज, १६५३
६३. दि उपनिषत्स (अनुवाद) एफ० मैक्समूलर, वाल्यू० २
६४. दि थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषत्स, आर० ई० ह्यूम, १६५८
६५. दि एलिमेण्ट्री फार्म्स आव दि रिलिजस लाइफ, दुर्खेम, (अगरेजी अनुवाद) १६६१
६६ दि रिलिजन्स आव दि वर्ल्ड मेड सिम्पल, जान लेविस, पृ० २१
६७ दि प्रिंसिपल उपनिषत्स, एस० राधाकृष्णन, पृ० ५८१
६८. दि भक्ति कल्ट इन एनशियेण्ट इंडिया (अनुवादक भागवत कुमार) पृ० १६-१८
६९. दि सिक्स सिस्टम्स आव इडियन फिलासफी, मैक्समूलर पृ० ८६
७० दि कल्चरल हिस्ट्री आव इडिया, हरिदास भट्टाचार्य, खं० ३
७१. दि इट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म बी० दासगुप्ता, कलकत्ता, १६५०
७२. दि हिस्ट्री आव साउथ इडिया, नीलकंठ शास्त्री, पृ० ४१४
७३. थर्टीन प्रिन्सिपल उपनिषत्स, आर० ई० ह्यूम, आक्सफोर्ड, १६२१
७४. धम्मपद, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थ-माला, वाराणसी १६६८
७५ न्यू एज, राहुल सांकृत्यायन, १६५६
७६. न्यायमंजरी, काशी सिरीज, १६३६
७७. न्यायभाष्य, काशी सिरीज, १६४२
७८. प्रिंसिपल उपनिषत्स, डा० राधाकृष्णन, लंडन, १६५३
७९. प्रिमिटव कल्चर, टायलर भा० १, पृ० २३
८०. पातंजल योगसूत्र
८१ प्रिंसिपल आव तंत्राज, जान वुडरफ, मद्रास १६६०
८२. परमार्थसार, आदिशेष, अच्युत ग्रन्थमाला, बनारस, वि० १६८६
८३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, काश्मीर सिरीज, १६१८-२१ तथा आड्यार लाइब्रेरी मद्रास, १६३८
८४. पंचदशी, निर्णय सागर बम्बई, विद्यारण्य स्वामी, व्याख्याकार पं० रामावतार, १६३५
८५. प्रश्नोपनिषद्, अजमेर, १६५२ तथा कल्याण, उपनिषद् अंक १६४६

८६. प्रपंचसारतंत्र, तांत्रिक टेक्स्ट सिरीज, कलकत्ता १६१४-१७
८७. प्रिंसिपल्स आव तंत्राज, आर्थर ऐवलॉ, लंडन, १६१४
८८. (क) पोस्ट फिलासफर्स आव दि ऋग्वेद डी० सी० कुन्हन, (ख) पतंजलि योगदर्शन, प्रकाशक—लखनऊ विश्वविद्यालय, संस्क० १, १६५५
८६. फिलासफी आव दि उपनिषत्स ए० ई० गफ, लंडन, १८८२
६०. फिलासफी आव इंडिया, जिम्मर, लंडन, १६५१
६१. फिलासफी आव गोरखनाथ, अक्षयकुमार बनर्जी, गोरखपुर, १६६१
६२. बुद्ध, हिज लाइफ, हिज टीचिंग्स, हिज आर्डर ओल्डनबर्ग, कलकत्ता, १६२७
६३. बुद्धिष्ट इंडिया, राई डेविड्स, टी० डब्ल्यू० आर० कलकत्ता, १६५०
६४. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, रामकृष्ण, आगरा, १६६०
६५. ब्रह्मसूत्र-भाष्य, आचार्य शंकर, अध्या० १
६६. ब्रह्मसूत्र-भाष्य (शांकर) स्वामी गम्भीरानन्द (अनुवादक)
६७. ब्रह्मसूत्र-भाष्य रा० कृष्णन (अनुवाद)
६८. बुद्धिस्ट लाजिक, स्तचेर्बात्सकी, खं० १
६६. ब्रह्मपुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, १८६५
१००. बाल्मीकि रामायण, सम्पादक—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्क० तृ० १६०६
१०१. ब्रह्ममीमासा-भाष्य, निम्बार्क, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वि० १६६७
१०२. ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य, निर्णयसागर, १६२७
१०३. भारतीय चिन्तन-धारा, के० दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १६६१
१०४. भागवतपुराण, गीता प्रेस गोरखपुर, संस्क० वि० १६६७
१०५. भगवद्गीता, शाकरभाष्य, गीता प्रेस गोरखपुर, संस्क० १, वि० १६८८
१०६. मनुस्मृति, प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता संस्क० ६, १६६३
१०७. मदर राइट इन इण्डिया, ओ० आर० एहरेनफेल्स, हैदराबाद, १६४१
१०८. महाभारत, पी० सी० रे (अनुवाद) कलकत्ता, १८८३-८५
१०६. मैजिक एण्ड रिलिजन, जे० फ्रेजर
११०. मैटीरियलिज्म, कलकत्ता, १६५१
१११. माध्यमिक सूत्र, नागार्जुन
११२. मध्वाज टीचिंग्स इन हिज ओन वर्ड्स, एन० आर० शर्मा, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई
११३. मोहेंजोदड़ो एण्ड दि इंडियन सिविलिजेशन, मार्शल, लंडन, १६३१
११४. मुण्डकोपनिषद्, अजमेर, १६५२ तथा कल्याण उपनिषद् अंक, १६४६
११५. माण्डूक्योपनिषद्, अजमेर, १६५२
११६. मालिनीविजयतंत्र, काश्मीर सिरीज, १६२२

११७. महाभारत, निर्णयसागर, बम्बई, १९०७-९ एवं प्रकाशक—नरहरि जोशी, पूना, संस्क० १, १९०७
११८. महायान विंशिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन
११९. महोपनिषद्, निर्णयसागर, बम्बई, १९३२
१२०. मत्स्यपुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, बम्बई, १९०७
१२१. योगवशिष्ठ और उसके सिद्धान्त, भीखनलाल आत्रेय, तारा पब्लिशिंग वाराणसी, वि० २०१४
१२२. लोकायत, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, प्युपल्स पब्लिशिंग हाउस १९५९
१२३. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, आर० जी० भण्डारकर, पूना
१२४. वेदान्त सूत्र (रामानुजभाष्य), जार्ज थिबौट (अनुवाद)
१२५. वेदान्त दीप, बनारस संस्कृत सिरीज, १९०२
१२६. वैशेषिक सूत्र, सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, १८८६
१२७. विंशतिका शास्त्र, भरतपुर, १९५९
१२८. विंशतिका शास्त्र-विमर्शिनी, निर्णय सागर, १९२७
१२९. विष्णुपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई तथा कल्याण संस्करण
१३०. शंकराज टीचिंग्स इन हिज ओन वर्ड्स, स्वामी आत्मानन्द, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६४
१३१. शब्दार्थ श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी अमृतसर, देवनागरी संस्करण
१३२. शिवसूत्र विमर्शिनी, काश्मीर सिरीज, १९१८-२१
१३३. शिवसूत्र वार्तिक भट्टभास्कर, काश्मीर सिरीज, १९३८
१३४. श्वेताश्वतरोपनिषद्, अजमेर १९५२
१३५. शिवदृष्टि वृत्ति, काश्मीर सिरीज, १९३४
१३६. शिवदृष्टि, उत्पल देव, काश्मीर सिरीज, १९३४
१३७. शुक्ल यजुर्वेद संहिता, सम्पादक—प० ज्वाला प्रसाद मिश्र, प्रकाशक—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, संस्करण वि० १९६९
१३८. शतपथ ब्राह्मण—अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी
१३९. शिवपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
१४०. सांख्य कारिका, कलकत्ता, १८८७
१४१. सर्वदर्शनसंग्रह, कावेल एवं गफ (अनुवाद) लन्दन, १९१४
१४२. सांख्य प्रवचनभाष्य, कैम्ब्रेज, १९८५
१४३. सेक्रिड बुक्स आव दि ईस्ट, मैक्समूलर, आक्सफोर्ड, १८७९
१४४. स्टडीज इन एनशियेण्ट ग्रीक सोसाइटी, वाल्यू० १-२, लंडन, १९४९-५५
१४५. स्टडीज इन एनशियेण्ट सोसाइटी, ज्यार्ज थामसन

१४६. दि सिक्स सिस्टम्स आव इंडियन फिलासफी, मैक्समूलर
१४७. सांख्यप्रवचनसूत्र
१४८. सांख्य कारिका, झा का अनुवाद
१४९. सम फण्डेमेण्टल प्राबलम्स आव इण्डियन फिलासफी, सी० कुन्हन
१५०. स्याद्वाद् मंजरी, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३३
१५१. सामवेद, अजमेर, १९४५
१५२. सौन्दरनन्द, संस्कृत भवन, कठौतिया, १९४८
१५३. सिद्धत्रयी, काश्मीर सिरीज, १९२१
१५४. सर्वदर्शन संग्रह, आनन्दाश्रम प्रेस पूना, १९०६
१५५. स्वातंत्र्यदर्पण, पं० बलजिन्नाथ, श्रीनगर, १९६४
१५६. स्पन्दकारिका भट्टभास्कर, काश्मीर सिरीज, १९१६
१५७. सर्वदर्शन संग्रह, प्रकाशक—आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, संस्करण द्वि० १९८८
१५८. सांख्यदर्शन, प्रकाशक—क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संस्क० प्रथम वि० १९५०
१५९. सौन्दर्य लहरी (शंकराचार्य), प्रकाशक—बी० रामास्वामी, शास्त्रुलु एण्ड सन्स चेन्नपुरी (दक्षिण भारत) संस्क० १, १९५२
१६०. हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, पी० वी० काने, वाल्यू० १, १९३०, वाल्यू० २, १९४१
१६१ हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, ए० ए० मेकडूनल, लंडन, १९०५
१६२. हिन्दू फिलासफी, डैवीज
१६३. हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, एस० एन० दास गुप्ता, ख० १
१६४. हिन्दू मैनर्स, कास्ट्स एन्ड सेरेमनीज, ख० १, जे० ए० दुबा, आक्सफोर्ड, १८९७
१६५. हरिवंशपुराण, सम्पादक—डी० एन० बोस (अंग्रेजी अनुवाद)

अनुक्रमणिका